रसिक ग्रन्थमाला—१

रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय

डा० भगवती प्रसाद सिंह
एम० ए०, पी० एच०, डी०
प्रिंसिपल, डी० ए० वी० कालेज, बलरामपुर

भूमिका लेखक
महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज
एम० ए०, डी० लिट्०

अवध-साहित्य-मन्दिर
बलरामपुर

पूज्य दादू
स्वर्गीय श्री उदयराज सिंह जी
की
पुण्य स्मृति में

रामं लोकाभिरामं रघुवरतनयं कोशलाभुक्तिपुर्याम्,
खेलन्तं कामकेलि सुविमलसरयूतीरकुञ्जे नटन्तम् ।
जानक्या चारुहासच्छविविशदशरचन्द्रिकाकान्तिमत्या,
संयुक्तं राजवेषं ललितरसमयं ब्रह्मपूर्णं नमामि ॥

(भुशुण्डि रामायण)

वन्दे सखीसमाजं तं प्रेमरज्ज्वा वशीकृतम् ।
बबन्ध क्रीडमानो यो श्रीरामं रससागरम् ॥

(मधुराचार्य)

चहियतु कृपा लली सीता की ।
नवधाभक्ति ज्ञान का करना रही न संक वेद गीता की ॥
वेद पुरान कहावत पटमत करत बाद नर वपु बीता की ।
झगर करत उरझो नहीं सुरझो मिटी न एक दूत भय ताकी ॥
जाकी ओर तनक भरि चितवति करत सहाय राम जन ताकी ।
"अग्रअली" भजु जनकनंदिनी पाप भँडार ताप रीता की ॥

(अग्रदास)

अर्थात् आनन्द स्वरूप है और उसके इस आनन्दमय स्वभाव से ही समस्त सृष्टि की प्रवृत्ति हुई है। अतएव सृष्टि-रचना का हेतु अभाव नहीं है किन्तु स्वभाव है। जो नित्य आप्तकाम है, आत्माराम है, सदातृप्त है, सततपूर्ण है, उसको किसी प्रकार का अभाव नहीं रह सकता। अतएव किसी अभाव की पूर्ति के लिये सृष्टि का उन्मेष हुआ, यह नहीं कह सकते—"आप्तकामस्य का स्पृहा ?"

ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने स्पष्ट रूप में निर्देश किया है-विश्वसृष्टि ब्रह्म के लिये लीला मात्र है ('लोकवत्तु लीला कैवल्यम्')। विष्णुपुराण में कहा गया है—"क्रीडतो बालकस्येव क्रीडा तस्य निशामय" (बालक जैसा अपने स्वभाव से खेल के बहाने किसी वस्तु को तोडता भी है, बनाता भी है, उसका उसमें कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहता, उसी प्रकार इस जगत् का सृष्टि-संहार भी ब्रह्म की क्रीडामात्र है)। लीला अथवा क्रीडा का अर्थ है खेल। है तो यह खेल ही, परन्तु आनन्द का खेल है। इस खेल का आदि भी नहीं है, अन्त भी नहीं है—यह नित्य प्रवर्तमान है। यही आनन्दमय श्रीभगवान् की नित्यलीला है। इसके दर्शन का अधिकार सबको नहीं है, इसमें प्रवेश करने की तो बात ही क्या ! पक्षान्तर में यह भी सत्य है कि प्रत्येक नरदेही का ही इसमें अधिकार है। किसी विशिष्ट समय और विशिष्ट अवस्था में श्रीभगवान् का अनुग्रह होने पर, यह अधिकार जग जाता है—दर्शन के लिये भी, प्रवेश के लिये भी।

भारतीय भक्ति-साधना के अत्यन्त निगूढ प्रदेश में इस भागवती लीला का संधान मिलता है। जो भक्ति को केवल भावरूप से नहीं पहचानते हैं किंतु रस-रूप से उसका साक्षात्कार कर सकते हैं, भक्ति-रस के आस्वादन के अधिकारी वे ही हैं। जिनके चित्त में इस प्रकार की योग्यता उत्पन्न होती है, वे ही रसिक भक्त हैं। अन्य भक्त, भक्तिसम्पन्न होते हुये भी 'रसिक' पदवाच्य नहीं होते। अतएव 'रसिकसम्प्रदाय' शब्द से हम उस सम्प्रदाय को समझते हैं जो भक्ति को केवलमात्र भाव रूप में नहीं किन्तु रसरूप में ग्रहण करने में समर्थ हैं।

अपने यहाँ भक्ति-साधना के लिये विभिन्न सम्प्रदाय हैं। वैष्णव मत में तो हैं ही, क्योंकि वैष्णव लोग ही भक्तिमार्ग के मुख्य पथिक हैं, शैव शाक्तादि मार्गों में भी हैं। श्रीरामानुज (श्री), श्रीनिम्बार्क (सनकादि या हंस), श्रीमध्व (ब्रह्म) तथा श्रीविष्णुस्वामी और तदनन्तर श्रीवल्लभ (रुद्र) आदि वैष्णवाचार्यों द्वारा प्रवर्तित चतु:सम्प्रदाय लोक प्रसिद्ध हैं। बंगदेश में श्रीचैतन्य का गौडीय तथा उडीसा में उत्कलीय वैष्णव सम्प्रदाय है। इनके अतिरिक्त उनकी छोटी

बड़ी अनेक शाखा प्रशाखायें भी हैं, जिनमें राधावल्लभी, हरिदासी, प्रणामी, श्रीनारायणी इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री सम्प्रदाय की प्रसिद्धि के पूर्व द्रविड़ देश में आलवार लोग भक्तिमार्ग में, विशेषतया रागमार्ग में, यथाविधि साधना करते थे। भक्ति साधना के पथ में वैराग्यमार्ग तथा रागमार्ग दोनों का ही उपयोग होता है। जिनका लक्ष्य मुक्ति है, उनके लिये वैराग्य अधिक उपयोगी है। ज्ञान की भी यही स्थिति है। परन्तु जिनका उद्देश्य भगवद्धाम में प्रविष्ट होकर श्रीभगवान् की अंतरंगसेवा में अधिकार लाभ करना है उनके लिये वैराग्य श्रेयस्कर होने पर भी अधिक उपयुक्त रागमार्ग ही है। विषय वितृष्णा आध्यात्मिक मार्ग में सर्वत्र ही सहायक है। इसीलिये वैराग्य का प्राथमिक उपयोग निस्सन्देह है। किन्तु इष्टसिद्धि के लिये इनको रागरूपा भक्ति का ही आश्रय लेना पड़ता है। राग मार्ग में वैराग्य ज्ञान प्रभृति सम्पद भगवद्विषयक राग से सदैव यथासमय उत्पन्न होती रहती हैं। इस अंश में भक्ति में राग तथा वैराग्य मार्गों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। वैष्णवों के भीतर सब भक्त रसिक या रागमार्गी नहीं हैं। शैव भक्तों में भी इस प्रकार का भेद लक्षित होता है। शैव साधना में ज्ञान का प्राधान्य रहने पर भी भक्ति को ऊँचा स्थान दिया गया है। सिद्धान्तशैव मार्ग में जो दासमार्ग, सहमार्ग इत्यादि नामों से प्रसिद्ध मार्गचतुष्टय का निर्देश मिलता है, उसमें भी भगवान् और भक्त का सम्बन्धमूलक वैचित्र्य देखने में आता है। अद्वैत शैवगण ज्ञानी होने पर भी परम भक्त हैं, शुष्क ज्ञानी नहीं। उत्पलाचार्य की 'शिव स्तोत्रावली' देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।[१] अभिनवगुप्त के वचनों में भी इस विषय में प्रमाण विद्यमान हैं।[२] शाक्त उपासकों के

१—उत्पलाचार्य का कहना है कि ध्यान के द्वारा ध्येय का स्वरूप और जप के द्वारा सजप्य का स्वरूप नियत आकार में प्रकाशित होता है। परन्तु समावेशमयी भक्ति के प्रभाव से बिना किसी उपाय के निराकार और सर्वाकार चिदानन्दघन निजात्मतत्त्व सदा स्फुरित होता है। इसके लिये किसी विधि की आवश्यकता नहीं है।

२—अभिनव गुप्त के "महोपदेश विंशति" नामक स्तोत्र (श्लोक ४) में कहा गया है—

> भवद्भक्तस्य सञ्जातभवद्रूपस्य मेऽधुना।
> त्वामात्मरूपं सम्प्रेक्ष्य तुभ्यं मह्यं नमो नमः ॥

अर्थात् मैं तुम्हारा भक्त हूँ। अब तुम्हारा जो रूप है, वही मेरा रूप होकर प्रकट हुआ (क्योंकि मैं भक्ति के प्रभाव से तुम्हारा सारूप्य प्राप्त कर चुका

सम्बन्ध में भी यही बात है। 'हारितायन सहिता' नामक त्रिपुरारहस्य के ज्ञान खंड में स्पष्ट लिखा है कि परम अद्वैत अवस्था में प्रतिष्ठित होने पर भी भक्ति के अस्तित्व का अभाव नहीं होता। अद्वैत दृष्टि में विशुद्ध आत्मा ही सर्वापेक्षया प्रियतम है। अद्वैतभक्त उसी का भजन करते हैं। इस भजन में "कैतव" अर्थात् कापट्य-अथवा कृत्रिमता नहीं है। इस स्थिति में सेव्य-सेवक भाव न रहने पर भी ज्ञानी भक्त, भेदभाव का बलपूर्वक आहरण करके सेव्य सेवक भाव की रचना कर लेते हैं। वे स्वात्मस्वरूप अद्वय पद की प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्धि करने पर भी अपने स्वभाव या चित्त की स्वरसता से ऐसा किये बिना रह नहीं सकते। वस्तुतः वासना का वैचित्र्य ही इसका निमित्त है।[1]

वैष्णव साधना क ऐतिहासिक क्रमपरिणति क अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इस रस-साधना की धारा विशेष रूप से श्रीकृष्णोपासना के भीतर से ही प्रवाहित हुई। महाप्रभु श्रीगौरांगदेव के अंतरंग पार्षद श्री रूपगोस्वामी, श्री सनातन गोस्वामी तथा अन्य गौड़ीय आचार्य अपनी रचनाओं में इसका किंचित् आभास दे गये हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में भी स्वय महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा उनक पुत्र विट्ठलनाथ जी ने अपन लेखों में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अनुसंधायकों की जिज्ञासानिवृत्ति के लिये यह समग्र साहित्य आलोच्य है।

श्रीरामभक्ति साधना में रस की धारा इतनी अधिक विकास को प्राप्त नहीं हुई थी, साधारण लोगों का यही विश्वास है। श्रीरामचन्द्र मर्यादापुरुषोत्तम रूप में पूजित होत हैं। लीलापुरुषोत्तमाख्या श्रीकृष्णविषय में ही प्रसिद्ध रही है। किन्तु प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक श्री भगवतीप्रसाद सिंह ने दीर्घकाल के अनुसंधान तथा गवेषणा के अनन्तर पता लगाया है कि श्रीरामभक्ति क्षेत्र में भी रसिक साधना की धारा का विस्तार कम नहीं है। उन्होंने इस विषय में खोज करके प्रायः १००० ग्रंथों का पता लगाया है। इनमें लगभग ५० ग्रंथ मूल

हूँ)। इसलिये इस समय तुमको ही आत्मरूप में अथवा निज रूप में दर्शन करता हुआ तुमसे अभिन्न जो मैं हूँ ऐसे मुझे और मुझसे अभिन्न जो तुम हो, ऐसे तुम्हें नमस्कार करता हूँ।

[1]—यद् सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्।
स्वभावस्य स्वरसता ज्ञात्वापि स्वाद्वय पदम्॥
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः॥

—त्रिपुरारहस्य, ज्ञान खड २०।३३,३४

संहितादि रूप में संस्कृत में विद्यमान हैं। इन्हें छोड़कर हिन्दी में लिखी गई रचनाओं की संख्या ८०० के करीब है। इस विषय के आनुषंगिक ग्रंथों की संख्या भी १०० के ऊपर है।

अति प्राचीन काल से ही श्रीराम की उपासना चली आ रही थी, किन्तु उसका विशेष विकास ८वीं शताब्दी ई० के पश्चात् हुआ। शठकोप (नम्माळवार) से लेकर श्रीकृष्णदास पयहारी पर्यन्त श्रीरामचन्द्र जी की उपासना के विषय में जिस साहित्य की रचना हुई थी उसमें रसिक भावना की स्पष्ट छाप विभिन्न स्थलों में दिखाई देती है। इतस्ततः बिखरे रूप में रहने पर भी यह समस्त वाङ्मय एक अप्रकाशित गुह्य साधना का अंगीभूत है। आचार्य अग्रदास को इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। इसका तात्पर्य सम्भवतः यही है कि सर्वप्रथम उन्होंने ही इन बिखरे अंशों को सुसज्जित करके एक सुसंगत सिद्धांत का रूप प्रदान किया था। वैसे वर्तमान रामभक्ति संप्रदायों के अधिष्ठाता और अग्रदास जी के पूर्वाचार्य स्वामी रामानन्द की रचनाओं में भी इस साधना के मूलतत्त्वों की व्याप्ति पाई जाती है—जगन्माता का पुरुषकारत्व (कृपादि गुणत्रय मूलक), नवधा भक्ति के ऊपर प्रेमलक्षणा दशधा भक्ति का अंगीकार, भगवान् के साथ जीव के भावमूलक सम्बन्धों में अन्य भावों के सदृश भार्या-भर्तृ सम्बन्ध का स्वीकार और साथ ही साथ स्वकीयत्व का समर्थन आदि तथ्यों से इसका समर्थन होता है।

रसिक साधना की प्रकरण-पद्धति पुष्ट करने के लिये आगम साहित्य से भी सहायता ली गई थी। वैष्णवागमों के अतिरिक्त शैव तथा शाक्त आगमों का भी उपयोग किया गया था—इनमें अगस्त्य संहिता, सदाशिव संहिता, हनुमत्संहिता प्रभृति विशेष उल्लेखनीय हैं। इस ग्रन्थ में इस विषय की विस्तृत आलोचना की गई है। साम्प्रदायिक रामकाव्यों तथा रामचरित साहित्य में माधुर्य भावना के विकास का परिचय भी इसके विभिन्न स्थलों में दृष्टिगोचर होता है। यह साहित्य (नाभा रामायण को छोड़कर) प्रायः पंचदश तथा षोडश शती का माना जाता है। रामावत सम्प्रदाय में मधुर उपासना के प्रचलित होने के प्रमाण भक्तमाल में उल्लिखित तथा उसके बाहर के रामभक्तों की जीवनगाथा है। लेखक ने दिखाया है कि महात्मा तुलसीदास इस धारा के ठीक ठीक अंतर्गत न होने पर भी इसके द्वारा प्रभावित हुये थे। उनके समकालीन सम्राट् अकबर द्वारा प्रवर्तित ('रामसीय' भाँति की) मुद्राओं से उसकी भी श्रीराम के प्रति आस्था व्यक्त होती है। तुलसीदास जी के तिरोधान के पश्चात् प्रायः शतवर्ष तक इस विषय में एक अवसाद का युग रहा। इसके प्रधान कारण

थे—धार्मिक असहिष्णुता, सामाजिक अधःपतन तथा साम्प्रदायिक संघर्ष। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद उसका पुनरुत्थान हुआ। यह अष्टादश शतक की बात है। वस्तुतः ऊनविंश शताब्दी में यह साधना पूर्ण विकास को प्राप्त हुई।

मुगल साम्राज्य का पतन होने पर जब पुनः हिन्दू जागरण हुआ तब स्वभावतः ही अन्य धार्मिक साहित्य की भाँति रामभक्ति साहित्य का भी उत्थान हुआ। देश में शान्तिस्थापना तथा शासन व्यवस्था सुप्रतिष्ठित होने के फलस्वरूप सांस्कृतिक विकास का द्वार उन्मुक्त हो गया। मंदिरों का जीर्णोद्धार, नूतन अखाड़ों की स्थापना और धर्मसम्बन्धी नियमावली का प्रचार इसकी विशेषता थी। इस काल में सभी हिन्दू सम्प्रदाय उन्नतिपथ पर अग्रसर हुये। वैष्णवों के भीतर श्रीकृष्ण और श्रीराम भक्तों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना इसी समय में हुई थी। रससाधना की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णोपासना का इतिहास कुछ अधिक प्राचीन है। श्रीरामोपासना अपेक्षाकृत उतनी पुरानी न होने पर भी अधिक समृद्ध थी, इसमें सन्देह नहीं। नाना शाखाप्रशाखाओं में विस्तृत होने के साथ ही तत्सम्बद्ध साहित्य भी विशाल था। मुगल शासन काल में श्रीविष्णुस्वामी प्रवर्तित रुद्र संप्रदाय का नेतृत्व भार श्रीवल्लभाचार्य के ऊपर पड़ा। इस संप्रदाय के बहुत से ग्रंथ संस्कृत तथा हिन्दी में लिखे गये थे। वस्तुतः रसिक साधना में इससे भी अधिक मूल्यवान् साहित्य गौडीय सम्प्रदाय में रचा गया था।[1] उपसम्प्रदायों का साहित्य भी

१—उत्कलीय वैष्णव साहित्य में महाप्रभु श्रीचैतन्य देव के भक्त पंच-सखाओं में जिस प्रकार भक्तिसाधना का प्रचार हुआ था, उसकी प्रवृत्ति में वंगीय वैष्णवोपासना से कुछ विलक्षणता पाई जाती है। उत्कलीय वैष्णव साधना के मूल में है—उत्कल (उड़ीसा) में प्रचलित उत्तर कालीन बौद्धधर्म का, नाथपंथ का, शैव तथा शाक्त आगमों का, पौराणिक कृष्णभक्ति का तथा संभवतः विभिन्न मार्गीय रससाधना का स्पष्ट प्रभाव। उस पर महाप्रभु के व्यक्तिगत दिव्य जीवन का प्रभाव तो था ही, मध्ययुग की संतसाधना से भी वह किसी अंश तक प्रभावित दिखाई देती है।

महात्मा यशोवंतदास के "प्रेमभक्ति ब्रह्मगीता" नामक ग्रंथ के तृतीय अध्याय में नित्यरास का जो वर्णन मिलता है उसी में "रामनाम" का रहस्य वर्णन किया गया है। उसमें कहा गया है कि रासमंडल की नित्यस्थली में 'जीव' और 'परम' का जो लीलाविहार है वही रामनाम का तात्पर्य है। उक्त दोनों तत्वों (जीव तथा परम) का अवस्थान मानव देह में ही है। उसके

कम नहीं था। इस साहित्य का प्रभाव राममक्ति संप्रदाय के रसिक साधक अपने साधारण जीवन में विशेष रूप से अनुभव करते थे। कहीं कहीं बंगीय वैष्णव गोस्वामियों की रागमार्गी साधना के रसिक रामभक्तों द्वारा आदर्श रूप में ग्रहण करने के भी चिह्न मिलते हैं। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि जिन प्राचीन संहिताओं के नाम रसिक रामभक्ति सम्प्रदाय में दृष्ट होते हैं उनका प्रभाव किसी न किसी अंश में चैतन्य संप्रदाय पर भी पड़ा होगा। परन्तु श्रीकृष्ण यामल, गोलमीय तन्त्र, सनत्कुमार संहिता, आलवन्दार संहिता, सुन्दरी तन्त्र आदि आगम ग्रन्थों ने श्रीकृष्ण तथा श्रीराम विषयक दोनों लीला-साहित्यों को समान रूप से प्रभावित किया है। त्रिपुर सुन्दरी की उपासना के साथ श्री कृष्णलीला का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है वह भी ध्यान देने योग्य विषय है। भविष्य में जो इस क्षेत्र में कार्य करने में प्रवृत्त होंगे उन्हें इन सब विषयों में तत्त्व निरूपण करना पड़ेगा।

ग्रन्थकार ने इस प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में रसिक सम्प्रदाय की साधना की विशेष रूप से विवेचना की है। हिन्दी साहित्य में यह आलोचना विभिन्न दृष्टियों से अभूतपूर्व और अतुलनीय है। साम्प्रदायिक दृष्टि से यह जैसी मूल्यवान् है, उसी प्रकार रससाधना के ऐतिहासिक क्रमविकास की दृष्टि से भी इसका महत्त्व निर्विवाद है।

ऊपर है अनक्षर, जिसके ऊर्ध्व में निराकार या महाशून्य है, जहाँ से निरन्तर नाम का क्षरण होता है। सृष्टि के प्रसंग में उल्लेख है कि निःशब्द से शब्द का और शब्द से ॐकार का उद्भव होता है। यह ॐकार ही एकाक्षर शिशुवेद है। इस एकाक्षर ॐकार से 'रा, म" ये दो अक्षर उत्पन्न होते हैं और इन दो अक्षरों से त्रिकोण अथवा त्रितत्त्व का उद्भव होता है। "रा" और "म" का तात्पर्य है राधा तथा कृष्ण। त्रितत्त्व हैं—जीव, परमब्रह्म तथा हरे-राम-कृष्ण, अथवा परावीज, रमाबीज और कामबीज, अथवा ब्रह्मा, विष्णु और महेश, अथवा गुरु, शिष्य और भगवान्, अथवा कृष्ण राधा और चन्द्रावली अथवा जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा। "हरे राम कृष्ण" इन तीन तत्त्वों या तीन नामों से आविर्भूत हुये चार नाम या चार तत्त्व—हरे, राम, कृष्ण, हरे। चार तत्त्वों से उत्पन्न हुये आठतत्त्व या आठ नाम (षोडश अक्षर)—हरे राम हरे राम, राम राम, हरे हरे। आठ नामों या आठ तत्त्वों से सोलह नामों का आविर्भाव हुआ (बत्तीस अक्षर)—हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥ यही कलियुग का महामंत्र है। उपर्युक्त ग्रन्थ में प्रेमभक्ति का विशेष विवरण भी दिया गया है।

रस-ब्रह्म की नित्यलीला के विषय में सम्यक् आलोचन अभी तक नहीं हुआ है। ठीक यही स्थिति राग मार्गी साधना प्रणाली की व्यवस्थित स्वरूप-योजना की भी है। वल्लभ सम्प्रदाय की पुष्टि भक्ति, गौडीय सम्प्रदाय की रागानुगा भक्ति तथा अन्य सम्प्रदायों की प्रेमलक्षणा भक्ति की विभिन्न अवस्थाओं की तुलनात्मक समीक्षा का भी प्राय अभाव ही है। इनका पृथक् रूपण भी ठीक ठाक अध्ययन अब तक नहीं हो पाया है। इस रागभक्ति की विभिन्न धारायें हैं—बौद्ध वज्रयान साधना में महासुख का जो उच्च स्थान है वही महत्त्व सहजयान तथा परवर्ती साम्प्रदायिक सहजियों तथा बाउल सम्प्रदाय में रस तत्त्व को प्राप्त है। कौल सम्प्रदाय का रस साधन भी, साधना की दृष्टि से, आलोचना का विषय है। मैं समझता हूँ कि इस रस-साधना के क्षेत्र में मध्ययुग में बौद्ध तथा तान्त्रिक सिद्धाचार्यों का प्रभाव भी कम नहीं था। केवल एक प्रदेश में नहीं, भारत के विभिन्न भागों में, एक सहस्र वर्ष से अधिक समय तक इस साधना का गुप्त स्रोत प्रवाहित हुआ। इसका धारावाहिक इतिहास (केवल ऐतिहासिक बहिर्मुख विवरणमात्र नहीं) आज तक संकलित न हो सका।

जो कुछ हो, रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय की साधना का तत्त्व, क्रम और अनुष्ठानादि अवान्तर प्रकरणों का विवरण इस ग्रन्थ में पहली बार, प्रामाणिक रूप में संगृहीत हुआ है।

चतुर्थ अध्याय में गुरु परम्परा और विभिन्न प्रकार के तिलक चिह्नों की विस्तृत व्याख्या की गई है। यह अध्याय विशेष मूल्यवान् है, क्योंकि इस विषय पर विस्तृत विवरण अन्यत्र कहीं देखा नहीं गया।

इस ग्रन्थ के पञ्चम अध्याय में प्रस्तुत लेखक ने जितने महापुरुषों का परिचय दिया है उनकी साधना, सिद्धि, रचनायें आदि रसिक सम्प्रदाय की चिरन्तन सम्पत्ति हैं, और भारतीय साधना में एक विशिष्ट अवदान हैं। इन महात्माओं में से ६८ का कुछ विस्तृत परिचय दिया गया है, शेष १२२ के नाम, काल तथा ग्रन्थादि का निर्देश यथासम्भव संक्षेप में योजित किया गया है।

साकेत-लीला अथवा वृन्दावन लीला के तात्त्विक रूप से, प्राचीन काल में भी विशिष्ट साधक समाज परिचित रहा है। भगवान् की अनन्त शक्तियाँ हैं। उनके भाव भी अनन्त हैं। इसलिये उनकी लीला भी अनन्त है, धाम भी अनन्त हैं, तथा प्रति लीला का वैचित्र्य भी अनन्त है। भाग्यक्रम से जो उनके जितने अंश का सन्धान पा सके हैं उनका परिचयदान उतने पर ही अवलम्बित है अर्थात् उन्होंने उतने का ही वर्णन किया है। बाह्य जीवों के लिये यही एकमात्र

उपजीव्य है। "देवाना पूरयोध्या" यह वाक्य श्रुति का है। पाश्चात्य देशों में भी 'Eternal Jerusalem' प्रभृति ध्वनि सुनने में आती है। असली बात यह है कि प्राकृतदेह में जो अभिमान है उसका त्याग और अप्राकृत देह में उसकी स्थापना कर सकने पर ही अप्राकृत जगत् का दर्शन तथा उसमें प्रवेशादि सम्भव हो सकता है। परन्तु अप्राकृत देहलाभ सहज व्यापार नहीं है। प्रकृति से ही अविद्या कल्पित कारणदेह की रचना होती है और उसके अनन्तर क्रमशः सूक्ष्म तथा स्थूल देह का प्रकाश होता है। भोगायतन स्थूल देह के प्रकाश में जीव का प्रारब्ध कर्म ही मुख्य हेतु है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के ऊर्ध्व में जो "प्रकृष्ट सत्त्व" या विशुद्ध सत्त्वरूप परमोज्ज्वल भगवद्विभूति ("निशाद") विद्यमान है, उसे आगम में बिन्दु कहा गया है। वही अप्राकृत सत्त्व है। उसकी प्राप्ति विना 'अप्राकृत देह' अथवा 'बैन्दवदेह' नहीं मिल सकता, जिसे मतान्तर में 'महाकारण देह' की संज्ञा दी गई है। जब तक प्रणव की अर्धमात्रा[1] में प्रवेश नहीं किया जाता है तब तक उसकी कल्पना भी नहीं

---

[1]—प्रणव ईश्वर का वाचक है। प्रणव में अकार, उकार और मकार इन तीन मात्राओं के अनन्तर एक अर्धमात्रा है। अ, उ म, क्रमशः जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के वाचक हैं। परन्तु अर्धमात्रा तुरीय तथा तुरीयातीत की द्योतक है। साधक जप, ध्यान या अन्य किसी भी प्रकार से एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित होने पर मायिक विश्व के केन्द्र में उपस्थित होता है, किन्तु मायातीत विशुद्ध जगत में प्रवेश करने के लिये प्रणव की एक मात्रा को तोड़ कर अर्धमात्रा में परिणत करना पड़ता है। अ, उ, म के पश्चात् यही बिन्दु की स्थिति है। बिन्दु अर्धमात्रात्मक है। बिन्दु से लेकर उन्मना अवस्था की पूर्ववर्ती समना भूमि तक क्रमशः सूक्ष्मतर कलायें विद्यमान हैं। प्रतिकला में मात्रा निम्नस्तर से कम है। इस मात्रा को मन की मात्रा समझना चाहिये। कारण कि बिन्दु चन्द्रबिन्दु का ही द्योतक है। मन की मात्रा की सूक्ष्मता के अनुसार चित्शक्ति का अवतरण क्रमशः अधिकतर उज्ज्वल रूप में होता है। समना तक सूक्ष्मता की पराकाष्ठा का लाभ होता है। इसीलिये मन के क्रमिक उत्कर्ष की भी यही परिसमाप्ति है। उन्मना में मन नहीं है। विशुद्ध चैतन्य शक्ति जड़ सम्बन्ध रहित होकर अपने आप विराजती है। बिन्दु से लेकर समना पर्यन्त महाकारण अवस्था मानी जा सकती है। यह अर्धमात्रा स्वतः उच्चारणशील है। श्वास प्रश्वास की वायु से इसका उच्चारण नहीं हो सकता। अशुद्ध माया से विलक्षण योगमाया इसी का नामान्तर है।

हो सकती। यह अर्धमात्रा ही योगमाया है। साधारण जीव भगवान् की अशुद्ध माया रूप एकपादविभूति में रहकर उनकी त्रिपादविभूति का समाचार कहाँ से पायेंगे? जिन्हें गुरु कृपा से इसकी प्राप्ति होती है, वे भाग्यवान् हैं, वे ही धन्य हैं।

प्राचीन उपनिषद्-युग में 'दहर विद्या' प्रकरण में जो अन्तराकाशवर्ती ब्रह्मपुर की बात कही गई है, वही भगवद्धाम है। उस आकाश को हृदयाकाश भी कहा जाता है। वस्तुत वह चिदाकाश है। ज्ञानसविता के उदय होने पर जब दिव्य कमल अथवा पुण्डरीक रूप में उसका स्फुरण होता है, तब वह लीलास्थली रूप में आत्मप्रकाश करता है। उस कमल की कर्णिका में सशक्तिक परमपुरुष का अवस्थान है। यह व्यष्टिभाव की बात है। व्यापक दृष्टि से भी भक्तसमाज में अक्षर ब्रह्म का हृदय ही परब्रह्म पुरुषोत्तम के लीलास्थान रूप में गृहीत होता आया है। अक्षर ब्रह्म ही व्यापी वैकुंठ है। यह गुहारूपी हृदयाकाश ही परव्योम है जहाँ परमपुरुष निहित रहता है। ब्रह्मज्ञान के प्रभाव से अविद्यानिवृत्ति के अनन्तर शुद्ध हो जाने पर पुरुषोत्तम प्राप्ति की स्वरूप योग्यता उत्पन्न होती है। उसके बाद सहकारि-योग्यता आती है, जब भगवान् महती कृपा का प्रकाश करते हुये इस शुद्ध मुक्त आत्मा का स्वीय रूपेण ग्रहण करते हैं। इसी का नाम वरण अथवा अनुग्रह है। उसके प्रभाव से चित्त में भक्ति का उदय होता है। भगवत्प्राप्ति इसी समय होती है, इसके पूर्व नहीं। "आनन्दवल्ली" का "ब्रह्मविद् आप्नोति परम्" का भी यही तात्पर्य है। अन्त में लीला प्रवेश होता है। तब भक्त का अलौकिक आकार सिद्ध होता है। कहना न होगा कि पुरुषोत्तम क्षर तथा अक्षर दोनों से परे है। चिदाकाश ही लीलास्थान है, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है—

"चिदाकाशो महानास्ते लीलाधिष्ठानमद्भुतम्।

(पुराण संहिता ३२।१२)

साधारणतया सब जीव लीलाप्रवेश के अधिकारी नहीं हैं। पहले भगव दनुग्रह से उनको ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है, उसके बाद परम अनुग्रह से भगवान् के द्वारा 'स्वीय' रूपेण वरण होता है। अनुग्रह का फल है मुक्ति। यह सभी प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु परम अनुग्रह का फल है भक्ति—यह अत्यन्त दुर्लभ है। जो आत्मायें मुक्त हैं वे ब्रह्म के साथ सायुज्य लाभ करते हैं। परन्तु जो भगवान् के परम अनुग्रह का विषय होता है सायुज्य अवस्था से उसका उद्धार वे स्वयं ही करते हैं। भगवान् उसका विरह सहन नहीं कर सकते। इसीलिये वे ब्रह्म सायुज्य से उस आत्मा को उद्बुद्ध कर लेते हैं और अलौकिक सामर्थ्य

सम्पन्न दिव्य देह का प्रदान करते हैं, जिसको धारण करते हुये वह भगवद्धाम में प्रविष्ट हो सकता है और भगवान् के साथ अनन्त प्रकार के आनन्द का आस्वादन कर सकता है। श्रुति कहती है—

"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"

जिस देह से भगवल्लीला में प्रवेश होता है, वह अलौकिक या सिद्ध देह है। यह आकार अलौकिक होते हुए भी नित्य और विभु है। यह प्राकृत शरीर में तिरोहित रहता है। यह आनन्दाकार है—आनन्द ही उस आकार का स्वरूप है। आनन्द के तिरोधान के साथ साथ अणु जीव निराकार चिन्मात्र रहता है, आनन्द के प्रादुर्भाव से उसी में फिर साकारत्व आ जाता है।[1]

लीला प्रविष्ट भक्त अक्षर ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी परमपुरुष से अभिन्न नहीं है। लीला नित्य है, परन्तु लीला का अनुभव क्रमश: होता है। वस्तुत: *भगवान् की अनन्तलीलायें हैं—वे सभी सर्वदा वर्तमान रहती हैं।* नित्यधाम में प्राकृत काल न रहने पर भी भगवान् के लीला-परिकर रूप में काल की सत्ता रहती है। शास्त्रों में कहा गया है—"कालाद् गुणव्यतिकरः"—यह काल वहाँ नहीं है। इसका भी उल्लेख है कि "कालः पचति भूतानि"—इस प्रकार का परिणाम-साधक काल भी वहाँ नहीं है। वहाँ का उपादान विशुद्ध सत्त्व कर्म से या काल-प्रभाव से परिणाम प्राप्त नहीं होता, परन्तु भक्तेच्छाधीन ईश्वर की इच्छा मात्र से अथवा भगवदिच्छाधीन भक्तेच्छा से अथवा लीलाधिष्ठात्री महाशक्ति योगमाया के अधिष्ठान से अनुरूप लीलोपकरण रूप में परिणति लाभ करता है। इसीलिये कहा जाता है—

"न कालस्तत्र वै प्रभु"।

समग्र लीला-व्यापार ही अलौकिक लीला-कैवल्य रूप में भाव का खेल है। जो सब भावों से अतीत है, वही फिर सवभावमय है, अर्थात् महाभावमय है। कौन खेलता है? किसके साथ खेलता है? कब खेलता है? कहाँ खेलता है? यह खेल देखता है कौन? क्यों ऐसा खेल खेलता है? ये सब प्रश्न

१—बृहद्वामन पुराण में उल्लेख है कि श्रुतिवर्ग ने भगवान् के इस आनन्दमात्र स्वरूप का दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की थी। इस रूप का दर्शन इतना दुर्लभ है कि उसके साक्षात्कार की इच्छा को भी 'दुर्लभ' और 'दुर्घट' कहके वर्णित किया गया है।

"अक्षरं चिन्मयं प्रोक्तं आनन्दं निराकृति।
नित्यमेव पृथग्भूतो ह्यानन्दोऽपि हि साकृति॥"

चिंताशील मनुष्य के मन को अवश्य आलोडित करते हैं। वस्तुतः एक अद्वय अखण्ड तत्त्व ही विद्यमान है। वह स्वतंत्र एवं परमानन्द-स्वरूप है। वही खेल करता है, क्योंकि आनन्द का स्वभाव ही खेलना है, क्रीडा करना है। इसीलिये वह आप्तकाम और स्पृहाहीन होने पर भी स्वभाव वश होकर लीला अथवा क्रीडामग्न रहता है—"आत्मारामोऽप्यरीरमत्"। वह स्वयं एक से अनेक बन जाता है, अनन्त रूप धारण करता है, अनन्त भावों के अनुगुण अनन्त रूप धारण करता है—पुरुष होता है, प्रकृति होता है, सब कुछ होता है। एक दृष्टि से जो असंग पुरुष है, दूसरी दृष्टि से वही प्रेममय होकर सबके साथ विभिन्न सम्बन्धों से सम्बद्ध होता है। प्रति सम्बन्ध में ही भाव के एक एक रूप का प्रकाश होता है। रूप अनन्त हैं, क्रियायें अनन्त हैं, उसके बाद आश्रय-विषय भेदसे भाव के आलंबन भी अनन्त हैं। इसीलिये संभोग में अनन्त प्रकार का रसास्वादन होता है। जो रस का स्वरूप है, वही रस का भोक्ता भी है अर्थात् भोक्ता और भोग्य अभिन्न हैं। भोग की भी यही स्थिति है। अथच लीलास्थल में अनन्त वैचित्र्य है। ('भाव' शब्द से यहाँ स्थायीभाव समझना चाहिये) यह लीला देशकाल के अतीत है। प्राकृत देशकाल से परे उसकी स्थिति मायातीत है—वहाँ अप्राकृत देशकाल की सत्ता है।[1] चिदाकाश अथवा अनन्त परव्योम ही धाम या देश है। अष्टकाल ही काल है। इसीलिये नित्यलीला मायिक देश-काल के द्वारा परिच्छिन्न नहीं है। त्रिपाद-विभूति के लीला विषय में ही यह बात कही गई है। एकपादविभूति की लीला भी है, किन्तु ब्रह्माण्डवर्ती तथा सृष्टि प्रलय घटित होने के कारण वह अनित्य तथा परिमित है। वस्तुतः यह एकपाद विभूति की लीला ही जीव का कालाधीन सांसारिक जीवन है।

वह परम वस्तु "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।" जो इस लीला-चित्र का उद्घाटन करते हैं वे अपने भीतर ही करते हैं। धाम या देश भी स्वयं ही, काल भी स्वयं ही, उसका उपादान भी स्वयं ही, और निमित्त भी स्वयं ही। उन्हें द्वितीय की अपेक्षा नहीं है। जिससे इस लीला का

१—जो लोग इस गुह्य विषय में कल्पना नहीं कर सकते हैं, वे Emanuel Swedenborg रचित "Heaven and Hell" नामक ग्रंथ के Heaven या दिव्यधाम प्रकरण के 'Time in Heaven' तथा 'Space in Heaven' शीर्षक दो अध्याय देख सकते हैं। इस विषय में Davis लिखित Harmonial Philosophy भी द्रष्टव्य है।

अभिनय दिखाया जाता है, वह भी स्वय ही है। स्वयं ही अभिनेता है। स्वय ही अपने अभिनय का प्रेक्षक भी है—केवल प्रेक्षक नहीं है, 'सहृदय' प्रेक्षक है, अर्थात् भावयुक्त द्रष्टा है। इसी लिये रस का आस्वादन होता है। सभी रसों का आस्वादन होता है। जहाँ मुख्य रस शृगार है, वहाँ तदुपयोगी सभी आयोजन विद्यमान रहते हैं—नायक नायिका रूप मे आश्रय विषयात्मक आलम्बन विभाव, चन्द्र चन्दनादि रूप में उद्दीपन विभाव, स्वरभग कप मूर्च्छादि रूप में अनुभाव तथा उत्कण्ठादि रूप में सचारी भाव। अन्य रसों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिये। वह एक होने पर भी आस्वादन के लिये नाना रूप में प्रकाशमान होता है। इसी लिये कहा जाता है—

"आनन्दः परमं ब्रह्म स एव हि रसः स्मृत.।

+ + +

न एकाकी रमते यस्मात् लीलाधिष्ठानसिद्धये॥
अनादिसिद्ध एवाय धामरूपेण वै रस.।
नद्युदन्वन्वनोद्यानरूपेणैव विजृम्भित॥"

—पु० स० ३३।२८,२९,३०

वास्तविकता यह है कि जीव भाव के रग से दृष्टि को रजित करके प्राणमयी प्रकृति का खेल देखते हैं। कारण कि सहृदय हुये विना अभिनय देखने पर भी रसानुभूति नहीं होती। भावहीन द्रष्टा के लिये खेल, खेल नहीं रहता। इस प्रकार विशुद्ध द्रष्टा जब मन तथा प्राण का दर्शन करता है तब ये दोनों ही निष्क्रिय हो जाते हैं और खेल बद हो जाता है। वस्तुत उस समय विश्रान्ति का उदय होता है। परन्तु यह भी लीला का ही एक अग है, यह लीलावादियों का मत है। लीला में जिस प्रकार लीलातीत असगरूपेण वर्तमान रहते हैं, ठीक उसी प्रकार लीलाहीन स्थिति में भी लीला का अनुगम रहता है।

लीलारसिक महापुरुष लीला क तीन प्रकार अथवा भेद मानते हैं। अद्वैत वेदान्त मत में—पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक भेद से सत्यता तीन रूप माना गया है। बौद्ध विज्ञानवाद के मत से स्वभाव का परिनिष्पन्न, परतंत्र तथा परिकल्पित ये तीन भेद कहा गया है। ठीक इसी प्रकार लीलातत्वविद् मनीषियों ने भी लीला के विषय में अनुरूप सिद्धान्त का प्रवर्तन किया है। 'आलवदार' सहिता के षष्ठ अध्याय में लिखा गया है कि लीला भी वास्तविक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक भेद से तीन प्रकार की होती है। वास्तविक लीला का अभिनय अक्षर ब्रह्म के हृदय में होता है। अब तक इस भूमिका में लीला के सम्बन्ध में जो कुछ चर्चा की गई है वह इसी (वास्तविक) लीला

का विषय है। अक्षर ब्रह्म का हृदय-स्थान कैसा है? इसका उल्लेख करते हुये कहा गया है कि वह स्थान अनन्त कोटि ब्रह्माडों से परे है। केवल इतना ही नहीं, वह ब्रह्माडातीत महाशून्य से भी विलक्षण है। उसका कोई मान नहीं है। वह असीम और अनन्त है। वहाँ की भूमि, आकाश, जल, तेज और वायु सभी स्वप्रकाश चिदानन्दमय हैं। उस चिन्मय आकाश में आनन्दमय सुधा समुद्र है। उसके भीतर मणिद्वीप या चिंतामणि द्वीप विद्यमान है। उसमें नव रसमयी लीला के लिये नवखड भूमि है। उनमें मध्यखड ही श्रृंगारशाला के नाम से प्रसिद्ध है, इत्यादि। इस प्रकार के वर्णन अन्यत्र भी बहुत स्थलों पर पाये जाते हैं (द्रष्टव्य, पुराण संहिता)। नित्य साकेत अथवा नित्य वृन्दावन में जो लीला होती है, वह प्रातिभासिक है। अयोध्या अथवा व्रजभूमि में काल विशेष में जो लीला होती है, वह व्यावहारिक है। 'आलव दार संहिता' में नित्य वृन्दावन लीला का भी प्रातिभासिक रूप से वर्णन किया गया है।[1] परन्तु इस प्रकार की भेद कल्पना कृष्णभक्ति साहित्य में सर्वत्र नहीं पाई जाती। 'चैतन्य चन्द्रोदय' के तृतीय अक में नित्य वृन्दावन का जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार वह स्थान विरजा के उस पार नित्य चिन्मय भूमि रूप परव्योम से अभिन्न प्रतीत होता है। 'षट् संदर्भ' में भी उल्लेख है कि प्रधान (प्रकृति) या त्रिगुणात्मिका प्रकृति के बाद विरजा नदी है। उसके अनन्तर परव्योम अथवा त्रिपादविभूति है। वही शुद्ध सत्त्वमय अक्षर ब्रह्म पद है। उसी में पूर्व वर्णित नित्य वृन्दावन की स्थिति है। अतएव समन्वय दृष्टि से कहा जा सकता है कि वास्तविक लीला और प्रातिभासिक लीला के स्वरूप में विशेष कुछ मतभेद नहीं है। अर्थात् अक्षर ब्रह्म के हृदय में जैसी लीला का भान होता है, भक्त के हृदयाकाश में भी ठीक उसी प्रकार की लीला का स्फुरण होता है।

रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति साहित्य में गोलोक की एक विशेष महिमा है। रामभक्त कहते हैं कि ज्योति-स्वरूप गोलोक के बीच में साकेत धाम विराजमान है। उसे एक दृष्टि से गोलोक का अन्तःपुर माना जा सकता है। साकेत के मध्य में कनक-भवन नामक स्वर्णमय प्रासाद (विहार-स्थान) है। कनक-भवन के मध्य में कल्पवृक्ष है, उसके नीचे दिव्य मंडप, उसके मध्यस्थल में रत्नसिंहासन (छत्र चामर मंडित) विद्यमान है। इस सिंहासन के मध्य में सहस्रदल कमल है। इसकी कर्णिका बहुत उन्नत है। उसके भीतर बिन्दु है। बिन्दु में आह्लादिनी शक्ति सहित परात्पर ब्रह्म श्रीरामचन्द्र जी विराजते हैं। उनका

१—देखिये आलवंदार संहिता ६।९–१०

अगप्रभा समस्त गोलोक को उद्भासित करती है। परन्तु 'स्वयंभू आगम' के ८५ वे पटल में नित्य वृन्दावन का जो वर्णन है, उससे पता चलता है कि यह स्थान कालिन्दी के उस पार में है। साथ ही यह भी विदित होता है कि वृन्दावन अथवा गोकुल ही गोलोक के नाम से प्रसिद्ध है। 'लघु ब्रह्म सहिता' में सहस्रदलकमल को ही गोकुल कहा गया है। इसके बाहर जो चतुष्कोण स्थल है, उसका नाम श्वेतद्वीप है। श्वेतद्वीप का अंतर्मंडल वृन्दावन है अथवा वह वृन्दावन का बहिरंग है। उक्त ग्रंथ में गोलोक को श्रीभगवान् का निजधाम बताया गया है—"*गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य...*" इत्यादि।

पद्मपुराण के उत्तर खंड में श्रीकृष्ण को स्वय भगवान् न मान कर नारायण का नवम अवतार माना गया है। इसीलिये उनका लोक परव्योम का एक आवरण विशेष कहा गया है। इस पुराण के अनुसार श्रीकृष्णधाम परव्योम के *ऊर्ध्व में अवस्थित है। यह ऊर्ध्व स्थान पूर्व दिक् से क्रमश: गिनने पर नवम* सिद्ध होता है। अतएव नवम अवतार की लीला का स्थान यही है। परन्तु 'स्वयंभू आगम' के मतानुसार श्रीकृष्ण स्वय भगवान् हैं और उनका धाम आवरणात्मक न होकर स्वतंत्र है। इतना होते हुये भी इस विषय में मतभेद नहीं है कि उनका स्थान नारायण के स्थान के ऊर्ध्व में स्थित है।

भगवान् अनन्त भावमय हैं, इसीलिए उनकी लीला के अनन्त रूप हैं, यह पहले कहा जा चुका है। जिस भक्त की जैसी भाव-संपत्ति है वह तदनुरूप धाम को प्राप्त होता है। खीष्ट (Christ) ने कहा था-"**There are many mansions in my Father's house**", यह नितान्त सत्य है। महायान बौद्धधर्म में असंख्य बुद्धक्षेत्रों की कल्पना है—"सुखावती" इन क्षेत्रों में अन्यतम है। स्कंदपुराण में लिखा है—

> या यथा भुवि वर्त्तन्ते पुर्यो भगवतः प्रियाः।
> तास्तथा संति वैकुंठे तत्तल्लीलार्थमादृताः॥

अर्थात् एक परव्योम अथवा व्यापी वैकुंठ ही कल्पित नाना प्रदेशों में तत्तद् भगवत्स्वरूप का विहार स्थल है। इसलिये श्रीराम तथा श्रीकृष्ण लीला के धाम में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। किन्तु भावानुसार अनन्त भेद हैं। इस विषय में यहाँ अधिक आलोचना का अवकाश नहीं है। जो कुछ कहा गया है, वह एक दिग्दर्शन मात्र है।

वर्तमान ग्रन्थकार ने रसिक रामभक्ति साहित्य के आधार पर भक्तिरस तथा लीलाविस्तार का जो विवरण दिया है, उससे प्रतीत होता है कि यह विद्वान

रस-साहित्य हिन्दी भाषा के एक विशिष्ट संपद् रूप में परिगणित होने के सर्वथा योग्य है। खेद की बात है कि सम्यक् अनुसंधान के अभाव से यह इतने दिनों तक उपेक्षित होकर पडा रहा। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस समृद्ध रसधारा की विस्तृत विवेचना तो दूर की बात है, इसका सक्षिप्त परिचय भी यथोचित रूप में नहीं मिलता। इसका कारण है—ग्रन्थों की अनुपलब्धि, आलोच्य विषय के प्रति उदासीनता तथा इसके सम्बन्ध में साधारण ज्ञान का अभाव। मैं आशा करता हू कि यह विशद वाङ्मय अनेकाश में साहित्य मण्डली से प्रकाशित होकर लोकदृष्टि का विषय बनेगा। इस ग्रन्थ के लेखक ने प्रचुर अर्थ व्यय के साथ ही अत्यन्त परिश्रम एव क्लेश सहन करते हुये नाना दुर्गम स्थानों से रस-साधना के अलभ्य हस्तलिखित ग्रन्थों का सग्रह और दीर्घकाल तक श्रद्धा तथा अनुराग के साथ उनका अनुशीलन किया है। अतएव इस साहित्य के सरक्षण तथा प्रकाशन के विषय में उनका उत्तरदायित्व कम नहीं है, बल्कि मैं समझता हू और लोगों से अधिक ही है।

मेरी यह कामना है कि डा० सिंह दीर्घ जीवन लाभ कर इस विषय पर नवीन प्रकाश डालते रहें।

सिगरा, वाराणसी
२५–६–५७

गोपीनाथ कविराज

निवेदन

रामचरित में अनुरक्ति के संस्कारों का बीजारोपण मेरे मानस में कब हुआ, कह नहीं सकता, किन्तु उनका विकास रामभक्ति साहित्य के अनुशीलन से हुआ, इतना निश्चित है। प्रायः बीस वर्ष हुये जब मुझे पहले पहल अयोध्या के एक विशिष्ट किन्तु साहित्यक्षेत्र में अप्रसिद्ध रामभक्त महात्मा बनादास की कुछ हस्तलिखित पोथियों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। उनसे इस क्षेत्र में कार्य करने की प्रेरणा मिली। खोज करने पर अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शती के अनेक रामभक्तों की कृतियाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुईं। उनमें माधुर्य भावना की एक प्रशस्त धारा दिखाई पड़ी, जो न जाने कब से प्रवाहित चली आ रही थी। जिज्ञासा की शान्ति के लिये इतिहास की ओर दृष्टि मुड़ी तो ज्ञात हुआ कि हिन्दी साहित्य के प्रचलित इतिहासों में प्रायः रसिक साधकों की उपेक्षा ही की गई है और रामभक्ति की इस नई धारा के विषय में जो कुछ कहा गया है वह बहुधा एकांगी तथा भ्रमपूर्ण है। साहित्य क्षेत्र में रसिक रामोपासना विषयक फैली हुई इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये नवोपलब्ध सामग्री को प्रकाश में लाने और उस पर व्यवस्थित रूप से कार्य करने की इच्छा हुई। संयोगवश पं० अयोध्यानाथजी शर्मा के प्रोत्साहन एवं स्नेहपूर्ण पथ प्रदर्शन में किसी सीमा तक उसकी पूर्ति का अवसर भी मिल गया। फलतः आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त करने के विचार से १९५० ई० में एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया, जिसका विषय था "उन्नीसवीं शती का रामभक्तिसाहित्य विशेषतः महात्मा बनादास का अध्ययन"। विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त निरीक्षक परीक्षक महानुभावों को उसमें कुछ ऐसी मौलिक विशेषतायें दिखाई दीं जिनसे प्रभावित होकर उन्होंने उसे विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित करने की संस्तुति की। उससे प्रोत्साहित होकर रसिक सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास तथा उसकी साधना पद्धति के सम्यक् परिशीलन में प्रवृत्त हुआ। अतः उपाधि मिल जाने के बाद भी दो वर्ष अपने इस संकल्प की पूर्ति में लग गये।

सौभाग्य से इन्हीं दिनों भारतीय साधना, साहित्य तथा शास्त्र के अप्रतिम मनीषी महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज महोदय का स्नेहभाजन बनने का सुयोग प्राप्त हो गया। उनके मार्गनिर्देश से जो प्रकाश मिला है, प्रस्तुत ग्रंथ

उसी का परिणाम है। भूमिका लिखकर आचार्यपाद ने जो कृपा की है वह उनका आशीर्वाद है।

डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी तथा आचार्य चन्द्रबली पाडे भी इस प्रबन्ध के निर्माण में विशेष सहायक रहे हैं। द्विवदी जी का अनुभव, पाण्डित्य तथा रसिक साधना के प्रति सद्भाव हमारा प्रधान संबल रहा है। इसके लिये हम उनके चिर कृतज्ञ हैं। पाडे जी की छत्रछाया इस 'जन' को छात्रजीवन से ही प्राप्त रही है। अपने उस वात्सल्य का निवाह उन्होंने रुग्णावस्था में भी प्रस्तुत ग्रथ के परिमार्जन और परिष्कार में पूरा योग देकर किया है।

इनके अतिरिक्त सामग्री का सकलन करने तथा साधना के साम्प्रदायिक स्वरूप को समझने में कतिपय अन्य विद्वानों, साधकों एव सस्थाओं ने यथेष्ट सहायता प्रदान कर हमें कृतार्थ किया है। उनके प्रति आभार प्रदर्शन अपना पवित्र कर्तव्य हो जाता है। उनमें मुख्य हैं—

१—रसिकाचार्य महात्मा युगलानन्यशरण का 'सरस्वती भडार पुस्तकालय' लक्ष्मण किला, अयोध्या और उसके अध्यक्ष स्वर्गीय महन्त रामदेव शरण जी तथा वर्तमान महन्त श्री सीताराम शरण जी।

२—महात्मा रामकिशोर शरण, हनुमन्निवास, अयोध्या का निजी पुस्तकालय।

३—महात्मा राजकिशोरी वर शरण जी, जयपुर मन्दिर, जानकीघाट, अयोध्या का निजी पुस्तकालय।

४—नये सखा स्वर्गीय महात्मा हनुमान शरण जी का निजी पुस्तक-सग्रह।

५—महात्मा रामपदार्थदास जी वेदान्ती, जानकी घाट, अयोध्या का निजी पुस्तकालय।

६—रामायणी प० रामकुमारदास जी, मणिपर्वत, अयोध्या का निजी पुस्तकालय।

७—श्री वासुदेवाचार्य, दार्शनिक आश्रम, जानकी घाट अयोध्या।

८—श्री प्रभुदयाल शरण माथुर, सद्गुरु सदन, गोलाघाट अयोध्या का निजी पुस्तकालय।

९—श्री मैथिलीशरण भक्तमाली, नजर बाग, अयोध्या।

१०—महात्मा रामशोभादास, मनीरामजी की छावनी अयोध्या का निजी पुस्तकालय।

११—श्री सीताराम शरण, मनीराम जी की छावनी, अयोध्या।

१२—महात्मा सरयूशरण, नृत्य राघव कुञ्ज अयोध्या, का निजी पुस्तकसग्रह।

१३—महात्मा जानकी जीवन शरण, लालसाहेब का दरबार, कनकभवन, अयोध्या का निजी पुस्तकालय।
१४—पं० चन्द्रेश्वर पति त्रिपाठी, नयाघाट, अयोध्या का निजी पुस्तकसंग्रह।
१५—श्री रामरक्षा त्रिपाठी 'निर्भीक', रायगंज, अयोध्या का निजी पुस्तकसंग्रह।
१६—श्री रंगाचार्य, नगवा, काशी का निजी पुस्तकालय।
१७—श्री रामसरूप शरण अस्सी, काशी, का निजी पुस्तकसंग्रह।
१८—श्री रामभगवान् शरण, सुतटोला, काशी का निजी पुस्तकालय।
१९—आर्यभाषा पुस्तकालय, नागरीप्रचारणी सभा काशी।
२०—हिन्दूविश्वविद्यालय, पुस्तकालय काशी।
२१—विश्वनाथ पुस्तकालय, ललिताघाट काशी।
२२—महाराज पाटेश्वरी प्रसाद सिंह, बलरामपुर का प्रासाद पुस्तकालय।

इस ग्रंथ में जो चित्र दिये गये हैं, उनका संकलन विविध स्रोतों से हुआ है। महात्माओं के चित्र प्रायः रसिक पीठों के वर्तमान आचार्यों से प्राप्त हुये हैं। साधनापरक चित्रों की उपलब्धि महात्मा राजकिशोरीवर शरण (जयपुर मन्दिर अयोध्या) की कृपा का फल है। इसी प्रकार सम्राट् अकबर की 'रामसीय भाँति' मुद्राओं तथा बसोहली शैली का अनुकूल नायक 'राम' के चित्र भारतकलाभवन काशी विश्वविद्यालय के संचालक श्री रायकृष्णदास के सौजन्य से प्राप्त हुये हैं। इन सभी महानुभावों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

अपनी ओर से निरन्तर सतर्क रहने और विद्वानों तथा सन्तों का इतना सहयोग प्राप्त करने पर भी यह असंभव नहीं कि रसिक राममक्ति के साम्प्रदायिक सिद्धान्तों, साधना प्रणाली तथा व्यावहारिक पक्ष के निरूपण में प्रमादवश कुछ स्खलन और अल्पज्ञता के कारण जहाँ तहाँ कुछ त्रुटियाँ हो गई हों। आशा है इस प्रबन्ध के पाठक, लेखक को उनसे अभिज्ञ कराने की कृपा करेंगे, जिससे अगले संस्करण में उनका निराकरण हो जाय।

प्रस्तुत ग्रंथ के मुद्रण में ज्योतिष प्रकाश प्रेस के अध्यक्ष श्री बालकृष्ण शास्त्री एवं प्रूफ संशोधन में श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय ने जो तत्परता और आत्मीयता दिखाई है, उसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

गुरु पूर्णिमा
सं० २०१४ } भगवतीप्रसाद सिंह

विषय-सूची

रसिक साधना, साधना का स्वरूप, रसिक साधना के अधिकारी, रसिकसाधना का साध्य तत्त्व, साधना में प्रवृत्ति का हेतु–भगवदनुग्रह, भगवदनुग्रह का स्वरूप, अनुग्रह का समय, साधना पद्धति, आचार्य प्रपत्ति–क–पंचसंस्कारदीक्षा—१. मुद्रासंस्कार २. तिलकसंस्कार ३. नाम संस्कार ४ मन्त्रसंस्कार ५ माला (कंठी) संस्कार, ख–पंचार्थ (अर्थपंचक) उपदेश—१. प्रापक (जीव) का स्वरूप २. प्राप्य (ब्रह्म) का स्वरूप ३. प्राप्ति के उपाय ४. प्राप्ति के फल ५ प्राप्ति के विरोधी, ग–तत्त्वत्रय ज्ञान, घ–प्रपत्ति उपदेश, च–नाम साधना १ नामपरत्व उपदेश २. नामार्थ अनुसंधान ३. नाम अभ्यास, पहली भूमिका—भूमिशोधन, दूसरी भूमिका—नामजप, तीसरी भूमिका—अजपाजप, नामध्यान (१) ताडनध्यान (२) आरतीध्यान (३) मौक्तिक ध्यान। छ–गुणचिंतन–राम के गुण (अ) विश्वसचालनोपयोगी गुण (आ) भजनोपयोगी गुण (इ) आश्रितशरणापयोगी गुण (ई) रसिकोपयोगी गुण, सीता क गुण, ज–रूपध्यान, ध्यान पद्धति, चरण चिह्नों का ध्यान, हस्तचिह्नों का ध्यान, झ–भाव साधना, लगन की उत्पत्ति, लगन के लक्षण, लगन की आठ भूमिकायें, प्रीति दशा, प्रीति की आठ स्थितियाँ, प्रीति में दृष्टि मुद्रा, महाभाव का उदय, मादनदशा, उन्मादन दशा।

सम्बन्ध दीक्षा, साधना शरीर (चित् देह) के निर्माण की प्रक्रिया, उसका साधनात्मक महत्त्व, उसकी सम्बन्ध योग्यता, सम्बन्ध की उत्कण्ठा, सद्गुरु की प्राप्ति, सद्गुरु का महत्त्व, सम्बन्ध योजना, सम्बन्ध का स्वरूप, सम्बन्ध का अनुसन्धान, सखीभाव का सम्बन्ध–१. वय निर्णय, २. वर्ग निर्णय, ३. सेवा निर्णय, ४. दिव्य नाम, सम्बन्ध सूत्र, अष्टयाम भावना, सखा भाव का सम्बन्ध–१. वय निर्णय, २. वर्ग निर्णय तथा दिव्यनाम ३. सेवा निर्णय, सम्बन्ध सूत्र, अष्टयाम भावना, दासभाव का सम्बन्ध–१. वय निर्णय २. वर्ग निर्णय तथा दिव्यनाम ३. सेवा निर्णय, सम्बन्ध सूत्र, वात्सल्यभाव का सम्बन्ध, सम्बन्ध सूत्र, क. वृद्ध वात्सल्य (पुत्र पिता भाव) ख. लघुवात्सल्य (पिता पुत्र भाव), शांत भाव का सम्बन्ध, नित्या भावना।

रस सम्बन्ध बोध, भगवद्विग्रह में पंचरसों की स्थिति और उनका वर्ण, रसानुसार अवतारों का वर्गीकरण, पंचभक्तिरसों में अङ्ग-अङ्गी का सम्बन्ध, रसनिष्पत्ति, रस के अङ्ग १. विषयालम्बन, २ आश्रयालम्बन,

३. स्थायी भाव, ४. उद्दीपन विभाव, ५. अनुभाव, ६. सात्विक भाव, ७. संचारीभाव, पंच भक्तिरसों में ईश्वर जीव के सम्बन्ध का स्वरूप, पंच रसों में पारस्परिक सम्बन्ध–रस मैत्री, रसविरोध, रसों की तटस्थता, रसाभास, पंचभावोपासकों के अन्तर्मण्डल में प्रवेश का क्रम और उनकी स्थिति।

साकेतलीला प्रवेश, लीलाधाम के दो रूप—साकेत और अयोध्या, साकेत का साधनात्मक महत्त्व, साकेत परिचय, कनकभवन की स्थिति, साकेत के चार द्वारों पर स्थित चार विहार भूमियाँ, साकेत में पंचभावोपासकों के पूज्य स्थान, लीला में भगवत्स्वरूप, लीला का उद्देश्य, लीला में व्यक्तिगौरव, लीला के विशिष्ट धर्म, लीलाप्रवेश के अधिकारी, लीला के भेद—क. रसगतभेद, ख. वयगत भेद, ग. कालगत भेद, घ. स्थानगत भेद, लीला पुरुष, राम का नायक रूप, स्वकीया प्रेम का महत्त्व, लीला नायिका, लीला परिकर, परिकरों के तीन वर्ग–(अ) सामान्य परिकर (आ) सम्बन्ध मूलक परिकर (इ) प्रसाधन मूलक परिकर, लीला में सम्बन्धतत्त्व–(१) राम और सीता का सम्बन्ध (२) सीता और परिकर का सम्बन्ध (३) परिकर और राम का सम्बन्ध, परिकरों के सेवाधिकार में क्रम–(क) सखी वर्ग (ख) सखा वर्ग (ग) दास वर्ग (घ) स्नेही वर्ग (वात्सल्य भाव के उपासक) (च) प्रजा वर्ग (शांत भाव के उपासक), लीला परिकरों की सेवा विधि–सक्रिय सेवा, निष्क्रिय सेवा, लीला सुख भोग, संभोग के तीन रूप–१. मनसंभोग २. दृष्टि संभोग ३. साक्षात् अथवा स्पर्श संभोग, लीला सुख का स्वरूप, क—तत्सुख भावना ख—स्वसुख भावना, लीला में काम, लीला रस, रसिकों की कालक्षेप व्यवस्था, रसिकों के व्रतोत्सव, दार्शनिक मत।

चौथा अध्याय—परम्परा और तिलक पृ० ३१७–३५६

रसिक सम्प्रदाय में गुरु परम्परा और तिलक का महत्त्व, रसिक रामभक्ति की मूल परम्परायें, श्री तथा ब्रह्म संप्रदाय में रामभक्तिपरम्पराओं के बीज, स्वामी रामानन्द के पूर्वाचार्य, रामानन्दीय तिलक का परंपरागत स्वरूप, तिलक के विभिन्न अंग और उनका महत्त्व, रसिक तिलकों की विशेषतायें, रामानन्दीय सम्प्रदाय की द्वारा गादियाँ, रसिक परंपराओं की स्थापना, रसिकों में परंपरा निर्णय के नियम।

रसिक गद्दियों की परंपरायें और तिलक १. गलतागद्दी, जयपुर २. रैवासागद्दी, रैवासाबाटी, जयपुर ३. महात्मा बालानन्द की गद्दी,

जयपुर ४. श्रीटीला द्वारपीठ (खेलना भोलाव जयपुर) ५. श्रीसुरकिशोर जी की गद्दी, श्री जानकी मन्दिर, मिथिला ६. बिन्दुकाचार्य महात्मा रामप्रसाद की गद्दी बड़ास्थान, अयोध्या ७. श्री जीवाराम 'युगलप्रिया' की गद्दी, चिरान (छपरा) बिहार ८. श्री जनकराजकिशोरीशरण 'रसिक अली' की गद्दी रसिक निवास, मिथिला तथा अयोध्या ९. महात्मा रामदास 'तपसी' की गद्दी, तपसी छावनी, अयोध्या, १०. श्री गोमतीदास की गद्दी, हनुमन्निवास, अयोध्या ११. श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद 'रूपकला' की गद्दी रूपकला कुञ्ज, अयोध्या १२. जयपुर मन्दिर, जानकी घाट की परंपरा अयोध्या १३. श्री शीलमणि की गद्दी दरबार लाल साहेब अयोध्या १४. श्री कामदेन्द्रमणि की गद्दी साकेत राजमहल, अयोध्या १५ प० उमापति त्रिपाठी 'कोविद' की गद्दी नयाघाट, अयोध्या १६. बाबा रघुनाथदास की गद्दी बड़ी छावनी, अयोध्या १७ प० रामवल्लभाशरण की गद्दी, जानकी घाट, अयोध्या १८. महात्मा रघुनाथदास राम सनेही की गद्दी रामघाट, अयोध्या १९. नरघोघी गद्दी, मिथिला २०. बराही गद्दी, मिथिला २१. विपरास्थान, मिथिला २२. कुड़ियाघाट स्थान, लखनऊ २३. परमहंस जी का स्थान, गोकुल २४ रामसखे जी की गद्दी, नृत्य राघव कुञ्ज, अयोध्या तथा मैहर (विंध्य प्रदेश), आचार्यों का सखीरूप।

रसिक साहित्य की विशेषतायें, रसिक सिद्धान्त और साहित्य, रसिक सिद्धान्तों का साम्प्रदायिक साहित्य पर प्रभाव, रसिक सिद्धान्तों का सामान्य साहित्य पर प्रभाव १. निर्गुण काव्य पर प्रभाव २ कृष्ण काव्य पर प्रभाव ३. रीति काव्य पर प्रभाव रसिक साहित्य और देशकाल, रसिक साहित्य में सामयिक जीवन, १ किस्तानी प्रचार २. साधु समाज ३. सन सनातन की क्रान्ति, रसिक साहित्य की भाषा, हिन्दी, संस्कृत, राजस्थानी, पंजाबी और रेखता, रसिकों का गद्य साहित्य-रसिक साहित्य में गतानुगतिकता।

रसिक साहित्य के निर्माता १. अग्रदास 'अग्रअली' २. नाभादास 'नाभाअली' ३. बालकृष्ण 'बालअली' ४. बालानन्द ५. छनलाल ६. रामप्रिया शरण 'प्रेमकली' ७. जानकीरसिक शरण 'रसमाला' ८. रूपलाल 'रूपसखी' ९. रामप्रपन्न 'मधुराचार्य' १०. सूर किशोर ११ मामा प्रयाग दास १२. रामसखे १३. प्रेमसखी १४. हर्याचार्य १५ कृपानिवास १६. 'सियासखी' १७ रामप्रसाद 'बिन्दुकाचार्य' १८. रामदास तपसी

रामभक्ति
में
रसिक सम्प्रदाय

पहला अध्याय

विषय-विचार

रामभक्ति की रसिकधारा का अनुशीलन अभी तक प्राय आँख से ओझल ही रहा है। इस विषय पर स्वतन्त्र ग्रथ तो कोई लिखा ही नहीं गया, साहित्य के इतिहासग्रथों म भी जो सामग्री इसके सम्बन्ध में यत्र-तत्र उपलब्ध है, वह अत्यन्त अ प, अव्यवस्थित और अपूर्ण है। अत उससे इस विषय के अध्ययन की कोई विशेष प्रेरणा नही मिलती। अपेक्षित सामग्री के अभाव में इस साहित्य के सम्बन्ध म गण्यमान्य विद्वाना ने जो मत स्थिर कर लिये हैं, वे इतने एकांगी और भ्रामक हैं कि उनका आधार लेकर इस क्षेत्र में कार्य करना खतरे से खाली नहीं है।

महात्मा बनादास पर कार्य करते हुए लेखक का ध्यान विशेष रूप से इस ओर गया। उनके समकालीन एव पूर्ववर्ती रसिक रामभक्तों की प्रचुर रचनाओं को देखकर प्रतीत हुआ कि साहित्य के इस उपेक्षित क्षेत्र में ऐसी अनेक सरस भावधाराएँ गतिशील हैं, जिनके द्वारा इसके अखण्ड प्रवाह का एक शृखलाबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु सा य जितना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक था, साधन उतने ही दुष्प्राप्य और दुर्गम। इस विषय से सम्बद्ध साहित्य का अधिकाश हस्तलिखित पोथियों के रूप म मन्दिरों में रक्षित है। जो अश प्रकाशित भी है उसकी स्थिति यह है कि उसक प्रकाशक, सतों क कृपापात्र तथा शिष्य थे, जिनका कार्य उसे प्रकाशित भर कर देना था। उनका न्योछावर था 'केवल प्रेम' जिसके पात्र अधिकारी व्यक्ति ही हो सकते हैं। अतएव इस साहित्य का मुद्रित अंश भी सर्वसाधारण के लिए सुलभ न रहा।

इसका एक कारण और भी था। रामभक्तों में तुलसी-साहित्य का सम्मान इतना बढ गया था कि आध्यात्मिक उन्नति के लिये क्या साक्षर और क्या निरक्षर सभी 'मानस' और 'विनय' पर मुग्ध थे। इनक सामने जनसमाज म अन्य भक्तों की रचनाओं की कोई माँग ही नहीं थी। इसका परिणाम यह हुआ कि सर्वोपयोगी मुद्रित साहित्य भी सतों तथा उनकी गद्दी के प्रभावक्षेत्र म आने वाले इने-गिने व्यक्तियों तक ही सीमित रह गया। इसलिये पचास वर्षों क भीतर ही अप्रकाशित पुस्तकों की भाँति वह भी अलभ्य हो गया। इन ग्रन्थों

को यह दशा देखकर प्रकाशक हस्तलिखित सामग्री को मुद्रित कराने का साहस न कर सके।

साम्प्रदायिक पीठों में रक्षित ग्रन्थों की अधिकाश पाडुलिपियाँ भी अयोग्य उत्तराधिकारियों की लापरवाही से नष्ट हो गई। जो बची रह गई हैं, उन्हें प्राप्त कर लेना तो दूर रहा उनका दर्शन भी दुर्लभ होता है, जिसके निम्नाकित कारण हैं —

(१) पूर्वाचार्यों के हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रति पूज्य भाव।
(२) साम्प्रदायिक ग्रन्थ होने के नाते उन्हें, जनसपर्क से दूर, मदिरों के भीतर ही रखने की व्यवस्था।
(३) साधना की गुह्यता के कारण रसिक सतों द्वारा केवल समानधर्मा साधकों को ही उनके पठन पाठन की अनुमति देना और उन्हीं को उसका *अधिकारी मानना*।

ऐसे अनेक प्रतिबंध इन ग्रथों के अधकार में विलीन रहने के कारण हुए। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई और थी। या तो अपरिचित को प्राय कोई भी साधु पुस्तक दिखाना पसद नहीं करता, उसमें भी नवशिक्षित लोगों से वे अधिक सतर्क रहते हैं और उनकी बात वधि को सदेह की दृष्टि से देखते हैं। इधर हिन्दी साहित्य के कुछ लब्धप्रतिष्ठ आलोचकों ने इस सप्रदाय की जैसी कड़ी आलोचना की उससे रसिक संतों को गहरी चोट लगी और उनमें यह प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई कि अंग्रेजी शिक्षित लोग शृंगारी साधना के विदूषक और विरोधी हैं। इससे वे इस वर्ग से दूर रहने लगे। अतएव यह क्षेत्र प्राय अछूता हा रह गया। इन पक्तियों के लेखक को स्वयं अपने उद्देश्यों की पवित्रता प्रमाणित कर, रसिक साहित्य के अवलोकन और सत्सग द्वारा उसके सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, उनका विश्वासपात्र बनने में, वर्षों लग गये।

यह तो हुई साम्प्रदायिक साहित्य के उस अग की बात जिसके रचयिता गद्दीधारी अथवा आश्रमवासी सत थे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे रमते साधक भी थे जो आकाश-वृत्ति से निर्वाह करते थे और कभी किसी नदी तट पर अथवा किसी वृक्ष के नीचे आसन जमा कर रहते थे। मामा प्रयागदास जी एक ऐसे ही सत थे। इनके जीवनवृत्त तथा साहित्यिक कृतियों के कहीं सुरक्षित होने का प्रश्न हा नहीं था। अत ऐसे भक्तों की जीवनी और रचनाओं की जानकारी प्राप्त करने के लिये मौखिक परपरा से सतों में प्रचलित सामग्री का संकलन हा प्रधान साधन था। ऐसी परिस्थिति में सबका मिला-जुला परिणाम यह हुआ कि इस धारा के प्राचीन हस्तलिखित ग्रथों की खोज यह, जिस साहित्य की रचना हुए

अभी सौ वर्ष भी नहीं बीते हैं, उसके रचयिताओं के विषय में हमारा ज्ञान उनके कुछ छंदों और चमत्कारों तक ही सीमित रह गया है। साधना और साहित्य के इन अमूल्य रत्नों को शीघ्रता से कालकवलित होते देख, इनके अध्ययन की ओर अपनी प्रवृत्ति हुई और यह प्रबंध उसी का परिणाम है।

अब प्रस्तुत विषय पर कार्य करते समय जहाँ-कहीं से थोड़ा बहुत प्रकाश प्राप्त हुआ है, उसकी उपादेयता पर विचार कर लेना समीचीन होगा। इससे यह सरलता से व्यक्त हो सकेगा कि लेखक ने इस क्षेत्र में कैसा और कितना काम किया है और रामसाहित्य के इस अध्ययन में उसका कितना योग है।

१. रसिक प्रकाश भक्तमाल

रसिक संप्रदाय के प्रमुख संतों का भक्तमाल की शैली पर लिखा गया यह एक अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथ है। इसके रचयिता महात्मा जीवाराम 'युगलप्रिया', रसिकाचार्य रामचरणदास जी के शिष्य थे। उन्होंने सं० १८९६ में इसे पूरा किया और इसके तेइस वर्ष बाद सं० १९१९ में उनके शिष्य जानकी रसिक शरण ने इस भक्तचरितावली को 'रस प्रबोधिनी टीका' से अलंकृत किया। मूल ग्रंथ में २३५ छप्पय और ५ दोहे लिखे गये थे। टीकाकार ने इनकी व्याख्या ६१९ कवित्तों में की है। १८९३ ई० में यह ग्रंथ लंदन प्रिंटिंग प्रेस लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। किन्तु जीवाराम जी की परंपरा में, अयोध्या और छपरा के संतों तक ही इसका प्रचार सीमित रहा। रसिक संतों ने इसके प्रचार के लिये खुले रूप से बिक्री की ओर ध्यान नहीं दिया। इसलिये प्रकाशित होते हुए भी यह हस्तलिखित ग्रंथों की ही भाँति साधारण पाठकों के लिये अलभ्य हो गया। ग्रंथकर्ता ने छप्पयों में भक्तों की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख मात्र किया था, किन्तु टीका में वे खूब पल्लवित करके दिखाये गये हैं, जिससे भक्तों के जीवन की कुछ घटनाओं एवं उनकी साम्प्रदायिक मान्यताओं पर काफी प्रकाश पड़ता है। भक्तमाल के आदर्श पर लिखा होने से इसमें तिथियों का उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी संतों के वृत्त जिस क्रम से रखे गये हैं, परीक्षा करने पर वे अधिकतर कालक्रम के अनुकूल ही ठहरते हैं। रसिक साहित्य की प्रधान प्रवृत्तियों का अनुसंधान करने में इससे अधिक उपादेय अन्य कोई रचना आज तक देखने में नहीं आई। प्रस्तुत अध्ययन में ऐसे रसिक संतों के जीवनवृत्त के लिये, जिनके विषय में अन्यत्र कहीं सामग्री नहीं मिलती, इसी को प्रमाण माना गया है। जिनका विवरण अन्य स्रोतों से प्राप्त हो गया है, उनके समर्थन एवं पुष्टि के लिये इसकी सहायता ली गई है। अतएव इसी को इस प्रबन्ध का प्रधान सन्दर्भ ग्रंथ समझना चाहिये।

२. रामरसिकावली

इस 'भक्तमाल' की रचना यशस्वी रामभक्त महाराज रघुराज सिंह ने सं० १९२१ में की थी। स० १९७१ में यह प्रथम बार वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुई। इसके 'उत्तर चरित' में अग्रदास[१], नाभादास[२], रामप्रसाद[३], रामसखे[४], रघुनाथदास[५], प्रेमसखी[६], सूरकिशोर[७], युगलानन्यशरण[८], शीलनिधि[९] तथा रूपसखी[१०] आदि प्रमुख रामभक्तों के चरित वर्णित हैं। कृपानिवास जी का उल्लेख, जिसे आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने एक कल्पित व्यक्ति माना है, इसमें हुआ है।[११] कवि की दृष्टि संतों के प्रभाव एव चमत्कार वर्णन की ओर अधिक रही है। उनकी रचनाओं ओर साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के विषय में वे प्रायः मौन रहे हैं। महाराज रघुराज सिंह स्वय एक उच्चकोटि के रामभक्त थे। वे यदि चाहते तो इस धारा का पूरा इतिहास प्रस्तुत कर सकते थे किंतु उनका ध्यान इधर नहीं गया। अत अन्य भक्तों की तरह अपने समकालीन रामभक्तों का भी चलता हुआ वर्णन करके वे सतुष्ट हो गये। इतना होते हुए भी इस ग्रन्थ में जो सूचनाएँ प्राप्त हैं, वे निस्सन्देह प्रमाण कोटि की हैं। कारण यह है कि उन्नीसवीं शती के जिन संतों का परिचय रामरसिकावली में दिया गया है, वे अधिकतर रघुराजसिंह जी के परिचित थे। और जिन पूर्वाचार्यों के चरित इसमें वर्णित हैं, उनके विषय में इन्हीं संतों से उन्होंने जानकारी प्राप्त की थी। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' से 'राम-रसिकावली' के अधिकाश विवरणों का समर्थित होना हमारी उक्त धारणा की पुष्टि करता है। इस ग्रंथ से यह भी पता चलता है, कि इनके पिता महाराज विश्वनाथ सिंह अष्टयाम-उपासना करते थे और अपने समय के प्रसिद्ध रसिक रामभक्त गिने जाते थे। अस्तु, रसिकसाधना के परिशीलन में यह एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

३. भाषा-काव्य-सग्रह

हिन्दी के आरम्भिक काव्य-सग्रहों में पंडित महेशदत्त का 'भाषा काव्य-सग्रह' एक उपादेय किन्तु उपेक्षित ग्रंथ है। इसकी रचना 'शिवसिंह-सरोज' के चार वर्ष पूर्व स० १९३० में हुई थी। जिन रसिक रामभक्तों की रचनाएँ सक्षिप्त

१—रामरसिकावली पृ० ५७५	५—वही पृ० ९६५	९—वही पृ० ९६८
२— वही पृ० ५८४	६—वही पृ० ९६५	१०—वही पृ० ९६८
३— वही पृ० ९१२	७—वही पृ० ९४९	११—वही पृ० ९६८
४— वही पृ० ९६२	८—वही पृ० ९५०	

जीवनवृत्त सहित इसमें दी गई हैं—उनमें प्रमुख हैं, नाभादास[1], रघुनाथ दास[2], क्षेमकरण मिश्र[3], रामनाथ प्रधान[4] और अयोध्याप्रसाद वाजपेयी[5]। कवियों की जीवनी में तिथियों का उल्लेख इसकी विशेषता है। महात्मा रघुनाथदास का वर्णन वर्तमान काल में किया गया है, इससे ज्ञात होता है कि वे रचयिता के समकालीन थे। अन्य भक्त कवियों की अपेक्षा उनके जीवन सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन भी कुछ अधिक विस्तार के साथ किया गया है। इसका कारण है—दोनों का एक ही प्रदेश का निवासी होना। महेशदत्त धनौली (बाराबंकी) के और रघुनाथदास जी पैंतेपुर (सीतापुर) के रहने वाले थे। खेद है कि रघुनाथदास जी के समकालीन अन्य लब्धप्रतिष्ठ रसिक सन्तों—युगलानन्यशरण, शीलमणि, पं० उमापति आदि को इस संग्रह में स्थान नहीं दिया गया। फिर भी जो कुछ सामग्री इसमें उपलब्ध है, प्राचीनता के विचार से विश्वसनीय और उपयोगी है।

४. शिवसिंह-सरोज

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में शिवसिंह जी सेंगर का अपना अलग स्थान है। प्रसिद्ध है कि सबसे पहले इन्होंने ही हिन्दी कवियों की खोज में अभिरुचि दिखाई और उसके फलस्वरूप सं० १९३४ में 'शिवसिंह सरोज' नामक विख्यात कवि-वृत्त-संग्रह की रचना की। रामरसिकावली में अप्राप्य कतिपय अन्य रामभक्तों की रचनाओं के एक-दो नमूने और कुछ के अनुमानित आविर्भाव काल भी दिये गये हैं, जिनमें मुख्य हैं—अग्रदास[6], नाभादास[7], काष्ठजिह्वा-स्वामी 'देव'[8], पं० उमापति[9], बंदन पाठक[10], रामनाथ प्रधान[11] और प्रेमसखी[12] इन भक्तों की साधना एवं दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डालना सेंगर जी का उद्देश्य ही नहीं था।

'सरोज' में आये हुए अधिकांश रामभक्तकवि रचयिता के समकालीन हैं, अतः उनका उल्लेख वर्तमान काल में किया गया है। प्राचीन कवियों के आविर्भाव काल देने की परिपाटी का सूत्रपात इसी कविवृत्तसंग्रह से माना

१—भाषा काव्य संग्रह पृ० १०६	७—वही पृ० ४३९
२— वही पृ० ६६	८—वही पृ० ४३४
३— वही पृ० ७९	९—वही पृ० ३९४
४— वही पृ० ८९	१०—वही पृ० ४५९
५— वही पृ० ९०	११—वही पृ० ४७८
६—शिवसिंह सरोज पृ० ३८२	१२—वही पृ० ३९४

जाता है। शिवसिंह जी के कार्य का महत्त्व इसीसे आँका जा सकता है कि इनके परवर्ती हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करने वाले सर जार्ज ग्रियर्सन ने अधिकतर इन्हीं के द्वारा वर्णित कवि वृत्तों को प्रमाण माना है। इतना ही नहीं कवियों के आविर्भाव काल देने में भी उन्होंने प्रायः शिवसिंह का ही अनुसरण किया है। जहाँ तक रसिक राम भक्त कवियों का सम्बन्ध है, इनकी सूचनायें अत्यन्त सीमित एवं सक्षिप्त होते हुए भी भ्रान्त नहीं हैं।

५. माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान

शिवसिंह जी के पश्चात् प्रसिद्ध भाषाशास्त्री सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' में जो १८८९ ई० (स० १९४६) में रायल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित हुई, कुछ रामभक्त कवियोंका उल्लेख किया है। जिनमें मुख्य हैं—किशोरसूर कवि[१], प्रेमसखी[२] भगवन्तराय खीची[३], पाटजिहा स्वामी[४], वन्दनपाठक[५], उमापति त्रिपाठी[६], रसिक बिहारी[७], रघुनाथदास[८], रामचरणदास[९], और बैजनाथ जी[१०]। इन्होंने शिवसिंह सरोज का आधार तो लिया है, किन्तु उसमें आए हुए कुछ कवियों के आविर्भाव काल विषयक अधूरी सूचनाओं को यथासम्भव पूर्ण बनाने का भी प्रयास किया है और इस प्रकार अपनी कृति की उपयोगिता बढ़ाई है। उदाहरणार्थ प्रेमसखी (१७३४ ई०)[११] रघुनाथदास (१८८३ ई०)[१२] का समय 'सरोज' में नहीं दिया गया था। इन्होंने इन दोनों कवियों का काल निश्चित किया है। इसी प्रकार कवियों के जीवनवृत्तों में भी यत्र-तत्र परिवर्धन हुआ है। पाटजिहा स्वामी और प० उमापति त्रिपाठी के जीवन की घटनाओं और उनकी रचनाओं का कुछ विस्तार से उल्लेख इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। अन्य कवियों में कुछ के केवल उदयकाल और किसी रचना का संकेतमात्र किया गया है। इस ग्रंथ को काल-क्रमानुसार विभिन्न अध्यायों में विभाजित कर उन्होंने कालविशेष में पाई जाने वाली साहित्यिक प्रवृत्तियों का सक्षिप्त परिचय भी दे दिया है। ग्रियर्सन महोदय ने १९वीं शती में तुलसी की बढ़ती हुई जनप्रियता का उल्लेख किया है[१३], किन्तु

१—माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान सन्दर्भ संख्या २८५

२—वही सं० सं० ४२३ ६—वही सं० सं० ९ १०—वही सं० सं० २९

३—वही सं० सं० ३३३ ७—वही सं० सं० ४०५ ११—वही सं० सं० ४३२

४—वही सं० सं० ९ (अ० १०) ८—वही सं० सं० ६९२ १२—वही सं० सं० ६९२

५—वही सं० सं० ५०६ ९—वही सं० सं० १२८ १३—वही पृ० १०८

रामभक्तिक्षेत्र में किसी नवीन चेतना का संकेत उनकी इस रचना में नहीं मिलता।

६. खोज रिपोर्ट

नागरीप्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित खोजरिपोर्टों के विवरणों में रसिक साहित्य विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। तुलसी के पश्चात् राम काव्य का जिन परिस्थितियों में विकास हुआ, उनका क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करने में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। जिन कवियों का इस प्रबन्ध में वर्णन आया है, उनमें अधिकांश इन रिपोर्टों में आ चुके हैं। अतएव उनकी पृथक् सूची देना अनावश्यक है। इतनी सामग्री प्राप्त होते हुए भी इनकी सहायता से न तो इतिहासों में कालक्रमानुसार इन कवियों का वर्गीकरण किया गया है और न यत्किंचित् निर्दिष्ट सामग्री के आधार पर इनके सम्प्रदाय तथा आध्यात्मिक विचारों का निर्णय ही हुआ है। अपना यह विश्वास है कि इन सूत्रों का उपयोग यदि कुछ पहले कर लिया गया होता और हिन्दी के इतिहास-लेखकों ने इनका उल्लेख कर दिया होता तो इस साहित्य के अध्ययन की परिपाटी चल पड़ी होती और अब तक बहुत कुछ सामग्री नष्ट होने से बचा ली जाती।

एक कमी जो इन सभी विवरणों में प्रत्यक्ष दिखाई देती है, वह है भक्तों के जीवनवृत्त के प्रति उपेक्षा का भाव। प्रतीत होता है कि विवरण लेते समय इसके महत्त्व की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया। इससे कहीं-कहीं भारी भ्रम उत्पन्न हो गए हैं। उदाहरणार्थ, १९ वीं शती के रामभक्तों में रघुनाथदास नाम के तीन सतों के विवरण विभिन्न खोजरिपोर्टों में मिलते हैं। ये हैं—

१. हरिनाम सुमिरनी के रचयिता बाबा रघुनाथदास (जन रघुनाथ) जिन्होंने अयोध्या में 'बड़ी छावनी' की स्थापना की थी।

२. 'विश्रामसागर' के निर्माता रघुनाथदास रामसनेही, और

३. 'मानसदीपिका शंकावली' के कर्ता रघुनाथदास। बारहवीं खोज रिपोर्ट (१९२३—१९२५) में भ्रांति से रघुनाथदास रामसनेही को 'हरिनाम सुमिरनी' का लेखक माना गया है[1], किन्तु जिन महात्मा बलदेवदास जी का उन्हें शिष्य बताया गया है, वे प्रथम बाबा रघुनाथदास के गुरु थे। इन दोनों सतों के संप्रदाय भी भिन्न थे। इसी प्रकार तेरहवीं खोज रिपोर्ट (१९२६–१९२८) में तीनों को एक ही व्यक्ति मान लिया गया है[2] और अन्तिम दो के नाम से प्राप्त

१–बारहवीं खोज रिपोर्ट, भाग २, पृ०१११।

२–तेरहवीं खोज रिपोर्ट, पृ० ७२।

पुस्तकें एक ही व्यक्ति 'जन रघुनाथ राम सनेही' के नाम लिख दी गई हैं। उक्त तीनों संतों द्वारा रचित पुस्तकों में 'प्रभावली' नामक एक ग्रंथ बढ़ा दिया गया है। यह उनमें अंतिम का ही हो सकता है, क्योंकि प्रथम दो की रचनाओं का पूरा पता लगाने पर भी, इस लेखक की जाँच में, वह उनमें से किसी एक का भी रचित नहीं ठहरता।

रिपोर्टों में रामभक्त कवियों के सम्बन्ध में एक दूसरी भ्रांति मिलती है—अग्रदास और अग्रअली को दो भिन्न व्यक्ति मानने तथा नाभादास की एक रचना 'रामाष्टयाम' को अग्रदास विरचित समझ लेने की। अग्रदास जी की 'ध्यान मंजरी' अथवा 'रामध्यान मंजरी' तथा 'उपासना बावनी' अथवा 'अग्रदास की कुण्डलिया' इन दो पुस्तकों का कई विवरणों में उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त आठवीं खोज रिपोर्ट (१९०९–१९११) के विवरणों में अग्रअली नामक एक कवि का उल्लेख करते हुए उसकी अष्टयाम शीर्षक एकमात्र रचना का परिचय भी दिया गया है[१]। अग्रअली के नाम से खोज रिपोर्ट में निर्दिष्ट अष्टयाम के वर्ण्य विषय की परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ के मध्य और अंत में जो छंद उद्धृत हैं, वे नाभादास जी के प्रकाशित अष्टयाम[२] के छंद संख्या—१२६, १२७, १२८ और ५१४–११८ तक से अक्षरशः मिलते हैं (खोजरिपोर्ट में इतनी ही सामग्री प्राप्य थी, अतएव पूरे ग्रंथ का मिलान नहीं किया जा सका) आरंभिक पंक्तियों का परस्पर कोई मेल नहीं है। अग्रदास जी के नाम से दोहा चौपाई में लिखे गये किसी अष्टयाम का अन्यत्र उल्लेख भी नहीं पाया जाता। ऐसी स्थिति में अग्रअली के नाम से प्राप्त इस 'अष्टयाम' को नाभादास जी के 'रामाष्टयाम' से अलग मानना उचित नहीं है। रही 'अग्रअली' की बात। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि उक्त छाप से रसिक संतों में अनेक फुटकर पद प्रचलित हैं, जो साम्प्रदायिक परंपरा में रसिकसाधना के प्रवर्तक अग्रदास द्वारा ही रचे गए माने जाते हैं। अग्रअली उनका 'महली' अथवा साधनासम्बन्धी नाम था। रिपोर्ट में 'अग्रदास' से 'अग्रअली' को पृथक् मानने के कारण नहीं दिये गये हैं। अतएव जब तक इसके विपक्ष में अधिक सबल प्रमाण नहीं मिल जाते, उक्त दोनों व्यक्तियों को अभिन्न मानना ही युक्तिसंगत होगा।

१—आठवीं खोज रिपोर्ट, पृ० २६।

२—श्रीरामाष्टयाम (प्राचीन कवि श्री नाभादास जी रचित) संपादक व टीकाकार श्री स्वामी रामकिशोरीशरण जी, श्री जानकी घाट अयोध्या, १९३५ ई०।

इसी प्रकार की एक अन्य भ्रान्ति बालकृष्ण नायक और बालअली के विषय में हुई है। दसवीं खोज रिपोर्ट (१९१७–१९१९) में बालकृष्ण नायक रचित 'ध्यानमंजरी' और 'नेहप्रकाशिका ध्यान मंजरी' नामक दो रचनायें बताई गई हैं[1]। प्रथम का निर्माण-काल सं० १७२६ दिया गया है और दूसरी का सं० १७४९। दोनों ग्रंथों की पुष्पिकाओं में रचयिता (बालकृष्ण) ने अपने को चरणदास नामक किसी महात्मा का शिष्य बताया है। ग्यारहवीं खोज रिपोर्ट (१९२०–१९२२ ई०) में बालअली के नाम से 'नेह प्रकाश' का उल्लेख है[2]। संपादक ने बाल अली का परिचय देते हुए उनकी एक अन्य रचना 'ध्यान मंजरी' का भी निर्देश किया है[3]। प्रस्तुत प्रति में ग्रन्थ के रचना काल का उल्लेख न होने से बालअली जी के समय के विषय में मिश्रबन्धुओं द्वारा दिया गया उनका आविर्भाव काल, १६९३ ई० स्वीकार कर लिया गया है। खोज रिपोर्ट में निर्दिष्ट 'ध्यान मंजरी' की पुष्पिका में गुरु का भी नाम नहीं आया है। इन पंक्तियों के लेखक की यह दृढ़ धारणा है कि दो विभिन्न नामों से, किंचित् परिवर्तन के साथ पाई जाने वाली ये रचनायें एक ही व्यक्ति की हैं। बालकृष्ण उसका व्यावहारिक नाम है और 'बालअली' रसिक सिद्धान्त के अनुसार 'महली' नाम। रसिकप्रकाश भक्तमाल में चरणदास के शिष्य 'बालकृष्ण' को ही बालअली माना गया है और उनके द्वारा निर्मित 'ध्यान मंजरी' तथा 'नेह प्रकाश' नामक दो रचनाओं का उल्लेख भी किया गया है[4]।

बालअली तथा बालकृष्ण विरचित उपर्युक्त ग्रंथों के विषय और रचनाकाल, रसिकप्रकाश भक्तमाल में उल्लिखित बालअली के नेह प्रकाश में प्राप्त तथ्यों से अक्षरशः मिल जाते हैं। अतएव खोज रिपोर्टों में आये हुए उक्त दोनों कवियों की एकता निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है।

खोज रिपोर्टों में दिये गये विवरणों में कहीं कहीं रसिक साधकों के नामों और उनके विशेषणों से भी भ्रम उत्पन्न होने के उदाहरण मिलते हैं। दसवीं खोज रिपोर्ट में सख्यरसावेशी महात्मा शीलमणि का नाम शीतामणि दिया गया है, यह स्वतः एक नगण्य भूल है, जिसका कारण सम्भवतः लिपिकार का प्रमाद रहा हो। किन्तु उसी रिपोर्ट में इस नाम के कवि का

१—दसवीं खोज रिपोर्ट, पृ० ९० ।
२—ग्यारहवीं खोज रिपोर्ट, पृ० १४२ ।
३—वही, पृ० ४२ ।
४—रसिक प्रकाश भक्त माल पृ० २८ ।

जो परिचय दिया गया है उसमे शीलमणि जी के विशेषणों के कारण उनके वास्तविक स्वरूप की व्याख्या में बड़ी गलतफहमी पैदा हो गई है। शीलमणि जी सख्यभाव के रसिक सन्त थे। वे अपने को श्री रामचन्द्रजी का 'प्रिय सखा' मानते थे और इस नाते सन्तों में उनका नाम 'महाराज कुमार', 'बाबू साहब' इत्यादि आदरसूचक शब्दों के सहित लिया जाता था। संयोगवश सभा के साहित्यान्वेषकों को उनकी जो रचना (इश्क लतिका) प्राप्त हुई, वह किसी रामदयाल द्वारा की गई मूल प्रति की नकल थी। उसकी पुष्पिका में लिखा था—"इति श्री परम राजकुमार बाबू साहब सीलमनी कृत इश्क लतिका सपूर्णम्"। इसके आधार पर लिखे गये शीलमणि जी के परिचय में उन्हें भ्रमवश अवध का कोई राजकुमार बताया गया और इसके साथ ही यह भी लिख दिया गया कि उन (राजकुमार) के पठनार्थ किसी अज्ञातनामा कवि ने इस ग्रंथ की रचना की। उसने आश्रयदाता की प्रसन्नता के लिये पुस्तक में अपना नाम न देकर रचयिता के स्थान पर राजकुमार का ही नाम दे दिया[1]। ढूंढ़ने पर ऐसी कुछ भूलें और मिल सकती हैं किन्तु उस महान् प्रयास की गरिमा और उपादेयता को देखते हुए ये अत्यन्त साधारण प्रतीत होती हैं।

७. (क) अयोध्या का इतिहास

　(ख) अवध की झाँकी

खोज रिपोर्टों से विशेष सहायता न लेते हुए स्वतंत्र रूप से स्वर्गीय लाला सीताराम बी० ए० ने अयोध्या के रामभक्त कवियों के विषय में सामग्री सकलित की है। अयोध्या का इतिहास और अवध की झाँकी इस सम्बन्ध में उनके स्तुत्य प्रयत्न हैं अयोध्या के इतिहास में उन्नीसवीं शती के भक्तों—प० उमापति, महात्मा युगलानन्यशरण, बाबा रघुनाथदास, महात्मा जानकीवरशरण और रसिक बिहारी जी की कुछ विशेषताओं का निर्देश किया गया है। किन्तु

---

१ 'Sitamani Rajkumara of Oudh wrote Iska Latika of which the manuscript is dated Samvat 1901=1844 A D but it appears to have been prepared for him by some poet who remains behind the curtain putting the Rajkumara as the author, as would appear from the honorific terms used with his name at the end It clearly shows that they proceeded from a pen other than that of the Rajkumara himself"

—The Tenth Report—Page 59

अवध की झाँकी म इनके चरित और जीवनी पर अधिक विस्तार से विचार हुआ है। उक्त भक्तों के अतिरिक्त बनादास ऐसे कतिपय अन्य साधकों का भी नाम इसम आया है जिनकी अयोध्या के इतिहास म कोइ चर्चा नहा मिलती। सतो का चरित्राकन करते हुए लाला जी की दृष्टि जीवनी के प्रामाणिक तथ्यों को प्रकाश में लाने की अपेक्षा उनकी सिद्धि और प्रभाव विवेचन पर अधिक रही है। फिर भी इन भक्तो के विषय म उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह एक समसामयिक साहित्यकार द्वारा प्रस्तुत होने से विश्वसनीय माना जा सकता है। बनादासजी के विषय में उनका उल्लेख अत साक्ष्य के द्वारा पुष्ट होता है, ल ला सीताराम जी की ये दोनों कृतियाँ केवल अयोध्या के रामभक्तों तक ही सीमित हैं। अन्य प्रदेशों में आविर्भूत रसिक रामभक्तो के विषय में उनके द्वारा कोई जानकारी प्राप्त नहा होती।

८. मिश्रबन्धु-विनोद

१९१३ ई० म प्रकाशित इस विशाल कविवृत्तसग्रह में पूर्वलिखित इति हासों की अपेक्षा रामभक्त कवियों की सख्या तो अवश्य बढी परतु महत्त्व कुछ ही सन्तों को मिला। इनमें महाराज रघुराज सिंह, रसिकअली, युगलान न्यशरण, और रघुनाथदास रामसनेही का नाम विशेष उल्लेखनीय है। रामकाव्यधारा के कतिपय अन्य कविया का केवल नाम, आविर्भाव काल और उनकी एकाध रचनाओ का नामनिर्देश कर देना ही पयाप्त समझा गया है। जिन कवियों के वृत्तों पर थोडा बहुत प्रकाश भी डाला गया है, उनके सप्रदाय, दार्शनिक मान्यतायें और काव्यशैली के विषय म विशेष कुछ कहने का प्रयास नहीं किया गया है। रसिक धारा के पाँच विशिष्ट महात्माओं—रामसखे,[1] कृपानिवास,[2] रामचरणदास,[3] जनकराजकिशोरीशरण[4] और युगला नन्यशरण[5]—का जीवनवृत्त कहने भर को दे दिया गया है किन्तु उनकी रचनाओ की एक लम्बी सूची उसम प्राप्त है। इसके पूर्व इन महात्माओं की इतनी रचनाय किसी प्रकाशित ऐतिहासिक अथवा साम्प्रदायिक ग्रन्थ में उल्लिखित नहीं मिलतीं।

खोज रिपोर्ट की तरह 'विनोद' म भी कवियों के विषय में कुछ भ्रान्तियाँ मिलती हैं। मिश्रबन्धुओं ने इस प्रकार की भूल, जनकराज किशोरीशरण[6] और रसिक अली[7] को दो पृथक् व्यक्ति समझने म की। यहाँ भी लालअली की

१-मिश्रबन्धु विनोद पृ० ७८१-७८२। २-वही पृ० ८६२
३-वही पृ० ८८३। ४-वही पृ० ७१५।
५-वही पृ० ९९३। ६-वही पृ० ७१५। ७-वही, पृ० ७४०।

तरह उनका रस सम्बन्धी नाम 'रसिकअली' था और व्यावहारिक नाम जनकराजकिशोरीशरण।

९ हिन्दी साहित्य का इतिहास

हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ आलोचक एवं इतिहासलेखक आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने १९२९ ई० में "हिन्दी साहित्य का इतिहास" प्रस्तुत किया। तुलसी की परवर्ती रामकाव्यधारा के अध्ययन में अपेक्षित सामग्री की कमी होते हुए भी अपने निजी स्रोतों से एकत्रित सूचनाओं के आधार पर शृंगारी संप्रदाय के विषय में सबसे पहले उन्होंने ही अपने विचार व्यक्त किये हैं। रामकाव्य में शृंगारिकता के अनर्गल प्रवेश को शुक्ल जी ने लोकपावन आदर्श का 'बीभत्स विपर्यय' माना है और उसपर क्षोभ प्रकट किया है। इसके साथ ही रामभक्ति शाखा के साहित्य का अनुसंधान करने वालों को उन्होंने इस नये शृंगारी साहित्य से सावधान रहने की चेतावनी भी दी है।

यह उल्लेखनीय है कि आचार्य शुक्ल ने ही सर्वप्रथम रामभक्ति की शृंगारी धारा की ओर साहित्यिकों का ध्यान आकृष्ट किया था, किन्तु आवश्यक सामग्री के अप्राप्य होने से उसके उद्गम, साहित्य, साधनाप्रणाली और आचार्यों के विषय में उन्होंने जो धारणा बनाली, इधर उपलब्ध सामग्री के प्रकाश में वह साधु नहीं ठहरती। इस विषय में उनके विचारों का सारांश है—

१—रामभक्ति की रसिकशाखा के प्रवर्तक अयोध्या के महात्मा रामचरणदास थे।[1]

२—इस 'पन्थ' के लोग अपना आचार्य कृपानिवास को मानते हैं, जो एक कल्पित व्यक्ति है।[2]

३—इस शाखा के प्रवर्तक महात्मा रामचरणदास ने अनेक कल्पित ग्रन्थों को प्राचीन बताकर अपनी शाखा में फैलाया है।[3]

४—रसिक भक्तों ने 'भगवान् राम के दिव्य पुनीत चरित्र के घोर पतन' की कल्पना की है और उनका यह भाव साहित्य में प्रतिबिम्बित हुआ है।[4]

५—रसिक संत 'लाल साहब' से मिलने के लिये स्त्रीवेष धारण कर सोलह शृङ्गार करते हैं।[5]

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १८५
२— वही पृ० १८६
३— वही पृ० १८५
४— वही पृ० १८६
५— वही पृ० १८५

६—वे सीता जी की भावना सपत्नी रूप में करते हैं।[१]

७—जीवाराम ने इस शाखा में कुछ हेर-फेर करके पतिपत्नीभाव के स्थान पर सखीभाव की उपासना चलाई है और अपनी शाखा का नाम 'तत्सुखी' शाखा रखा है।[२]

इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने रसिक शाखा की अर्वाचीनता, उसके आचार्यों की वास्तविक सत्ता की अमान्यता, रसिकभक्तों के आचरण की संदिग्धता, उनके भावों की अपवित्रता, रसिक साहित्य की अश्लीलता, तथा उसके सिद्धान्तों की मर्यादाहीनता-विषयक जो मत व्यक्त किये हैं उनकी समीक्षा खोज द्वारा प्राप्त नई सामग्री के आधार पर नीचे की जाती है।

पहले रसिक धारा के प्रवर्तन को ही लीजिये। शुक्ल जी ने १९वीं शती के महात्मा रामचरणदास को इसका प्रवर्तक बताया है। किन्तु साम्प्रदायिक साहित्य में इसके चलाने वाले अग्रदास जी माने जाते हैं। इनका समय सं० १६३२ के लगभग ठहरता है। ये रसिकों में अग्रअली के नाम से प्रसिद्ध हैं। और इनकी 'ध्यान मंजरी' तथा 'अष्टयाम' नामक दो रचनाओं की सम्प्रदाय में बड़ी प्रतिष्ठा है। स्वयं रामचरणदास जी ने भी 'अष्टयाम-पूजा-विधि' में मानसी ध्यान पद्धति को अपने परगुरु बिन्दुकाचार्य महात्मा रामप्रसाद द्वारा प्राप्त बताया है।[१] इससे यह सिद्ध होता है कि रामभक्ति में रसिक भावना का प्रवेश रामचरणदास जी के शताब्दियों पूर्व हो चुका था। उन्होंने इसका परिपोषण और प्रचार मात्र किया।

दूसरा आक्षेप है, रसिकों का कृपानिवास नामक एक कल्पित व्यक्ति को अपना आचार्य मानना। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि रसिक सम्प्रदाय के रामभक्त अपना 'आचार्य' अग्रदास को मानते हैं, न कि कृपानिवास को। कृपानिवास इस धारा के एक विशिष्ट साधक मात्र हैं। किंतु इस रूप में भी उनकी सत्ता वास्तविक है कल्पित नहीं। उनका आविर्भाव काल १८ वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। इस काल के पश्चात् लिखे गये सभी भक्तमालों तथा इतिहासग्रन्थों में उनका उल्लेख एक महत्त्वपूर्ण रसिक साधक और साहित्यनिर्माता के रूप में हुआ है। रसिकप्रकाश भक्तमाल, राम रसिकावली, मिश्रबन्धु-विनोद और नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में इनके नाम, जीवनवृत्त सम्बन्धी घटनाओं तथा कृतियों का उल्लेख बराबर मिलता है। वासुदेवशरणजी ने गलता गादी के आचार्य, श्रियाचार्य से इनकी

१– हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १८५
२– वही पृ० १८५

मेंट का हवाला दिया है।[1] इधर इनका जीवनचरित भी उपलब्ध हो गया है। अतः प्रस्तुत सामग्री के अनुसार इनकी वास्तविक सत्ता के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

तीसरा आक्षेप साहित्यविषयक है। शुक्ल जी का कहना है कि रामचरणदास जी ने 'अनेक नवीन कल्पित ग्रंथों' को प्राचीन बताकर अपने सम्प्रदाय में फैलाया। उन्होंने ऐसे ग्रंथों में आठ के नाम भी दिये हैं। वे हैं—लोमश संहिता, हनुमत्संहिता, अमर रामायण, भुशुंडी रामायण, महारामायण (५ अध्याय), कोशल खंड, राम नवरत्न और महारासोत्सव सटीक। सौभाग्यवश ये सभी ग्रंथ प्राप्त हो गये हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने इनके सम्बन्ध में जो जानकारी प्राप्त की है उसे थोड़े में यहाँ दे देना उचित होगा। इनमें राम नवरत्न रामचरणदास जी का ही एक संग्रह ग्रंथ है, जिसमें उन्होंने प्राचीन ग्रंथों से रसिकसाधना सम्बन्धी प्रमाण एकत्र किये हैं। अतएव उसे प्राचीन बताने का प्रश्न ही नहीं उठता। भुशुंडि रामायण की जो हस्तलिखित प्रति प्रस्तुत लेखक को मिली है उसमें चार खंड हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण। इसमें ३६००० श्लोकों में संपूर्ण रामकथा वर्णित है। इसके रचनाकाल का निर्णय अभी तक नहीं हो सका है, किंतु रामचरणदास जी के समय के पहले इसकी रचना हो चुकी थी, इसका प्रमाण स्वयं उनके द्वारा उद्धृत श्लोकों का इसमें पाया जाना है। अमर रामायण का उल्लेख रामचरणदास जी ने प्राचीन सदर्भग्रंथों में नहीं किया है। यह उनके शिष्य रसिकअली द्वारा विरचित है। लोमश संहिता और कोशलखंड भी मिल गये हैं, किंतु उनके समय के बारे में कुछ निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।[2] महारासोत्सव हनुमत्संहिता का ही एक अंग है। उसके रासवर्णन सम्बन्धी प्रथम पाँच अध्यायों को लेकर उन्नाव निवासी पं० अम्बिका प्रसाद ज्योतिषी ने टीका कर डाली और उसे एक पृथक् ग्रंथ के रूप में प्रकाशित कर दिया। हनुमत्संहिता की एक हस्तलिखित प्रति का पता डा० राजेन्द्र हाजरा ने अपने

१—प्रियाचार्य मुख सुनी पूर्वाचार्य रीति प्रीति,
महारास पेखि कै प्रत्यक्ष फल पायो है।
श्याम गौर भारी छवि दम्पति निहारी मन
भँवर विहारी मुख पङ्कज लुभायो है॥"
—रसिक प्रकाश भक्तमाल पृ० ३५

२—डा० बुल्के ने भुशुण्डि रामायण और बृहत्कोशल खंड का रचनाकाल १५०० और १६०० ई० के बीच माना है।
—देखिये—रामकथा पृ० ४९१

कैटालाग में दिया है और उसका लिपिकाल सं० १७१५ बताया है। ऐसी स्थिति में इसे इधर की रचना समझना निराधार ठहरता है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट अवगत होता है कि जिन ग्रन्थों को शुक्ल जी ने कल्पित और अर्वाचीन बताया है और जिनका आधार लेकर महात्मा रामचरणदास ने रसिक सिद्धान्तों का निरूपण किया है, वे उनके पूर्व वर्तमान ठहरते हैं। ये सभी ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। अतएव इन्हें कल्पित बताना सर्वथा अनुचित है।

शुक्ल जी ने रसिक साहित्य से तीन उद्धरण देकर उसकी अश्लील प्रवृत्ति से साहित्यिकों को सजग किया है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि उनके द्वारा उद्धृत उक्त तीनपदों में से दो में युगलविहार का जो वर्णन किया गया है वह साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के अनुकूल है, किन्तु तृतीय और अंतिम पद अवश्य ही चिन्तनीय है। मेरे विचार में वह किसी ऐसे भ्रष्ट रसिक की रचना है, जिसको न रसिक सम्प्रदाय के आदर्शों का ज्ञान है और न उपास्य की मर्यादा का ध्यान। ऐसी अश्लील भावना वाले 'कामिनि' और 'काम' के 'किंकर' वंचक भक्तों की कमी न व्यावहारिक संसार में है न साहित्यिक जगत में। रही विहार-वर्णन में मर्यादा हीनता की बात, उसके विषय में यह विचारणीय है कि रसिक साधना में शृंगार की महत्ता के कारण ऐसे दृश्यों का चित्रण अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। विश्व के अन्य धर्मों तथा सम्प्रदायों में जहाँ माधुर्य भावना का थोड़ा भी प्रवेश है, ऐसे वर्णन भरे पड़े हैं। जहाँ तक रसिक रामभक्तों का सम्बन्ध है, यह स्मरणीय है कि वे इस प्रकार के साहित्य को अत्यन्त गोपनीय समझते हैं और उसके पठन अथवा श्रवण का अधिकारी केवल साधनारत विरक्त उपासकों को ही मानते हैं। जन साधारण में इसका प्रचार निषिद्ध है। यह भगवान् की अंतरंग लीला का रहस्य है, जिसे अन्तरंग आश्रित पर ही प्रकट करना चाहिये, रसिकों का यह परम सिद्धान्त है।

रसिक भक्तों की वेषभूषा के सम्बन्ध में शुक्ल जी की धारणा है कि वे स्त्री-वेष बना कर सोलह शृंगार करते हैं। इसकी वस्तुस्थिति यह है कि रसिक सम्प्रदाय में न इस प्रकार की कोई प्रथा ही प्रचलित है और न उसके सिद्धान्त-ग्रन्थों में ऐसी किसी व्यवस्था का ही निर्देश मिलता है। यह एक जीवित संस्था है। इसके वर्तमान साधकों की रहनी और वेश-भूषा का अध्ययन करने से उक्त धारणा ठीक नहीं जँचती। इस प्रवाद में तथ्य केवल इतना है कि सम्प्रदाय के कुछ विशिष्ट आचार्यों, जिनमें महात्मा रामप्रसाद, रामचरण-दास जी तथा रूपकला जी विशेष उल्लेखनीय हैं, के विषय में यह प्रसिद्ध है, कि वे आराध्य के समक्ष एकान्त में सखी रूप में कीर्तन किया करते थे। रामचरण-

दास जी और रूपकला जी के तत्सम्बन्धी चित्र और रामप्रसाद जी के घुँघुरू अब तक सुरक्षित हैं। किन्तु यह उनकी अन्तरंग सेवा का वेष था। उनका बाह्य वेष अन्य रामानन्दीय साधुओं का सा ही रहता था। आभूषणों के धारण करने की बात बिल्कुल निराधार है। इनका उपयोग ये विरक्त साधक किसी भी दशा में नहीं करते। इन तथ्यों के प्रकाश में यह सिद्ध नहीं होता कि इस सम्प्रदाय में वेष अथवा व्यवहार सम्बन्धी ऐसी कोई प्रथा प्रचलित है जिससे समाज को सशंक रहने की आवश्यकता हो।

रसिक सिद्धान्तों के विषय में शुक्ल जी ने दो बातें बताई हैं। एक है साधकों का अपने को सीता जी की सपत्नी मानना और दूसरा है जीवाराम जी द्वारा पति पत्नीभाव अथवा तत्सुखी शाखा का प्रवर्तित होना। रसिक साहित्य इनमें से किसी एक का भी समर्थन नहीं करता। रसिकोपासना सखी भाव की साधना है। सखियाँ अपने को सीता जी की अग्रजा, अंशोद्भवा अथवा सगोत्रा मानती हैं। श्री रामचन्द्र जी से उनका सम्बन्ध सीता जी के ही माध्यम से होता है और उनका स्वसुख तत्सुख प्रधान तथा 'तत्कृपोपलब्ध' होता है। सारांश यह कि युगलकेलि में सीता जी द्वारा अनुभूत आनन्द को ही वे अपना आनन्द मानती हैं। उस स्थिति में उनका भाव भोक्ता का न होकर द्रष्टा का रहता है। उनके सखीत्व में साक्षीभाव की ही व्याप्ति रहती है। अतएव सपत्नी भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। रसिकों के सैद्धान्तिक साहित्य में भी इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। भुशुण्डिरामायण में स्पष्ट रूप से सीता जी को 'नि:सपत्नी'[1] कहा गया है और राम के एकपत्नीव्रत[2] का उल्लेख कर उसकी पुष्टि की गई है।

इसी प्रकार तत्सुखी शाखा के प्रवर्तन के सम्बन्ध में व्यक्त किया गया मत भी समीचीन नहीं प्रतीत होता। इसके प्रवर्तक का निश्चित पता अभी तक नहीं लग सका है, किन्तु जीवाराम जी के आविर्भाव के लगभग १०० वर्ष पहले लिखे गये बालअली जी (सं० १७२६ में वर्तमान) के सिद्धान्ततत्व-दीपिका नामक ग्रंथ में तत्सुखी भावना की व्याख्या मिलती है। इससे इतना

१–नि:सपत्नी निरुपमा स्वाधीनपतिका परा।

भुशुण्डिरामायण पूर्वखंड, अ० ४

२ भवतीनां न सुखाय वरोऽयं प्रतिभाति मे।

नाहमन्यांगनासक्त प्रतिज्ञा विदिता मम॥

वही, अ० २२

तो सिद्ध हो हो जाता है कि नाभाराम जी इसके प्रवर्तक नहीं थे और उनका पतिपत्नीभाव परंपरागत सखीभाव से भिन्न नहीं है।

जहाँ तक रसिक रामभक्तों के जीवनवृत्तों और रचनाओं का सम्बन्ध है, शुक्ल जी ने अग्रदास[1] और नाभादास[2] के संक्षिप्त परिचय में उनकी रचनाओं का भी उल्लेख किया है। अग्रदास की चार कृतियों का नाम दिया गया है— हितोपदेश-उपखाणा-बावनी, ध्यानमंजरी, रामध्यानमंजरी और कुंडलिया। जाँच करने पर इनकी संख्या दो ही ठहरती है। प्रथम तथा चतुर्थ, और द्वितीय तथा तृतीय, एक ही रचना के दो नाम हैं। अग्रदास जी का आविर्भाव काल सं० १६३२ के लगभग निश्चित किया गया है। नाभादास जी की जीवनी अग्रदास जी की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तार से दी गई है। और भक्तमाल के अतिरिक्त उनके दो अष्टयामों का भी उल्लेख किया गया है। यह एक आश्चर्य की बात है कि आचार्य शुक्ल ऐसी पैनी दृष्टि के आलोचक का ध्यान अग्रदास जी की ध्यानमंजरी और नाभादास जी के अष्टयाम में निरूपित रसिक सिद्धान्तों की ओर नहीं गया, अन्यथा वे रामचरणदास को इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक घोषित न करते।

इनके अतिरिक्त इस शाखा के अन्य कवियों में उन्होंने केवल महात्मा युगलानन्यशरण[3], महाराज रघुराज सिंह[4] और बाबा रघुनाथदास[5] का नाम दिया है। उनके सम्बन्ध में आवश्यक तथ्यों पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाला गया है।

शुक्ल जी के पश्चात् किसी इतिहासलेखक ने इस क्षेत्र में विशेष श्रम नहीं किया। इन्हीं तथ्यों को लेकर वे थोड़ा बहुत संशोधन परिवर्धन करते रहे।

१० हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

इसका प्रथम संस्करण १९३८ ई० में निकला। डा० रामकुमार वर्मा ने इस ग्रंथ में रामभक्ति शाखा का इतिहास प्रस्तुत करते हुए अनेक रामभक्त कवियों के वृत्त संक्षेप में दिए हैं। इतनी सामग्री इसके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती इतिहासों में नहीं मिलती। इस दृष्टि से यह एक उपयोगी ग्रन्थ है। किन्तु कुछ भक्तों

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १७६—१७७
२— वही पृ० १७७—१७८
३— वही पृ० १८५
४— वही पृ० १८५, ६९७
५— वही पृ० ६९८

के विषय मे दी गई सूचनायें त्रुटिपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ अग्रदास जी के गुरु श्रीकृष्णदास जी पयहारी की गणना अष्टछाप के कृष्णभक्तों में की गई है।[१] यह उल्लेख्य है कि पयहारी जी अष्टछाप के कृष्णदास से भिन्न व्यक्ति हैं। कृष्णभक्त कृष्णदास–अधिकारी[२] के नाम से प्रसिद्ध हैं और ये श्रीकृष्णदास पयहारी के नाम से। अतएव दोनों भक्तों के सम्प्रदाय में भेद होने के साथ ही उनके नाम में भी पूर्णरूपेण साम्य नहीं है। ऐसी दशा में भ्रम असावधानी के कारण ही हुआ है। इसी प्रकार जीवाराम (युगलप्रिया) को एक साथ ही अग्रदास का शिष्य और युगलानन्यशरण का गुरु बताया गया है।[३] लेखक ने इसी ग्रंथ में अन्यत्र अग्रदास जी का आविर्भाव काल सं० १६३२ माना है,[४] और जीवाराम का सं० १८८७।[५] समझ में नहीं आता कि उक्त दोनों महात्माओं के आविर्भाव काल में २५५ वर्षों का अन्तर दिखाते हुए भी विद्वान् लेखक ने उनमें गुरु शिष्य का सम्बन्ध कैसे मान लिया। वास्तव में जीवाराम जी रामचरितमानस के प्रथम टीकाकार रामचरणदास जी के शिष्य थे, न कि अग्रदास जी के। एक तीसरी भूल बालअली जी के नाम निर्देश में हुई है। इसमें इनका उल्लेख बालभक्ति के नाम से हुआ है।[६] इनका वास्तविक नाम बालकृष्ण नायक था। बालअली अन्तरङ्गसाधना विषयक नाम था। 'बालभक्ति' के नाम से जिस 'नेहप्रकाश' ग्रन्थ का उल्लेख इसमें हुआ है, वह 'बालअली' विरचित है। 'रामसाहित्य' की प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन करते हुए लेखक ने दास्यभाव में ही रामभक्ति को सीमित माना है।[७] अतएव रामसाहित्य में रसिक भावना के विकास का अनुसन्धान करने वालों को यहाँ भी कोई उचित पथप्रदर्शन प्राप्त नहीं होता।

११ विचार विमर्श

आचार्य पं० चन्द्रबली पांडे के विविध विषयों पर लिखे गये लेखों का यह संग्रह १९४१ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके 'भक्तमाल का परिचय'[८] शीर्षक लेख में नाभादास विरचित भक्तमाल में निर्दिष्ट तीन रामभक्तों की रसिक भावना की ओर साहित्यिकों का ध्यान दिलाया गया है। ये हैं—

१–हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ४७३

२–	वही	पृ० ५६४, ५७३	५–	वही	पृ० ४८१
३–	वही	पृ० ४८१	६–	वही	पृ० ४७५
४–	वही	पृ० ४७३	७–	वही	पृ० ४८५

८–विचार विमर्श पृ० ८८–१०५

देमाल रतन राठौर, मुरारिदास और मानदास। पांडे जी का यह खोजपूर्ण निबन्ध भक्तमाल के गहन अनुशीलन पर आश्रित है, और नाभादास की परिचयात्मक आलोचनाशैली को व्यक्त करने के लिये लिखा गया है। इससे रचयिता के समसामयिक युग में रसिकरामभक्ति की व्यापकता का पता चलता है।

पांडे जी का 'तुलसी की गुह्य साधना' नामक एक अन्य निबन्ध 'नया समाज' सितम्बर १९५३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसके अन्तर्गत तुलसी-साहित्य में रसिक साधना विषयक स्थलों की मीमांसा करके यह दिखाने का उद्योग किया गया है, कि गोस्वामी जी इस भाव के मर्मज्ञ थे और अपनी अन्तरंग साधना में इसे स्थान देते थे।

पांडे जी के उक्त दोनों निबन्ध अत्यन्त मौलिक एवं गवेषणापूर्ण हैं। रसिक साहित्य के अनुशीलन में उनसे एक नया प्रकाश प्राप्त होता है।

१२. रामकथा (उत्पत्ति और विकास)

अनुसन्धेय विषय पर प्रकाशित आलोचनात्मक ग्रन्थों में फादर कामिलबुल्के की 'राम कथा—उत्पत्ति और विकास', एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसका प्रकाशन १९५० ई० में हुआ है। रामभक्ति के विकाससूत्रों का विवेचन करते हुए विद्वान् लेखक ने शृङ्गारी रामकाव्यों का भी उल्लेख किया है, जिनमें शुद्ध साहित्यिक तथा भक्तिपरक, दोनों प्रकार की रचनायें आई हैं। 'रामलिंगामृत'[1] ऐसी अप्राप्य पोथियों का पता लगाकर ग्रन्थकर्ता ने तुलसी के समकालीन युग में रसिक भावना की व्यापकता सिद्ध करने में विशेष योग दिया है। इसी प्रकार 'हनुमत्संहिता' की सं० १७१५ की एक प्राचीन प्रति[2] का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है।

साधना के इतिहास और साधकों के परिचय से उनके विषय का सीधा सम्बन्ध नहीं था। अतएव इन पर उक्त ग्रन्थ में विचार ही नहीं किया गया है। सब मिलाकर रामभक्ति साहित्य के अनुशीलन में प्रेरणा और पथनिर्देश के लिये अपनी श्रेणी की यह अकेली रचना है।

१३. भक्त-चरितांक (कल्याण मासिक पत्र)

सं० २००८ (१९५१ ई०) में कल्याण के विशेषांक-रूप में 'भक्त-चरितांक' प्रकाशित हुआ। सं० १९९४ में इसी संस्था द्वारा प्रकाशित 'संतांक' की

१—रामकथा (बुल्के) पृ० १८६ २—वही पृ० १७४

अपेक्षा इसमें कुछ अधिक रामभक्तों के वृत्त सकलित किये गये हैं। उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—अग्रदास[1], नाभादास[2], युगलानन्यशरण[3], प० उमापति[4], रूपकला[5], गोमतीदास[6], महाराज रघुराज सिंह[7], प० रामवल्लभाशरण[8], और महात्मा बनादास[9]। इसके प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य श्रद्धालु पाठकों के हृदय में भगवद्भक्ति और संतों के प्रति पूज्यभाव जागरित करना है, अतएव भक्तों के चरित लिखते समय उन्हें रोचक एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिये चमत्कारों और सिद्धियों का सहारा अधिक लिया गया है। संतों की साम्प्रदायिक साधना तथा दार्शनिक विचारों का विवेचन इसका ध्येय न था। अतः इससे संतों की जीवनीनिर्माण में ही सहायता ली जा सकती है।

१४. (क) आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (१७५७–१८५७ ई०)

(ख) आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०–१९०० ई०)

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ क्रमशः १९४८ ई० और १९५२ ई० में प्रकाशित हुए। इनमें प्रसंगवश उन्होंने रामभक्ति की प्रधान प्रवृत्तियों और भक्त कवियों के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं। माधुर्य भाव से राम की उपासना का संकेत यहाँ कुछ अधिक तथ्यों के साथ दिया गया है, किन्तु साधना की मूल प्रवृत्तियों के निरूपण में लेखक ने शुक्ल जी का ही मत ग्रहण कर लिया है। साहित्यिक दृष्टि से रामकाव्य की विशेषताओं का इनमें विस्तृत रूप से विवेचन किया गया है। इस सम्बन्ध में इतनी सामग्री इसके पूर्व लिखे गये किसी आलोचनात्मक ग्रन्थ में नहीं प्राप्त होती। इस विचार से विद्वान् लेखक का प्रयत्न सराहनीय है। कवियों के जीवन और रचनाओं के विवरण इन प्रबन्धों में बहुत कम मिलते हैं। इस विषय में जहाँ तहाँ कुछ साधारण त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उदाहरणार्थ युगलानन्यशरण के ८४ ग्रन्थों में से केवल दो—'अष्टदल रहस्य'[10] और 'विनोद विलास' की चर्चा की गई है। इनमें 'अष्टदल रहस्य' वास्तव में 'अष्टादश रहस्य' है। वार्ष्णेय जी

१—भक्त चरिताङ्क (कल्याण) पृ० ६१४
२— वही पृ० ६१५
३— वही पृ० ७१७
४— वही पृ० ७७०
५— वही पृ० ७२१
६— वही पृ० ७२५
७— वही पृ० ७६१
८— वही पृ० ७१९
९— वही पृ० ५५७
१०—आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृ० ११६

ने रामसाहित्य की टीकाओं के रूप में लिखे गये कुछ गद्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है और इस प्रकार रामभक्ति साहित्य का अध्ययन व्यापक बनाया है। फिर भी जहाँ तक रसिक सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, उसकी साहित्यिक प्रवृत्तियों, निर्माताओं और साधनापद्धति पर इनमें बहुत कम सामग्री मिलती है। अतएव प्रस्तुत विषय के परिशीलन में ये दोनों ग्रन्थ अंशतः ही सहायक होते हैं।

१५. हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास)

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह इतिहास ग्रंथ १९५२ ई० में प्रकाश में आया। हिन्दी साहित्य के इतिहासों में रामभक्ति की माधुर्य धारा के प्रति सहानुभूति एवं सहृदयतापूर्ण दृष्टिकोण सर्वप्रथम इसी में गोचर होता है। द्विवेदी जी ने रामभक्ति में शृङ्गारी उपासना के उद्गम और विकास सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों की व्याख्या की है, किन्तु उसकी परम्परा का प्रवर्तक, शुक्ल जी की भाँति उन्होंने भी १९ वीं शती के महात्मा रामचरणदास को ही मान लिया है।[१] यह उल्लेखनीय है कि इसी ग्रन्थ में अन्यत्र द्विवेदी जी ने राम प्रियाशरण (१७०३ ई०),[२] प्रेम सखी (१७३४ ई०),[३] जानकीरसिकशरण (१८ वीं शती)[४] और कृपानिवास (१८ वीं शती)[५] ऐसे प्रमुख रसिकों की गणना शृङ्गारी भक्तों में की है। ये सभी १९वीं शती के पहले वर्तमान बताये गये हैं। फिर भी न जाने क्यों उन्होंने रसिक साधना के प्रवर्तनविषयक शुक्ल जी के ही मत का समर्थन किया है। इसी प्रकार इसकी साधना प्रणाली के एकाध तत्त्वों के परिचय में यहाँ प्रायः वही भूल मिलती है जो शुक्ल जी के इतिहास में हुई है। कुछ रामभक्त कवियों के कालनिर्णयसम्बन्धी त्रुटियाँ भी इसमें पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ—'नेहप्रकाश' के रचयिता बालअली जी का आविर्भाव काल १९ वीं शताब्दी बताया गया है[६], जब कि उक्त ग्रन्थ का रचनाकाल कवि ने स्वयं सं० १७४९ लिखा है।[७] इस प्रकार की कुछ सामान्य भूलों के होते हुए भी 'हिन्दी साहित्य' रसिक भक्तिधारा के अध्ययन में एक उपादेय ग्रन्थ है।

१–हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) पृ० २५१
२– वही पृ० २५३
३– वही पृ० २५३
४– वही पृ० २५३
५– वही पृ० २५३
६– वही पृ० २५५
७–खोज रिपोर्ट १९१७–१९, परिशिष्ट २, पृ० ९०

१६. वैष्णव धर्म

प० परशुराम चतुर्वेदी का यह ग्रन्थ १९५३ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें वैष्णव धर्म की उत्पत्ति और विकास पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया गया है। प्रसङ्गवश रामोपासना की भी चर्चा आई है।[1] वैष्णवों के साम्प्रदायिक संगठनों का परिचय देते हुए विद्वान् लेखक ने रामावत सम्प्रदाय के प्रवर्तन का वृत्तान्त दिया है किन्तु रामानन्द के पश्चात् उसके विकाससूत्रों की विवेचना नहीं की गई है। इसलिये रसिक सम्प्रदाय के उद्भव एवं विकास का इतिहास इसमें नहीं आ सका है।

स्वामी रामानन्द के पूर्वाचार्यों में शठकोप आलवार और रामानुजाचार्य मुख्य थे। इनकी रामभक्ति पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। रामानन्द जी के सम्बन्ध में कहा गया है कि, अपने गुरु राघवानन्द से जाति-पाँति सम्बन्धी बन्धनों को ढीला करने के सम्बन्ध में मतभेद हो जाने के कारण, उन्होंने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना कर ली थी।[2] किन्तु यह तथ्य अन्य स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं द्वारा समर्थित नहीं होता। रसिक प्रकाश भक्तमाल[3] के अनुसार इस प्रकार का आचारसम्बन्धी मतभेद उनके गुरु स्वामी राघवानन्द का अपनी मूल गद्दी के रामानुजीय आचार्यों से हुआ था और इसी कारण गुरुपीठ त्याग कर वे दक्षिण से उत्तर भारत चले आये थे और काशी को अपने सिद्धान्तों के प्रचार का मुख्य केन्द्र बनाया था। 'हरि भक्ति रसामृत सिन्धुवेला' नामक ग्रन्थ के रचयिता अनन्ताचार्य ने भी इसका उल्लेख किया है।[4] अतएव स्वामी रामानन्द और उनके गुरु में किसी प्रकार का मतभेद मानना संगत नहीं जान पड़ता।

चतुर्वेदी जी ने स्वामी रामानन्द के सिद्धान्तों का परिचय 'आनन्द भाष्य'[5] नामक उनके नाम से प्रचलित ग्रंथ के आधार पर दिया है, किन्तु इस ग्रंथ को स्वयं रामानंदीय साधु अत्यन्त नवीन और अप्रामाणिक मानते हैं। बलभद्र दास जी ने इस के रचयिता का नाम 'रघुबरदास वेदान्ती'[6] बताया है और इसकी रचना का उद्देश्य व्यक्तिगत विरोध के कारण रामानुजीय सम्प्रदाय से

१—वैष्णवधर्म पृ० ६०
२—वही पृ० १०८
३—रसिक प्रकाश भक्तमाल पृ० ११
४—रामानन्द की हिन्दी रचनायें पृ० ४१
५—वैष्णव धर्म पृ० १११
६—स्वामी जी की सेवा (आनन्द भाष्य की १४ अशुद्धियों के नमूने) पृ० १

रामानंदीय-सम्प्रदाय को पृथक् प्रमाणित करना कहा है ।[१] बलभद्रदास जी रामानंदीय सम्प्रदाय के ही अनुयायी हैं, अतएव उनका कथन सहसा अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। विशेषकर ऐसी परिस्थिति में जब उन्होंने 'स्वामी जी की सेवा' नामक पुस्तक में इस सम्बन्ध में अनेक अग्राह्य प्रमाण दिये हैं, उनकी मान्यतायें बहुत अंश तक विचारणीय कही जा सकती हैं।

१७. भागवत–संप्रदाय

पं० बलदेव उपाध्याय की यह पुस्तक १९५३ ई० में प्रकाश में आई। वैष्णव सम्प्रदायों के ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक पक्षों को लेकर हिन्दी भाषा में लिखी गई जितनी आलोचनात्मक रचनाएँ अबतक प्राप्त हैं उनमें इसका स्थान अन्यतम माना जा सकता है। उपाध्याय जी ने रामावत संप्रदाय के इतिहास और सिद्धांतों का विवेचन करते हुए उसके प्रवर्तक स्वामी रामानन्द तथा उनके कतिपय शिष्य प्रशिष्यों की जीवनियाँ भी दी हैं। इसमें अग्रदास और कील्हदास के समय तक सम्प्रदाय के विकास की कथा आ गई है। रसिक भावना के प्रसार की दृष्टि से एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात जिसका इसमें उल्लेख हुआ है, अग्रदास को अग्रअली से अभिन्न मानना है।[२] इसके पूर्व किसी प्रसिद्ध साम्प्रदायिक इतिहास ग्रंथ में इस तथ्य का उल्लेख नहीं पाया जाता। खोज रिपोर्टों में भी अग्रदास और अग्रअली दो पृथक् व्यक्ति माने गये हैं। यद्यपि रूपकला जी ने बहुत पहले स्वरचित 'भक्ति-सुधा बिन्दु स्वाद तिलक' नामक भक्तमाल की टीका में अग्रदास और अग्रअली की एकता प्रतिपादित की थी,[३] किन्तु उपाध्याय जी के पूर्व उनके इस मत को सांप्रदायिक इतिहास के लेखक किसी विद्वान् ने स्वीकार नहीं किया था।

अग्रदास जी के परिचय में एक भ्रांति यहाँ यह हो गई है कि उन्हें श्रीकृष्णदास जी पयहारी के बाद गलता गद्दी का उत्तराधिकारी बताया गया है।[४] साम्प्रदायिक ग्रंथों में पयहारी जी के पश्चात् गलता गद्दी के आचार्य उनके बड़े शिष्य कील्हदास माने गये हैं[५] और अग्रदास जी की गद्दी जयपुर के निकट

१–स्वामी जी की सेवा पृ० १०

२–भागवत सम्प्रदाय पृ० २७७

३–भक्तमाल सटीक (रूपकला) पृ० ३२०

४–भागवत संप्रदाय पृ० २७८

५–कोई दिन बीते द्विजकुल अवतंस बाल

कील और अग्र स्वामी पास दौड़ आये हैं।

ही रैवासा नामक स्थान में स्थापित कही गई है।[1] इन दोनों गद्दियों की पृथक् परंपरायें भी प्राप्त हैं, जिनसे उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि होती है।

यह उल्लेखनीय है कि विद्वान् लेखक ने 'अग्रदास' के अली रूप को स्वीकार करते हुए भी उनके द्वारा स्थापित किसी रसिकरामभक्तिपरंपरा का संकेत नहीं किया है। फिर भी जहाँ तक रामभक्ति के प्रारंभिक इतिहास एवं सिद्धान्तों का सम्बन्ध है उसकी उपादेयता असंदिग्ध है।

१८. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ

डा० सावित्री सिनहा का यह प्रबन्ध १९५३ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके अन्तर्गत रामकाव्यधारा की चार कवयित्रियों का उल्लेख है—मधुरअली,[2] प्रेमसखी,[3] प्रतापकुँवरि बाई[4] और तुलछराय।[5] इनमें मधुरअली की दो रचनाओं का केवल नाम दिया गया है, उनकी रचनाशैली पर कोई प्रकाश, ग्रन्थों के अप्राप्य होने से, नहीं डाला जा सका है। किन्तु प्रतापकुँवरि बाई और तुलछराय के कई छन्द उद्धृत किये गये हैं। इनसे उनकी रसिक

देखि हिये भाव भागवत धर्म चाव किये,
शिष्य संसकार साधु सेवा में लगाये हैं॥
जानि सब लायक महंत किये कील जी को
अग्र जी को भावना रहस्य में छकाये हैं।
पाखंड मिटाय कुल राज को बढ़ाय
रामदूत संगपाय गंधमादन सिधाये हैं॥
—रसिकप्रकाश भक्तमाल पृ० १४

१—कोई देश काल जानि कील जू की आज्ञा मानि
शिष्यन समेत रैवासे स्वामी आये हैं।
तहाँ रमनीय जल भूमि द्रुमलता देखि,
मंदिर बनाय लली लाल पधराये हैं॥
—वही पृ० १६

२—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० २२२

३— वही पृ० २२२-२२६

४— वही पृ० २२६

५— वही पृ० २३१

प्रवृत्ति व्यंजित होती है। प्रेम-सखी की रचनाशैली और जीवनी की विवेचना विस्तार से की गई है।

रामोपासिका कवयित्रियों के विषय में जानकारी के लिये इस गवेषणात्मक प्रबन्ध में कुछ नई सामग्री मिल जाती है, किंतु इसके साथ ही इस ग्रंथ में उल्लिखित प्रेमसखी संबन्धी तथ्यों में एक बहुत बड़े भ्रम के प्रचार की आशंका भी बढ़ गई है।

अब तक हिन्दी साहित्य में प्रेमसखी नाम के दो कवियों का पता चला है। इनमें एक रामभक्त थे, दूसरे कृष्णभक्त। दोनों ही सखीभाव के (*शृंगारी*) साधक थे, अतएव अपने साधनापरक नाम से ही प्रसिद्ध हुए। ये दोनों प्रायः समकालीन थे। विदुषी लेखिका ने आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल और पं० गौरीशंकर द्विवेदी के आधार पर प्रेमसखी (रामभक्त) को स्त्री बताते हुए लिखा है, "द्विवेदी जी की निश्चित धारणा है कि वे स्त्री थीं। क्योंकि उन्होंने इनका उल्लेख बुन्देलखण्ड की कवयित्रियों के अन्तर्गत किया है।... विशेषकर श्री रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें सखीसम्प्रदाय का भक्त स्वीकार किया है और उनकी इस दृढ़ मान्यता का निषेध केवल भावुक तर्कों द्वारा सम्भव नहीं।"[१] लेखिका ने उपर्युक्त दो स्रोतों के अतिरिक्त नागरीप्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों की भी चर्चा की है।[२]

इन तीनों स्रोतों में प्रथम के आधार पर लेखिका ने तीन छन्द उद्धृत किये हैं। इनमें पहला छन्द राम के चरणों के महत्त्ववर्णन से सम्बन्ध रखता है।[३] खोज करने पर यह प्रेमसखी नामक एक रसिक रामभक्त द्वारा लिखे गये 'श्री सीताराम (अथवा जानकीराम) नखशिख' ग्रंथ में मिल जाता है।[४] रसिक प्रकाश भक्तमाल में युगलप्रिया जी ने इनका चरित वर्णित करते हुए लिखा है—

> प्रेम सखी रस रहसि प्रवर वर द्विज तन धारी।
> शृङ्गबेर पुर निकट वास विरदावलि भारी॥
> चित्रकूट श्री राम दास गूदर सतगुर लहि।
> रसिकाई निधि भये गये मिथिला दृढ़ोनहि॥

१—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० २२२
२— वही पृ० २२२
३— वही पृ० २२४
४—श्री सीताराम अथवा जानकीराम नखशिख पृ० ३५

जनक-लली जू प्रगट है, अली समुझि अपनाइ कै।
प्रेम कथा प्रगटी सरस, विविध ग्रंथ छवि छाइ कै॥[१]

इससे यह विदित होता है कि वे शृङ्गवेर पुर (सिंगरौर प्रयाग के समीप) के निवासी ब्राह्मण, (पुरुष) थे। चित्रकूट के बाबा रामदास गूदर से उन्होंने मन्त्रदीक्षा ली थी। मिथिला की लम्बी तीर्थयात्रा उन्होंने दंडवत करते हुए की थी। मिथिला पहुँचने पर उनकी प्रगाढ़ भक्ति से प्रसन्न होकर सीता जी ने प्रत्यक्ष रूप से उन्हें अपनी सखी बनाया था। अतः वे जन्म से स्त्री न होकर मनसा सखीत्व भाव को प्राप्त हुए थे। इसकी अभिव्यक्ति उनके ग्रन्थों में हुई है। ये वही प्रेमसखी हैं जिन्होंने 'श्री सीताराम (अथवा जानकीराम) नखशिख' की रचना की थी, इसकी पुष्टि उक्त ग्रंथ की टीका से हो जाती है। उसके रचयिता वासुदेवदास जी का कहना है कि अपने इष्टदेव सीताराम का प्रत्यक्ष दर्शन करके इन्होंने उनकी सर्वाङ्ग शोभा का चित्रण कवित्तों में किया है।[२]

इनकी चर्चा महाराज रघुराज सिंह ने भी अपनी 'भक्तमाल रामरसिकावली' में की है और इन्हें अयोध्या में बड़ा स्थान के संस्थापक बिन्दुकाचार्य रामप्रसाद जी का समकालीन बताया है।[३] शिवसिंह[४] तथा सर जार्ज ग्रियर्सन[५] ने केवल उनके आविर्भाव काल सं० १७९१ (१७३४ ई०) का उल्लेख किया है।

खोज रिपोर्ट में भी जिन रामभक्त प्रेमसखा की कृतियों का सर्वाधिक वर्णन मिलता है[६] वे पूर्वोक्त रसिक रामभक्त प्रेमसखी से अभिन्न ठहरते हैं। उनके विद्वान् सम्पादकों ने इन्हें पुरुष और सखी सम्प्रदाय का अनुयायी

१–र० प्र० म०—पृ० ३७

२–श्याम गौर छवि नख शिखलौं निरखि हिये,
हरषि कवित्तन में सोई परकासी है॥
—र० प्र० म० पृ० ३७

३–रामरसिकावली–पृ० ९६९

४–शि० स०, पृ० ४४६

५–माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान सन्दर्भ स० ४२३।

६–देखिये खोज रिपोर्ट, १९००–सं० ३९। १९०६–८ स० ३०८। १९०९–११ स० २१०। १९१७–१९, स० १३७।

माना है।[1]

आचार्य शुक्ल ने जिस प्रेमसखी का परिचय हिन्दी साहित्य के इतिहास में दिया है, वे कृष्णभक्त थे और उनका प्रसिद्ध नाम बख्शी हंसराज था।[2] व्रज की व्यास गद्दी के महात्मा विजयसखी' इनके गुरु थे। इनके अतिरिक्त और किसी 'रामभक्त प्रेमसखी' का उल्लेख शुक्ल जी के उक्त इतिहास में नहीं मिलता।

पं० गौरीशंकर द्विवेदी ने किस आधार पर इन प्रेमसखी पर स्त्रीत्व का आरोप किया, नहीं कहा जा सकता, किन्तु ऐसी धारणा बनाने में उन्हें भ्रम हो गया है, यह असंदिग्ध है। खेद है कि डा० सिनहा ने मूल स्रोतों का पर्यवेक्षण किये बिना ही 'बुन्देल-वैभव' के आधार पर प्रेमसखी को स्त्री घोषित कर दिया। खोजियों की ऐसी असावधानियाँ चिन्त्य हैं।

अनुसन्धेय विषय पर उपलब्ध इन संदर्भग्रंथों से जो पथ निर्देश और प्रेरणा इन पंक्तियों के लेखक को प्राप्त हुई है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। किन्तु पृथक् अथवा सामूहिक रूप में वे रसिक साहित्य का जो चित्र प्रस्तुत करते हैं, उससे न तो सम्प्रदाय के क्रमबद्ध इतिहास की जानकारी होती है और न उसकी साधना का कोई स्पष्ट स्वरूप ही सामने आता है। तत्सम्बन्धी साहित्यिक विशेषताओं के निदर्शन की दशा और भी शोचनीय है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्प्रदाय के यथोपलब्ध साहित्य के आधार पर जो मत व्यक्त कर दिये, अधिकांश परवर्ती साहित्यकार उसी का अनुवर्तन करते रहे। स्वतन्त्र अनुशीलन के द्वारा मत स्थापित करने की प्रवृत्ति का प्रायः अभाव ही रहा। कविपरिचय की यह स्थिति है कि खोज रिपोर्टों में उनके सम्बन्ध में प्राप्त विवरणों से ही संतोष कर लिया गया है, कहीं-कहीं तो उसकी भी अवहेलना की गई है। विवेचना और अनुसन्धान को, अध्ययन के इस क्षेत्र में, स्थान देने की आवश्यकता ही नहीं समझी गई है।

प्रबन्ध की पीठिका के रूप में प्राप्त परिचयात्मक सामग्री की इस आश्चर्य जनक कमी के होते हुए भी इन पंक्तियों के लेखक ने रसिक सम्प्रदाय का

१—'He was a vaishnava of Sakhi Sampradaya Four works of his have been found, one of which is styled Janki Ram Ko Nakh-Sikha...The remaining two are collections of miscellaneous verses.'

—खोज-रिपोर्ट १९१७-१९, पृ० ५३

२—हिं० सा० इ०, पृ० ४७२

एक सर्वांगपूर्ण चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया है। इसमें कितनी मौलिकता है और इससे रामसाहित्य के परिशीलन में कितनी सहायता मिल सकती है, इसके परितः परिज्ञान के लिये ग्रन्थ की रूपरेखा को संक्षेप में यहीं अंकित कर देना उचित होगा।

यह प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः प्रस्तुत विषय पर उपलब्ध सामग्री, रसिक रामभक्ति साहित्य के विकास की विभिन्न स्थितियों, उसकी साधना पद्धतियों, साम्प्रदायिक साधकों की परम्पराओं, रसिक साहित्य की विशेषताओं और उनके निर्माताओं के जीवन वृत्त का एक आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में उपसंहार है।

अच्छा होगा, यहीं प्रत्येक अध्याय के प्रतिपाद्य विषय तथा उसकी महत्ता का संक्षिप्त परिचय भी पृथक् रूप से दे दिया जाय।

पहले अथवा प्रस्तुत अध्याय में आलोच्य विषय पर अद्यावधि प्रकाशित साहित्य की विवेचना के साथ ही इस प्रबन्धकी मौलिक विशेषताओं का निदर्शन किया गया है।

दूसरे अध्याय में रामभक्ति में रसिक भावना की उत्पत्ति और उसके विकास सूत्रों का अनुसंधान हुआ है। आरम्भ में पृष्ठभूमि के रूप में राम के ऐतिहासिक, साहित्यिक और साम्प्रदायिक रूपों का एक विवेचनात्मक परिचय दिया गया है। गुप्तकाल के कुछ पूर्व से लेकर आठवीं शताब्दी तक विरचित धार्मिक एवं ललित साहित्य में उपलब्ध रामभक्ति के सूत्रों, एवं आलवार संतों तथा वैष्णवाचार्यों की रचना में प्राप्त उसके साम्प्रदायिक तत्वों, की खोज और व्याख्या की दिशा में किया गया यह प्रयास एक प्रकार से अपना कहा जा सकता है। इसके अनन्तर रामानन्दीय परम्परा में आविर्भूत महात्मा अग्रदास द्वारा रसिक साधना का प्रवर्तन, उसके सिद्धान्तों पर पांचरात्र संहिताओं, शैव एवं शाक्त आगमों का प्रभाव, तुलसी के समकालीन एवं पूर्ववर्ती रामसाहित्य में शृङ्गारी भावना की व्यापकता, तुलसी के तिरोभाव के पश्चात् उसके विकास में उपस्थित अवरोध के कारण, उनकी निवृत्ति तथा रामकाव्य का पुनरुत्थान आदि विषयों के विवेचन में ऐतिहासिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी गई है। अध्ययन का यह अंश रामभक्ति साहित्य में प्रतिबिम्बित तत्कालीन सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के गहन अनुशीलन पर आश्रित है। वस्तु, व्याख्या और उपयोग, सभी दृष्टियों से, जो तथ्य यहाँ उपस्थित किये गये हैं, वे रामसाहित्य के अनुशीलन में एक नूतन दृष्टि देंगे।

तीसरे अध्याय में रसिक धारा की साम्प्रदायिक विशेषताओं, साधनपद्धति एवं दार्शनिकप्रणाली का विशद विवेचन किया गया है। रसिक साधना अत्यन्त

गोपनीय समझी जाती है। उसका प्रकाशित साहित्य भी बहुत कम है। ऐसी स्थिति में सैद्धांतिक साहित्य की हस्तलिखित पोथियों का अनुशीलन करने के लिये प्राचीन रसिकपीठों का, और उनके गूढ़तत्वों को समझने के लिये रसिक सम्प्रदाय व वर्तमान आचार्यों का, आश्रय लेना अनिवार्य था। रसिक-दर्शन और साधना व सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों की जो व्याख्यायें यहाँ की गई हैं वे उपरि लिखित स्रोतों पर ही अवलम्बित हैं। अपनी ओर से कुछ जोड़ना एक दुस्साहस मात्र होता। अध्याय के अन्त में रसिकों के व्रतोत्सवों की एक सूची भी दे दी गई है, जिससे उनके साधनामय जीवन के सभी पक्ष प्रस्तुत हो जाय। इस सारी सामग्री के संकलित करने और उसे व्यवस्थित रूप देने में वर्षों तक लेखक का सर्वस्व अर्पित रहा है, फिर भी उसकी पूर्णता के विषय में उसे सन्तोष नहीं है। जहाँ तक ज्ञात है रसिक रामभक्तों की दार्शनिक विचारधारा तथा साधनापद्धति अब तक अन्धकार में ही रही है। जिन विद्वानों ने इस ओर ध्यान दिया भी है, ग्रन्थों के अनुपलब्ध होने से वे तत्वग्रहण में सफल नहीं हुए हैं। जिससे रसिकों के विषय में अनेक गलत फहमियाँ फैल गई हैं। लेखक का विश्वास है कि इस प्रबन्ध में साम्प्रदायिक साधना एवं दर्शन का जो रूप प्रस्तुत किया गया है, उससे रसिकधारा पर कुछ और ही प्रकाश पड़ेगा।

चौथा अध्याय रसिक संतों की परम्पराओं और तिलकों के परिचयात्मक विवरण से सम्बन्ध रखता है। इधर कुछ दिनों से रामानन्दीय सम्प्रदाय का एक वर्गविशेष रामानुजीय 'आचारियों' के दुर्व्यवहार से असंतुष्ट होकर रामानुज स्वामी से रामानन्दीय परंपरा का सम्बन्ध विच्छिन्न करने में प्रयत्नशील दिखाई पड़ रहा है। ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना तथा साम्प्रदायिक इतिहास के विकृत रूप के प्रकाशन से पूर्वाचार्यों की अवज्ञा होते देख, यह आवश्यक जान पड़ा कि रामभक्ति की मूलधारा से सम्बद्ध द्वारपीठों तथा उनकी शाखाओं की अद्यावधि आचार्यपरंपरा का विवरण प्रस्तुत किया जाय। इसके लिये प्रधान रसिकगद्दियों की परम्परा और तिलकों का अनुसंधान आवश्यक हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार श्रीवैष्णव सम्प्रदाय से रामानन्दीय *परम्परा पल्लवित हुई उसी प्रकार उसके तिलक-वडगल (बड़कलै) और तिङ्गल* (तङ्कलै) भी श्रीवैष्णवों की दो विभिन्न शाखाओं के आधार पर विकसित हुए। जो लोग अब भी इससे प्रतिकूल विचार रखते हैं उनसे हमारा कोई विवाद नहीं। किन्तु तथ्यों के अन्वेषण और परम्परा के पर्यवेक्षण से हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, वह यही है।

पाँचवें अध्याय में दो खण्ड हैं।

प्रथम खण्ड में रसिक साहित्य के स्वरूपनिर्माण में साधना, इतिहास और संस्कृति के योग पर व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त रसिकों द्वारा काव्य और गद्य ग्रन्थों में प्रयुक्त भाषा के विविध रूपों का भी एक समीक्षात्मक परिचय दे दिया गया है। प्रायः लोगों के मुँह से यह शिकायत सुनने में आती है कि एकान्तसाधक, जीवन और जगत की कठोर वास्तविकताओं से दूर कल्पनालोक में रमते हुए अपना जी बहलाते हैं। रसिकों के विषय में फैली हुई इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये उनके द्वारा चित्रित राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों का दिग्दर्शन भी करा दिया गया है। इस अध्याय में रसिककाव्य की व्याख्या साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से की गई है। इससे पाठकों को साधना के दार्शनिक स्वरूप के समझने में सहायता मिलेगी।

दूसरे खण्ड में रसिक साहित्य के निर्माताओं का जीवनवृत्त और उनकी कृतियों का साधारण परिचय दिया गया है। इस साहित्य की प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों प्रकार की रचनायें दुर्लभ हैं, अतएव कवियों के परिचय के साथ उनकी रचनाओं के कुछ नमूने भी दे दिये गये हैं, इससे उनकी साहित्यिकशैलियों एवं विचारधाराओं के समझने में सहायता मिलेगी। जहाँ तक सम्भव हुआ है अंतः तथा बहिःसाक्ष्यों का उपयोग कर सामग्री को प्रमाणकोटि में लाने का प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत लेखक ने ऐसे अनेक सन्तों के जीवनचरित, जिनके विषय में प्रकाशित सामग्री का अभाव है, उनकी गद्दियों की परंपरा में मौखिक रूप से चली आती हुई अनुश्रुतियों के आधार पर लिखे हैं। चमत्कारों के गाढ़े आवरण से ढके वृत्तों में जीवनी-निर्माण के सारभूत तत्त्वों को छाँटना कितना कठिन कार्य है; शोधकर्ता ही जानते हैं। सन्तों के अलौकिक कृत्यों को प्रधानता न देकर उनके तपोमय जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने की ओर ही अपनी दृष्टि रही है। लेखक का विश्वास है कि इससे उनकी साधनापद्धति के विषय में फैली हुई भ्रान्तियाँ दूर होंगी और उज्ज्वल रस के उपासकों का दिव्य रूप साहित्यप्रेमियों के आकर्षण की वस्तु बनेगा। किसी व्यक्ति का कोई कार्य अब तक ऐसा नहीं है जिससे इसके लेखन में विशेष सुविधा तथा प्रेरणा मिली हो।

उपसंहार की स्थिति अंत में है। इसके भीतर रसिकभावना के विकास, साम्प्रदायिक संगठन, साधना, परम्परा, साहित्य और उसके निर्माता कवियों की विशेषताओं का सिंहावलोकन करते हुए रसिकसाधना के प्रति

फैली भ्रांत धारणाओं के निराकरण का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रसङ्ग में इस शाखा के महामना भक्तों की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक देन की भी विवेचना की गई है।

अनुशीलन को अधिक सजीवता एवं वास्तविकता प्रदान करने के लिये चित्रों का संकलन और मानचित्र का निर्माण भी इस अध्ययन का एक प्रमुख अङ्ग रहा है। देश के विभिन्न भागों से प्रसिद्ध रामभक्तों के चित्र संकलित किये गये हैं। इससे काव्य के अध्ययन के साथ ही उनके व्यक्तित्व का भी बोध हो जायगा। जहाँ तक संभव हो सका है ये चित्र सम्बद्ध महात्माओं के पीठों से ही प्राप्त किये गये हैं अतः उनकी प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। श्रीकृष्णदास जी पयहारी और अग्रदास जी के चित्र भी रसिक स्रोतों से ही उपलब्ध हुए हैं, किन्तु उनकी प्रामाणिकता पर निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। सन्तों में उनका प्रचार और सम्मान देखकर ही उन्हें स्थान दे दिया गया। साधना के दो चित्र, 'दिव्य-कनकाभवन' तथा 'अष्ट सखियों की सेवा का स्वरूप और उनकी स्थिति'—श्री राजकिशोरी वरशरण जी, महन्त जयपुर मन्दिर अयोध्या से प्राप्त हुए हैं। रसिक साधना के प्रसारक्षेत्र का मानचित्र अपनी देखरेख में तैयार कराया गया है, इस विचार से कि उसके द्वारा पाठकों को रसिकसंप्रदाय की व्यापकता, उसके निर्माताओं की साधना-भूमि तथा रसिकतीर्थों की भौगोलिक स्थिति का वास्तविक ज्ञान हो जाय।

अपना उद्देश्य आलोच्य विषय को सभी प्रकार से प्रकाश में लाने एवं सुबोध बनाने का रहा है। तथापि यह सर्वथा संभव है कि उसका कुछ अंश अब भी अनिर्दिष्ट एवं अविवेचित रह गया हो। जिन सन्तों की रचनाओं पर यह प्रबन्ध आधारित है उनके अतिरिक्त अभी सैकड़ों ऐसे कवि हैं, जिनकी कृतियों और जीवनी का उपयोग, तद्विषयक जानकारी रखते हुए भी, साधन, शक्ति और समय की सीमाओं से बाधित होने के कारण, यहाँ नहीं हो सका है। ग्रंथ के अंत में अनुसन्धित्सुओं की सुविधा के लिये उक्त कवियों की संक्षिप्त चर्चा कर दी गई है। हो सकता है उनके अनुशीलन से कुछ नये तथ्य प्रकाश में आएँ और इस प्रकार रसिक साहित्य का अध्ययन पूर्णता की ओर अग्रसर हो।

दूसरा अध्याय

रामभक्ति में रसिक भावना का विकास

भारतीय संस्कृति के समष्टिरूप का दर्शन यदि हमें कहीं होता है तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम के ही चरित में। इस महापुरुष का चरित युगों से जातीय जीवन का प्रधान प्रेरणाकेन्द्र रहा है और यह उसकी लोकप्रियता का ही परिणाम है, कि भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं तथा बृहत्तर भारत एवं पड़ोसी देशों की जन भाषाओं में भी, रामकथा को लेकर एक विशाल साहित्य का निर्माण हो गया। रामचरित के अन्यतम गायक तुलसी ने तो 'रामायन सतकोटि अपारा'[1] लिखकर उसके रचयिताओं की संख्या ही अपरिमित मान ली। अस्तु, कालप्रवाह के साथ कवियों की व्यक्तिगत रुचि और सांस्कृतिक आदर्शों के अनुसार रामकथा भी उत्तरोत्तर नये साँचों में ढलती और परिष्कृत होती रही। देखते ही देखते वह स्थिति भी आ गई जब दाशरथि राम की लोकयात्रा ने अवतारी राम का लीला का रूप धारण कर लिया। हिन्दुओं ने यदि उन्हें विष्णु के दशावतारों मे प्रतिष्ठित स्थान दिया तो बौद्धों ने बोधिसत्व और जैनों ने त्रिषष्टि महापुरुषों मे आठवें बलदेव के रूप में उनकी पूजा की।[2] भारतवर्ष के इन तीनों प्रधान धर्मों में, समानरूप से व्याप्त राम के प्रति पूज्यभाव, उनके चारित्रिक आदर्शों की सर्वग्राह्यता का द्योतक है। शनै शनै साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों के नायक बन वे जनजीवन में ऐसे घुल मिल गये कि अवतारी होते हुए भी अलौकिकता की अपेक्षा उनकी पुरुषोत्तमता ही लोगों को अधिक आकर्षक दिखाई पड़ी। राम के अनुकरणीय चरित से उनकी रागात्मक घनिष्ठता स्थापित हो गई। अत कालान्तर मे भक्ति सम्प्रदायों के उदय होने पर विष्णु के सभी नामों में राम नाम ही सर्वाधिक ग्राह्य हुआ।

१–राम कथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं।
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा॥
—रामचरितमानस, बालकांड पृ० ३७

२–राम कथा–(बुल्के) पृ० ६०।

सगुण एवं निर्गुण[1] दोनों पंथों के प्रवर्तकों ने उसकी महिमा के गीत गाये। कबीर ने यदि निर्गुण-निरंजन राम के नाम को भक्तों का सर्वस्व माना, तो तुलसी के मानस में नाम के साथ ही उनके रूप, लीला और धाम की भी आरती उतारी गई। इससे ज्ञानी-ध्यानी ही नहीं, जीवन की पगडंडियों पर चलनेवाले साधारण लोग भी इस दिव्यविभूति के प्रकाश का सहारा लेकर अपनी यात्रा पूरी कर सके। रामतत्त्व के ये दोनों पक्ष हिन्दी साहित्य में दो समृद्ध किन्तु परस्पर विरोधी परम्पराओं के प्रतीक बने। एक ने यदि आध्यात्मिक निःश्रेयस् की प्राप्ति की भावना जगाई तो दूसरे ने लोकधर्म की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। उभय स्वरूप में राम की यह सर्वमान्यता ही उनके चरित में लोकनियन्ता और लोकनायकत्व के उन अलौकिक गुणों की कल्पना का कारण बनी, जिनका विकास विष्णु के अवतार माने जाने वाले अन्य किसी महापुरुष के चरित्र में इस सीमा तक नहीं पाया जाता। किन्तु इन सभी गुणों का सम्बन्ध राम की ऐश्वर्यलीला से है, भक्तों की दृष्टि में भगवान का यह लोकनिर्वाहक बाह्य गुण है, उनका स्वरूप माधुर्यपूर्ण है, जिसका प्रकाश गोलोक अथवा साकेत की अतःपुरलीला में होता है। लीलावतार होने से कृष्ण के चरित को लेकर इस भाव का व्यापक प्रचार हुआ, किन्तु मर्यादा की दृष्टि रामकथा में इस रूप के अंकन में बाधक रही। रसिक साधकों ने उपास्य के 'निज स्वरूप' का साक्षात्कार इस आवरण को हटाकर किया। उनके सरस उद्गारों से रामभक्ति का एक खुला पक्ष अलङ्कृत हुआ और वह सर्वाङ्गपूर्ण बनी। विकास की जिन स्थितियों ने उसे यह रूप दिया उनके क्रम एवं साहित्य से परिचित हो लेना आवश्यक है।

राम के तीन रूप।

राम के सम्यक् अध्ययन से उनके स्वरूपविकास की तीन अवस्थायें स्पष्टतया लक्षित होती हैं—ऐतिहासिक, साहित्यिक और साम्प्रदायिक। कालक्रम से उनके ऐतिहासिक रूप की प्रधानता वाल्मीकिरामायण के मूल रूप के रचनाकाल (३०० ई० पू०)[2] से लेकर प्राचीनतम पुराणों के निर्माणकाल (चौथी शती) तक तथा साहित्यिक रूप की प्रमुखता, 'रघुवंश' के रचयिता

१– सगुणं निर्गुणं चाथ ध्यायेद् यो रघुवराजम्।
कर्मानपेक्ष्य ध्यानेन स यात्येव परं पदम्॥
—अगस्त्यसंहिता-पत्र ७३

२–राम कथा (बुल्के) पृ० ३६

कालिदास के समय (४०० ई०) से लेकर 'जानकीहरण' के लेखक कुमारदास (८ वीं शती) के समय तक रही। यद्यपि कालिदास के पूर्व 'प्रतिमा' और 'अभिषेक' नाटकों में भास (३०० ई०) रामकथा का काव्यात्मक निरूपण कर चुके थे, किन्तु रामकाव्यों की शृंखलाबद्ध परम्परा कालिदास से ही चली। उनका तीसरा, साम्प्रदायिक रूप आलवार संत शठकोप (९ वीं शती) विरचित 'सहस्रगीति' के छंदों में प्रस्फुटित होता है और वह तब से निरंतर विकसित होता हुआ वर्तमान काल तक चला आता है। यह उल्लेखनीय है कि विकास की उक्त तीनों स्थितियों में पुरुषोत्तमता के साथ राम की अवतार-कल्पना के भी सूत्र मिलते हैं।

१ ऐतिहासिक रूप (३०० ई० पू० से ४०० ई० तक)

वेदों में रामकथा

रामायण के रूप में संग्रथित होने के पूर्व रामकथा कब से और किस रूप में चली आ रही थी, इसके निश्चयात्मक ज्ञान के साधन अब अवशिष्ट नहीं रहे। इधर अन्वेषकों ने रामचरित से सम्बद्ध सभी प्रधान पात्रों—राम[१], सीता[२] दशरथ[३], जनक[४] और रावण[५], नदियों—सरयू[६], गंगा-यमुना[७] तथा स्थानों—अयोध्या[८] और त्रिवेणी संगम[९] के नाम वैदिक साहित्य में ढूँढ निकाले हैं। इतना ही नहीं, राम के पूर्वजों—इक्ष्वाकु[१०], सुद्युम्न[११], सुदास[१२], यौवनाश्व[१३], सगर तथा उनके पुत्रों[१४] तक का भी अस्तित्व श्रुतियों में दिखाया गया है।

१—ऋग्वेद, १०।९३।१४; अथर्व, ११३।११; साम, उत्त० १५।२।३; शु० यजु० २९।५९
२—ऋग्वेद, सू० सू० १०।८५; ३।८।९
३—ऋग्वेद ११।२६।४, २।१।११
४—तै० ब्रा० ३।१०।९
५—अथर्व ४।६।१
६—ऋग्वेद १०।५।६४-९
७—वही १०।७५।५
८—अथर्व १०।२।३१,३२,३३
९—ऋक् परि० २२।१
१०—अथर्व १९।३९।९, शतपथ १३।५।४।५
११—यजु० मै० सं० १।२।१९
१२—ऋग्वेद ३।५।३।९
१३—वही १०।१४१।१।६
१४—अथर्व २०।१२७।१

न जाने कितने काल से इसी विश्वास से प्रेरित हो, भक्त लोग वैदिक मन्त्रों में प्राप्त इन सूत्रों के आधार पर, रामकथा को एक व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न भी करते आ रहे हैं। नीलकंठ चतुर्धर का 'मन्त्ररामायण' संभवतः इस प्रकार का प्राचीनतम प्रयास है। किन्तु जिन प्रसंगों में उक्त संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है, उनका सम्बन्ध दाशरथि राम से सीधा स्थापित नहीं होता। विद्वानों ने उनकी व्याख्या भी अलग-अलग ढंग से की है। मैक्डानेल और जैकोबी के अनुसार, वेदों में राम इन्द्र के और *सीता लांगलपद्धति (हराई या कूँड़)* के पर्याय हैं। इसी प्रकार राम-रावण-युद्ध ऋग्वेद में वर्णित इन्द्र और वृत्र के संग्राम का द्योतक कहा गया है।

इन व्याख्याओं का सहारा लेकर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने संपूर्ण रामकथा को ही भारतीय धार्मिक विश्वास की काल्पनिक सृष्टि घोषित कर दिया। लासेन और वेबर के मत से रामायण उत्तर भारत के आर्यों द्वारा दक्षिण के अनार्यों की पराजय और उस प्रदेश में आर्य संस्कृति के प्रसार का एक आलंकारिक चित्रण मात्र है। इन निर्मम प्रहारों के बावजूद रामकथा की ऐतिहासिकता अक्षुण्ण बनी रही। वेदों के परवर्ती साहित्य में कोसल जनपद की स्थिति, अयोध्या के सूर्यवंशीय राजाओं की पुराणों में प्राप्त प्रशस्तियों तथा उसके यशस्वी शासकों की वंशपरम्परा में राम की उत्पत्ति विषयक अनेक सुदृढ़ प्रमाण उपलब्ध हैं। इनके समक्ष रामकथा की वास्तविकता में सन्देह उत्पन्न करने वाली इन कोरी कल्पनाओं का कोई मूल्य नहीं।

वाल्मीकिरामायण

राम के ऐतिहासिक वृत्त का सर्वप्रथम दर्शन वाल्मीकिरामायण में होता है। उसकी निम्नलिखित पंक्तियों में इसका संकेत किया गया है।

पूजयंश्च पठंश्चेमं इतिहासं पुरातनम्।
सर्वपापै. प्रमुच्येत दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥[1]

अधिकांश विद्वानों का मत है कि वर्तमान रामायण के आदि रूप की रचना कम से कम ३०० ई० पूर्व तक हो चुकी थी। परन्तु रामचरित की लोक-प्रियता के कारण, उसके बाद, मूल कथा में अनेक संशोधन तथा परिवर्धन होते रहे और दूसरी शताब्दी ई० तक उसने अपना वर्तमान रूप धारण किया।[2] इस वृद्धि की विशेषता थी बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड की कथाओं की सृष्टि और उनमें रामावतार संबंधी प्रसंगों का समावेश होना।

१—वा० रा० युद्धकांड १२१।१२२ २—रामकथा (बुल्के) पृ० ३५

महाभारत में रामकथा

वाल्मीकिरामायण के बाद रामचरित का सविस्तर वर्णन महाभारत में मिलता है। उसके आरण्य[1], द्रोण[2] और शान्ति[3] पर्वों में तो कथांश ही आये हैं, किन्तु रामोपाख्यान में पूरी रामकथा दी गई है। रामायण से उसकी कुछ मौलिक विशेषतायें पाकर आरम्भ में ई० हाप्किन्स और ए० लुडविग ने उसे एक स्वतन्त्र रचना बताया था।[4] पीछे डा० सुकथाकर ने रामायण से अनेक स्थलों पर उसके शाब्दिक साम्य दिखलाकर इस मत को निराधार प्रमाणित कर दिया।[5] अब यह सर्वमान्य हो गया है कि रामोपाख्यान का विकास रामायण से ही हुआ।

अष्टाध्यायी और महाभाष्य में राम

पाणिनि (पाँचवीं शती ई० पू०) की अष्टाध्यायी में कोसल[6], केकय[7], तथा सरयू[8] का नाम आया है, परन्तु राम कथा से उनका कोई सम्बन्ध जुड़ा हुआ नहीं दिखाई देता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (४०० ई० पू०) में अवश्य एक स्थान पर एतद्विषयक एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपलब्धि होती है। यहाँ शक्तिशाली रावण के विनाश का कारण उसकी इन्द्रियलोलुपता बताई गई है।[9] इससे लेखक की रामकथा से अभिज्ञता सिद्ध होती है।

बौद्ध-ग्रंथों में रामचरित

इसी के साथ उन बौद्ध स्रोतों की भी चर्चा अपेक्षित है जिनमें कुछ परिवर्तन के साथ रामकथा दी गई है। ये हैं 'दशरथकथानम्' (दूसरी शती ई० के बाद) 'अनामक जातकम्' (तीसरी शती ई०) और 'दशरथ जातक' (पाँचवीं शती ई०)। इनमें प्रथम दो के मूल भारतीय रूप प्राप्य नहीं हैं।[10] फिर भी उनके उपलब्ध संस्करणों से रामकथा की प्राचीनता तथा व्यापकता का बोध तो हो ही जाता है।

१—महाभारत आ० प० ३।१४७।२८–३८ २—वही द्रो० प० ७।५९।१–३१

३—वही शां० प० १२।२२।५१–६२ ४—रामकथा (बुल्के) पृ० ४७

५—रामोपाख्यान एन्ड महाभारत (काने कामेमोरेशन वाल्यूम) पृ० ४७२–८८

६—अष्टाध्यायी ४।१।१७१ ७—वही ७।३।२ ८—वही ६।४।१७४

९—"मानाद् रावणः परदारानप्रयच्छन् (विननाश) दुर्योधनश्च राज्यादंशम्।"
—अर्थशास्त्र १।५।२

१०—रामकथा (बुल्के) पृ० ५१-५५।

शिलालेखों में राम

भारतीय शिलालेखों में राम का नाम सर्व प्रथम नासिक के गुफालेख[1] में मिलता है। उसकी तत्सम्बन्धी पंक्ति इस प्रकार है—

स एक कुसलस स एक धनुधरस एक सूरस एक बाह्मनस राम-केसव-अर्जुन-भीमसेन तुल पराकमस [द] ऽठण यनुसव समाज कारकस णाभाग नहुस जनमेजय सक्र ययाति रामांबरिस समतेजस अपरिमत मख यमीचतमभुतं......[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'राम' नाम दो बार आया है और दोनों में वह किसी पराक्रमी महापुरुषविशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इनमें दूसरी बार उसका उल्लेख नाभाग, नहुष, सगर, अबरीष आदि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के साथ है। अतएव उसे निश्चयपूर्वक दाशरथि राम का बोधक माना जा सकता है, किंतु पहली पंक्ति में उसकी स्थिति विवादास्पद है। प्राचीन साहित्य में 'राम' नाम से तीन व्यक्ति जाने जाते हैं—दाशरथिराम, परशुराम और बलराम। शिलालेख की पहली पंक्ति में निर्दिष्ट 'धनुधरस' से यदि राम का सम्बन्ध मान लिया जाय, तो यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यहाँ राम से, निर्माता का तात्पर्य, रघुवंशी राम से ही है। क्योंकि धनुर्धर[3] के रूप में वे परंपरा से प्रसिद्ध रहे हैं। अवतार रूप में आने के बहुत पहले से वे एक अप्रतिम वीर माने

१–मेम्वायर्स आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया–सं० ५

२–एपिग्राफिया इंडिका, भाग ८, पृ० ६०

३–अहिर्बुध्न्य संहिता में विभवावतारों के अंतर्गत 'राम' नाम से प्रसिद्ध दो महापुरुषों का उल्लेख हुआ है। ये हैं—परशुराम और धनुर्धर राम।

(विभवा एकोनचत्वारिंशत्)
ज्वलत्परशुधृग्रामो रामश्चान्यो धनुर्धरः।
—अहिर्बुध्न्य संहिता, प्रथम खंड ५।५६

यह विदित ही है कि तीसरे 'राम' अथवा बलराम (हलधर) की गणना विभवावतारों में नहीं होती और न वे धनुर्धर के नाम से ख्यात हो हैं, अतः धनुर्धर राम से रचयिता का तात्पर्य दाशरथि राम से है, इसमें संदेह नहीं। विभवावतारों में राम का उल्लेख परवर्ती साहित्य में भी पाया जाता है। कुलशेखर आल्वार विभवावतारों में दाशरथि राम के भक्त थे।

हरेर्चावताराणां भक्तिः श्री वेंकटेश्वरे।
श्रीरामे विभवानां तु कुलशेखरभूपतेः॥
—प्रपन्नामृत पृ० २७५

जाते रहे हैं और उनका मुख्य अस्त्र धनुष-बाण ही रहा है। वाल्मीकिरामायण, महाभारत और पुराणों में जहाँ भी उनके शौर्य के वर्णन आये हैं, धनुर्विद्या में उनकी असाधारण गति की प्रशंसा की गई है। प्राचीनतम मूर्तियों में उनकी धनुषबाण सहित आकृति अंकित है। दक्षिण भारत में 'कोदंडपाणि' राम के अनेक पुराने मंदिर भी पाये जाते हैं।

ऐसी स्थिति में इस गुफालेख में निर्दिष्ट राम, दाशरथि राम से अभिन्न माने जा सकते हैं। इससे यह विदित होता है कि गुप्तकाल के पूर्व ही एक अतुल पराक्रमी योद्धा के रूप में सर्वत्र उनकी प्रतिष्ठा स्थापित हो गई थी।

इसके पश्चात् गुप्त शिलालेखों में, रामायण के मुख्य पात्रों में राम और हनुमान के दो स्थलों पर संकेत मिलते हैं। इनमें एक स्थान पर स्कन्दवर्मन् के शौर्य और प्रताप की तुलना राम से की गई है।[1] अन्यत्र जीवित गुप्त के अलौकिक कृत्यों की सराहना करते हुए उसे वायुपुत्र हनुमान के समुद्रलंघन ऐसे आश्चर्यपूर्ण कृत्यों का संपादक बताया गया है।[2]

पुराणों में रामचरित

पौराणिक साहित्य की रचना ४०० ई० से लेकर १५०० ई० के बीच मानी जाती है।[3] इस लम्बे कालखंड में लिखे गये पुराणों में हरिवंश पुराण (चौथी शती), विष्णु और वायु पुराण (पाँचवीं शती), भागवत पुराण (छठी शती), कूर्म पुराण (सातवीं शती), अग्नि एवं स्कन्द पुराण (आठवीं शती), नारद पुराण (दसवीं शती) और पद्म पुराण (१२वीं से १५वीं शती) में रामकथाविषयक प्रचुर सामग्री मिलती है। इनमें रामावतार और राम-पूजा सम्बन्धी उल्लेखों की उत्तरोत्तर वृद्धि दिखाई देती है, इससे रामचरित की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा का पता चलता है।

२. साहित्यिक रूप (४०० ई० से० ८०० ई० तक)

रामचरित के विकास का सरस रूप कालिदास, भवभूति, और कुमारदास ऐसे संस्कृत के महाकवियों के श्रव्य एवं दृश्य काव्यों में मिलता है। सभ्यता की उन्नति, ऐहिक प्रसाधनों की वृद्धि और सामाजिक जीवन की सर्वांगीण समृद्धि के युग में लिखे गये नाटकों और काव्यों में रामचरित की

१—कार्पस इन्सक्रिप्शनम इन्डिकेरम—भाग ३। गुप्तइन्सक्रिप्शन्स सं० १७पृ०…

२—वही सं० ४२, पृ० २०५

३—रामकथा (बुल्के)—पृ० १५३–१५५

सर्वोत्कृष्ट कल्पना ऐश्वर्य, शौर्य और शृंगार के अपूर्व समन्वित रूप में की गई। इससे समाज की सभी श्रेणियों और प्रवृत्तियों के लोगों में राम के प्रति श्रद्धा का उदय हुआ और इस प्रकार उनके भाव तथा विचार राम के पावन आदर्शों से स्वयं परिष्कृत होने लगे।

• यह उल्लेख्य है कि इन कवियों ने राम के अवतार रूप को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। वे उसमें रमे नहीं हैं, उसका संकेत मात्र कर दिया है। वे मूल रूप में कवि थे और वास्तव में काव्य की दृष्टि से ही इन्होंने रामचरित को देखा है, भक्त की दृष्टि से नहीं।

राम को सांप्रदायिक रूप इसके बाद मिला, किंतु उसकी पृष्ठभूमि शताब्दियों पहले से तैयार हो रही थी। उसके आधारभूत तत्त्व थे—रामावतार की कल्पना और रामभक्तिभावना। अतएव इसके पूर्व कि रामावत सम्प्रदाय की विशेषताओं का निदर्शन कराया जाय, यह जान लेना आवश्यक है कि रामचरित के अंतर्गत इन तत्त्वों का विकास किस समय से और किस प्रकार हुआ।

रामावतार की प्रतिष्ठा

रामतत्त्व के क्रमिक विकास का अनुशीलन करने से पता चलता है कि राम के उदात्त चरित से प्रभावित लोकभावना ने उन्हें राजपुत्र से पुरुषोत्तम, पुरुषोत्तम से विष्णु तथा विष्णु से परम पुरुष के पद पर ला बिठाया। यह प्रक्रिया कब से आरम्भ हुई और इसमें कितना समय लगा, यह बताना कठिन है। फिर भी इतना निर्विवाद है कि वाल्मीकिरामायण में अपने को मनुष्य मानते हुए[1] भी वे पुरुषोत्तम के रूप में दिखाये गये हैं। पीछे भागवतधर्म के प्रचार के साथ-साथ ज्यों-ज्यों वासुदेव कृष्ण का महत्त्व बढ़ता गया, उनकी अलौकिक लीलाओं के प्रचार से अवतारकल्पना को बल मिला और दूसरी शती ई० पू० में वे परात्पर ब्रह्म के रूप में पूजे जाने लगे। बेसनगर के शिलालेख से यह स्पष्ट हो जाता है।[2] कृष्ण को लेकर इस प्रकार अवतारवाद का विकास होने पर कालान्तर में उनके पूर्ववर्ती कतिपय महापुरुषों को भी उसी कोटि में रखा जाने लगा। उनमें दाशरथि राम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थे।

१—आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्।
सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे॥
—वा० रा० यु० कां०, ११७।११

२—अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट पृ० ५४

वाल्मीकिरामायण के लंका कांड के अंत तथा उत्तर कांड में रामावतार-भावना का एक विकसित स्वरूप मिलता है। उसमें वे विष्णु तथा परब्रह्म, दोनों रूपों में अंकित किये गये हैं। रावणवध के अनन्तर ब्रह्मा, विष्णु, महेश, यम, वरुणादि देव उनकी स्तुति करते दिखाये गये हैं।[१] परन्तु इन प्रसंगों को कुछ विद्वान् वाल्मीकिरामायण का मूल अंश नहीं मानते। उनकी दृष्टि में इसकी सृष्टि तीसरी शताब्दी ई० के लगभग कभी हुई। यह मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल के पूर्व रामावतारभावना फैल चुकी थी। यह काल सम्भवतः प्रथम शती ई० पू० था।[२] रामायण के कुछ ही समय पश्चात् लिखे गये महाभारत में भी रामावतार की चर्चा स्थान-स्थान पर मिलती है।[३] इसके परवर्ती पौराणिक साहित्य में विशेषतः हरिवंश, विष्णु, वायु और भागवत[४] पुराणों में राम, विष्णु के अवतार माने गये हैं।

१—ततः सहस्राभरणान् प्रगृह्य विपुलान् भुजान्।
अब्रुवंस्त्रिदशश्रेष्ठाः प्रांजलिं राघवं स्थितम्॥
त्रयाणां त्वं हि लोकानां आदिकर्ता स्वयम्प्रभुः।
रुद्राणामष्टमो रुद्रः साध्यानामसि पंचमः॥
अश्विनौ चापि ते कर्णौ चन्द्रसूर्यौ च चक्षुषी।
अन्ते चादौ च लोकानां दृश्यसे त्वं परंतप॥
—वा० रा० यु० कां०, १२०।५,८,९

२—रामकथा (बुल्के)—पृ० १४५

३—अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबलः।
विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधामिमाम्॥
—महाभारत, आ० प०, ३।१४७।२२

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥
—वही, स्वर्गारोहण प०, १८।६

सन्धौ तु समनुप्राप्ते त्रेतायां द्वापरस्य च।
रामो दाशरथिर्भूत्वा भविष्यामि जगत्पतिः॥
—वही, शांति प०, १२।३४८

४—सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।

इन मान्य स्रोतों के अतिरिक्त रामसाहित्य के प्राचीन काव्यों में भी वे विष्णु तथा परब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं। भास ने अपने 'अभिषेक' नाटक में राम को विष्णु और सीता को लक्ष्मी का अवतार माना है।[1] कालिदास ने भास की उक्त भावना को साहित्य के क्षेत्र में कुछ और आगे बढ़ाया तथा विष्णु[2] को ही नहीं 'अवाङ्मनसगोचर' परमात्मा को 'भूतार्थव्याहृति' तथा 'लोकानुग्रह' के लिये राम के रूप में अवतरित बताया।[3] उनके परवर्ती काल में लिखे गये 'जानकीहरण'[4]

भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत्कोसलान्दिवम् ॥
—श्रीमद्भागवत–५।८

१–इमां भगवतीं लक्ष्मीं जानीहि जनकात्मजाम्।
सा भवंतमनुप्राप्ता मानुषीं तनुमास्थिता ॥
—अभिषेक नाटक (भास)

२–अथात्मनो शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥
—कालिदासग्रंथावली, पृ० १३६ (रघुवंश १३।१)

३–इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम्।
भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ॥
अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना।
स्वरेणोवाच भगवान्परिभूतार्णवध्वनिः ॥
सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम्।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरःकमलोच्चयम् ॥
—का० ग्रं०, पृ० १०८–१०९ (रघुवंश —१०।३३, ३५, ४४)

प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम्।
अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥
—वही. (रघुवंश १५।१०)

४–इत्थं वाचस्पतौ वाचं व्याहृत्य विरतेक्षणम्।
स्वर्गे च स्वप्रतिजल्पस्पृहानिःस्पन्दवर्तिनि ॥
कुक्षिस्थनिःशेषलोकत्रयभारोद्वहोऽप्यहम्।
विधाय मानुषीकुक्षौ वासं लोकभयाय वः ॥
भूत्वा राम इति ख्यातः कुर्यां भर्तुः सुरद्विषाम्।
एकबाणकृपाणोपनितशिरश्छेदपाभवम् ॥

'हनुमन्नाटकादि'[1] ग्रंथों में इस परंपरा का सम्यक् निर्वाह हुआ है।

आठवीं शती के पूर्व विरचित पांचरात्रसंहिताओं में राम के साथ उनके तीनों भ्राताओं के भी अवतार माने जाने के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' में लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न को स्वयं भगवान् का ही अंश बताया गया है।[2]

इस प्रकार बन्धुओं और सहायकों पर धीरे-धीरे अवतार-कल्पना का इतना गहरा रंग चढ़ा दिया गया कि सम्पूर्ण रामचरित ब्रह्म की अवतारलीला के रूप में चित्रित किया जाने लगा। रामोपासना के विकास के लिये इस भाव ने एक उर्वर क्षेत्र प्रस्तुत किया।

रामभक्ति का विकास

अवतारवाद के सिद्धान्त के विषय में यह स्मरण रखना चाहिये कि महापुरुषों के, विष्णु के अवतार रूप में ख्यात होने के बहुत पहले से ही उनकी पूजा, वीरपूजा के रूप में होती आ रही थी।[3] अतएव रामोपासना का सूत्रपात राम की वीरपूजा अथवा उनके पुरुषोत्तम रूप की पूजा से हुआ

इत्युदारमुदाहृत्य वचो वाचामगोचरः।
तस्थाज वेदविद्वेषो वर्षातल्पं नृपानुजः॥
—जानकीहरण, २।७४-७०

१—तं रामं रावणारिं दशरथतनयं लक्ष्मणाग्र्यं गुणाढ्यम्।
पूज्यं मान्यं प्रतापावलयितजलधिं सर्वसौभाग्यसिद्धिम्॥
विद्यानन्दैककन्दं कलिमलपटलध्वंसिनं सौम्य देव।
सर्वात्मानं नमामि त्रिभुवनशरणं प्रत्यहं निष्कलङ्कम्॥
—हनुमन्नाटक, १।४

२—अथवा भगवानेव स्वयं चक्रस्वरूपधृक्।
अवस्थित इति प्राज्ञैः कथ्यते पुरुषोत्तमः॥
प्रविभ्रेतायुगे देवः साधुत्राणकृते हरिः।
रामलक्ष्मणशत्रुघ्नभरताद्यात्मना स्वयम्॥
चतुर्धाऽवस्थितस्तद्वच्चक्रात्मा हरिरेव हि।
गुणप्रधानभावस्तु रमादेरिव युज्यते॥
—अहिर्बुध्न्य संहिता, द्वितीय खंड, ३६।६२, ६४, ६५

३—दि क्लासिकल एज, पृ० ४१७

हो तो कोई आस्वर्य नहीं।[1] इसी को लेकर जनहृदय में राम के प्रति श्रद्धा के भाव अंकुरित हुए, जो समय पाकर उनकी भक्ति के रूप में पल्लवित और पुष्पित हुए। यह एक विचित्र बात है कि रामभक्ति के इन तत्त्वों के दर्शन, सब प्रथम रावण पर विजय प्राप्त करने में, उनके सहायक वानरों तथा राक्षसों की ही भावभूमि में होते हैं। अन्यों में उनका विकास बहुत बाद को हुआ। वाल्मीकिरामायण, महाभारत और भागवत में एतद्विषयक जो सामग्री उपलब्ध होती है उसमें रामभक्ति के कुछ ऐसे मूलसूत्रों का अस्तित्व पाया जाता है, जिन पर अबतक प्राय इतिहासकारों की दृष्टि नहीं गई है।

अनुसंधित्सुओं की सुविधा के लिये उनका समीक्षात्मक परिचय नीचे दिया जाता है।

वाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्ड में कथा आती है कि स्वर्गारोहण के समय हनुमान ने राम से तीन वरदान माँगे थे।[2] प्रथम उनके चरणों में अनन्य भक्ति, दूसरे रामकथा के संसार में प्रचलित रहने तक आयुर्बल की प्राप्ति और तीसरे अप्सराओं के मुख से नित्य राम कथा श्रवण। राम ने प्रसन्न होकर कवि श्रेष्ठ आञ्जनेय को इन तीनों आकांक्षाओं की पूर्ति का आशीर्वाद दिया था।[3] महाभारत के वनपर्व में भीम से भेंट होने पर हनुमान ने उनसे स्वयं राम द्वारा प्राप्त उक्त वरदानों की चर्चा की है, साथ ही अप्सराओं द्वारा रामचरित

1—अहिर्बुध्न्य संहिता, प्रथम खंड, ५।५६

2—तेषामेवं ब्रुवाणानां वानराणां च रक्षसाम्।
हनूमान्प्रणतो भूत्वा राघवं वाक्यमब्रवीत्॥
स्नेहो मे परमो राजंस्त्वयि तिष्ठतु नित्यदा।
भक्तिश्च नियता वीर भावो नान्यत्र गच्छतु॥
यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले।
तावच्छरीरे वत्स्यन्ति प्राणा मम न संशय॥
यच्चैतच्चरितं दिव्य कथां ते रघुनन्दन।
तन्ममाप्सरसो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ॥
—वा० रा० उ० कां०, ४०।१४-१७

3—एवमेतत्कपिश्रेष्ठ भविता नात्र संशय।
चरिष्यति कथा यावदेषा लोके च मामिका।
तावत्ते भविता कीर्ति शरीरेप्यमवस्तथा॥
—वा० रा० उ० कां, ४०।१९,२०

गाकर सुनाये जाने का भी उल्लेख किया है।[1] भागवत के पंचम स्कंध में इस प्रसंग से सम्बद्ध कुछ नये तथ्य प्रकाश में आये हैं। किंपुरुषवर्ष के उपास्य देव का परिचय देते हुए कहा गया है कि उस प्रदेश में रामभक्त हनुमान गंधर्वोंसमेत आराध्य के पावन चरित का निरंतर श्रवण एवं गान करते हैं।[2] इससे विदित होता है कि हनुमान की साधनाभूमि किंपुरुषवर्ष है। श्री सी. वी. वैद्य ने अप्सराओं, किन्नरों, (किंपुरुषों) तथा गंधर्वों का प्रदेश हिमालय के दक्षिणी ढाल को माना है। और सिद्धों को भी उसी पर्वतीय भू-भाग का निवासी बताया है।[3]

संयोगवश महाभारत के वन पर्व में हनुमान और भीम की भेंट गंधमादन पर्वत की चोटी पर बताई गई है और उसे सिद्धदेश का नाम दिया गया है। उसी में अन्यत्र उसका एक दूसरा नाम 'कदलीवन' भी बताया गया

१—ततः प्रतिष्ठितो राज्ये रामो नृपतिसत्तमः।
वरं मया याचितोऽसौ रामो राजीवलोचन.॥
यावद्राम कथेयं ते भवेल्लोकेषु शत्रुहन्।
तावज्जीवेयमित्येवं तथास्त्विति च सोऽब्रवीत्॥
सीताप्रसादाच्च सदा मामिहस्थमरिन्दम।
उपतिष्ठन्ति दिव्या हि भोगा भीम यथेप्सिताः॥
तदिहाप्सरसस्तात गंधर्वाश्च सदाऽनघ।
तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयंति माम्॥

—महाभारत, वनपर्व १४८।१६, १७, १८, २०

२—किंपुरुषवर्षे भगवन्तमादिपुरुषं लक्ष्मणाग्रज सीताभिरामं रामं तच्चरण-सन्निकर्षाभिरत' परमभागवतो हनूमान् सह किम्पुरुषैरविरतभक्तिरपास्ते आर्ष्टिषेणेन सह गन्धर्वैरनुगीयमानां परमकल्याणीं भर्तृभगवत्कथां समुप-शृणोति स्वयं चेद गायति॥

सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत्कोसलान्दिवमिति॥

—श्रीमद्भागवत, पंचम स्कंध, १९।१,२,८

३—दि रिडिल आफ दि रामायण, पृ० ९४

है[1], जहाँ अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान, विभीषण, कृपाचार्य और परशुराम ये सात चिरजीवी निवास करते हैं।[2] सिद्ध सम्प्रदाय के ग्रंथ 'मीनचेतन' और 'गोरक्षविजय' के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ 'कदली वन' में ही स्त्रियों के बीच जा फँसे थे और उनका उद्धार करने के लिये जब गोरखनाथ उस प्रदेश में गये तो उनकी हनुमान से भेंट हुई थी।[3] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसकी स्थिति कुमायूँ गढ़वाल के मध्यवर्ती पर्वतीय प्रदेश में मानते हैं।[4] बृहद्ब्रह्मसंहिता में इसे मेरुपर्वत का दक्षिणी प्रदेश बताया गया है।[5] इस प्रकार नाथपंथी साहित्य के उपर्युक्त ग्रंथ, वाल्मीकिरामायण, महाभारत, भागवत और वैष्णव संहितायें हनुमान के सिद्धदेश, किंपुरुषवर्ष, गंधमादन पर्वत अथवा कदलीवन में निवास करने का एक स्वर से समर्थन करते हैं और इसके साथ ही वाल्मीकिरामायण के परिवर्द्धित रूप में प्रस्तुत होने के समय (२०० ई०) से लेकर भागवत के रचनाकाल (छठवीं शताब्दी ई०) तक धार्मिक क्षेत्र में प्रचलित[6] हनुमान की रामभक्तिसम्बन्धी धारणा की पुष्टि

१—प्रविवेश तत क्षिप्रं तानपास्य महाबल ।
वन पाण्डुसुत श्रीमान् शब्देनापूरयन्दिश ॥
अथापश्यन्महाबाहुर्गंधमादनसानुषु ।
सुरम्य कदलीषण्ड बहुयोजनविस्तृतम् ॥
कदलीवनमध्यस्थमथ पीने शिलातले ।
ददर्श सुमहाबाहुर्वानराधिपतिं तदा ॥
—महाभारत, वन पर्व, १४६।४१ ५१,७५

२—महाभारत, वन पर्व, १४६ अ०

३—नाथसम्प्रदाय, पृ० ५४

४— वही, पृ० ५५

५—भारत प्रथम वर्षं तत किंपुरुष स्मृतम् ।
हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विज ॥
—बृहद्ब्रह्मसंहिता, ६४

६—नाभादास जी ने भक्तमाल में जम्बूद्वीप के नवखंडों के अधीश्वर भगवद्रूपों और उनके प्रधान भक्तों की नामावली दी है। उसमें छठवें खंड को उन्होंने 'किम्पुरुष खंड' कहा है और उस खंड के आराध्य राम तथा उनके आराधक हनुमान बताये गये हैं—
'किं पुरुष, राम, कपि, भरत-नारायन वीना नारद"
—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ३५४

करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये ग्रंथ विभिन्न कालों में और पृथक् व्यक्तियों द्वारा लिखे गये हैं, अतएव उनकी विचारधारा में प्राप्त एकसूत्रता हिमालय के दक्षिणी ढाल के निवासी किंपुरुषों तथा वानर जाति के लोगों में प्रचलित रामभक्ति की किसी प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करती है। इसके अतिरिक्त महाभारत के उपर्युक्त प्रसंग में राम का नाम सुनते ही हनुमान का गद्गद हो जाना,[1] और भीम की प्रार्थना पर महाभारत में अर्जुन के रथ की ध्वजा पर विराजना,[2] आदि तथ्यों में घटनाओं का एक ऐसा तारतम्य मिलता है, जिससे पांडवों द्वारा की गई 'हनुमानपूजा' का समर्थन होता है और यह हनुमानपूजा रामभक्ति का ही आनुषंगिक विकास है।

रामभक्ति के प्रसंग में विभीषण की भी चर्चा होती है। हनुमान की भाँति उनकी गणना भी चिरजीवी रामभक्तों में की जाती है। वाल्मीकिरामायण में

इसकी टीका में रूपकला जी ने लिखा है "इसी किम्पुरुष खंड ही में महारानी मिथिलेशलली जी की तथा श्री जानकीजीवन जी की सेवा श्री सीताअंजनी दुलारे जी कई ('कपि महावीर' 'श्रीरामदूत' 'श्रीमारुतिवीरकला' 'श्रीचारुशाला इत्यादिक') रूप से सदैव करते हैं। एवं वहीं मुमुक्षु जनों को श्रीकेशरीनन्दन कपीश जी श्रीरामायणीय कथा और श्रीसीतारामाराधन सिखला के मुक्त कराते हैं।"

—वही, पृ० २५५

इससे यह प्रकट होता है कि रामभक्तों में हनुमान की 'किंपुरुषवर्ष' में रामोपासनाविषयक अनुश्रुति बहुत प्राचीनकाल से चली आती है।

१– ममापि सफलं चक्षुः स्मारितश्चास्मि राघवम्।
रामाभिधानं विष्णुं हि जगद्धृदयनन्दनम्॥
सीतावक्त्रारविन्दार्कं दशास्यध्वान्तभास्करम्।

—महाभारत, वन पर्व, १५१।६, ७

२– एवमुक्तस्तु हनुमान् भीमसेनमभाषत।
भ्रातृत्वात्सौहृदाच्चैव करिष्यामि प्रियं तव॥
चमूं विगाह्य शत्रूणां परशक्तिसमाकुलम्।
यदा सिंहरवं वीरं करिष्यसि महाबल॥
तदाहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवं तव।
विजयस्य रथस्थश्च नादान्मोक्ष्यामि दारुणान्॥

—वही, १५१।१५, १६, १७

विभीषण की शरणागति के समय युद्धकाड म राम द्वारा कहे गये प्रपत्तिमूलक[1] वाक्य आगे चल कर साप्रदायिक प्रथा में शरणागति के चरम मत्र माने जाने लगे।[2] श्री रामानुजाचार्य तक ने शरणागति गद्य में उनका आधार लेकर आत्म-निवेदन किया है।[3] विभीषण की रामभक्ति का प्रतिपादन वाल्मीकिरामायण के एक अन्य प्रसग से भी होता है। राम के राज्याभिषेक के अनन्तर अयोध्या से लका लौटते समय राम ने विभीषण को अपने कुलदेव श्रीरगनाथ की मूर्ति विमानसहित आराधना के लिए दी थी। किन्तु कुछ विशेष कारणो से वे उसे लका न ले जा सके। उन्होंने उस दिव्य विग्रह को मार्ग में ही, कावेरी की दो धाराओ के बीच, एक द्वीप में स्थापित कर दिया। कहते हैं विभीषण के प्रीत्यर्थ श्रीरंग जी लंका की ओर मुख कर के स्थित हो गये। भक्तो का विश्वास है कि तब से विभीषण नित्य प्रच्छन्न रूप में लका से श्रीरगधाम मे स्थित भगवान का *दर्शन करने आने लगे।*[4] *इस कथा मे सार जो कुछ हो, इतना स्पष्ट है कि* श्रीरंगऐक्ष्वाकुओं के कुलदेव थे, उनकी मूर्ति अयोध्या से श्रीरगधाम गई थी, और उसको उत्तर से दक्षिण भारत ले जाने में विभीषण का हाथ था। वाल्मीकि-रामायण की इस कथा का श्रीवैष्णव समदाय में जितना सम्मान है, उसे देखते हुए उपर्युक्त तथ्यों की सत्यता असदिग्ध कही जा सकती है। श्रीवैष्णवपरपरा म श्रीरग जी राम से अभिन्न माने जाते हैं। दक्षिण भारत मे वैष्णव भक्ति का श्रीरगधाम शताब्दियों से मुख्य केन्द्र रहा है। ऐतिहासिक काल में रामभक्ति के आदिप्रवर्तक आलवारों—शठकोप (नम्मालवार) और कुलशेखर, तथा

१– सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम॥
—वा० रा०, ६।१८।३३

२– प्रपत्तिरहस्य पृ० १२७

३– शरणागति गद्य, पृ० ११, १२

४– किं चान्यद्वक्तुमिच्छामि राक्षसेन्द्र महामते।
आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुकुलदैवतम्॥
आराधनीयमनिश सर्वदेवै सवासवै।
तथेति प्रतिजग्राह रामवाक्य विभीषण।
राजा राक्षसमुख्यानां राघवाज्ञामनुस्मरन्॥
—वा० रा० उ० कां०, १०८।३०–३२

५– कल्याण तीर्थाङ्क, पृ० २७२

वैष्णवाचार्यों—नाथ मुनि और रामानुज, को रामभक्ति का प्रसाद इसी दिव्य देश में प्राप्त हुआ था।

रामायण के अनन्तर महाभारत में भी विभीषण की गणना भक्तों में की गई है।[1]

वाल्मीकिरामायण में हनुमान और विभीषण की भक्ति के उपर्युक्त उल्लेखों के अतिरिक्त राम की भक्ति और उनकी स्तुति करने से, मनुष्यों की सभी कामनाओं की पूर्ति का संकेत[2] भी यह सूचित करता है, कि उस काल में ईश्वर के अन्य अवतारों की तरह, राम का भजन आमुष्मिक फलदाता माना जाने लगा था।

रामायण और महाभारत के बाद कालिदास के समय में रामोपासना के व्यापक प्रचार के प्रमाण मिलते हैं। रघुवंश में रामावतार के पूर्व देवताओं ने विष्णु से अवतार लेने की जो स्तुति की है वह पूर्णतया भक्तिमूलक है। मेघदूत में रामगिरि आश्रम में 'जनकतनया के स्नान से पुनीत जल'[3] और 'रघुपति' की चरणाङ्कित 'मेखला'[4] की लोक वन्द्यता'

१—राज्येऽभिषिच्य लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
धार्मिकं भक्तिमंतं च भक्तानुगतवत्सलम्॥
—महाभारत, वन पर्व, १४८। १३

२—अमोघं बलवीर्यं ते अमोघस्ते पराक्रमः।
अमोघं दर्शनं राम न च मोघस्तवस्तव॥
अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तश्च ये नराः।
ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्॥
—वा० रा० यु० का०, १२०।३०,३१.

३—कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः,
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥
—मेघदूत, पूर्वमेघ १

४—आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्॥
—वही, पूर्वमेघ, १२

के वर्णन में कवि की अंतरथ राममक्ति अभिव्यक्त होती है। साथ ही उससे यह भी विदित होता है कि कालिदास के युग में 'रामगिरि' की प्रतिष्ठा एक तीर्थ के रूप में स्थापित हो चुकी थी। यह संभावना तब और भी दृढ़ हो जाती है, जब उनके समकालीन गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री और वाकाटककुल की राजमहिषी, प्रभावती गुप्ता (५वीं शती) के 'भगवत रामगिरिस्वामिन्' की उपासिका होने के प्रमाण हमें मिल जाते हैं।[1] रामगिरि से कालिदास का तात्पर्य चाहे रामटेक (नागपुर)[2] से हो या चित्रकूट[3] से, दोनों स्थान आज भी रामतीर्थ माने जाते हैं और वहाँ के मन्दिरों के प्रधान उपास्यदेव सीताराम ही हैं। इसके अनन्तर पाँचवीं शती में वराहमिहिर ने भी बृहत्संहिता में इक्ष्वाकुवंशी राम की उपासना का वर्णन किया है।[4] रामभक्ति की इस परम्परा के प्रचलित रहने का पता ८ वीं शती के पूर्व विरचित पांचरात्रसंहिताओं से भी लगता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में 'सुदर्शन-सहस्रनाम स्तोत्र' के अन्तर्गत प्राप्त, राम के विशेषणों से जनक और भरद्वाज की उनके प्रति भक्ति सिद्ध होती है।[5]

राममूर्तियों तथा राममंदिरों का निर्माण

रामपूजा के विकास के साथ ही उनकी मूर्तियों और मंदिरों के निर्माण का भी प्रचार हुआ। राममंदिर और राममूर्ति का प्राचीनतम उल्लेख पाणिनि

१–दि क्लासिकल एज, पृ० ४१७

२– वही, पृ० ४१७

३–मल्लिनाथ ने मेघदूत के प्रथम श्लोक में उल्लिखित 'रामगिरि आश्रम' का अर्थ 'चित्रकूटस्थ आश्रम' किया है–"रामगिर्याश्रमेषु–चित्रकूटस्थआश्रमेषु वसतिम्"।

४–अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट, पृ० १७४

५– जनकस्तुतिसंतुष्टो जनकाराधिताधिकः।
जनकध्यानसंतुष्टहृदयो जनकार्चितः।
जनकानन्दजननो जनकृद्धृदयाम्बुजः॥
भरद्वाजस्तुतपदो भरद्वाजसमाश्रितः।
भरद्वाजाश्रमरतो भरद्वाजदयाकरः।

—अहिर्बुध्न्यसंहिता, द्वितीय खण्ड, ५६।२४,२५,६५

को 'अष्टाध्यायी' में मिलता है।[1] उसके एक सूत्र में कुबेर, राम और कृष्ण के मंदिर तथा मूर्तियों का वर्णन पाया जाता है। किन्तु उससे इसका निश्चयात्मक बोध नहीं होता कि, उक्त प्रसंग में 'राम' से लेखक का आशय 'दाशरथि' राम से है अथवा 'बलराम या परशुराम से'। विद्वानों में इस प्रश्न पर मतभेद है। इसके बाद दूसरी शताब्दी ई० के नासिक के गुफालेख में एक 'रामतीर्थ' का भी निर्देश मिलता है,[2] परन्तु यहाँ भी 'राम' की पहचानविषयक वही समस्या आ खड़ी होती है। इसी स्थान के एक अन्य लेख में 'राम' का उल्लेख दो बार प्राप्त होता है। यदि निर्माता का तात्पर्य इन्हीं से सम्बद्ध तीर्थ से है, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि दाशरथि राम के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले स्थान भी, द्वितीय शती ई० में, पूज्य समझे जाने लगे थे।[3]

दाशरथि राम की मूर्तियों का प्रथम निर्भ्रान्त वर्णन मत्स्यपुराण (चौथी शताब्दी ई०) में मिलता है।[4] इसके बाद पाँचवीं शताब्दी में वराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' में राममूर्तियों की निर्माणविधि का उल्लेख किया है।[5] इससे ज्ञात होता है कि कम से कम गुप्तकाल के आरम्भ से राममूर्तियों का निर्माण और उनकी पूजा वैष्णवों में प्रचलित हो गई थी। विभीषण की शरणागति के अवसर पर राम द्वारा सम्पादित, उनके राजतिलकसम्बन्धी कृत्य की एक गुप्त-कालीन मूर्ति इधर प्राप्त हुई है।[6] उसमें लक्ष्मण, राम की बाईं, विभीषण दाहिनी

१–'प्रासादे धनपतिरामकेशवानाम्'　　—अष्टाध्यायी २।२।३४

"कथं तर्हि प्रासादे धनपतिरामकेशवानामिति ?
धनपतेश्च रामकेशवयोश्चेति विग्रहः।"
—महाभाष्य प्रदीपोद्योत (नागेश भट्ट)
चतुर्थ खंड–पृ० ५७९

२. अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट—पृ० १०४

"प्रपाकरेण पीडित कावडे गोवर्धने सुवर्णमुखे शोर्पारगे च रामतीर्थे चरक [णा] पर्षद्भ्य. ग्रामे नानंगोले"—नासिक गुफालेख-सं०१०-कलेक्टेड वर्क्स आफ सर आर. जी. भंडारकर—भाग १,पृ० २५३।

३–डा० भंडारकर ने इस रामतीर्थ की स्थिति *सोपारा* (बेसीन के निकट) के पास मानी है।—वही, पृ० २५५

४–हिन्दू टेम्पुल, (स्टेला क्रैमरिश), द्वितीय खण्ड पृ० ३०९

५–अ० हि० वै० से० (राय चौधरी), पृ० १०४

६–कैटालाग आफ दि म्युजियम आफ आर्कियोलाजी ऐंड सारनाथ (दयाराम साहनी), पृ० ३२०

राम द्वारा विभीषण का राज्याभिषेक
—गुप्तकालीन मूर्ति
(भारत कला भवन काशी, के सौजन्य से)
(पृ० ५०)

श्रीकृष्ण दास पयहारी
दाहिने—कील्हदास, अग्रदास
बायें—तारानाथ योगी, महाराज पृथ्वीसिंह (जयपुर)
(पृ० ८६, ८७)

और हनुमान विभीषण की दाहिनी ओर बैठे हैं। उस अवसर के महत्त्व को व्यक्त करने के लिये उनके नीचे वानर बाजे बजाते दिखाये गये हैं। ये तथ्य गुप्तकालीन समाज में रामपूजा के प्रति बढ़ते हुए आकर्षण की झलक देते हैं। गुप्तसम्राटों की सूची में 'रामगुप्त' नाम भी इसीका द्योतक है। यह 'रामगुप्त' चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का अग्रज और समुद्रगुप्त का आत्मज है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता 'भगवत रामगिरिस्वामिन्' की उपासिका थी, *इसका उल्लेख पहले हो चुका है।*

३. सांप्रदायिक रूप (९वीं शती से वर्तमान काल तक)

आठवीं शताब्दी के पश्चात् रामभक्ति का साम्प्रदायिक रूप मुखर होता है। साम्प्रदायिक साहित्य के निर्माण का सूत्रपात तभी से माना जाता है। श्रीवैष्णवों की गुरु-परंपरा का आरंभ (ऐतिहासिक काल में) शठकोप आलवार (९वीं शती) से होता है। रामानंदीय सम्प्रदाय का विकास श्रीसम्प्रदाय के ही अंतर्गत हुआ। अतएव रामभक्त भी शठकोप को अपना प्रथम आचार्य मानते हैं। इस प्रकार रामभक्तिधारा का प्रवाह नवीं शती से आधुनिक युग तक अविच्छिन्न रूप में पाया जाता है। उसके एक हजार से अधिक वर्षों के इस इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिये, मोटे तौर से, तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) आलवार युग (८०० से ११०० ई० तक)
(२) आचार्य युग (११०० से १४०० ई० तक)
(३) रामावत युग (१४०० से वर्तमान काल तक)

इनमें प्रथम दो युगों के अंतर्गत लगभग ६०० वर्षों तक रामभक्ति, दक्षिण भारत के आलवार संतों और वैष्णवाचार्यों की व्यष्टिप्रधान-साधना का आधार रही। इससे क्रमशः उसके भाव एवं विचार पक्षों की पुष्टि हुई। फिर भी इस काल की वैष्णवसाधना में उसका स्थान गौण ही रहा। तीसरे युग में स्वामी रामानंद ने उसका आधार लेकर एक नये (रामावत) संप्रदाय की स्थापना की। उन्होंने लक्ष्मीनारायण के स्थान पर सीताराम की प्रतिष्ठा की और इस प्रकार लोकजीवन में राम की मर्यादा बढ़ाई।

आलवार संतों की रामभक्ति

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तर भारत में भागवत धर्म का ह्रास होने लगा। उनके परवर्ती शासक मिहिरकुल, यशोधर्मन् और हर्षवर्धन

वैष्णवेतर धर्मों के अनुयायी थे। अतएव आश्रय और प्रोत्साहन के अभाव में, गंगा की घाटी तथा मध्यभारत से हटकर, द्रविड़ देश वैष्णवसाधना का मुख्य गढ़ बन गया। आठवीं शताब्दी से आलवारों की पीयूषवाणी से सिंचित हो, भक्तिलता पुनः लहलहा उठी। इनकी संख्या बारह मानी जाती है। जिनमें प्रथम चार प्वायगार, भूतत्तार, पे, तथा तिरूमलिशाइ, प्रधानतया नारायण और विष्णु के उपासक थे। पाँचवें आलवार शठकोप थे। वे नम्मालवार के नाम से भी जाने जाते हैं। आलवारों में इन्हीं की सर्वाधिक प्रसिद्धि हुई। इनकी 'सहस्रगीति' में ही दाशरथि राम की अनन्य शरणागति का सर्वप्रथम उल्लेख प्राप्त होता है। 'दशरथस्य सुतं तं विना अन्यशरणवान्नास्मि'[१] में इनकी यह भावना स्पष्टतया व्यक्त हुई है। सम्प्रदाय में ये राम की पादुका के अवतार कहे जाते हैं। अपने समय के जिन ३२ दिव्य विग्रहों की स्तुति इन्होंने की है, उनमें राममूर्तियाँ भी हैं।[२]

वेंकटाचल के निकट तिरुपति में श्री रामचन्द्र की मूर्ति की स्थापना इन्होंने ही की थी। इसका उल्लेख सांप्रदायिक साहित्य में पाया जाता है।[३] सदाशिव-संहिता में कलियुग में रामतारक मंत्र के उपदेश से, साम्प्रदायिक रूप में रामोपासना के प्रचार का श्रेय, इन्हीं को दिया गया है। इनकी साधना-भूमि वेंकटाचल बताई गई है:—

> कलिकालोद्भवानां च जीवानामनुकम्पया।
> देव्यानुबोधितः साक्षाद्विष्णुः सर्वजनेश्वरः॥
> कृतकृत्या तदा लक्ष्मीर्लब्ध्वा मंत्रं षडक्षरम्।
> ददौ प्रीत्या तदा देवी विष्वक्सेनाय तारकम्॥
> वेङ्कटाद्रौ पुरा वेदा द्वापरान्ते परांकुशः।
> विष्वक्सेनं समाराध्य लभिष्यति षडक्षरम्॥
> तत्समीपे महापीठे वेङ्कटे रङ्गमण्डपे।
> जपिष्यन्ति चिरं मंत्रं तारकं तिमिरापहम्॥[४]

इससे रामभक्ति के प्रचार में शठकोप आलवार का महत्त्व आँका जा सकता है। उनकी माधुर्यभक्ति की विवेचना आगे की जायगी।

१—सहस्रगीति ३।६।८ २—प्रपन्नामृत, पृ० ३९७
३—श्री रामरहस्यत्रयार्थ (परि०), पृ० ४३,४४
४—वही (सदाशिव संहिता से उद्धृत), पृ० ४४

छठवें आलवार शठकोप के शिष्य मधुर कवि हुए। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इनकी जीवनी का जो अंश प्राप्त है, उससे इनके रामोपासक होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। प्रपन्नामृत में इनकी अयोध्यायात्रा, सरयूस्नान और सीतारामपूजा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इन्होंने कुछ दिन अयोध्या वास भी किया था।[1]

सातवें आलवार केरल के राजा कुलशेखर प्रसिद्ध रामभक्त हुए हैं। रामायण को ये वेदों के समान पूज्य मानते थे।[2] कहा जाता है कि रामचरित में उनकी इतनी आस्था थी, कि एक बार कथा में व्यास के मुख से खरदूषण की विशाल राक्षसीसेना द्वारा अकेले राम पर आक्रमण किये जाने का वृत्तान्त सुन कर, वे आवेश में आ गये थे और प्रभु की सहायता के लिये झट अपनी सेना का डंका बजवा दिया था। इसी भाँति एक अन्य अवसर पर सीताहरण का वृत्तान्त सुनते ही, उनके उद्धार के लिये, उन्होंने लंका पर धावा बोल दिया था और सेना सहित समुद्र में कूद पड़े थे।[3]

नाभादास ने भक्तदास[4] के नाम से इनका परिचय देते हुए इसका संकेत

१–अस्मिन्कालेऽथ वेदान्तिस्तस्माद्बदरिकाश्रमात्।
अयोध्यामगमद्धीमान्कविर्मधुरसंज्ञक ॥
स्नात्वाथ सरयूनद्यां वेदान्ती भगवत्पर।
ससैन्य सीतासहितमयोध्यारघुनन्दनम्।
कञ्चित्कालमुवासात्र नित्यवासरत सदा ॥
—प्रपन्नामृत, पृ० ३९२

२–वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेद प्राचेतसादासी साक्षाद्रामायणात्मना ॥
वेदतुल्यमिदं साक्षाच्छ्रीमद्रामायणं परम्।
काल संक्षिप्य तद्भक्त्या भगवान्कुलशेखर ॥
—प्रपन्नामृत, पृ० २७८

३–वही, पृ० २८०

४–सत साखि जानै सबै, प्रगट प्रेम कलियुग प्रधान।
भक्त दास इक भूप श्रवन सीताहर कीनौं।
'मार मार' करि खड्ग वाजि सागर मैं दीनौ ॥
नरसिंह को अनुकरन होइ हिरनाकुस मारयो।
वहै भयो दसरथ राम बिछुरत तन छारयौ ॥
—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ९९७

किया है। प्रियादास ने इन्हें 'आवेशी' रामभक्त कहा है। कुलशेखर के सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध है, कि उन्होंने राम की प्रेरणा से अपनी पुत्री उनके प्रतिरूप श्रीरंगदेव को व्याह दी थी।[1] आराध्य के प्रति ऐसे अगाध अनुराग के उदाहरण भक्तिसाहित्य में दुर्लभ हैं।

रामभक्ति के ये भाव कुलशेखर की कृतियों में भी अवतरित हुए। तमिल भाषा में, एकादश छंदों में उनके द्वारा वर्णित सम्पूर्ण रामकथा, भक्तिसाहित्य की एक अमूल्य निधि है। उसमें पहली बार भक्ति के उद्गारों से ओतप्रोत संपूर्ण रामचरित के दर्शन होते हैं। आरंभ में अयोध्या और राम की स्तुति करके आठवें छंद तक राम के राज्याभिषेक की कथा कही गई है। इसके पश्चात् सीता के भू-प्रवेश का उद्देश्य पृथ्वी में अपने अणुपरमाणुओं को मिला कर लवकुश के समान रामयशगायकों को जन्म देना बताया गया है। दसवें छंद में उनकी सेवा में गरुड़ की नियुक्ति का कारण भक्तों की रक्षा कही गई है। ग्यारहवें श्लोक में राम के मंत्री और दूत हनुमान की वन्दना की गई है। अन्त में राम का गुणगान करने वाले भक्तों को परम पद की प्राप्ति का अधिकारी माना गया है[2]। इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि वस्तुतः, साम्प्रदायिक रामभक्ति की उद्गमस्थली, द्रविड़ देश के उपर्युक्त आलवार भक्तों की भावसाधना ही है।

वैष्णवाचार्यों की रामभक्ति

वैष्णवों के चार सम्प्रदायों—श्री, सनक, ब्रह्म ओर विष्णुस्वामी—में राम-

---

प्रियादास जी ने इसकी टीका करते हुए लिखा है कि कुलशेखर की उत्कट भक्ति से प्रसन्न हो, सीताराम ने उन्हें तत्काल दर्शन दिया था—

'मार मार' करि खड्ग निकासि लियौ,
दियौ घोरो सागर मैं सो आवेस आयो है।
"मारौं महिकाल दुष्ट रावन बिहाल करौं
पांवन को देखौं सीता भाव दग छायो है॥
जानकी रवन दोऊ दरसन दियो आनि
बोले बिन प्रान कियौ नीच फल पायो है।
सुनि सुख भयो, गयो सोक हृदय दारन जो
रूप की निहारनियों फेरि कै जिवायो है॥
—वही, पृ० २९९

१–प्रपन्नामृत, पृ० २८५

२–देखिये 'पेरुमळ—तिरुमुदि' (सं० पी. कृष्णमाचार्य), पृ० १५४–१५७

भक्ति के सूत्र केवल श्रीसम्प्रदाय और ब्रह्मसम्प्रदाय, म. ही पाये जाते हैं। उसकी साम्प्रदायिक परम्परा भी इन्हीं दो के भीतर पल्लवित हुई। प्रथम के आदि आचार्य नाथमुनि और द्वितीय के मध्व थे।

(क) श्रीसम्प्रदाय के आचार्यों की रामभक्ति

आलवारों के उत्तराधिकारी श्रीसम्प्रदाय के आचार्य हुए। ये उच्च कोटि के विद्वान् होने के साथ ही भक्तिरस के भोक्ता भी थे। आलवारों की भाँति इन्होंने विष्णु तथा उनके अवतारों में कृष्ण, वामन और नृसिंह के साथ रामावतार म भी अपनी गूढ़ आस्था और तद्विषयक साहित्यरचना में रुचि दिखाई। इसीलिये राममक्तों में ये पार्षदों के अवतार के रूप में पूज्य हुए हैं।[1] वैसे श्रीसम्प्रदाय में लक्ष्मीनारायण को ही उपासनाक्षेत्र म प्रमुखता दी जाती है, किन्तु सीताराम की उनसे एकात्मता स्थापित कर इन उदाराशय और दीर्घ दर्शी महात्माओं ने सम्प्रदाय के भीतर रामभक्ति के प्रति एक अद्भुत आकर्षण पैदा कर दिया।[2]

प्रथम आचार्य नाथमुनि (८२४ इ०–९२४ ई०) थे। य रघुनाथाचार्य तथा रंगाचार्य के नाम से भी जाने जाते हैं। 'दिव्य देशों' का पर्यटन करते हुए, इन्होंने अयोध्या और चित्रकूट का भी दर्शन किया था।[3] इनके द्वारा आराधित कोदण्डपाणि-राम की मूर्ति बालाजी पर्वत पर बड़ेजियरमठ में अब तक विद्यमान है। सर्वप्रथम श्रीरामानुजाचार्य ने इसी विग्रह से प्रेरणा प्राप्त की थी। तत्पश्चात् गोविन्दराज ने रामायण की विश्रुत, 'भूषण' टीका की रचना, इसी स्थान पर, हनुमान जी के समक्ष बैठ कर की थी।[4] "श्रीमत्यजनभूधरस्य शिखरे श्रीमारुते सन्निधौ" से इसकी पुष्टि आपही हो जाती है। इनके द्वारा विरचित

१– प्रपन्नामृत, पृ० ४५०

२– श्री वैष्णव सम्प्रदाय के एक मुख्य सिद्धान्त ग्रंथ 'बृहद्ब्रह्म संहिता' में सीताराम और लक्ष्मीनारायण की अभिन्नता दिखाई गई है—

> तत्रायोध्यापुरी रम्या यत्र नारायणो हरि।
> रामरूपेण रमते सीतया परया सह॥
> आदिभूता महालक्ष्मी सीता सु विभवे मता।
> आविर्भावे क्षितौ जाता जानकी दिव्यरूपिणी॥

बृ० सं० सं०, पृ० ८४, ८६

३– प्रपन्नामृत, पृ० ४५०

४– श्री रामरहस्यत्रयार्थ (परि०), पृ० ४५

'नाथ मुनि योगपटल' और 'मानसिक ध्यान-रामायण' नामक दो रामभक्तिविषयक ग्रंथ बताये जाते हैं।[1] इनमें प्रथम के सम्बन्ध में श्री रामटहलदास का कहना है कि उसकी तोताद्रिमठ से प्राप्त ३०० वर्ष पुरानी प्रतिलिपि उपलब्ध है। उसके ५० वें पटल से उन्होंने राममन्त्र-वैभव पर लिखे गये कुछ छंद भी उद्धृत किये हैं।[2] इसके अतिरिक्त प्रपन्नामृत में नाथमुनि के महाप्रस्थान का जो वृत्तान्त दिया गया है, उससे रामचरणों में उनकी अलौकिक श्रद्धा व्यक्त होती है। कहते हैं, एक दिन नाथमुनि को ढूँढते हुए दो धनुर्धर राजकुमार, एक सुन्दरी युवती और बलवान वानर के साथ, उनके घर आये। उनकी पुत्री से पूछने पर उन्हें पता चला कि नाथमुनि कहीं बाहर गये हैं। अतएव चारों आगन्तुक व्यक्ति लौट गये। पिता के घर आने पर पुत्री ने सारा हाल कह सुनाया। नाथमुनि तुरन्त ही उनके दर्शनों के लिये घर से निकल पड़े। गाँवों, नगरों, पर्वतों और जंगलों में ढूँढते ढूँढते जब वे हताश हो गये, तो आराध्य का साक्षात्कारलाभ करने के उद्देश्य से उन्होंने परमधाम की यात्रा की।[3]

नाथमुनि के अनन्तर पुंडरीकाक्ष आचार्यपीठ के अधिकारी हुए। उनका 'रामार्या' नामक रामभक्ति का ग्रंथ दक्षिण के 'दिव्य देशों' में पाया

१–श्री रामरहस्यत्रयार्थ (परि०), पृ० ४६

२– एवं श्री रामदेवस्य मंत्राक्षरषडाकरः।
रां रामाय नम इति मंत्रराजोऽमितार्थदः॥
ध्यायेदथ जगन्नाथं रामं दशरथात्मजम्।
पर ब्रह्मेति संचिन्त्य वैष्णवस्य विभूतिभिः॥
ततः श्रीराममन्त्रस्य षडक्षरनियोगिनः।
रामबीजेन रामस्य परमर्थप्रदो भवेत्॥
(श्रीनाथमुनि योगपटल से उद्धृत)
—श्री रामरहस्यत्रयार्थ (परि०), पृ० ४६–४७

३– सम्यक्समीपपर्यन्तस्तत्र ग्रामेषु नगरेषु च।
तौ राजपुत्रौ नाथार्यः काननेषु च सादरम्॥
चचार स्वहृदयस्तेषां सदर्शने तदा।
तेषामलभमानोऽथ दर्शनं सुमहात्मनाम्॥
कुत्रापि भूतले योगी कथंचिदपि यत्नतः।
वैकुंठेपि च तान्द्रष्टुं यतेयमिति वांछया॥
—प्रपन्नामृत, पृ० ४१८

जाता है।[1] तीसरे आचार्य राममिश्र थे। इनकी 'रामषडक्षर-प्रपत्ति स्तोत्र' और वाल्मीकिरामायण की 'भावप्रकाश टीका' नामक दो रचनाओं का पता चलता है। नाम से ही इनका प्रतिपाद्य स्पष्ट है।[2] श्रीराममिश्र के शिष्य यामुन मुनि (९१६–१०४० ई०) असाधारण महत्त्व के आचार्य हुए। वास्तव में श्रीसंप्रदाय की स्थापना तथा उसके सिद्धान्तों का प्रवर्तन इन्हीं की प्रेरणा का फल था। अपनी प्रसिद्ध रचना 'आलवंदार स्तोत्र' में, इन्होंने राम की विभीषण से की गई प्रतिज्ञा 'सकृदेव प्रपन्नाय' की दुहाई दी है और अपने पितामह नाथमुनि की अकृत्रिम राममक्ति का स्मरण दिलाकर, उसी नाते से चरणों में स्थान पाने की पात्रता दिखाई है।[3]

रामानुजाचार्य (१०१६–११३७ ई०) यामुन मुनि के प्रशिष्य थे। इन्होंने अपनी जीवनयात्रा का अधिकांश श्री सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक ग्रंथों की रचना और प्रचार में बिताया। सम्प्रदाय के अंतर्गत ये अपने नाम गुणानुसार शेष अथवा लक्ष्मण के अवतार माने जाते हैं[4] और अहर्निश अग्रज की सेवा ही इनकी निष्ठा बताई जाती है। प्रसिद्ध है कि महापूर्ण स्वामी ने इनको दीक्षा-

१–श्रीरामरहस्यत्रयार्थ (परि०), पृ० ४७

२–रामटहलदास जी ने राममिश्र स्वामी के राममंत्रविषयक १० श्लोक 'श्रीरामषडक्षर प्रपत्ति स्तोत्र' से उद्धृत किये हैं। उनमें से नमूने के लिये दो नीचे दिये जाते हैं।

रामायणपरत्वार्थप्रतिपादपरः स्मृतः।
ऐकान्तिकानां सेव्योऽयं मन्त्रराजः षडक्षरः॥
गुहपक्षीन्द्रकाकादीन् भल्लप्लवगराक्षसान्।
मोक्षो दत्त. पुरा येन स मे त्राता भविष्यति॥

—श्रीरामरहस्यत्रयार्थ (परि०), पृ० ४८

३– ननु प्रपन्नः सकृदेव नाथः तवाहमस्मीति च याचमानः।
तवानुकम्प्यः स्मरतः प्रतिज्ञां मदेकवर्ज्यं किमिदं व्रतं ते।
अकृत्रिमं त्वच्चरणारविन्द प्रेमप्रकर्षावधिमात्मवन्तम्।
पितामहं नाथमुनिं विलोक्य प्रसीद मद्वृत्तमचिन्तयित्वा।

—आलवन्दार स्तोत्र, ६७,६८

४–श्रीरामो भगवान्पूर्वं तत्रज्येष्ठोऽभवद्यथा।
तथैवाभूत्कलियुगे श्रीमल्लक्ष्मणदेशिकः॥

—प्रपन्नामृत, पृ० ४५०

संस्कार रामविग्रह के सामने कोदंड-राममंदिर (वेंकटाचल, तिरुपति) में किया था।[१]

वाल्मीकिरामायण में इनकी अत्यधिक निष्ठा थी। उसकी चौबीस आवृत्तियाँ इन्होंने शैलपूर्ण स्वामी से मनोयोगपूर्वक सुनी थीं।[२] रामतीर्थों में इनकी भक्ति इसी से जानी जा सकती है कि शैव राजा कृमिकंठ द्वारा आक्रान्त चित्रकूट का इन्होंने उद्धार किया था[३] और अयोध्या का भी दर्शन करने आये थे।[४] प्रपन्नामृत के अनुसार यादवाचल पर इन्होंने स्वयं राम के लीला विग्रह 'सम्पत्कुमार' की स्थापना की थी।[५] उनमें इनकी अनुरक्ति इतनी दृढ़ हो गई थी कि आलवारों तथा अन्य पूर्वाचार्यों द्वारा आराधित श्रीरंग देव को भी ये भूल गये थे।[६] श्रीभाष्य की रचना इसी स्थान पर हुई थी।[७] 'शरणागति गद्य' में, राम के प्रति अभिव्यक्ति भाव, इनकी अगाध रामभक्ति के द्योतक हैं।[८]

१–सन्निधौ रामचन्द्रस्य कोदंडशरधारिणः।
तप्ताभ्यां शंखचक्राभ्यां विधिनाऽसौ कृपानिधिः॥

—प्रपन्नामृत, पृ० ३४

यह कोदंडराम मंदिर अबतक विद्यमान है—विशेष विवरण के लिये देखिये–कल्याण–तीर्थांक, पृ० ३४९

२–प्रपन्नामृत, पृ० १०० ४–वही, पृ० १०८
३–वही, पृ० ८७ ५–वही, पृ० १५५

६–संपत्सुतस्य जनदृष्टिमनोहरस्य लावण्यसंपदि निमग्नमना यतीन्द्रः।
विस्मृत्य रंगपतिमागममूर्धरेन्द्रं तस्थौ सुखं विविधदास्यपरंपराभिः॥

—प्रपन्नामृत, पृ० १५६

७–वही, पृ० १५०

८–"अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यैश्वर्यसौन्दर्यमहोदधे····· काकुत्स्थ!"
"मा ते भूदत्र संशयः। अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन, रामो द्विर्नाभिभाषते।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

इति मयैव ह्युक्तम्, अतस्त्वं तत्त्वतो मज्ज्ञानदर्शनप्राप्तिषु निस्संशयः सुखमास्स्व।"

—शरणागति गद्य, पृ० ११,१२

श्री रामानुज की शिष्यपरम्परा में, कुरेश स्वामी के 'पचस्तवी', पराशर भट्टार्य के 'गुण रत्न कोष', लोकाचार्य के 'श्रीवचनभूषण' और देवराजाचार्य के 'वरवरमुनि शतक' आदि ग्रन्थों में पूर्वाचार्यों की रामभक्ति का अखंड प्रवाह मिलता है। इनके पीछे भी श्रीसम्प्रदाय के आचार्य—नृसिंहार्य, तालाचार्य और लक्ष्मीकुमारतालाचार्य राममक्ति का प्रचार करते रहे। विजयनगर के वीरशैव मतानुयायी राजा विरूपाक्ष (द्वितीय) को 'पचसस्कारों' से भूषित कर रामभक्त बनाने[1] का श्रेय श्री नृसिंहार्य को ही है।[2] प्रपन्नामृत के इस उल्लेख का समथन तत्कालीन इतिहास भी करता है। विजयनगर के राजा विरूपाक्ष (द्वितीय) द्वारा निर्मित "हजारा राममन्दिर"[3] उस प्राचीन नगर के ध्वसावशेषों के बीच खड़ा हुआ आज भी अपने निर्माता की रामभक्ति का साक्ष्य दे रहा है।

प्रपन्नामृत में वर्णित परवर्ती आचार्यों की रामभक्ति सम्बन्धी अनेक कथाओं से यह ज्ञात होता है, कि १५ वीं शताब्दी तक विकसित होते होते, श्री सम्प्रदाय के भीतर, राम की इतनी प्रतिष्ठा बढ़ गई थी कि आचार्य लोग उनके चरित का गुण-गान ही नहीं करते थे, प्रत्युत उनकी विधिवत् पूजा और राममंत्र सहित पचसंस्कार दीक्षा का भी प्रचार करने लगे थे।

(ख) ब्रह्म सम्प्रदाय में रामोपासना

श्री मध्वाचार्य (११९९–१३०३ ई०) के ब्रह्म सम्प्रदाय में रामभक्ति के सूत्र आरंभ ही से मिलते हैं। उत्तर भारत की दिग्विजय करते समय बदरिकाश्रम

१–नृसिंहार्य इति ख्यात सर्वशास्त्रविशारद ।
रामभक्तो विशेषेण नित्य रामकथाप्रिय ॥
विरूपाक्षस्ततो धीमान्वीरशैवमतोऽपि सः ।
पुत्रमित्रकलत्रादिसहितश्च स नागर ॥
पंचसस्कारसम्पन्नो बभूव सुमहायशा ।
राजांगुलीये श्रीराममुद्रां स्वतरां व्यधात् ॥
श्रीराममुद्रा सर्वत्र तदा प्रभृति विश्रुता ॥

—प्रपन्नामृत, पृ० ४८५

२–प्रपन्नामृत, पृ० ४७७

३–The Hazara Ram Temple most probably the work of Virupaksha II is a more modest but perfectly finished example of this style The inner walls of the temple are decorated in relief with scenes from the Ramayana

—A History of South India (K. A (Nilkantha Shastri) P 464

से वे दिग्विजयी राम की एक मूर्ति दक्षिण ले गये थे।[१] प्रसिद्ध है कि अपने शिष्य नरहरितीर्थ से, १२६४ ई० के लगभग, उन्होंने जगन्नाथपुरी से मूल रामसीता की मूर्ति मँगाई थी। संभवतः यही विग्रह उन्होंने अपने अष्ट शिष्यों में एक को दिया था, जिसकी स्थापना उत्तरादिमठ मैसूर में 'मूलराम' के नाम से हुई थी।[२] इसके अतिरिक्त उडुपी के 'फलेमारमठ' में प्रतिष्ठित रामविग्रह भी मध्वाचार्यप्रदत्त बताया जाता है। काशी में हनुमान घाट पर स्थापित 'मध्वाश्रम', मध्व संप्रदाय की रामभक्ति शाखा की मूल गद्दी–उत्तरादि मठ–से सम्बन्ध रखता है।

मध्वाचार्य हनुमान के अवतार कहे जाते हैं।[३] 'मध्व-विजय' में रामदूत हनुमान का यशगान किया गया है। साम्प्रदायिक परम्परा में, हनुमान की रामभक्ति सम्बन्धी, एक छन्द प्रचलित चला आता है, जिसका भाव यह है कि रामार्चन के लिये साम्प्रदायिक आचार के अनुसार अजलि में पुष्प धारण करने में जितना प्रयत्न उन्हें करना पडता है उतना संजीवनी बूटी समेत पर्वत उठाकर लाने में भी नहीं करना पडा[४] था। माध्वमत में हनुमान के साथ भीम की भी बड़ी प्रतिष्ठा है।[५] हो सकता है वायुपुत्र होने से हनुमान के बन्धुत्व के कारण ही उन्हें यह गौरव प्राप्त हुआ हो। उत्तरादि मठ की शाखाओं में राम और हनुमान के साथ उनकी भी मूर्ति पूजी जाती है।

१–वैष्णविज्म शैविज्म (भंडारकर), पृ० ६६

२–माध्व संप्रदाय में मूलराम विग्रह की वन्दना का श्लोक नीचे दिया जाता है। इससे उसके प्राचीन इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है—

सीतायुक्तमजादिपूजितपदं श्रीमूलरामं विभुम् ।
रामं दिग्विजयाख्यमेवममलं श्रीवदरामं सुधीः ॥
व्यासाख्याः प्रतिमाः सुदर्शनशिलाः श्री विट्ठलार्चां मुदा ।
चक्राङ्कानपि पूजयन् विजयते सत्यप्रमोदो गुरुः ॥

३–राम मंत्र निज कर्ण सुनावा। परम्परा पुनि तत्व लखावा।
संप्रदाय विधि मूल प्रधाना। अधिकारी तामहँ हनुमाना॥
मध्व रूप सोई अवतरिया। मत अभेद जिन खंडन करिया।
—नृ० रा० मि०, पृ० ४५

४–रामार्चने यो नयतः प्रसूनं द्वाभ्यां कराभ्यामभयत्प्रयत्नः ।
एकेन दोष्णा नयतो गिरीन्द्रं संजीवनाद्याश्रयमस्य नाभूत ॥

५–प्रथमो हनुमन्नाम द्वितीयो भीम एव च ।
पूर्णप्रज्ञस्तृतीयस्तु भगवत्कार्यसाधकः ॥

मध्वाचार्य विरचित 'द्वादश स्तोत्र' में 'जानकी कान्त राघव' की वन्दना भावपूर्ण ढंग से की गई है।[1] माध्व-संप्रदाय में रामोपासना के ये बीज आगे चल कर रामभक्ति की स्वतंत्र परम्पराओं की स्थापना में सहायक हुए। १८ वीं शती के विख्यात रामभक्त निम्बाचार्य रामसखे इसी मत के अनुयायी थे।

रामावत-संप्रदाय की स्थापना

मध्वाचार्य का ध्यान रामोपासना की ओर गया तो अवश्य, किंतु उनके संप्रदाय में इसका विशेष सत्कार न हुआ। आगे चलकर इसकी अक्षुण्ण परंपरा श्रीवैष्णवसंप्रदाय के आचार्यों द्वारा ही स्थापित हुई।

स्वामी राघवानन्द

स्वामी रामानुजाचार्य की तेरहवीं पीढ़ी में राघवानन्द का आविर्भाव हुआ। इनके गुरु हर्यानन्द रामोपासक थे।[2] उनके आदेश से रामभक्ति का प्रचार करने ये उत्तर भारत आये। यहाँ कुछ समय तक तीर्थों में पर्यटन करते रहे। अयोध्या की यात्रा कर कृतकृत्य हुए। अयोध्या से काशी गये, यहाँ कुछ दिन रह कर फिर दक्षिण को लौट गये। आचार्यपीठ में पहुँचने पर इन्हें गुरु के देहावसान का समाचार मिला। गद्दी पर गुरु भाई को बैठे देख उनसे बड़े प्रेम से मिले। यहीं इनकी माता भी रहती थीं। उनका चरणवंदन किया। मंदिर में जब 'पंगत' का समय आया तो वहाँ के कर्मचारियों ने इनका आसन पंक्ति से अलग लगाया।[3] जिसका कारण यह था कि राघवानन्द जी आचार-व्यवहार में वैष्णव मात्र में भेद नहीं रखते थे। उनका यह सिद्धान्त श्रीवैष्णवों की उस गद्दी

१—"राघव राघव राक्षसशत्रो मारुतिवल्लभ जानकीकान्त।"
द्वादश स्तोत्र (मध्वाचार्य) ६।४

२—बन्दौं पादपद्म श्री हरीयानन्द स्वामी जूके,
जिन उर धारी सीताराम की उपासना।
लक्ष्मी संप्रदाय में प्रसिद्ध मंत्रतारक जो,
पारक है सोऽहं करी शिष्यन को सासना॥
—रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ. १०

३—गद्दी पै अपर गुरु भाई को बैठे बिलोकि,
करिकै प्रणाम मिले परस्पर धाइकै।
माता तहँ आई ताके पद सिर नाइ,
पाई सुखद असीस लह्यो आनँद अघाइकै॥

की सदाचारपरंपरा के विरुद्ध पड़ता था। गुरु भाइयों के इस व्यवहार से खिन्न हो वे काशी चले आये और फिर आजन्म यहीं रह कर रामभक्ति का प्रचार करते रहे। पचगंगा घाट पर इनकी मठी के अवशेष आज भी पाये जाते हैं। 'हरिभक्ति रसामृत सिंधुवेला' नामक ग्रंथ में अनंतस्वामी ने भी राघवानंद के दक्षिण से आकर उत्तर भारत में राममंत्र प्रचार करने की चर्चा की है।[1] इनकी 'सिद्धान्त पंचतन्मात्रा' नामक रचना इधर खोज में मिली है। उससे ज्ञात होता है कि ये योगपरक सगुण रामभक्ति के प्रतिपादक थे। अतः इष्टदेव की पूजा में आरती, अर्घ्य, चरणामृत आदि बाह्य उपचारों की आवश्यकता स्वीकार करते हुए भी आंतरिक श्रद्धा को अधिक महत्त्व देते थे। प्रसिद्ध है कि काशी में इन्होंने शाकरमतानुयायी, प्रयागनिवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण रामदत्त[2] अथवा रामभारती[3] को राम मंत्र की दीक्षा दी। यही आगे चलकर रामानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए।

स्वामी रामानंद

स्वामी रामानंद रामोपासना के इतिहास में एक युगप्रवर्तक आचार्य हैं। उसे एक संगठित तथा स्वतंत्र संप्रदाय का रूप देना इन्हीं का काम था। इनके पूर्व श्रीसंप्रदाय में राम की प्रतिष्ठा होते हुए भी प्रधानता लक्ष्मीनारायण को ही दी जाती थी। आरम्भिक आचार्यों की दृष्टि में दोनों समान रूप से पूज्य थे, किन्तु सम्प्रदाय के प्रसार के साथ उसकी कुछ शाखाओं में भेदपूर्ण व्यवहार होने लगा था। इसके साथ ही वैष्णवाचार के निर्वाह की भी समस्या थी। श्रीसंप्रदाय के भीतर रामभक्तों का

मंदिर में तीरथ लै पंगति में आये जब,
सदाचार रीति ते बैठारे बिलगाइ कै।
देखि अभिमान उर योग बलभान कही,
करौ शुद्ध वापी जल मधुर बनाइकै॥
—र० प्र० भ०, पृ० ११

१—वंदे श्रीराघवाचार्यं रामानुजकुलोद्भवम्।
याम्यादुत्तरमागत्य राममंत्रप्रचारकम्॥
—योगप्रवाह, प्रथम सं० २००३,
पृ० २२ (पाद टिप्पणी) में उद्धृत

२—र० प्र० भ०, पृ० १२

३—श्रीमद्रामानंद दिग्विजय, भूमिका, पृ० २३

वर्ग अपने सहधर्मी अन्य वैष्णवों की अपेक्षा आचार-व्यवहार में अधिक उदारता का समर्थक था। स्वामी राघवानन्द को इसी कारण आचार्य पीठ से बहिष्कृत होने का दण्ड मिला था। दोनों वर्गों में कटुता का एक और कारण उपस्थित हो गया था। वह था राममक्तों की विचारधारा पर नाथ पंथ का प्रभाव। राघवानन्द जी की 'सिद्धांत पञ्चतन्मात्रा' में उसकी पूरी छाप दिखाई देती है। 'सदाचार' परायण तथा भक्तिप्रधान वैष्णवसम्प्रदाय से सामाजिक एवं व्यक्तिगत आचार को गौण स्थान देने वाली इस ज्ञानमार्गी शैवसाधना का परम्परागत विरोध था। इस प्रकार के मौलिक मतभेदों के कारण अपनी मातृभूमि, द्रविड़ देश, में विकास की सम्भावना न देखकर, रामोपासना, आचार्यपीठ से विदा हो, राघवानन्द के साथ उत्तर भारत आई थी। रामानन्द के हाथों वह सर्वांग समृद्ध बनी।

सैद्धांतिक-विशेषतायें

स्वामी रामानन्द ने श्रीसम्प्रदाय के विशिष्टाद्वैत दर्शन और प्रपत्तिसिद्धांत का आधार लेकर रामावत सम्प्रदाय का संगठन किया। इसमें उन्होंने कुछ नये विचार रखे, जो पुराने मत के विरुद्ध पड़ते हुए भी सामयिक परिस्थिति के अनुकूल तथा लोकोपयोगी थे। इसकी प्रेरणा उन्हें राघवानन्द जी से मिली थी, इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने श्रीवैष्णवों के नारायण मन्त्र के स्थान पर राम तारक अथवा षडक्षर राममन्त्र को साम्प्रदायिक दीक्षा का बीजमन्त्र माना, बाह्य सदाचार की अपेक्षा साधना में आंतरिक भाव की शुद्धता पर जोर दिया, जाति-पाँति, छुआ छूत, ऊँच नीच का भाव मिटा कर वैष्णवमात्र में समता का समर्थन किया, नवधा से परा और प्रेमाभक्ति को श्रेयस्कर बताया और साम्प्रदायिक सिद्धांतों के प्रचार में परम्परापोषित संस्कृत भाषा की अपेक्षा हिन्दी अथवा जनभाषा को प्रधानता दी। एक आचार्य होने के नाते अपने साम्प्रदायिक विचारों के निरूपण में उन्होंने जहाँ एक ओर प्राचीन पद्धति का सत्कार कर 'वैष्णवमताब्जभास्कर' और 'रामार्चनपद्धति' की रचना संस्कृत में की, वहाँ दूसरी ओर, राम रक्षा स्तोत्र, सिद्धांत-पटल, ज्ञान-लीला, ज्ञान तिलक और योगचिंतामणि आदि हिन्दी रचनाओं में तत्कालीन आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों से उत्पन्न नवीन आस्थाओं और विचारों को भी स्थान दिया। शैव तथा शाक्त पंथियों के प्रभाव से समाज में तंत्र, मंत्र, कील-कवचादि तांत्रिक उपासना व अर्चा के प्रति लोगों का आकर्षण देख उन्होंने रामोपासना में भी उसकी व्यवस्था की। रामरक्षा की रचना इसी

उद्देश्य से हुई थी। इसी प्रकार नाथपथी उपासकों के आदर्श पर सन्तजीवन के प्रत्येक कृत्य के लिये उन्होंने पृथक् पृथक् मत्रों की रचनाकर सिद्धात-पटल का निर्माण किया था। उनके ग्रथों की प्रामाणिकता में बहुतों को सदेह है। तो भी इतना तो विदित ही है कि रामानन्द ने जनवाणी का सत्कार करते हुए सस्कृत तथा हिन्दी (तत्कालीन लोकभाषा) दोनों भाषाओं में अपने विचारों का प्रकाशन किया था।

यह सब केवल इस उद्देश्य से किया गया कि रामोपासना युगधर्म के अनुकूल बने और पथों के दलदल में फँसी हुई जनता का उद्धार करके उन्हें उचित मार्ग प्रदर्शन कर सके।

साप्रदायिक-सगठन

साम्प्रदायिक सिद्धान्तो क प्रवर्तन क पश्चात् उनक प्रचार की समस्या सामने आई। स्वामी रामानद ने इसे जितनी सफलता के साथ हल किया उससे उनकी अद्भुत सगठनशक्ति का परिचय मिलता है। मुसलमानी शासन के आतक से त्रस्त, उत्तर भारत के प्रमुख तीर्थों में, उन्होंने अपने केन्द्र स्थापित किये। इस नवीन संप्रदाय के अनुयायी वैरागी कहलाये। ये उत्तर भारत के तीर्थों में जम कर रामभक्ति का प्रचार करने लगे। इससे यवन शासकों की असहिष्णुता से प्रोत्साहित मुसलमानों द्वारा नष्ट भ्रष्ट किये जाने से तीर्थों की रक्षा हुई। इसके साथ ही बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये हिन्दुओं को रामतारक मत्र की दीक्षा देकर पुन हिन्दू बनाने का क्रम भी चलाया गया[1]।

---

[1]-'रामानद की हिन्दी रचनायें' के विद्वान् सपादक स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का इस सम्बन्ध में कहना है "हिन्दूधर्म से बिछुड़े हुए पूर्वजों को स्वामी रामानद ने फिर से हिंदू धर्म की गोद में स्थान दिया था। इसी प्रकार सयोगियों को जिन्हें फैजाबाद के नवाब ने बल से मुसलमान बना लिया था, उन्होंने हिन्दू बनाया" (रा हिं. र. पृ० ३०)। यह विचारणीय है कि नवाब घरा के प्रथम सूबेदार सआदत खाँ बुर्हानउल मुल्क की अवध में नियुक्ति १७२१ ई० में मुगल बादशाह मुहम्मदशाह ने की थी और वह अयोध्या में किला मुबारक (वर्तमान लक्ष्मण किला) नामक स्थान पर रहता था। उसके उत्तराधिकारी दूसरे नवाबशासक, अब्दुल मसूरअली खाँ सफ्दर जंग (१७३९ १७५४ ई०) ने, फैजाबाद को नगर का रूप देकर, उसे अपनी राजधानी बनाया। इस प्रकार रामा-

भविष्यपुराण में अयोध्या में आये दिन घटनेवाली इस प्रकार की घटनाओं का उल्लेख मिलता है :—

> म्लेच्छास्ते वैष्णवाश्चासन् रामानंदप्रभावतः।
> संयोगिनश्च ते ज्ञेया अयोध्यायां बभूविरे॥
> कंठे च तुलसीमाला जिह्वा राममयी कृता।
> भाले त्रिपुंडचिह्नं च श्वेतरक्तं तदाऽभवत्॥[1]

व्यक्तित्व की व्यापकता

स्वामी रामानंद के द्वारा की गई देश और धर्म के प्रति इन अमूल्य सेवाओं ने सभी सम्प्रदायों के वैष्णवों के हृदय में उनका महत्त्व स्थापित कर दिया। भारत के साम्प्रदायिक इतिहास में परस्पर विरोधी सिद्धान्तों तथा साधनापद्धतियों के अनुयायियों द्वारा इतनी सर्वप्रियता उनके पूर्व किसी संप्रदायप्रवर्तक को प्राप्त न हो सकी थी। महाराष्ट्र के नाथपंथियों ने ज्ञान देव के पिता, विट्ठल पंत के गुरु रूप में उन्हें पूजा, अद्वैत मतावलम्बियों ने ज्योतिर्मठ के ब्रह्मचारी के रूप में उन्हें अपनाया, बारीपंथ के संतों ने अपने संप्रदाय का प्रवर्तक मानकर उनकी वन्दना की और कबीर के गुरु तो वे थे ही, इसलिये कबीरपंथियों में उनका आदर स्वाभाविक है। स्वामी रामानंद के व्यक्तित्व की इस व्यापकता का रहस्य, उनकी उदार एवं सारग्राही प्रवृत्ति और समन्वयवादी विचारधारा में निहित है, जिसकी प्रेरणा से सभी जातियों और वर्गों के जिज्ञासुओं को शरण में लेकर उन्होंने प्रकाशमय पथ पर अग्रसर किया। हिन्दू-मुसलमान दोनों दीन के संत उनके उपदेशों से कृतकृत्य हुए। उपासना की सगुण और निर्गुण दोनों पद्धतियों को उनसे विकास की प्रेरणा मिली। उनके बारह प्रधान शिष्यों में इन दोनों प्रणालियों के प्रचारक संत थे—अनन्तानंद और कबीर। इनमें प्रथम से सगुण और द्वितीय से निर्गुण धारा का प्रसार हुआ। भारतीय संस्कृति की रक्षा और विकास में उक्त दोनों संप्रदायों का कितना योग है, किसी से छिपा नहीं है। अतः यदि उनके

नंद जी के समय (१४१० से १५१० ई० अथवा १३५६-१४९२ ई०) और फैजाबाद में नवाबी शासन की स्थापना के समय में ३०० से अधिक वर्षों का अंतर पड़ जाता है। अतएव डा० बड़थ्वाल का उक्त मत माह्य नहीं है। हो सकता है अयोध्या के नवाब से उनका तात्पर्य वहाँ के मुसलमान सूबेदार से रहा हो।

1—भविष्य पुराण ३।४।२१

जन्मदाता की तुलना 'नाभादास' ने जातीय आदर्शों के प्रतिनिधि राम[1] से कर दी हो, तो अत्युक्ति नहीं कही जा सकती।

रामभक्ति का प्रसार और रसिक साधना का सूत्रपात

इसी रामानदीय वैष्णवपरपरा में तुलसी का आविर्भाव हुआ। वे अनन्तानन्दजी के प्रशिष्य और नरहरिदास अथवा नरहर्यानन्द के शिष्य थे। यदि रामावतसंप्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय स्वामी रामानद को है तो जन-जन तक उनका संदेश पहुँचा कर लोकमानस में रामभक्ति की प्रतिष्ठा और रामचरित के प्रति श्रद्धा का भाव जागरित करना तुलसी का ही काम था। उनके 'मानस' से जो रसलहरी उठी उससे शताब्दियों के राजनीतिक उत्पीडन, सामाजिक अनाचार और धार्मिक अव्यवस्था से संतत राष्ट्रहृदय तृप्त हो गया।

गोस्वामी जी ने रामचरित के जिस स्वरूप की अभिव्यक्ति अपनी कृतियों में की, वह ऐश्वर्यप्रधान है। उनके राम लोकमर्यादा के रक्षक, लोकविरोधी तत्त्वों के उन्मूलक और लोकधर्म के संस्थापक हैं। किंतु तुलसी की समकालीन रामकाव्य धारा में रामोपासना के एक दूसरे पक्ष के अस्तित्व के भी चिह्न मिलते हैं, जिसका दर्शन स्वयं तुलसी में भी यत्र-तत्र हो जाता है—वह है रामावत संप्रदाय में माधुर्यभक्ति का उत्कर्ष। रामोपासना की इस पद्धति का प्रचार भक्तों के एक सम्प्रदायविशेष तक सीमित था। सिद्धान्तों की गोपनीयता के कारण उनका उपदेश केवल अंतरंग और दीक्षित साधकों को ही दिया जाता था। अतएव उसका सारा साहित्य आचार्यपीठों के बस्तों में बँधा, अप्रकाशित और अविवेचित हो पडा रहा। उधर तुलसीसाहित्य के प्रचार से रामचरित के ऐश्वर्यप्रधान अथवा शुक्लजी के शब्दों में 'शील, शक्ति, सौन्दर्य' समन्वित रूप की प्रतिष्ठा लोकव्यापक हो गई। उसके आधार पर जनसाधारण क्या, साहित्य की गति-विधि से परिचित विद्वानों तक की यह धारणा बन गई कि रामकाव्य का परपरागत स्रोत एकमात्र मर्यादाबद्ध अथवा ऐश्वर्यपरक भक्ति को ही लेकर चला है। माधुर्यविषयक जो रचनायें उसमें यत्र-तत्र उपलब्ध होती हैं वे *अत्यन्त अर्वाचीन, अश्लील और साहित्य के लिये अशोभनीय हैं।*

परन्तु अनुसधान, स्थिति का एक दूसरा ही रूप प्रस्तुत करता है। इधर इस माधुर्यधारा का जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उससे विदित होता है कि

१—बहुत काल वपु धारिकै प्रनत जनन को पार दियो।
श्री रामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो।
—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० २८८

गोस्वामी तुलसीदास की पूर्ववर्ती, समकालीन और परवर्ती रामोपासना इसी से ओत प्रोत थी। वास्तव में इस पद्धति के साधक कवियों की संख्या इतनी अधिक है कि तुलसी अपने समकालीन भक्तिक्षेत्र में प्रस्तुत शृंगारी राममक्ति के एक अपवाद से प्रतीत होते हैं। यह दूसरी बात है कि इस सम्प्रदाय में इतनी प्रखर प्रतिभा का कोई कवि अवतरित नहीं हुआ, जो सूर और मीरा की तरह जनसामान्य को भी इस दिव्यरस का आस्वादन करा सकता।

'युगल सरकार श्री सीताराम' की मधुर लीलाओं के ध्याता और गायक, ये सन्त 'रसिक' अथवा 'भाविक'[1] नाम से जाने जाते हैं। इस वर्ग के भक्तों की अपनी एक अलग साधनापद्धति है और पृथक् भक्तमाल भी। परिमाण की दृष्टि से संपूर्ण राममक्तिसाहित्य का दो तिहाई से अधिक भाग रसिक भक्तों द्वारा ही विरचित मिलता है। और प्राचीनता के विचार से साम्प्रदायिक विश्वासों के अनुसार यह कम से कम उतनी ही पुरानी है, जितनी तुलसी की ऐश्वर्यप्रधान भक्तिपद्धति। इसके विकासक्रम के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी कालविशेष में किन्हीं कारणों से इसका प्रवाह क्षीण भले ही पड़ गया हो, किन्तु स्रोत कभी सूखता नहीं दिखाई दिया।

रामकाव्यों में माधुर्य-प्रवाह

१. वाल्मीकिरामायण।

रामकाव्यों में शृङ्गारी वर्णनों की परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितना स्वयं रामकथा। वाल्मीकिरामायण में रामचरित के संयोग और वियोग पक्षों का वर्णन बड़ी तन्मयता के साथ किया गया है और उनमें शृङ्गार के आवश्यक उपादानों का ऐसा योग संघटित हुआ है, जो अन्य रामकाव्यों में दुर्लभ है। आदिकवि ने राम को संगीत और विलास क्रीड़ाओं का विशेषज्ञ बताया है—

वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित्।
गान्धर्वे च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रज॥[2]

और चित्रकूट का चित्रण उनकी विहारभूमि के रूप में किया है।

१—दंपति मधुर छवि छाके सरस भाव बाँके
श्रीमन्नृत्य राघव की कथा भरे गात हैं।
भाविक सभा में गुण आगर रसिक प्रेम
सागर समान प्रेम सागर कहात हैं॥
—र० प्र० भ० पृ०, ४८

२—वा० रा० अ० का०, सर्ग २

सुभगश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजोपमो गिरिः।
यस्मिन् वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने ॥[१]

राम, सीता को सम्बोधित कर, चित्रकूट की प्राकृतिक शोभा का जैसा वर्णन करते हैं, उससे उनकी शृङ्गारभावना स्पष्टतया व्यंजित होती है—

भित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः समुत्थितः।
चित्रकूटस्य कूटोऽयं दृश्यते सर्वतः शुभः ॥[२]
कुष्ठपुन्नागस्तगरभूर्जपत्रोत्तरच्छदान्।
कामिनां स्वास्तरान् पश्य कुशेशयदलायुतान् ॥[३]
मृदिताश्चापविद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्रजः।
कामिभिर्वनिते पश्य फलानि विविधानि च ॥[४]

विरहकाल की उक्तियों में उनका यह भाव और भी स्पष्ट हो जाता है—

श्यामां चन्द्रमुखीं स्मृत्वा प्रियां पद्मनिभेक्षणाम्।
पश्य सानुषु चित्रेषु मृगीभिः सहितान् मृगान् ॥[५]
विक्षिप्तां पवनेनैतामसौ तिलकमंजरीम्।
षट्पदः सहसाभ्येति मदोद्धूतामिव प्रियाम् ॥[६]
कुसुमोत्तंसविटपाः शोभन्ते बहु लक्ष्मण।
एष कारण्डवः पक्षी विगाह्य सलिलं शुभम् ॥[७]
रमते कान्तया सार्धं काममुद्दीपयन् मम।
मन्दाकिन्यास्तु यदिदं रूपमेवं मनोहरम् ॥[८]

इसके साथ ही यदि हम उत्तरकाड के 'अशोक-वन-विहार' प्रसग को भी ले लें, तो रामचरित में शृङ्गार का रंग कुछ और गाढ़ा मिलता है, जो प्रकृत अवतरण से प्रकट ही है—

स विसृज्य ततो रामः पुष्पकं हेमभूषितम्।
प्रविवेश महाबाहुरशोकवनिकां[९] तदा ॥

१—वा० रा० आ०, सर्ग ९९।१२
२, ३—वा० रा० अ० कां०, सर्ग ९४
४—वही, सर्ग ९४
५—वही, कि० कां०, सर्ग १।१०१
६—वही, सर्ग १।५८
७—वही, सर्ग १।९२
८—वही, सर्ग १।९३
९—जिस अशोकवनिका का ऊपर उल्लेख हुआ है उसका वर्णन युद्धकांड में भी आया है। लंकाविजय के अनन्तर अयोध्या आने पर सुग्रीव उसी में टिकाये जाते हैं—

तथाभूतं हि रामस्य काननं सन्निवेशनम्।
बह्वासनगृहोपेतां लतागृहसमावृताम् ॥
अशोकवनिकां स्फीतां प्रविश्य रघुनन्दनः।
आसने च शुभाकारे पुष्पप्रकरभूषिते ॥
कुशास्तरणसंस्तीर्णे रामः सन्निषसाद ह।
सीतामादाय हस्तेन मधुमैरेयकं शुचि ॥
पाययामास काकुत्स्थः शचीमिव पुरन्दरः ॥
मांसानि च सुमृष्टानि फलानि विविधानि च ॥
रमयामास धर्मात्मा नित्यं परमभूषितः।
स तया सीतया सार्धमासीनो विरराज ह ॥[1]

रसिक सम्प्रदाय के सन्त तो वाल्मीकिरामायण को आराध्य की शृंगारी लीलाओं का आदिस्रोत ही मानते हैं। रसिकप्रवर मधुराचार्य ने 'सुन्दर मणि संदर्भ' में आदिरामायण के अनेक प्रसंगों की शृंगारपरक व्याख्या की है और इस प्रकार रसिकसाधना के आधारभूत तथ्यों का प्रतिपादन किया है। इस सम्बन्ध में मधुराचार्य जी के निम्नलिखित विवेचन विचारणीय हैं—

'अयोध्या कांड १६ सर्ग'
अथोचुर्नार्यः।
सर्वसीमंतिनीभ्यश्च सीतां सीमंतिनीं पराम्।
अमन्यत हि तां नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम् ॥

यच्च मद्भवनं श्रे ' साशोकवनिकं महत्।
मुक्तावैदूर्यसंकीर्णं सुग्रीवाय निवेदय ॥
(वा० रा० यु० कां०, १२३।१५)

रसिक रामभक्तों ने वाल्मीकिरामायण के ही आदर्श पर इस 'अशोकवनिका' का वर्णन राम की रासस्थली के रूप में किया है।

बालअली जी का कथन है—

तेहि सरयू के मध्य सोहाई। सा अशोक वनिका छविछाई।
जहँ चिंतामणि भूमि विराजी। गुरमलता नाना छवि छाजी ॥
सन्तानक तरु की जहँ छाया। तहँ चिंतामणि पीठ बिछाया।
कोमल लसहिं बसन जेहि माहीं। तिहिं बैठे दंपति गलबाहीं ॥
पुनि प्रिय ने रस खेल मचायो। निज मन सो मनमथ उपजायो।
—सिद्धान्ततत्त्वदीपिका से

1—वा० रा० उ० कां०, ४२।१-२०

तया सुचरि ! देव्या पुरा नूनं महत्तप ।
रोहिण्या शशिनेवेह रामसंयोगप्राप्तये ॥
सर्वश्रृंगारकन्दर्पं समयज्ञसमाधिमान् ।
सर्वमाधुर्यदुग्धाब्धि स्मितभाषी महामना ॥
अत्र सर्वेषां श्रृंगारत्रयाणां नायकानां कन्दर्पं वश्यकारक इत्युच्यते ।
सर्वलोकप्रिय स्मेर सर्वाध्यक्ष. सुमंगल ।
स्वाधीनयौवनो जैत्र स कर्ता पुरुषोत्तम ॥
गान्धर्ववेत्ता सुलभो मनोदृष्टिसुखावह ।
अत्र श्रृंगाररससहचरत्वेनोत्तमनायकालङ्कारत्वेन च गान्धर्ववेत्त्व तत्प्रयोजनप्रयुक्तकर्तृत्वं तदर्थमन्य कृत तच्छ्रोतृत्व चोच्यते ।

प० रामवल्लभाशरण इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"जैसा कि श्री अयोध्याकाण्ड के १६ वें सर्ग मे नागरियों ने कहा है कि समस्त सोभाग्यवती नायिकाओं में श्रीविदेहराजकुमारी जी को सोभाग्यवतियों में श्रेष्ठ माना। ये श्रीराम जी की हृदयप्रिया हैं। श्रीमैथिली देवीजू ने पूर्व ही महान् तप किया है जैसे श्रीरोहिणी का चन्द्रमा से सयोग है इसी प्रकार श्रीराम जी के सयोग को प्राप्त हुई हैं। यहाँ पर तप करना महत्तप से श्रीराम जी को प्राप्ति होती है। यह दिखाने के लिये ऐसा कहा है श्रीवैदेही जी तो अविनाभूता नित्य सयोगवता हैं और जगह भी कहा है कि श्रीराम जी श्रृंगार के कन्दर्प, समय के जानने वाले, समाधिमान, सर्व माधुर्य के क्षीरसमुद्र, मन्द मुस्करा कर बोलने वाले और महा उदार हैं। यहाँ पर श्रृंगार रस के आश्रय सर्व नायकों में श्रीराम जी कन्दर्पवत् वश करने वाले हैं, तथा सर्वलोकप्रिय मन्द हास्य वाले, सबों के अध्यक्ष, सुमंगल रूप, स्वाधीन यौवन, सत्कार करने वाले, पुरुषोत्तम, गान्धर्व के जानने वाले, सुलभ मन और दृष्टि के सुखदायक श्रीराम जी हैं। यहाँ पर श्रृंगार रस के सहायक, उत्तम नायकों के अलंकारभूत श्रीराम जी को कहा, गान्धर्व तत्त्व के ज्ञाता तथा गान्धर्व प्रयोजन से कर्तृत्व तथा दूसरे का किया हुआ गान्धर्व अर्थात् नृत्यगीतादिक उसके श्रोता श्रीराम जी को कहा[१]।"

इसी प्रकार अन्यत्र वाल्मीकिरामायण के ही एक दूसरे श्लोक की श्रृंगारपरक व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं—

१—सुन्दर मणि संदर्भ, पृ० ११७—११८।

"अयोध्याकाण्डे श्रीचक्रवर्तिवचनम्"

यः सुखेपूपधानेषु शेते चन्दनरूषितः।
सेव्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः॥

"अत्र शयनीय सेवनाधिकार महार्हत्व बहुवचनैः सम्भोगौचिती जात्युत्तमत्वानां तत्वानि स्त्रीणां प्रतीयते। महार्हत्वं जातरूपगुणरूपानुकूल्यादिभिरेव न केवलाभ्यां रूपयौवनाभ्यां सिद्ध्यति।"

भाषा—अयोध्याकाण्ड में श्री चक्रवर्ति जी महाराज ने कहा है कि जो हमारे पुत्रोत्तम श्री राम जी सुखमय उपधान युक्त पर्यंक पर सुगन्धित चन्दन को लगाये हुये तथा उत्तम स्त्रियों से सेवित शयन करते थे वे आज वन में पत्तों पर कैसे सोयेंगे। यहाँ पर शयनकालिक सेवन का अधिकार तथा महार्हत्व अर्थात् सर्वोत्तमत्वादि बहुवचनों से सम्भोगोचित उत्तम जाति युक्त अनन्त स्त्री हैं यह प्रतीति हो रही है। यह सर्वोत्तमत्व जाति गुण रूप आनुकूल्यादि से होता है केवल रूप तथा यौवन मात्र से सिद्ध नहीं होता।"[1]

रामचरित में शृंगारिक वर्णनों की यह परम्परा परवर्ती साहित्य में अधिक पल्लवित और अतिरंजित हुई।

२. रघुवंश

महाकवि कालिदास ने रघुवंश में राम के शृंगारीभाव इन शब्दों में अंकित किये हैं—

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते,
सम्भावयत्याननमायताक्षि।
मामक्षमं मण्डनकालहाने-
र्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम्[2]॥

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं
स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम्।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः
सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः[3]॥

१—सुन्दर मणि सं०, पृ० २६९—२७०।
२—कालिदासग्रन्थावली (रघुवंश १३-१६), पृ० ११०।
३— " " (" १३-३२), पृ० ११२।

यह तो रही वनवासी राम की शृंगारभावना। अयोध्या में आकर 'राजा' राम का जीवन जैसा सुखमय बीतने लगा उसकी एक रम्य झाँकी सीतासयोग में दिखाई देती है—

स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले
रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा ।
उपस्थितश्चारुवपुस्तदीयं,
कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥[1]

कालिदास ने फिर भी मर्यादा के भीतर ही राम के शृंगार का वर्णन किया है और उसको वह रूप नहीं दिया है जो कुमारसंभव में शिव को प्राप्त है।

३. उत्तररामचरित

भवभूति (८ वीं शती) ने भी राम की शृंगारी भावना के वर्णन में रस लिया है। उत्तररामचरित में उनके द्वारा प्रस्तुत एक चित्र देखिये—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥[2]

सयोग की दशा में राम का दाम्पत्यजीवन कितना रसविधायक था! इस प्रकार के कल्पना चित्र रसिक साहित्य में भरे पड़े हैं।

विरहकाल की स्थिति में राम की मनोदशा का विश्लेषण भी बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा ।
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ॥
तव स्पर्शेस्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो ।
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च ॥[3]

वियोगशृंगार के ऐसे चित्र राम को प्राकृत जन से अलग नहीं करते और न उनके ऐहिक पक्ष की अवहेलना ही करते हैं।

१—कालिदास ग्रंथावली (रघुवंश १४—२४), पृ० १२० ।
२—उत्तररामचरित १।२७
३— वही १।३५

४. जानकीहरण

भवभूति ने यदि रामचरित में विप्रलंभ-शृंगार-वर्णन को पराकाष्ठा तक पहुँचाया तो उनके परवर्ती कवि कुमारदास (८०० ई०) ने राम की संभोग क्रीड़ा में कुछ उठा नहीं रखा। जानकीहरण में सीताराम के विलासवर्णन के लिये उन्होंने एक पृथक् सर्ग की ही रचना कर डाली। इसके अंतर्गत युगल-विहार का जो दृश्य उपस्थित किया गया है उसमें 'आलिंगन' 'चुंबन' और 'नीवीबन्धनमोक्ष' ही नहीं, सभी कुछ है।

> अंतरीयहरणे कृतत्वरं
> राघवं समपयान्तमङ्गना।
> तत्पटान्तपरिधानरक्षिता
> संरुरोध परिरभ्य पृष्ठतः॥[1]
> अंशुकस्य निशि रक्षणाकुला,
> हस्तयुग्मधृतनीविबन्धना।
> अप्रमादकृतिविघ्नमन्तरा
> स्वापमाप शयने पराङ्मुखी॥[2]
> स्वं नितम्बमपयाहितांशुकं
> कामिनी रहसि पश्यति प्रिये।
> प्रार्थनामपि विनैव पल्लवं
> स्निग्धरागमधरं स्वयं ददौ॥[3]

यहाँ तक कि दंपति की सुरतक्रीडा के वर्णन में भी कवि को हिचक नहीं हुई—

> रामवक्त्रगलितैः श्रमाम्बुभि-
> श्छिद्रितं कुचयुगस्य कुंकुमम्।
> सा निरीक्ष्य हसिते सखीजने
> संमुखाद्व्यपजगाम सस्मितम्॥[4]
> स्वेदबिन्दुनिचितायतासिका,
> धूतहस्तलतिका ससीत्कृतिः।
> सोढमन्मथरसा नृपात्मजा
> राघवस्य न बभूव तृप्तये॥[5]

१—जानकीहरण, ८।११ २—वही, ८।१२ ३—वही, ८।१७
४—वही, ८।३२ ५—वही, ८।२८

वर्जनाय सुरतस्य भामिनी
वाञ्छति स्म पटुचाटुचेष्टितम्।
यत्तदेव समजायत स्वयं
योषितो निधुवनस्य वृद्धये ॥[1]

कुमारदास ने इस सम्बन्ध में 'प्रमद कानन' का भी उल्लेख किया है—

दीर्घिकाजलतरंगनिर्धुत-
त्यक्तपुष्पमयमंडनौ क्वचित्।
चातुरन्यमितरेतराश्रया,
रेतनतु प्रमदकानने मुजा ॥[2]

संभवत इस 'प्रमदकानन' को ही रसिक संतों ने 'प्रमोद वन' का रूप दे दिया, जो अयोध्या में राम की शृङ्गारी क्रीडाओं का मुख्य स्थल माना जाता है। इसके अतिरिक्त रसिकसाहित्य में निधुवन[3] और 'नीविविघनकर्षण'[4] का भी प्रचुरता से उल्लेख मिलता है। हो सकता है, इनके प्रयोग की प्रेरणा भी भविष्य में रसिकों को इसी काव्य से मिली हो।

५. हनुमन्नाटक

रामचरित में शृङ्गारी भावों के समावेश की बढ़ती हुई प्रवृत्ति हनुमन्नाटक अथवा महानाटक (१०वीं शती) में पराकाष्ठा को पहुँची। रसिक रामभक्तों का विश्वास है कि इसकी रचना हनुमान जी ने की है। वे 'चारुशीला' रूप में राम की मुख्य सखी होने से, प्रिया प्रियतम की शृङ्गारी लीलाओं के तत्वज्ञ आचार्य माने जाते हैं। इस विचार से साम्प्रदायिक ग्रंथों में इसे गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है।

१—जानकीहरण, ८।१९   २—वही, ८।३४

३—'निधुवन की क्रीडाओं के विशेषज्ञ होने के कारण ही १८वीं शती के प्रसिद्ध रसिक भक्त रामसखे जी 'निधुवनाचार्य' कहे जाते थे। शिवसंहिता में भी इसे राम की विहारभूमि माना गया है—

पूज्या प्रिय परित्यज्य त्रैलोक्यां या स्त्रियोऽखिला।
तासां निधुवने दोषो न त्वां स्पृश्येदनाहतम् ॥
—शिवसंहिता, पृ० १७९

४—नीवी करषत बरजत प्यारी
रस लंपट संपुट कर जोरत पद परसत पुनि ह्वै बलिहारी।
—हि० सा० इ०, पृ० १८६

विवाह के पश्चात् सीताराम की विलासक्रीडा का प्रसंग यहाँ भी आया है। उसकी स्पष्टता, अश्लीलता की छोर तक पहुँचकर रामचरित की मर्यादा को सर्वथा लुप्त कर देती है। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

अंके कृत्वा जनकतनयां द्वारकोटेस्तलान्ता-
त्पर्यंकांके विपुलपुलकां राघवो नम्रवक्त्राम्।
बाणान् पंच प्रवदति जनः पंचबाणप्रमाणै-
र्बाणैः किं मां प्रहरति शनैर्व्याहरन्तीं जगाम ॥[1]

पृथुलजघनभारं मन्दमान्दोलयन्ती,
मृदुचलदलकाग्रा प्रस्फुरत् कर्णपूरा।
प्रकटितभुजमूला दर्शितस्तन्यलीला,
प्रमदयति पतिं द्राग्ज्ञानकीव्याजनिद्रा ॥[2]

कुमारदास की तरह 'सुरत सर्ग' की योजना इसमे भी की गई है, किन्तु यहाँ उसके वर्णन में अधिक चित्रमयता और मनोवैज्ञानिकता दिखाई देती है—

तदनु जनकपुत्रीवक्त्रमालोक्य रामः
पुनरपि पुनरेवाघ्राय चुम्बन् न तृप्तः।
स्तनतटभुजमूलोरस्थलं रोमराजिः,
मदनसदनमासीच्चुम्बितं पंचबाणाः ॥[3]
स्पृहयति च बिभेति प्रेमतो बालभावा-
न्मिलति सुरतसंगेप्यंगमाकुंचयंती।
अहह नहि नहीति व्याजमप्यालपंती,
स्मितमधुरकटाक्षैर्भावमाविष्करोति ॥[4]

शृंगार के नाम पर इससे अधिक कहा ही क्या जा सकता है।

रामकाव्यों में माधुर्यवर्णन की यह परंपरा इसके बाद भी चलती रही। कंबनकृत 'रामायण' (१०वीं शती), जयदेव के 'प्रसन्न राघव' (११वीं शती) हस्तिमल्लविरचित 'मैथिलीकल्याण' (१२९० ई०) वेदातदेशिक के 'हंसदूत' (१३वीं शती) तथा साक्ल्यमल्लरचित 'उदार राघव' (१४वीं शती) में रामचरित के विविध प्रसगों में शृंगारी भावना की व्याप्ति दिखाई देती है।

१—हनुमन्नाटक, २।११ ३—वही, २।१९
२—वही, २।१८ ४—वही, २।२१

यह विचारणीय है कि, इन शृंगारी रामकाव्यों का विकास जिस काल में हुआ, राम अवतार के रूप में पूजे जाने लगे थे। अतएव इनके रचयिता साधारण नायक-नायिका समझ कर 'राम सीता' की वियोग तथा विहार लीला का वर्णन करते रहे हों, यह युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। उनमें से अनेक ने तो स्पष्ट रूप से अपने उन्हीं ग्रंथों में यह स्वीकार किया है, कि वे राम को अवतार मानते हैं। इतना होते हुए भी उनके द्वारा प्रस्तुत उक्त वर्णनों से इसका संकेत नहीं मिलता, कि ये रचनायें स्वयं उनके हृदय में स्थित, राम के प्रति भक्ति के माधुर्य भावों से प्रेरित थीं। वास्तव में ये साधक नहीं, कवि थे किन्तु थे इस भावना के समर्थक। अतएव उनकी रचनायें स्वयं साधनात्मक न होते हुए भी रसिक साधना के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि बन गईं।

रामोपासना में रसिक भाव की स्थापना

राम की मधुरलीलायें कब से कवियों तथा साधकों के हृदय में शृङ्गारी भक्ति की प्रेरक बनीं, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हो सकता है, इस प्रकार की कोई उपासना पहले से चली आ रही हो और शृङ्गारी रामकाव्य के प्रणेता उनसे प्रभावित हो, रामचरित में शृङ्गारिकता का पुट देते रहे हों। किंतु आलवार संतों के पहले, ऐतिहासिककाल में, अब तक माधुर्यभाव से साधना में प्रवृत्त होने वाले किसी रामभक्त का पता नहीं चला है। इधर 'भुशुण्डि रामायण' नामक एक शृङ्गारी प्रबन्ध की हस्तलिखित प्रति इन पंक्तियों के लेखक को मिली है, किंतु अभी तक उसके रचनाकाल का निर्णय नहीं हो सका है। अतएव साधना का आविर्भावकाल निश्चित करने में उससे कोई सहायता नहीं ली जा सकती।

१. 'शठकोप' (नम्मालवार) की माधुर्यभक्ति

रामभक्ति में मधुर भावों का उद्रेक सर्वप्रथम शठकोप की 'सहस्रगीति' में पाया जाता है। 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' में इन्हें राम का 'आदि पारषद' बताकर प्रकारान्तर से रसिक रामभक्ति का सूत्रपात इनसे ही होना स्वीकार किया गया है—

> प्रथम ही शठकोप आदि पारषद आये।
> कलि की कुचाल देखि मौन वृत्ति लाये हैं॥[१]

रसिक गद्दियों की आचार्यपरम्परायें भी (ऐतिहासिक काल में) इन्हीं को प्रथम आचार्य ठहराती हैं—

१—र० प्र० भ० पृ०, १२

'सहस्रगीति' में 'काकुत्स्थ' अथवा दाशरथि राम के प्रति निम्नांकित प्रणयोद्गार इसकी पुष्टि करते हैं कि उनकी उपासना कान्ताभाव की थी—

"समीचीन विचार्य मया वर्द्धितबालशुकशाव मधुरशब्द त्वमव्यक्त मा कृथा मम पूर्णप्राण काकुत्स्थरक्तपद्मास्यसदृशाधरनयनकरचरण वास्त्वस्निग्धश्यामलरूपवान्सश्लेष कृत्वा विश्लिष्टो जात ।"[1]

"लङ्कानाशकेति वदति पुनश्च वल्वलत्यश्रुच्छितेति वदति हृदय व्याकुल दीर्घं निश्वसिति नेत्र जलाधिक क्षुभिताञ्जलिं बध्नाति स्थिरत्वेवमेव ।"[2]

"त्वमप्यनुकूल वर्तसे न मनो दीर्घा रात्रीश्चोपरतिकालशून्या कल्परूपा दीर्घीभूतदहत्कठिनचापो मत्काकुत्स्थो नायाति मरणोपाय न जानामि प्रबलपापाह स्त्रीजन्मा ।"[3]

२. कुलशेखर का रसावेश

शठकोप के परवर्ती कुलशेखर आलवार की रामभक्ति का परिचय दिया जा चुका है। इनकी उपासना का जो वृत्तान्त प्रपन्नामृत म उपलब्ध है उसस यह ज्ञात होता है कि ये एक परमावेशी रामभक्त थे। व्यास के मुख से, रामकथा के अतर्गत, खरदूषण की सेना से राम के घिरने का वृत्तान्त सुनकर, जनस्थान पर चढाई कर देना[4], सीता को रावण के बन्दीगृह से मुक्त करने के लिए सेनासमेत समुद्र म कूद पडना[5], राजकार्य छोडकर सर्वलोभावेन विभीषण के आदर्श पर राम की शरणागति प्राप्त करना[6], आदि कृत्यों म अभिव्यक्त उनका भावावेश प्रेमोन्माद का सूचक है। उस दशा में ये वस्तुत अपने को राम का समकालीन और सहायक समझते थे, अन्यथा ऐसे कार्यों म क्यों प्रवृत्त होते। सप्रदाय में उनको सुग्रीव का अवतार समझा जाता है।

प्रपन्नामृत म ही वर्णित कुछ अन्य कथाओं से उनकी वात्सल्य और दास्य भक्ति का भी पता चलता है।

कहा जाता है कि आराध्य प्रेरणा से श्रीरग के साथ अपनी पुत्री का विवाह बडी सज धज के साथ सम्पन्न कर इन्होंने उनसे दामाद ससुर का सम्बन्ध स्थापित किया था।[7] नालियार प्रबन्ध में इनके रामचरितविषयक छन्दों से

१—सहस्रगीति, ९।५।६	४—प्रपन्नामृत, पृ० २७८
२— „ ३।४।४	५— „ „ २८०
३— „ ५।४।३	६— „ „ २७५
	७— „ „ २८५

स्वामि-सेवक भाव झलकता है।[1] इसकी पुष्टि अन्य स्रोतों से भी होती है।[2]

३. गोदा की शृंगारी उपासना

आठवें आलवार विष्णुचित्त की पुत्री गोदा, जो अण्डाल तथा रंगनायकी के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, तुलसी वाटिका में प्रकट होने के कारण भूमिजा सीता की अवतार कही जाती हैं।[3] उनकी माधुर्य भाव की उक्तियाँ यद्यपि अधिकांश रूप में श्रीकृष्ण को ही उद्दिष्ट करके कही गई हैं, फिर भी उनमें श्रीरङ्गपरक उक्तियों का अभाव नहीं है। आलवार सन्त श्रीरङ्ग और श्रीराम में भेद नहीं मानते थे। दिव्य देशों में अयोध्या के प्रति स्वयं गोदाम्बा द्वारा की गई स्तुतियों से यह स्पष्ट हो जाता है।[4] इससे राम के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा व्यक्त होती है। गोदा स्तोत्र की निम्नांकित पंक्तियाँ इसका समर्थन करती हैं—

> जनकनृपतिः पुत्र्याः पाणिग्रहाय यथा तदा,
> दृढहरधनुर्भंगं भर्गो चकार नृणां पणम्।
> वृषभकरिणां भंगं नीलाग्रहाय यथा च मे,
> कमपि पणमत्रास्ते कुर्वंस्तथा न करग्रहे॥[6]

४. वैष्णवाचार्यों की पंचरसात्मिका भक्ति

वैष्णवाचार्यों में, राम के प्रति नाथमुनि[7] और कुरेश स्वामी;[8] दास्य, रामानुज,

---

१—पेरुमल तिरुमुडि, पृ० १५४–१५७

२—भगवद्दासभूतस्य तत्कैंकर्यरतस्य मे।
एवं निश्चित्य वेदांतिन् महात्मा कुलशेखरः॥

३—प्रपन्नामृत, पृ० ३०२

४—वही, पृ० ३३७

५—प्रपन्नामृत, पृ० २७५

६—गोदा स्तोत्र, पृ० १२—

७—प्रपन्नामृत, पृ० ४०६

८— पृच्छामि किंचन यदा किल राघवरवे,
मायामृगस्य वशगो मनुजत्वमौग्ध्यात्।
सीतावियोगविवशो न च तद्गतिज्ञ,
प्रादास्तदा परगतिं हि कथ खगाय॥
यस्त्वं कृतागसमपि प्रणतिप्रसक्तं,
तं वायस परमया दययाऽक्षमिष्टाः।
तेनैव मादृशजनस्य कृतागसोपि,
युक्तं समाश्वसनमित्युपधारयामि॥
—पंचस्तवी (कुरेशस्वामी) छन्द, १७, २२

दास्यमिश्रित वात्सल्य[1] और वरवरमुनि सख्य[2], भाव की निष्ठा रखते थे। रामानुजाचार्य के शिष्य पराशरभट्ट पहले रामभक्त हैं जिन्होंने खुले तौर से सीता से मिथिला का सम्बन्ध जोड़कर उन्हीं के माध्यम से 'दामाद' रूप में राम की उपासना करते हुए उनके सामीप्यलाभ की आकांक्षा व्यक्त की है—

मातर्लक्ष्मि यथैव मैथिलजनस्तेनाध्वना ते वयं
त्वद्दास्यैकरसाभिमानसुभगैर्भावैरिहामुत्र च।
जामाता दयितस्तवेति भवतीसम्बन्धदृष्ट्या हरिं,
पश्येम प्रतियाम याम च परीचारान् प्रहृष्येम च॥[3]

इतना ही नहीं उन्होंने स्वर्ग के परे स्थित अपराजिता—अयोध्या के उस दिव्य रूप का भी वर्णन किया है, जो परात्पर ब्रह्म राम की भोग भूमि है और जिसकी प्राप्ति रसिक संत अपना एकमात्र लक्ष्य मानते हैं।

आज्ञानुग्रहभीमकोमलपुरी फालाफलं भेजुषां
यायोध्येत्यपराजितेति विदिता नाकं परेण स्थिता।
भावैरद्भुतभोगभूमिगहनैः सान्द्रा सुधास्यन्दिभिः
श्रीरंगेश्वरगेहलक्ष्मि युवयोस्तां राजधानीं विदुः॥[4]
भोग्या वामपि नान्तरीयकतया पुष्पांगरागैः समं,
निर्वृत्य प्रणयातिवाहनविधौ नीताः परीवाहताम्।
देवि त्वामनुनीलया सह महीदेव्यः सहस्रं तथा,
याभिस्त्वं स्तनबाहुदृष्टिविभवैः स्वामिप्रियं श्लाघसे॥[5]

१– नियसाद यतीन्द्राङ्के तदा रामप्रियो हरिः।
आनंदार्णवनिर्मग्नः पुलकांकितविग्रहः॥
अस्मत्सपसुत इति तं तदा परिषस्वजे।
रामप्रियस्य देवस्य तदाप्रभृति विश्रुतम्॥
संपत्कुमारनामाभूद्यतिराजकृतं महत्।
यतीन्द्रपुत्र इत्येवं तं रामप्रियमादरात्॥
—प्रपन्नामृत, पृ० १५०

२– भुंक्ते नैव प्रथम कवले यस्त्वया नोपभुक्ते।
निद्रा नैव स्पृशति सुहृदं त्वां विना यस्य नेत्रे॥
हीनो येन त्वमसि सलिलोत्क्षिप्तमीनोपमानः।
कोऽसौ सोऽहं वरवर मुने! राघवस्त्वद्वियोगम्॥
—श्री वरवर मुनि शतक (देवराजाचार्य), पृ० १०४

३– गुणरत्नकोष, छं० ५०, ४– वही, छं० २३ ५– वही, छं० २६

लोकाचार्य और वरवरमुनि का सीतापरत्व

लोकाचार्य ने रामभक्ति में सीतापरत्व की भावना को कुछ आगे बढ़ाया। उन्होंने अपराधैकपरायण संसारी जीवों के लिये भगवत् प्राप्ति का सबसे सुगम साधन मातृरूपा सीता की शरणागति बताया है। इसके कारणों की मीमांसा करते हुए वे लिखते हैं कि जगत्पिता श्री रामचन्द्र के स्वभाव में पुरुषत्व सुलभ काठिन्य और मार्दव दोनों गुणों की स्थिति है। अत दंड के भय से जीव सहसा उनके समक्ष उपस्थित होने से डरते हैं। उनके न्याय में करुणा नहीं, अतएव पापियों को कर्मानुसार दंड देने में वे किंचिन्मात्र भी रियायत नहीं करते। 'क्षिपामि न क्षमामि' उनका सिद्धान्त है। इसके विपरीत सीता जी का मातृ हृदय कोमलतापूर्ण है। वे चेतनों का दुख नहीं देख सकतीं। लाख अपराध करने पर भी माता के सम्मुख बालक निर्भय होकर जाता है। उसके वात्सल्य पर पुत्र का अगाध विश्वास जो है। सीता जी उचित उपायों से पति द्वारा उसका अपराध क्षमा कराती हैं और अवसर पाकर उसे पिता के चरणों में समर्पण कर देती हैं।[1] इस प्रकार जगन्माता का स्वभाव ही विमुख जीवों को सद्गति लाभ के लिये ईश्वरोन्मुख करना है। यही उनका घटकत्व अथवा पुरुषकारत्व है।

पुरुषकारत्व के लिये तीन गुणों की आवश्यकता होती है—कृपा, पारतन्त्र्य और अनन्यार्हत्व।[2] सीता जी में ये तीनों विद्यमान हैं।[3] जीवों को संसार में दुख पाते देख दयार्द्र हो वे उन्हें ईश्वरोन्मुख करने में जो प्रयत्न करती हैं, वह उनकी कृपा के फलस्वरूप होता है। उनके अपराधों को क्षमा कराने के लिये वे पहले पति की अनुगामिनी बनती हैं फिर अपने अलौकिक सौन्दर्य, हाव-भाव, अंग प्रदर्शन, भ्रूविक्षेप आदि शृङ्गारी चेष्टाओं से उन्हें अपने वश में कर लेती हैं।[4] तब अनुकूल अवसर पाकर, पति से, आश्रित जीवों के दुष्कर्मों को क्षमा

१—श्रीवचनभूषण, पृ० ४०

२—पुरुषकारता काले गुणत्रयमपेक्षितम्।
दीने दया परे पारतन्त्र्यानन्यार्हते सती॥
—वही, पृ० ४०

३—श्रीवचनभूषणसटीक (वरवर मुनि), पृ० ४०

४—'ईश्वरस्य सौंदर्येण वशीकरणं नाम-ओं सर्वेद कार्यमित्युपदेशानगीकारे नेत्र तिर्यक्करणं कंचुकश्लथनं कृत्वा स्वसौन्दर्येण व्यामोहयित्वा स्वोक्तिप्रकारेण कृत्वा स्वानुमतको यथा स्यात्तथा कृत्वांगीकारोन्मुख्यकरणम्।'
—वही, पृ० ६६

कराती हैं। यह कार्य उनके पारतंत्र्य गुण से सिद्ध होता है। सदैव अनन्य भाव से पतिपरायणा होकर सेवा करने में उनके अनन्यार्हत्व गुण का प्रकाश होता है। इसलिये, वरवर मुनि की सम्मति में, जीवों के लिये राम की कृपा से सीता का अनुग्रह अधिक सुलभ एवं महत्त्वपूर्ण है।[1]

लोकाचार्य जी ने जीव और सीता (अथवा लक्ष्मी) के सम्बन्ध की स्वाभाविकता अन्य प्रकार से भी सिद्ध की है। उनका मत है कि शरीर छूटने पर सभी आत्मायें स्त्रीस्वरूप हो जाती हैं[2] और उस अवस्था में उनमें स्त्री-सुलभ[3] छः गुण आ जाते हैं। वरवरमुनि ने उनकी व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की है।

अनन्यार्हशेषत्व, अनन्यशरणत्व, अनन्यभोग्यत्व, संश्लेष में धारणा, विश्लेष में धारणा का अभाव और तदेकनिर्वाह्यत्वरूप।[4]

इन गुणों से विभूषित जीव, सीतास्वरूप होकर परमपुरुष का भोग्य बन जाता है।

लोकाचार्य और वरवरमुनि द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त आगे चल कर रसिक संप्रदाय में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हुआ।

स्वामी रामानंद की दशधा भक्ति

स्वामी रामानंद को वैष्णवाचार्यों द्वारा प्रतिपादित रसिक भक्ति के ये मूलभूत सिद्धान्त रिक्थ में मिले। उन्होंने उनकी रक्षा ही नहीं की, उन्हें अपनी साधना से सींच कर, विकसित भी किया। कुरेश स्वामी और लोकाचार्य की भाँति सीता जी के पुरुषकारत्व का महत्त्व स्वीकार करते हुए, वैष्णवमताब्ज-भास्कर में, उन्होंने निम्नलिखित व्यवस्था दी—

पुरुषकारपरा विनिगद्यते,
सकमला कमला कमलप्रिया।

१–श्रीवचनभूषण, पृ० ५६

२–मालिन्ये निवृत्ते सर्वेषामपि नारीणामुत्तमा या अवस्थाऽऽगच्छेत्।
—वही, पृ० ३९७

३–षड्भिः प्रकारैः परिशुद्धात्मस्वरूपस्य तत्साम्यमस्ति।
—वही, पृ० ३९८

४–श्रीवचनभूषण सटीक (वरवर मुनि), पृ० ३९८–३९९

संस्कृत रचनाओं की मान्यताओं के सर्वथा मेल में है।[1] अतएव यह अनुमान करना सत्य से अधिक दूर न होगा कि उनकी मूल रचनायें सगुण रामभक्ति-सम्बन्धी ही रही होंगी—यह दूसरी बात है कि उनमें कहीं-कहीं उस निर्गुण राम के प्रति भी उन्होंने अपनी आस्था व्यक्त की हो जिसे कबीर ने 'दशरथ सुत' से परे बताया है। इनके अतिरिक्त स्वामी रामानंद की कोई ऐसी रचना उपलब्ध नहीं है जिससे उनकी भक्तिभावना के स्वरूप पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता हो। अतएव इस 'संत-सामग्री' को उनके आध्यात्मिक विचारों का प्रतिनिधि मानना, उनके विषय में शताब्दियों से रामानन्दीय सम्प्रदाय में प्रचलित मान्यताओं तथा वैष्णवमताब्जभास्कर और रामार्चनपद्धति ऐसी प्रामाणिक कृतियों में अभिव्यक्त उनके भक्ति भावों, एवं सिद्धान्तों की उपेक्षा करना है।

रामानन्दीय परम्परा के ही भक्त नाभादास ने भक्तमाल में इस विषय में जो विचार प्रकट किये हैं, वे महत्त्व के हैं। उनकी संगति भी वैष्णवमताब्ज भास्कर में निरूपित भक्ति सिद्धान्तों से बैठ जाती है। नाभादास ने उनके शिष्य प्रशिष्यों को 'दशधा'[2] भक्ति का 'आगर' बताया है। यह द्रष्टव्य है कि भक्तमाल में ही अन्यत्र उन्होंने चैतन्य महाप्रभु को 'दशधा रस आक्रान्त' कहा है और अपनी दूसरी रचना 'अष्टयाम' में 'अग्रदास' को 'दसधासंपत्ति'[3]

१—'हनुमान आरती' गाने का फल रामानन्द जी ने वैकुंठधाम में निवास कर परम पद की प्राप्ति बताया है—

जो हनुमान की आरति गावै। बसि बैकुंठ परम पद पावै।
—रा० हिं० र० पृ०, ७

वैष्णवमताब्जभास्कर में भी रामोपासकों के लिये प्राप्य वस्तु यही बताई गई है—

परं पदं सैवमुपेत्य नित्य-
सम्मानवो मुक्तरयेन तेन।
सायुज्यकादि प्रतिलभ्य तत्र
प्राप्यस्य सद्यन्दति तेन साकम्॥
—वै० म० भा०, पृ० १८५

२—पौरी शिष्य प्रशिष्य एक ते एक उजागर।
बिस्व मंगल आधार, सर्वानंद दसधा के आगर॥
—भक्तमाल (रूपकला टी०), पृ० २८८

३—रामकृपा को रूप बन्दौं श्री गुरु अग्ररद।
जिनकी सुजस अनूप, दसधा संपति धनद जिमि॥
—खोज रिपोर्ट (१९०९–१२) भाग २, पृ० १०६६

का अधिकारी माना है। ये दोनों महानुभाव माधुर्यभाव के उपासक रूप में प्रसिद्ध हैं। अतएव 'दशधा' से उनका तात्पर्य शृंगारीभाव की उपासना से है। नवधा से परे प्रेमलक्षणा और परा भक्ति ही 'दशधा' भक्ति मानी जाती है। वैष्णवमताब्जभास्कर में स्वामी रामानन्द ने इसी भाव को रामोपासना में प्रधानता दी है—

एवं महाभागवतः सुसंस्कृतः
रामस्य भक्तिं च परां प्रकुर्यात्।
महेन्द्रनीलाश्मरुचेः कृपानिधेः
श्रीजानकीलक्ष्मणसंयुतस्य ॥[1]

सम्भवतः इसीलिये 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' में वे, रामानुजीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत सदाचारपद्धति के उत्कर्ष से मन्द पड़ती हुई रसिक अथवा 'रहस्य' रामोपासना के, उद्धारक माने गये हैं।[2]

अनन्तानन्द का रसिकभाव

स्वामी रामानन्द के द्वादश शिष्यों में सर्वप्रधान अनन्तानन्द थे। इनकी कोई रचना नहीं मिलती, किन्तु परम्परा में सीता जी के कृपापात्र और रासरसभोक्ता के रूप में इनकी प्रसिद्धि है। युगलप्रिया जी ने इनकी रसिक समाधि और विरहाकुलता का भी उल्लेख किया है—

द्वादश शिष्य प्रधान एकादश चतुर प्रधानी।
बड़े अनन्तानन्द फन्द शृंगार लखानी॥
रसिक समाधी प्रबल कृपा उर दाह लहे हैं।
जनकलली के कृपा रास रस पूरि रहे हैं॥
आँसू चलत समाधि में अद्भुत गति विरही लहे।
शिष्य किये बहु विरति रति तिनके गुनगन को कहे॥[3]

१—वै० म० भा०, छं० ६३

२—रामानुज स्वामिहु प्रतिष्ठा करि सदाचार
वैष्णव रहस्य को प्रचार करि गये हैं॥
बीच पाय सियाराम रहस्य उपासना की
मन्द रीति पेपि सदाचार नये-नये हैं॥
तबही कृपाल निज भक्ति के उद्धारबे को
रामचन्द्र आपु स्वामी रामानन्द भये हैं॥
—र० प्र० भ०, पृ० १२

३—र० प्र० भ०, पृ० १२

इसकी टीका करते हुए वासुदेवदास ने अनन्तानन्द को मानसीपूजा तथा रसिकरीति का प्रेमी कहा है और उन्हें चारुशीला सखी का अवतार माना है।

रामानन्द जू के शिष्य श्री अनतानंद,
शीतल सुचन्दन से भक्तन अनन्द कर।
सतन के मानद परानंद मगन मन,
मानसी स्वरूप छवि सरसी मराल वर॥
जनकल्ली की कृपापात्र चारूशीला अली,
रूप में अभिन्न मुजे रंग भूमि लीला पर।
ऊपर समाधि उर अमित अगाध नैन,
अँसुवा श्रवत उमगत मानौ धराधर॥[1]

इन तथ्यो से स्वामी रामानन्द और उनके 'शिष्य प्रशिष्य' विषयक, नाभादास के पूर्वोक्त उल्लेख का समर्थन होता है।

कृष्णदास पयहारी की 'रस रीति'

अनन्तानद के शिष्य श्रीकृष्णदास पयहारी थे। खेद है कि इनकी भी कोई रचना नहीं मिलती। युगलानन्यशरण जी (अयोध्या) के प्राचीन 'सरस्वती भवन' सग्रह मे इनके एक 'अष्टयाम' (सस्कृत) का पता कुछ दिन पहले लगा था। ढूँढने पर सूची मे उसकी हस्तलिखित प्रति का स क्षिप्त विवरण भी मिल गया, किन्तु सारा सग्रह मथडालने पर भी मूलप्रति उपलब्ध न हो सकी। ऐसी स्थिति मे पयहारी जी की भक्तिसम्बन्धी हमारी जानकारी का एक मात्र साधन, साम्प्रदायिक ग्रथों एव परपराओं में सुरक्षित अनुश्रुतियाँ ही रह जाती हैं।

रसिकप्रकाशभक्तमाल के अनुसार उनकी रामोपासना साख्य-योगसम न्वित थी।[2] पुष्कर मे बारह वर्ष का व्रत लेकर उन्होंने षडक्षर राममत्र का जप किया था। अनुष्ठान के मध्य में ही उनकी निष्ठा से सतुष्ट हो जानकी जी ने साक्षात् दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ किया था। व्रत पूरा करके वे पुष्कर से गलता गये। वहाँ उनकी अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति से परास्त होकर तारानाथ नामक योगी अपने अनुयायियों समेत शरणगत हुआ और आमेर के राजा पृथ्वीसिंह ने भी शिष्यत्व ग्रहण किया।[3] तभी से गलता गादी रामभक्तों का मुख्य केन्द्र बन गई।

१–र० प्र० भ०, पृ० १२
२–वही, पृ० १३ ३– वही, पृ० १३

युगलप्रिया जी ने इनका जो परिचय दिया है उससे इनके रसिक रूप का आभास मिलता है—

कृपा अनन्तानद रसिक पूरन पयहारी।
कृष्णदास रसरीति उपासक सिय व्रतधारी॥
पुष्कर छाया भजन भूमि प्रगटी सियप्यारी।
पूर्व सूचिका धरी कथा प्रिय लेहु सुधारी॥[1]

सम्प्रदायप्रवर्तक अग्रदास जी के गुरु होने से, रसिकों में इनके व्यक्तित्व की अलौकिकता को लेकर पीछे अनेक कथायें चल पड़ीं। सन्तों में लोमश और हनुमान की तरह इनके चिरजीवी होने की ख्याति हो गई। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में अनेक महात्माओं के जीवनवृत्तों में इनसे प्रेरणा ग्रहण करने की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध है कि देवरिया जिले में पैकौली गद्दी के स्थापक महात्मा लक्ष्मीनारायण जी पयहारी को श्रीकृष्णदास जी ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर कृतार्थ किया था।[2]

पयहारी जी के शिष्यों में दो प्रमुख थे—कील्ह दास और अग्रदास। कील्ह दास बड़े थे, अग्रदास छोटे। अतएव गलता गादी के आचार्य कील्हदास ही हुए। अग्रदास गुरु के सान्निध्य में रहस्यभावना की साधना करते रहे। पयहारी जी के साकेतवास के पश्चात् कील्हदास जी की अनुमति से वे गलता से रैवासा चले गये और वहाँ अपनी अलग गद्दी स्थापित कर राममक्ति का

१–र० प्र० प्र०, पृ० १३

२–गायत्री वन में जपत, लक्ष्मीनारायण दास।
कृष्णदास गज रूपधरि, आये तिन्ह के पास॥
जैपुर राज राज्य रजधानी। तहँ अवतरे मुनि विज्ञानी।
कृष्णदास पावन व्रतधारी। रहे कहावत श्री पयहारी॥
बहुतकाल तप कीन्ह कठोरा। निश दिवस रघुवस निहोरा।
भये जगत गुरु श्री पयहारी। राम नाम कर कीन्ह प्रचारी॥
दीक्षा दै कृतार्थ तेहि कीन्हा। सादर पौहारी पद दीन्हा।
लक्ष्मीनारायण सुख पावा। जोरि जुगलकर विनय सुनावा।
यह रहस्य पावन परम, कहेउ सकल जग हेतु।
'रामार्चन पद्धति' महँ, बरनेउँ द्विज कुल केतु॥
श्री पौहारी जीवन चरित्र
(रामकोमलसाही), पृ० १९–२२

प्रचार करने लगे।[1] इन दो के अतिरिक्त पयहारी जी के बाईस अन्य शिष्यों की भी नामावली नाभादास जी ने 'भक्तमाल' में दी है।[2] इनमें अधिकांश विशालद्वारपीठों के संस्थापक हुए। स्वामी रामानंद की परंपरा में सब से बड़ा परिवार श्रीकृष्णदास जी का ही है। आज भी उसकी अधिकांश प्रसिद्ध गद्दियाँ इन्हीं की परंपरा की हैं। अतएव रामानंदीय सिद्धान्तों के साम्प्रदायिक प्रचार का सर्वाधिक श्रेय इन्हीं महाराज को मिलना चाहिये।

रसिकसाधना का प्रवर्तन

अग्रदास की रसिकसाधना

रसिकरामोपासना, साधना और साहित्य, दोनों दृष्टियों से, शठकोप (नम्मालवार) से लेकर श्री कृष्णदास पयहारी तक, इतनी विकसित हो चुकी थी, कि उसके बिखरे सूत्रों को एकत्र कर एक नई साधनापद्धति का रूप दिया जा सकता था। व्यष्टि प्रधान होने के कारण, अब तक अपनी साधना को रहस्यमय बनाये रखने में ही, आचार्य लोग उसकी मर्यादारक्षा समझते थे, किन्तु ज्यों-ज्यों साधकों की संख्या बढ़ती गई, उसे एक व्यवस्थित रूप देने की आवश्यकता का अनुभव विचारशील रामभक्त करने लगे। इनमें अग्रदास जी पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने हिन्दी भाषा में "ध्यान मंजरी" की रचना कर रसिकसाधना का एक व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया और शताब्दियों से 'रहस्य' बने हुए भावों को संसार के सामने रखा—

> श्री गुरु-संत अनुग्रह ते अस गोपुरवासी।
> रसिकजनन हित करन रहसि यह ताहि प्रकासी[3]॥

उन्होंने दावे के साथ यह घोषित किया कि इस रामरसामृत का आस्वादन कर लेने पर ज्ञान, योग और तप इत्यादि इतर साधन छाँछ की तरह नीरस लगने लगते हैं—

> अमल अमृत-रसधार रसिकजन यहि रस पागे।
> तेहि को नीरस ज्ञान योग तप छोई लागे॥[4]

किन्तु इस अलौकिक रस का अनुभव रसिकभावना का अनुसरण करने पर ही किया जा सकता है अन्य भाव से नहीं, यह अग्रदास जी का निश्चित मत है—

१—रा० प्र० म०, पृ० १६
२—भक्तमाल सटीक (रूप कला), पृ० ३१४
३—ध्यानमंजरी, पृ० २४ ४—वही, पृ० २२

रसिक साधना के प्रवर्तक—स्वामी अग्रदास (पृ० ८८)

यह दंपति वर ध्यान रसिकजन नितप्रति ध्यावैं।
रसिक विना यह ध्यान और सपनेहुँ नहिं पावैं ॥[1]

'ध्यानमंजरी' के इन सिद्धान्तों का रसिकसंतों में सर्वाधिक प्रचार एवं सम्मान हुआ। एक प्रकार से परवर्ती शृङ्गारीसाधना की वह गीता हो गई और उसके प्रणेता रसिकसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य मान लिये गये।

नत्वा श्री जानकीरामौ चारुशीलां सखीं ततः।
आचार्यं अग्रदासाख्यं सम्प्रदायप्रवर्तकम् ॥[2]

× × ×

आचारज रसरासपथ रसिकवर्ज रसिकन सुखद।
रसबोध विपुल आनंदघन अग्रस्वामि बानी विशद ॥[3]

इस संप्रदाय के संगठन में अग्रदास जी का कितना हाथ था, इसका पता नाभादास जी की इन पंक्तियों से लग जाता है—

श्री अग्रदेव गुरु कृपाते, बाढ़ी नव रस बेलि।
चढ़ी लड़ैती-लाल छवि, फूली नवल सुकेलि ॥[4]

रसिकसिद्धान्तों पर आगमप्रभाव

अग्रदास जी ने 'ध्यानमंजरी' में, दिव्य-दंपति की साकेत लीला के, जिस ध्यान की इतनी महिमा गाई है, उसे उन्होंने स्वयं 'आगम'-साहित्य पर आधारित बताया है :—

सुनि आगम विधि अर्थ कछुक जो मनहिं सुहायो।
यहु दंपति वर ध्यान यथामति बरनि सुनायो ॥[5]

इससे यह विदित होता है कि आलवारों एवं वैष्णवाचार्यों द्वारा विरचित रामभक्तिपरक रचनाओं के साथ पांचरात्र तथा वैष्णव तंत्रों की भी एक परम्परा पहले से चली आ रही थी। इसके अतिरिक्त शैव और शाक्त आगमों का भी प्रचुर साहित्य शताब्दियों पूर्व प्रस्तुत हो चुका था। अतएव साम्प्रदायिक सिद्धांतों के निर्माण में अग्रदास का उनसे भी प्रेरणा ग्रहण करना असम्भव नहीं कहा जा सकता। विशेषरूप से ऐसी स्थिति में जब श्रीवैष्णवसंप्रदाय में उनके

१—ध्यानमंजरी, पृ० २२
२—टीका नेहप्रकाश (जनक लाडिली शरण), पत्र १
३—रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० १५
४—खोज रिपोर्ट १९०९—११, भाग २, पृ० १०६७
५—ध्यानमंजरी, पृ० २३

पूर्वाचार्य यामुनमुनि, आगम को पचम वेद की प्रतिष्ठा दे चुके थे[1] और रामानुज[2] तथा वेदातदेशिक[3] ने अपने सिद्धातों के निर्माण में पाचरात्र-संहिताओं का आधार लिया था, अग्रदास का उनसे सहायता लेना स्वाभाविक ही था।

यहाँ 'आगम' से अग्रदास का तात्पर्य, त्रिविध (वैष्णव, शैव, शाक्त) आगमों क किन ग्रथों से है, इसका विवरण 'ध्यानमजरी' में नहीं प्राप्त होता। 'भक्तमाल' म अग्रदास की छाप से दिये हुए एक छप्पय की निम्नाकित पक्ति से इसका अथ कुछ खुल जाता है।

> आगमोक्त शिवसहिता, अगर एकरस भजनरति।
> उरग अष्टकुलद्वारपाल, सावधान हरिधामथिति॥[4]

इन पक्तियों म 'आगम' ग्रथों के अतर्गत 'शिवसहिता' का उल्लेख करके नाभादास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि रसिकभक्ति क स्वरूपनिर्माण में पाचरात्र सहिताओं का भी हाथ रहा है। उनम केवल एक 'शिवसहिता' का नाम, प्रसगवश, उन्होंने दे दिया है। इसम सन्देह नहीं कि इसक अतिरिक्त अन्य प्राचीन पाचरात्र-सहिताओं तथा शैव और शाक्त-आगमों का उनके समय म व्यापक प्रचार रहा होगा, किन्तु दुर्भाग्यवश उस काल क उपलब्ध रसिक साहित्य म उनका उल्लेख नहीं मिलता। अतएव उनकी खोज के लिये हमें उसी संप्रदाय क परवर्ती सतों द्वारा निर्मित साहित्य का आश्रय लेना पड़ता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के विख्यात रामभक्त और 'मानस' के प्रथम टीकाकार, महात्मा रामचरणदास ने रसिकसप्रदाय के सिद्धान्तों की परपरा बताते हुए, जिन आधारग्रथों का उल्लेख किया है, उनमें पाचरात्र-सहिताओं के साथ, शैव एव शाक्त तत्रों क भी नाम आये हैं।[5] वे नीचे दिये जाते हैं—

क—पाचरात्र सहिता

१ अगस्त्य-सहिता	५ हिरण्यगर्भ-सहिता
२ सनत्कुमार-सहिता	६ आनद-सहिता
३ हनुम सहिता	७ वशिष्ठ संहिता
४ भरद्वाज-सहिता	८ महाशभु-सहिता

१—इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र (श्रेडर), पृ० १६
२—वही, पृ० १७
३—वही, पृ० १८
४—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० २६०
५—देखिये-राम नवरत्न सार सग्रह (रामचरणदास)

९. सदाशिव-संहिता ११. ब्रह्मसंहिता

१०. महाशिव-संहिता

ख—शैव तंत्र

१. शैवागमसार २ ब्रह्मयामलतंत्र ३ स्कन्दयामलतंत्र

ग—शाक्ततंत्र

१ महासुंदरीतंत्र

इनमें से 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' की भूमिका में श्रेडर द्वारा दी हुई संहिताओं की सूची में केवल अगस्त्यसंहिता, भरद्वाजसंहिता, वशिष्ठसंहिता, सनत्कुमार संहिता और हिरण्यगर्भसंहिता का नाम मिलता है।[1] विद्वान् लेखक ने ऐसी समस्त संहिताओं को जिनमें राम तथा राधा की एकान्तिक भक्ति का निरूपण हुआ है, पश्चात्कालीन माना है।[2] किन्तु उनकी रचना किस काल में हुई, इसका निर्णय वे नहीं कर सके हैं। ऐसी दशा में यह स्वीकार करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती कि अग्रदास जी के समकालीन युग में विरचित ग्रंथों में निर्दिष्ट संहितायें उनसे पूर्व प्रचलित रही होंगी।

इस उपपत्ति के समर्थन में कतिपय प्रमाणों की विवेचना नीचे की जाती है।

महात्मा रामचरणदास द्वारा उल्लिखित संहिताओं में से रामानुजाचार्य के गुरु यामुनाचार्य (मृत्यु १०४० ई०) ने 'सनत्कुमारसंहिता',[3] और वेदांतदेशिक (१४ वीं शती) ने 'वशिष्ठ तथा भरद्वाज-संहिता'[4] का संदर्भ अपनी रचनाओं में दिया है।

'अगस्त्यसंहिता' के अनेक प्रसंग 'शारदातिलक'[5] तंत्र में उद्धृत हैं। अगस्त्य संहिता की प्रकाशित प्रति से उनके पाठ भी अक्षरशः मिल जाते हैं[6]। इस

१– इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र (श्रेडर), पृ० ६ अगस्त्य संहिता सं० १
पृ० ८ भारद्वाज ,, सं० १०६
पृ० ९ वसिष्ठ ,, सं० १८९
पृ० ११ सनत्कुमार ,, सं० १९५
पृ० ११ हिरण्यगर्भ ,, सं० २०९

२–इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र (श्रेडर), पृ०. १९

३–इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र (श्रेडर), पृ०, १६

४–वही, पृ० १८

५–शारदा तिलक, पृ० ६२९, ६३१, ६३२, ६३६

६–अगस्त्य सं०, पत्र ११४, १२१

तंत्र का रचना काल सं० १५५० है[1]। अतएव उसके पूर्व 'अगस्त्यसंहिता' की रचना हो चुकी होगी, यह स्वतः सिद्ध है।

'विद्यार्णवतंत्र' में प्रमाण-ग्रंथावली के अंतर्गत 'अगस्त्यसंहिता',[2] 'सनत्कुमार-संहिता' और 'वशिष्ठसंहिता', का उल्लेख किया गया है[3]।

'शारदातिलक' और 'विद्यार्णवतंत्र' में उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त 'स्कन्दयामलतंत्र' नामक एक अन्य ग्रंथ से भी कुछ रामभक्तिसम्बन्धी छन्द दिये गये हैं। उसमें से शारदातिलक में उद्धृत दो स्थल रसिकभक्ति के सूत्रों के अनुसंधान की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं[4]। एक में राम को परात्पर ब्रह्म, दूसरे में सीता को पराशक्ति बताते हुए, ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव को उनका उपासक कहा गया है[5]।

तंत्र-साहित्य के ही एक अन्य ग्रन्थ 'ब्रह्मयामल-तंत्र' में राम के शृङ्गारी रूप का भी चित्रण मिलता है।

> रमाविहारी रघुराट् रमाशक्त्यैकविग्रहः।
> रमाविग्रहधारी च रमाध्यानपरायणः॥

१— आकाशेषुशरक्षमा (१५५०) परिमिते रौद्राभिधे वत्सरे।
पौषे मासि सिते दले रवितिथौ पक्षे च सिद्धान्विते॥
तन्त्रेऽस्मिन् सुधिया व्यधायि रुचिरा श्री राघवेन स्फुटा।
टीका सद्गुरुसंप्रदायविमला विश्वेशपुर्यामियम्॥
—शारदातिलक तंत्र भाग २, पृ० ९१०

२—विद्यार्णवतंत्र भाग २, पृ० ४७१ (अ० सं० पत्र ८९, ९०)

३—वही, पृ० ३१

४— रेफोऽग्निरहमेवोक्तो विष्णुः सोमो म उच्यते।
मध्यगस्त्वावयोर्ब्रह्मा रविराकार उच्यते॥
ज्योतींषि कवलीकृत्य त्रीण्याकाशो विभुः स्वयम्।
नादोऽभिधत्ते सन्मात्रं त्वमेव परमेश्वरम्॥
—शारदातिलक तंत्र भाग २, पृ० ६२६

५— ब्रह्मा गृणाति स्वच्छाँङ्कि देवीं वाचं त्वदास्रये।
विष्णुर्ध्यायति त्वामेव सुषुम्णां परमेश्वरीम्॥
सीतामुपास्ते व्योमान्तर्रीश्वरो बिन्दुरूपिणीम्।
सदाशिवो नादमयीं स्वातीतामुन्मनीं शिवः॥
—वही, पृ० ६२८

रमाविहारनिरतो रमाज्ञापरिपालक ।
रमाकर्मैक्सतुष्टो रमारमणवत्सल ॥[1]
रामाकेलिकुलाचारी रमाचारगुरोगुरु ॥
रागसारी रागवृत्ति रागीरागो विरागहा।
रागसेवा रागनीति रतिदो रतिदेश्वर ॥[2]
रामो दिव्यागनाभोगी रामो ज्ञानवतावर ॥[3]

और उनके साथ ही सीता जी की भी विहारप्रियता का वर्णन किया गया है—

रमातरगसहिता रामभार्या रतिप्रिया।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अग्रदास और तुलसी के आविर्भाव के बहुत पहले से आगमग्रन्थों में विकसित रामोपासना में राम, परात्पर ब्रह्म मानलिये गये थे और उनकी विहारलीला का चित्रण होने लगा था।

'अगस्त्यसहिता' से यह भी पता चलता है कि अग्रदास के पूर्व सीताराम के 'मानसीध्यान' में दपति की शृङ्गारी मुद्रा को प्रधानता दी जाने लगी थी। इस प्रसग म उसके निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं।

ध्यायेत् हृत्पुडरीकाक्ष पर ज्योति परात्परम्।
जपेत्स्वचन चैकान्ते रामं ध्यायन्ननन्यधी ॥
नीलजीमूतसकाश विद्युद्वर्णवराम्बृतम्।
सतप्तकाचनप्रख्यां सीतामकगता पुन ॥
अन्योन्याश्लिष्टहृद्बाहुनेन पश्यतमादरात् ।
दक्षिणेन करायेण कुचाग्रे चचलामक ॥
स्पृशन्त च तनोत्सगे परिहासैर्मुहुर्मुहु ।
विनोदयत तांबूलचर्वणैकपरायणम् ॥[4]

इसके अतिरिक्त उसके अन्तर्गत तात्रिक पद्धति के अनुसार क्रिया— राममंदिरों का निर्माण, पूजन, मूर्ति प्रतिष्ठा और चर्या—रामभक्तों के नित्य एव नैमित्तिक कृत्यों, मूर्ति-पूजा-विधि तथा रामावतारसम्बन्धी पर्वों और उत्सवों, का विस्तृत वर्णन मिलता है। शाक्ततत्रों के आदर्श पर मत्र, बीज, मत्र-कवच,

---

१-ब्रह्मयामल तत्र—रकारादि श्रीरामसहस्रनाम, पत्र ५
२- ,, ,, ,, , पत्र १६
३- ,, ,, ,, , पत्र १९
४-अगस्त्य स०, पत्र ८९

भक्ता की कृतियाँ। इनमें पहले वर्ग में 'कबनरामायण', 'आनन्दरामायण' एवं 'रामलिंगामृत' तथा दूसरे में 'भुशुण्डिरामायण', 'हनुमत्संहिता' और 'सत्योपाख्यान' आते हैं। भुशुण्डिरामायण का रचनाकाल अनिर्णीत होने से अधिकारिक रूप से तो यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें किस वर्ग की रचनायें प्राचीनतर हैं परन्तु निश्चित निर्माणकाल वाली कृतियों में प्रथम वर्ग के ग्रंथ अपेक्षाकृत पुराने ठहरते हैं।

कबनरामायण

कबनविरचित तमिल रामायण (१०वीं शती) में, विवाह के पूर्व सीताराम एक दूसरे को पुष्पवाटिका में देखते हैं। इसके उपरान्त दोनों की प्रेमजनित आतुरता का चित्रण किया गया है। उसी प्रसंग में अपनी रानियों के साथ दशरथ की जलक्रीडा, पुष्पचयन तथा आपान आदि विलासपूर्ण लीलाओं का वर्णन मिलता है। युद्धकाण्ड में राक्षस राक्षसियों के संभोगवर्णन में भी कवि ने रुचि दिखाई है। डा० बुल्के ने इस रचना को कुमारदास के जानकीहरण से प्रभावित माना है।[1]

आनदरामायण

आनदरामायण (१५वीं शती) के विलासकाण्ड में सीताराम की संभोग क्रीडा को भी स्थान दिया गया है। कहीं कहीं तो केलिवर्णन में कवि की दृष्टि से रामचरित की मर्यादा बिल्कुल ओझल होती हुई दिखाई पडती है। उदाहरण के लिये कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं—

> चुचुम्ब तस्या बिम्बोष्ठं पूर्णयामास तत्कुचौ।
> मुक्त्वा तत्कचुकीबधमालिंग्य हृदयेन ताम्॥
> मुमोच कच्छं श्रीराम सीताया स्वकरेण स।
> उड्डीयवस्त्रं हस्तेन तद्रम्भोरू ददर्श स॥
> ततः करेण तन्नीवीं रामश्चाकर्षयन्मुदा।
> सीताप्याकर्षयद्वेगाद्रामनीवीं स्मितानना॥
> एवं परस्परं क्रीडां चक्रतुर्दंपती मुदा।
> क समर्थस्तयो क्रीडा सविस्तारां निवेदितुम्॥[2]

इसी ग्रंथ में अन्यत्र रतिशाला, अष्टयाम क्रीडा, राम द्वारा सीता का नख शिख वर्णन आदि शृङ्गारी प्रसगों का भी समावेश किया गया है। एक बात

१—रामकथा, पृ० १४

२—आनन्दरामायण, पृ० १३२

और उल्लेखनीय यह है, कि इस रामायण में पहली बार रामभक्त को विष्णुभक्त का गुरु बताकर प्रकारान्तर से रामोपासना की विष्णुभक्ति से श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। साथ ही शिव द्वारा की गई राम की स्तुति का उल्लेख कर उसे शिव भक्ति से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। राज्यकांड में दिये हुए कृष्णोपासक और रामोपासक के संवाद में कृष्ण और राम के चरितों की मीमांसा करके प्रत्येक क्षेत्र में राम का महत्त्व स्थापित किया गया है। रचयिता ने यहाँ इस तथ्य की झलक दी है कि, शृङ्गारी लीलाओं में भी कृष्ण से राम को बढ़ कर दिखाने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी और अग्रदास के पहले उसका साहित्य बढ़ने लगा था।

रामलिंगामृत

इस वर्ग की अन्तिम ज्ञात रचना 'रामलिंगामृत' है, जिसका निर्माण काशी के अद्वैत नामक ब्राह्मण ने शक सं० १५३० (१६०८ ई०) में किया था। इसके 'जानकी-राम क्रीडा हितक' शीर्षक अध्याय में दम्पति की संभोगलीला का अंकन हुआ है। युगलस्वरूप की दिनचर्या का वर्णन अष्टयामपद्धति पर किया गया है। ग्रंथ के अंत में रामपूजाविधि का सविस्तर परिचय देते हुए, राम, शिव और कृष्ण की एकता का प्रतिपादन हुआ है।[1]

शृङ्गारी रामचरितों के दूसरे वर्ग की रचनाओं—'भुशुंडिरामायण', 'हनुमत्संहिता' और 'सत्योपाख्यान' की माधुर्य प्रवृत्ति का परिचय नीचे दिया जाता है।

भुशुंडिरामायण

'भुशुंडिरामायण' की रामकथा ब्रह्मा भुशुंडिसंवाद के रूप में वर्णित है। ब्रह्मा ने जो कथा भुशुण्डि से सुनी थी उसे ही देवों को सुनाया है। इसकी रामकथा भागवत से अत्यन्त प्रभावित है। रावण द्वारा भेजे गये राक्षस, बाल्यावस्था में ही राम को समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं, किंतु वे स्वयं मारे जाते हैं। उनके डर से दशरथ राम को गुप्त स्थान पर भेज देते हैं। सरयूपार गोप प्रदेश में गोपेन्द्र सुखित और उनकी स्त्री मांगल्या[2] राम का पालन-पोषण करते हैं। विवाह के पूर्व अयोध्या के प्रमोदवन में देवतावतार गोपियों और अपनी पराशक्ति सीता के साथ राम रासलीला करते हैं।[3] मिथिला पहुँच

१–रामकथा (बुल्के), पृ० २०३, २०८ २–भु० रा०, पश्चिम खंड, अ० ५२

३–भजामि सरयूतीरमाश्रित रघुनन्दनम्
सीतासहमहारासरसिक भर्दिनं हरिम्।
स्मरावेशाकुल चित्तं नाट्यगीतोत्सुक परम्,
भन्तसखिभिर्युक्त रामचन्द्र भजाम्यहम्॥ —भु० रा० पूर्व खण्ड, अ० २७

कर एक पक्षी द्वारा वे सीता के पास अपना चित्र भेजते हैं। चित्रदर्शन से सीता उन्हें प्राप्त करने के लिये उत्कण्ठित होती हैं। दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में विजित राजाओं की सहस्रों कन्याओं को वे स्वीकार करते हैं। चित्रकूट में गोप-गोपिकाओं के साथ रासक्रीडा का आयोजन होता है। इसी प्रकार की अनेक शृंगारी लीलाओं के वर्णन इसमें आये हैं। इनके अतिरिक्त इसमें एक ऐसी कथात्मक विशेषता और मिलती है, जो अन्य शृंगारी रामचरितों में नहीं पाई जाती। वह है—सीता के अतिरिक्त, "सहजा" सखी का राम की पत्नी के रूप में उल्लेख। सहजा, जनकदासी कन्या कही गई है। चित्रकूट-लील में उन्हें प्रमुखता दी गई है। सीता, ज्ञानपरक भक्ति और सहजा, प्रेमा भक्ति की प्रतीक मानी गई है।

हनुमत्संहिता

रसिकों के साधनात्मक साहित्य में 'हनुमत्संहिता' का मुख्य स्थान है। इसमें साम्प्रदायिक अर्थ में 'रसिक' शब्द[१] का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। परवर्ती रसिक साधना के स्वरूपनिर्माण में इस ग्रन्थ से बड़ी सहायता ली गई है। इसका प्रतिपाद्य है—राम की रहस्यमयी माधुर्यलीला, जो देवताओं के लिये भी अलभ्य कही गई है।[२] कथा हनुमान-अगस्त्यसंवाद के रूप में दी गई है, जिसमें हनुमान चारुशीलासखी (राम की प्रधान सखी) के रूप में चित्रित किये गये हैं। डा० राजेन्द्रलाल मित्र के कैटालाग में इसकी सं० १७१५ (१६५८ ई०) की एक प्रति का उल्लेख मिलता है।[३] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इस काल के पहले ही कभी इसका निर्माण हो चुका होगा।

कोशलखंड

'कोशलखंड' अथवा 'बृहत्कोशलखंड' नाम से प्रसिद्ध, शृंगारी रामकाव्य को भी रसिक बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं और उसे सम्प्रदाय का प्राचीन सिद्धान्त-

---

१—रसिकानामाह्लादकारिणीं पावनीं कथाम्।
कथयंति महात्मानः प्राप्नुवन्ति हरेः पदं॥
—हनुमत्संहिता, पत्र १

२—माधुर्यं गोपनीयं च यदलभ्यं सुरासुरैः।
ब्रह्मा वेदविदां श्रेष्ठ कपिलो नारदस्तथा॥
—वही, पत्र १

३—रामकथा (बुल्के), पृ० १०४

ग्रंथ मानते हैं। शृंगारिकता के विचार से उसमें 'भुशुंडिरामायण' और 'हनुमत्संहिता' की परंपरा ही निभाई गई है। इसका भी समय अबतक निश्चित नहीं हो सका है। डा० बुल्के ने इसका निर्माणकाल १६ वीं शती माना है। इससे अग्रदास के समकालीन युग मे इसकी सत्ता प्रतिपादित होती है।

इन प्रमाणों से यह प्रकट है कि, आगमों तथा साम्प्रदायिक-रामकाव्यों के प्रणेता, राममक्ति में उत्तरोत्तर माधुर्य का गहरा पुट देते आ रहे थे। अग्रदास ने इस विशाल साहित्य में बिखरे रसरत्नों को एकत्र किया और अपनी प्रखर-प्रतिभा के बल से उन्हें एक नये धागे में पिरोया। इसका कारण बहुत अंश तक तत्कालीन परिस्थितियों का आग्रह था। कृष्णभक्ति के प्रसार से बढ़ती हुई शृंगारी प्रवृत्ति मुसल्मानीशासन की छत्रछाया में समृद्ध हो चली थी। सूफी संतों के लिखे हुए प्रेमकथानकों तथा कबीरपंथियों की साखियों और शब्दों में उसके आध्यात्मिक रूप की अभिव्यक्ति निरन्तर हो रही थी। अतः इस क्षेत्र में भी एक प्रकार से शृंगारीसाधना युगधर्म का रूप धारण कर चुकी थी। परंपरा से प्रसिद्ध राम-कथा में ऐश्वर्य की ही प्रधानता थी। उसमें माधुर्य का जो अंश था वह प्रायः नगण्य समझा जाता था। जब तक वह इनेगिने एकान्तसेवी साधकों तक सीमित रहा तबतक तो कोई बात नहीं थी, किन्तु जब उसका व्यापकरूप में भक्तों के बीच प्रचार होने लगा तो, ऐसा जान पड़ता है कि, सबसे पहले कृष्णभक्त, उनके प्रतिस्पर्धी के रूप में सामने आये। श्रीकृष्ण लीलावतार थे, उनमें मर्यादापुरुषोत्तम की अपेक्षा शृंगाराधिक्य स्वाभाविक था। 'आनंदरामायण' में दिया हुआ रामकृष्णोपासक-संवाद इस स्थिति को स्पष्ट कर देता है।[1] हो सकता है ऐसे अवसरों पर रामभक्त हीनभाव का अनुभव करते रहे हों। अतएव अग्रदास ने राम-रसिकों का एक साम्प्रदायिक संगठन कर, उन्हें कृष्णभक्तों के गोलोक से भी अधिक वैभवपूर्ण, साकेत अथवा दिव्य अयोध्या के लीलाविहारी सीताराम का ध्यान करने का उपदेश दिया। कृष्णभक्ति में भगवान की लौकिक लीलाओं को प्रधानता दी जाती थी, रामभक्ति की इस धारा में उनका अलौकिक अथवा दिव्य साकेतविहार ही प्रमुख माना गया। परवर्ती रसिक साधकों की रचनाओं में इसका पूर्ण विकास हुआ।

१—आनंद रामायण—राज्य कांड, पृ० १९२—१९६

सुंदरमणिसंदर्भ के रचयिता मधुराचार्य को भी इस प्रकार के अनेक शास्त्रार्थों में भाग लेना पड़ा था। (देखिये सुंदरमणिसंदर्भ, पृ० ७)

नाभादास की रसिक-भक्ति

हिन्दी साहित्य में प्रथम 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास, अग्रदास के शिष्य थे। इनकी उपासना किस भाव की थी, यह इनके 'अष्टकालचरित' (अष्टयाम) की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है—

हा रघुनंदन चंदन सीतल अङ्ग।
विकल बाल-विरहनियाँ बिन पिय संग॥
सखि मनमोहन सोहन जोहन जोग।
छोहन ज्ञियत जियरवा भामिनि भोग॥
कलित अङ्गसुख आभहिं 'नाभहिं' देहु।
पीतम लाल पियरवा यह जस लेहु॥[1]

नाभादास की इस माधुर्यासक्ति को देखकर ही प्रियादास ने उन्हें 'नाभाअली' के नाम से अभिहित किया है।

पंच रस सोई पंच रस फूल थाके नीके,
पीके पहिराइवे को रचिकै बनाई है।
बैजयंती दाम भाववती 'अलि-नाभा' नाम
लाई अभिराम स्याम मति ललचाई है॥
धारी उर प्यारी कहूँ करत न न्यारी,
अहो देखि गति न्यारी ढरि पायन को आई है।
छवि भक्तिभार तातें नमित शृङ्गार होत
होते वश लसै जोई याते जानि पाई है॥[2]

नाभा जी को प्रियतम की 'अली' अथवा 'सखी' का यह पद, जिनकी कृपा से प्राप्त हुआ, इसका संकेत वे स्वयं कर गये हैं—

श्री अग्रदेव करुना करी, सियपद नेह बढ़ाय।
'नाभा' मन आनद भो, महल-टहल नितपाय॥
अली चारुशीलादि जे, चन्द्रकलादिक बाम।
जुगललाल-सिय-सहचरी, रसमें जिनके नाम॥
तिनकी कृपा कटाक्ष ते, 'अग्र' सुमति गुरु पाय।
'नाभा' उर आनद लहे, रसिक जनन गुण गाय॥[3]

१-खोज रिपोर्ट १९०९-११, भाग २, पृ०१०६७
२-भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० २४
३-अष्टयाम (अष्टकालचरित), पृ० ४२

यहाँ दंपति की 'चारुशीला' और 'चन्द्रकला' इन दो सखियों को प्रधान स्थान देकर नाभा जी ने आगे चलकर इनके नाम पर रसिक सम्प्रदाय में दो पृथक् शाखाओं के स्थापित होने की पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

भक्तमाल के चार प्रमुख रसिक रामभक्त

नाभादास ने भक्तमाल में कतिपय माधुर्योपासक रामभक्तों के चरित अंकित किये हैं।[1] इनका परिचय आवश्यक प्रतीत होता है।

१ मानदास

इनमें प्रथम हैं, मानदास। इन्हें 'उज्ज्वलरस' की लीलाओं का गायक और राम की 'गोप्यकेलि' का प्रचारक बताया गया है—

> गोप्यकेलि रघुनाथ की मानदास परगट करी।
> करुना बीर सिंगार आदि उज्ज्वल रस गायो॥
> पर उपकारक धीर कवित कविजन मन भायो।
> कोशलेश पद कमल अननि दासत व्रत लीनो॥
> जानकि जीवन सुजस रहत निसिदिन रँग भीनो।
> रामायन नाटक की रहसि, उक्ति-जुक्ति भाषा धरी।
> गोप्यकेलि रघुनाथ की, मानदास परगट करी।[2]

मुंशी तुलसीराम ने 'भक्तमाल प्रदीपन' नामक ग्रंथ में उपर्युक्त तथ्यों की कुछ विस्तार से व्याख्या की है जिससे मानदास की भक्ति भावना का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। वे लिखते हैं, कि "जानकीजीवन महाराज के जो चरित्र रामायन और हनोमान नाटक और दीगर रामायनों में पोशीदा लिखे हैं उनको मानदास जी ने भाषा में इस लुत्फ व शायरी से बयान किया कि हर एक को मराक्त और फायदह बख्श हर दो जहाँ के हैं। अगर च जुमला नौ रस अपने ग्रंथ में मुफस्सल बयान किये लेकिन भगवत का शृङ्गार और माधुर्य रस ऐसा बयान किया कि जिसके पढ़ने सुनने से बिलजरूर भगवत सरूप में तबीयत लग जाती है। और जो बजायद शृङ्गार के श्रीकृष्णचरित्र में उपासकों ने बयान किये हैं उसी तरह रामचरित्र में मानदास ने बयान किया।"[3]

१—विचार विमर्श, पृ० १११
२—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ७८२
३—भक्तमाल प्रदीपन (तुलसीराम), पृ० ३३५

२. मुरारिदास

दूसरे हैं, मुरारिदास। ये मारवाड के बिलौंदा नामक ग्राम के निवासी थे। इन्होंने पैरों में घुँघुरू बाँधकर 'रामलीला' में कीर्तन करते हुए शरीर छोड़ा था।

कृष्ण विरह कुन्ती सरीर त्यौं मुरारि तन त्यागियो।
बिदित बिलौंदा गाँव देस मरुधर सब जानै॥
महा महोच्छौ मध्य संत परषद परवानै।
पगन घूँघुरू बाँधि राम को चरित दिखायौ॥
देसी सारंग पानि हंस ता संग पठायौ।
उपमा और न जगत में, पृथा बिना ना दिन वियो।
कृष्ण विरह कुन्ती सरीर, त्यौं मुरारि तन त्यागियो॥[1]

३. खेमालरतन राठौर

तीसरे हैं, खेमालरतन राठौर। ये श्रीरामचन्द्र जी की रसमय लीलाओं के गायक और 'दसधा' भक्ति के साधक कहे गये हैं।

खेमाल रतन राठौर के अचल भक्ति आई सदन।
रैना पर गुन राम भजन भागौत उजागर।
प्रेमी परम किसोर उदर राजा रतनाकर॥
हरि दासन के दास दसा ऊँची ध्वजधारी।
निर्भै अनंनि उदार रसिकजस रसना धारी॥
दसधा संपति संत बल, सदा रहत प्रफुलित बदन।
खेमालरतन राठौर के, अचल भक्ति आई सदन॥[2]

४. प्रयागदास

चौथे, प्रयागदास हैं। ये अग्रदास जी के शिष्य और अनन्य रामभक्त थे। आराध्य की रसमयी क्रीडाओं से भक्तों का अनुरंजन करने के लिये, ये रासरास का आयोजन किया करते थे और स्वयं भी उसमें भाग लेते थे—

श्री अगर सुगुरु परताप तें पूरी परी प्रयाग की।
मानस वाचक काय राम चरणनि चित दीनों।
भक्तन को अति प्रेम भावना करि सिर लीनो॥
रासमध्य निर्जान देह दुति दसा दिखाई।
'आड़ो चलियो' अंक महोछौ पूरी पाई॥

1—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ७५७
2— वही , पृ० ७३८

क्यारे कलस औंडी धुजा विदुप डालाधा भाग की।
श्री अगर सुगुरु परताव ते, पूरी परी प्रयाग की॥[1]

मुक्तामणिदास की रसिकता

इन भक्तों के अतिरिक्त इस काल के एक अन्य रसिक महात्मा मुक्तामणिदास का परिचय भवानीदास ने 'गोसाईंचरित' में दिया है। ये तुलसी के समसामयिक थे। गोस्वामी जी से इनकी भेंट अयोध्या में हुई थी। उस समय इन्होंने उन्हें निम्नलिखित पद सुनाया था—

शयन करहु रघुबीर पियारे।
हौं पठई आई कौसिल्या बड़े भूप उठि भवन सिधारे॥
युगल याम यामिनि बीती है नयनहु नींद भरे रतनारे।
प्रफुलित सरद कोकनद मानो मन्द समीर मलय कर धारे॥
रत्न जटित मणिमय मंदिर महँ रचि सुचि सोभित जनक सुतारे।
मग जोवत सहचरी सिया की सयन उचित सब सौंज सँवारे॥
अति आलस बस भये भरत युत लखन लाल रिपुहन उजियारे।
सुनत सकल दै पान विदा करि उठे 'दास मुक्तामनि' वारे॥[2]

कहना न होगा कि उपर्युक्त पद शयनसमय की आरती का है, जो रसिकों की अष्टयाम सेवा का अंतिम अंग है।

रामभक्तों के ये चरित्र रसिकभक्ति की एक परंपरा के द्योतक हैं, जो भक्तमाल के समय तक पूर्णविकसित हो चुकी थी और जिसके आचरण में समाजगत ऐसी तत्परता दिखाई जा रही थी। नूपुर बाँधकर रामकीर्तन करना और रामरास का आयोजन करना इसी का द्योतक है।

तुलसी में रसिक भाव

अपने चतुर्दिक् प्रवाहित रसिकधारा की इन हिलोरों से तुलसी का बचा रहना संभव न था। इनके साहित्य में ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं, जो इस बात के साक्षी हैं, कि ये रसिक साधना के समर्थक थे और किसी समय उसके साधक भी रहे हों तो आश्चर्य नहीं।

गोस्वामी जी अपने 'तुलसी' नाम को (वृन्दा-विष्णु के सम्बन्ध से) सौभाग्य

१—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ८७०
२—गोसाईंचरित, पत्र १०२, १०३

सूचक समझते हैं,[1] और उसके महत्त्व से वे पूर्णतया परिचित दिखाई देते हैं।[2] रामविवाह के अवसर पर जनकपुर की सखियों से उनका उद्देश्यसाम्य कवितावली के निम्न छंद से व्यक्त होता है—

लोचनाभिराम घनश्याम रामरूप सिसु,
सखी कहै सखी सो तू प्रेम पन पालि री।
बालक नृपाल जू के ख्याल ही पिनाक तोर्यो,
मंडलीक मंडली प्रताप दाप दालि री॥
जनक को सिया को हमारो तेरो तुलसी को,
सबको भावतो ह्वै है मैं जो कह्यो कालि री।
कौसिला की कोखि पर तोपि तन वारियेरी,
राय दसरत्थ की बलैया लीजे आलिरी॥[3]

उनका 'सीतापरत्व' भी कवितावली के ही एक दूसरे छन्द से स्पष्ट हो जाता है। यहाँ वे अपने को सीता का दास मानते हैं।

हनुमान ह्वै कृपालु, लाडिले लषन लाल,
भावते भरत कीजे सेवक सहाय जू॥
विनती करत दीन दूबरो दयावनो सो,
बिगरे ते आप ही सुधारि लीजे भायजू॥
मेरी साहिबिनि सदा सीसपर विलसति,
देवि क्यों न दास को देखाइयत पाय जू।

१—जातुधान भालु कपि केवट बिहंग जो जो,
पाल्यो नाथ सद्य सो सो भयो कामकाज को।
आरत अनाथ दीन मलिन सरन आये,
राखे अपनाइ, सो सुभाव महराज को॥
नाम तुलसी पै भोंडे भाग, सो कहायो दास,
किये अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को।
साहेब समर्थ दसरत्थ के दयालु देव,
दूसरो न तोसों तुही आपने की लाज को॥
—तुलसीग्रंथावली द्वि. ख,पृ० २०० (कवितावली उत्तरकांड छ. १२)

२—भलो भले सो छल किये, जनम कनौड़ो होइ।
श्रीपति सिर तुलसी लसति, बलिबावन गति सोइ॥
—वही, पृ० १२६ (दोहावली छं० ३९५)

३—वही, पृ० १५८ (कवितावली बालकांड छं. १२)

खीझहू में रीझिबे की बानि, राम रीझत हैं,
रीझे हैं हैं राम की दुहाई रघुराय जू ॥[1]

अपनी इन्हीं 'साहिबिनि' से, वे स्वामी से अपराध क्षमा कराने की प्रार्थना करते हैं और इस प्रकार सीता जी के पुरुषकारत्व की शरण लेते हैं—

कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरियौ सुधि द्याइबी कछु करुण कथा चलाइ ॥
दीन सब अँगहीन छीन मलीन अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु दासी दास कहाइ ॥
बूझिहैं सो कौन है ? कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत रामकृपालु के मेरी बिगरियौ बनि जाइ ॥
जानकी जग जननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै 'तुलसीदास' भव तव नाथ गुन गन गाइ ॥[2]

आचार्य पं० चन्द्रबली पाण्डे का विचार है कि यहाँ 'प्रभु दासी दास' का अर्थ प्रभु की दासी—तुलसी, का दास अर्थात् तुलसीदास भी हो सकता है और प्रभु की दासी और दास दोनों नामों से प्रसिद्धि भी।[3] दासी रूप में वे तुलसी हैं और दास रूप में तुलसीदास।

उनका सखी रूप गीतावली में पूर्णरूप से प्रकाश में आया है। उसका एक पद है—

जैसे ललित लखन लाल लोने।
तैसिये ललित उरमिला परसपर लखत सुलोचन कोने ॥
सुखमा सागर सिंगार सार करि कनक रचे हैं तिहि सोने।
रूप प्रेम परिमिति न परत कहि विथकि रही मति मौने ॥
सोभा सील सनेह सोहावने समउ केलिगृह गौने।
देखि तियनि के नयन सफल भये तुलसी दास हू के होने ॥[4]

'केलि गृह' की झाँकी से 'तियनि' का 'नयन सफल' करना तथा तुलसी का उस दृश्य के प्रति औत्सुक्य प्रकट करना, उनकी मधुर साधना की ओर

१—तुलसी ग्रन्थावली—द्वि० सं०, पृ० २३१ (कवितावली-उत्तरकाण्ड—छन्द १३६)
२—वही द्वि० सं०, पृ० ४७५ (विनय०—छं० ४१)
३—नयासमाज, सित०—१९५२, पृ० १९०—१९१ में प्रकाशित 'तुलसी की गुह्यसाधना' शीर्षक लेख (पं० चन्द्रबली पाण्डे)
४—तुलसीग्रन्थावली, द्वि० सं०, पृ० ३२५ (गीतावली बालकाण्ड, छं० १०५)

संकेत करता जान पड़ता है। अग्रदास जी रसिक साधकों के लिये 'शयनागार' की झाँकी के चिंतन की व्यवस्था, अपने अष्टयाम में, इस प्रकार देते हैं—

एवं विहरते रामो रामारामसमनोरमं ।
सौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्यमेव च ॥
सरयूकूलरासरथकौतुकानेकरूपवान् ।
शयनागारगमनं चिंतयेत ततः परम्[1] ॥

'गीतावली' में ही अन्यत्र उन्होंने वनयात्रा के प्रसंग में ठीक उसी स्थल पर जहाँ 'मानस' में एक 'तापस' आता है, कहीं से आकर सहसा उपस्थित एक स्त्री की प्रेमविह्वलता का अंकन किया है—

सखिहिं सुसिख दई प्रेम मगन भई।
सुरति बिसरि गई आपनी ओही॥
तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी सी काढ़ी।
न जाने कहाँ ते आई कौन की कोही[2] ॥

स्वामिनी सीता के कृपादृष्टि से उसे देखने और हृदय से लगाने का भी उल्लेख हुआ है—

सनेहसिथिल सुनि वचनसकलसिय,
चितई अधिक हित सहित ओही।
तुलसी मनहुँ प्रभु कृपा की मूरति फिरि,
हेरि कै हरषि हिये लियो है ओही।[3]

इस प्रसंग में सहसा सीताराम के समक्ष प्रस्तुत होने वाली तथा सीता जी द्वारा हृदय से लगाई जाने वाली, इस स्त्री को यदि 'तापस' की भाँति तुलसी से अभिन्न मान लिया जाय, तो कहा जा सकता है, कि मानस में, उनका आराध्य के प्रति आत्मनिवेदन, दास्यभाव का था किन्तु गीतावली में उनका आत्मसमर्पण माधुर्यभाव से प्रेरित था। पहले वे दास्यनिष्ठा के अनुसार इष्टदेव के चरणों पर गिरे थे किन्तु इस बार माधुर्यभावसम्पन्न सखीरूप में वे स्वामिनी सीता के हृदय से लगे। कारण कि रसिकसिद्धान्त के अनुसार सखियाँ सीता के पुरुषकारत्व से ही प्रभुसेवा की अधिकारिणी होती हैं। अज्ञात स्त्री का यह प्रसंग कदाचित् इसी तथ्य

१—अष्टयाम (अग्रदास) छं० १४७ तथा १५१
२—तुलसीग्रन्थावली, द्वि० ख०, पृ० ३३३ (गीतावली अयोध्याकांड-छं० १९)
३— तु० ग्रं०, द्वि० ख०, पृ० ३३४ (गीतावली अयोध्याकांड, छं० १९)

का समर्थन करता है।[1]

गीतावली में प्रिया के 'प्रेम रस में पगे' हुए अपने 'इष्टदेव' की 'रसिक मुद्रा' का अंकन वे इन शब्दों में करते हैं—

भोर जानकीजीवन जागे।
सूत मागध प्रवीण वेणु धुनि द्वारे गायक सरस राग रागे॥
स्यामल सलोने गात आलस बस जम्हात प्रिया प्रेम रस पागे।
उनींदे लोचन चारु सुषमा सिंगारु हेरि-हेरि हारे मार भूरि भागे॥
सहज सुहाई छवि उपमा न लहै कवि मुदित विलोकन लागे।
तुलसीदास निसिवासर अनूप रूप रहत प्रेम अनुरागे॥[2]

जिस प्रसंग में यह छन्द कहा गया है, रसिकों की अष्टयाम सेवा में उसे प्रातः उत्थापनसमय की आरती का कृत्य कहते हैं। तुलसी के समकालीन रसिक भक्त 'नाभादास' का इसी अवसर के लिये लिखा गया एक पद लीजिये और देखिये कि दोनों में कितना साम्य है—

जागे रघुनाथ जानकी आलस भारी।
सर्मित हैं सुरत राग अरुन लोचन अति जम्हात
ग्रीवा भुज उभै मेलि प्रीतम पिय प्यारी॥
लटपटी सिरपाग लाल के स्याम वदन,
वर्षाऋतु दिनकर मनो अर्भक उन्हारी।
जाल रंध्र निरखन सुख कुँवरि की नकवेसरि,
अटकी लटकी कर आपु सँवारी॥
सुन्दर सोहागनिधि जस पूरि रह्यो विश्व मध्य,
स्ववस किये रामचन्द्र नहिं त्रिभुवन ऐसी नारी।
गौर स्याम मनभिराम वारि फेरि कोटिकाम,
जीवन फल देखि देखि 'नाभो' बलिहारी॥[3]

गीतावली के चित्रकूट-प्रसंग में तुलसी ने रसिकों की शैली में आराध्य युगल के 'माधुरी-विलास' का भी वर्णन किया है—

विरचित तहँ पर्नसाल, अति विचित्र लखनलाल,
निवसत जहँ नित कृपाल राम जानकी॥

१— देखिये—'तुलसीदास की गुह्य साधना' शीर्षक श्री चन्द्रबली पांडे का लेख 'नया-समाज' सितम्बर १९५६

२—तुलसी ग्रंथावली—द्वि० सं०, पृ० ४०२ (गीतावली, उत्तर कांड, छं० २)

३—फुटकर पद

निज कर राजीव नयन पल्लव दल रचित सयन।
प्यास परसपर पियूष प्रेम पान की॥
माधुरी विलास हास, गावत जस तुलसिदास।
बसति हृदय जोरी, प्रिय परम प्रान की॥[1]

तुलसी की कृतियों में, माधुर्यचित्रण के दृष्टिकोण से, 'बरवैरामायण' का भी महत्त्व है। इसकी विशेषता है, उनके सीतापरत्वविषयक भावों की अभिव्यक्ति। संयोगवश इस प्रकार के भावों की व्यंजना सखियों के ही माध्यम से हुई है। रसिक सम्प्रदाय में सखियाँ सीताराम की रूपासक्त उपासिकायें मानी जाती हैं। 'बरवैरामायण' का आरंभ ही उनके इस भाव को स्पष्ट कर देता है। वे 'युगलसरकार' के रूपलावण्य पर मुग्ध दिखाई गई हैं—

सिय मुख सरद कमल सम किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसिदिन यह बिगसाइ॥
बड़े नयन, कटि, भ्रकुटी, भाल बिसाल।
तुलसी मोहत मनहिं मनोहर बाल॥[2]

यह तो हुआ सीता के सौन्दर्य का चित्रण। अब राम के माधुर्य-विग्रह पर उनकी मुग्धता देखिये—

तुलसी बंक बिलोकनि, मृदु मुसकानि।
कस प्रभु नयन कमल अस कहौं बखानि॥
कामरूप सम तुलसी राम सरूप।
को कवि सम करि सकै परै भव कूप॥[3]

इस प्रकार प्रिया-प्रियतम की अंग-शोभा का निरीक्षण कर लेने पर उनके मन में तुलना की इच्छा जागरित होती है। और इस स्थिति में वे सभी प्रकार से सीता जी को ही प्रधानता देती हैं। उनकी खुली चुनौती है—

गरब करौ रघुनंदन जनि मन माँह।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह॥[4]

यही नहीं वे दंपति से हासपरिहास भी करती हैं—

उठी सखी हँसि मिसकरि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भये उनीदे नैन॥[5]

१—तुलसी ग्रंथावली—द्वि० सं०, पृ० २५५ (गीतावली, अयो०, छं० ४४)
२—तु० ग्रं० द्वि० सं०, पृ० १९
३— वही, पृ० २०
४—तु० ग्रं०, द्वि० सं० पृ० २०
५— वही, पृ० २०

अयोध्याकांड की निम्नलिखित पंक्ति के भीतर उन्होंने 'राजभवन' में सीता के साथ राम के सुख विलास का भी उल्लेख किया है।

राज भवन सुख बिलसत सिय सँग राम।[1]

सुन्दरकांड में राम से सीता की वियोगदशा का वर्णन करते हुए हनुमान दास्यभाव की मर्यादा पार करते दिखाई देते हैं। 'स्वामिनी' की विरहजन्य कामभावना का चित्रण वे इस प्रकार करते हैं—

सिय वियोग दुख केहि बिधि कहउँ बखानि।
फूलबान ते मनसिज बेधत आनि ॥
सरद चाँदनी सँचरत चहुँदिसि आनि।
बिधुहि जोरि कर बिनवति कुलगुरु जानि॥[2]

संभव है ऐसे दृश्यों का विधान उनकी अंतस्थ रसिकभावना की प्रेरणा से हुआ हो।

प्रबन्धात्मकता के साथ संक्षिप्तता पर भी थोड़ी-बहुत दृष्टि रहने के कारण यहाँ इससे आगे वे न जा सके। संयोग की अपेक्षा 'बरवैरामायण' में वियोग शृङ्गार का रूप अधिक निखरा हुआ दिखाई देता है। संयोग में अलंकारपक्ष की प्रधानता है, वियोग में भावपक्ष की। स्वतंत्र वातावरण में इन दोनों की सफल योजना से शृङ्गार का एक परिष्कृत रूप, तुलसी साहित्य मे, यहीं मिलता है।

गीतावली से इसके माधुर्यचित्रण में थोड़ा भेद है। वहाँ आत्मनिवेदन की प्रमुखता थी, यहाँ रूपासक्ति की प्रधानता है। प्रिया-परत्व अथवा सीता जी की शरणागति की महत्ता दोनों स्थलों पर प्रतिपादित की गई है। वहाँ उनके आकर्षण का विषय था, दंपति का शील और यहाँ है, उनका अलौकिक सौंदर्य। युगल-निष्ठा की रक्षा दोनों स्थितियों में एक सी हुई है।

सम्भवतः तुलसी की साधना और साहित्य में इस प्रकार की माधुर्यभक्ति के सूत्र पाकर ही अनन्यमाधव ने उन्हें 'तुलसीसखी' की उपाधि दे दी। और उनको 'वृन्दासखी' का अवतार मान लिया। दास्यभाव के भक्त जिस प्रकार 'तुलसीदास' के रूप में उन्हें सर्वोपरि मानते हैं, उसी भाँति माधुर्योपासकों में वे 'तुलसीसखी' के रूप में समादृत हों, 'अनन्य' जी की यही कामना है—

सकल सखियन में सिरोमनि दास तुलसी तुम रहौ।
करौ सेवन रुचिर रुचि सों मुनस की बानी कहौ॥

× × ×

१— तु० प्र०, पृ० २० २—वही, पृ० २२

तुलसी सु वृन्दा सखी को निज नामते वृन्दासखी।
'दास तुलसी' नाम की यह रहसि मैं मन में लखी ॥[1]

ये अनन्यमाधव गोस्वामी जी के समकालीन थे। भवानीदास ने 'गोसाईं-चरित' में इनसे तुलसी की भेंट होने का भी वर्णन किया है और इनका निवासस्थान अवध में रसूलाबाद के निकट कोटरा नामक गाँव बताया है।[2] निम्नलिखित पंक्तियाँ स्वयं अनन्य जी की रसिकोपासना में आस्था व्यक्त करती हैं—

सुन्दर सियाराम की जोरी। वारौं तिहि पर काम करोरी॥
दोउ मिलि रंग महल में सोहैं। सब सखियन के मन को मोहैं॥[3]

एक समकालीन रसिकभक्त होने से तुलसीविषयक इनके वक्तव्य का कितना महत्त्व है, इसका निर्णय हम साहित्यिकों पर छोड़ते हैं।

ये तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास रसिक राममक्ति के व्यावहारिक एवं साधनात्मक दोनों पक्षों से अभिज्ञ थे और सम्भवतः राम से अपने अनेक 'नातों' में माधुर्यसम्बन्ध को भी स्थान देते थे। 'मानस' में शैली के अनुरोध से वे अपनी अनुभूतियों को संयमित रखने के लिये बाध्य थे किन्तु 'गीतावली', 'बरवै', 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' में जहाँ-कहीं कल्पना के मुक्तविलास का अवसर मिला है, उनके शृंगारी भावों की छटा देखते ही बनती है।

अकबर की रामभक्ति

राजपूताने में रसिकसाधकों की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा और अवध में तुलसी-साहित्य के व्यापक प्रचार का प्रभाव उदारमना अकबर पर भी पड़ा।[4] उसके द्वारा

१—ब्रजनिधि ग्रन्थावली, पृ० २७५—२७६ ('हरिपदसंग्रह' से)

२—निकट रसूला बाद के, ग्राम कोटरा नाम।
जहाँ अनन्य माधौ भये, विदित जासु गुन ग्राम॥
—गोसाईं चरित, पृ० ९४

३—ब्रजनिधि ग्रन्थावली, पृ० २७५

४—अकबर के सम्बन्धी और सेनानायक, जयपुर के महाराज मानसिंह अग्रदास जी के शिष्य थे। महाराज रघुराज सिंह ने गुरु के साथ इनके तीर्थाटन करने का भी उल्लेख किया है। इस यात्रा में अग्रदास जी के एक चमत्कार का वर्णन किया गया है।
मानसिंह जैपुर को राजा। सो अपनो लै सकल समाजा॥

रामभक्ति मे रसिक सम्प्रदाय

सम्राट अकबर द्वारा प्रचारित
'रामसीय भॅाति' की मुद्रायें

(१) कैबिनेट डे फ्रास (पृ० १११)

(२) ब्रिटिश म्युजियम (पृ० १११)

प्रचारित "रामसीय" भाँति की स्वर्ण एवं रजत मुद्राओं से यह स्पष्ट हो जाता है। अब तक इस भाँति के तीन सिक्कों का पता चला है—दो सोने की अर्धमोहरें और एक चाँदी की अठन्नी। इनमें एक सोने की अर्धमोहर, कैबिनेट डे फ्रान्स में है, दूसरी ब्रिटिश म्यूजियम में[1] और तीसरी चाँदी की अठन्नी भारत कलाभवन, काशी में संग्रहीत है।[2] यह (तीसरी मुद्रा) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल को लखनऊ के किसी व्यापारी से प्राप्त हुई थी। दोनों साँचों में एक ओर रामसीता की आकृति अंकित है और दूसरी ओर उनका प्रचलनकाल दिया हुआ है, जिससे पता चलता है कि उपर्युक्त दोनों भाँति की मुद्रायें भिन्न काल में और दो भिन्न साँचों में ढाली गई थीं—

राय आनन्दकृष्ण जी के लेख के आधार पर नीचे इसका विवरण दिया जाता है—

(१) सोने की दो अर्ध मुहरें (ब्रिटिश म्यूजियम और कैबिनेट डे फ्रास)

इनमें राम प्राचीन वेश में उत्तरीय तथा धोती धारण किये हुए और सीता लहँगा, ओढ़नी और चोली पहने, अवगुंठन को सम्हालती हुई दिखाई गई हैं।

इसका प्रचलनकाल ५० इलाही, फरवरदीन उत्कीर्ण है। ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित अर्धमोहर में चित और 'राम सीय' नागरी अभिलेख मिट गया है किंतु 'कैबिनेट डे फ्रास' की अर्धमुहर में वह ज्यों का त्यों बना हुआ है।

(२) चाँदी की अठन्नी (भारतकलाभवन काशी)।

इसमें सीताराम अकबरकालीन वेश में दिखाये गये हैं। राम, सिर पर तीन कगूरे वाला मुकुट, (जैसा अकबर के समय के ब्राह्मण देवताओं के चित्रों में प्राप्त होता है), घुटने तक जामा, दुपट्टा, जिसके दोनों छोर इधर-उधर लटक रहे

अग्रदास गुर आज्ञाकारी। रहै समीप चरण ब्रजधारी॥
एक समय तीरथ के हेतु। अग्र चल्यो बहु संत समेतु॥
—रामरसिकावली, पृ० ५७९

भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास ने भी मानसिंह और अग्रदास की एक भेंट का उल्लेख किया है।

अकबर के पास मानसिंह के द्वारा कील्ह और अग्रदास ऐसे पहुँचे हुए रसिक साधकों की चर्चायें अवश्य पहुँची होंगी।

१–कैटालाग आफ इण्डियन क्वायन्स इन दि ब्रिटिश म्यूजियम–प्लेट ५,सं०१७२

२–विशेष विवरण के लिये देखिये—श्रीआनन्दकृष्ण का लेख "रामसीय मुद्रा"—कलानिधि–वर्ष १–अंक ३

हैं, बायें हाथ में धनुष की कमानी को मध्य, जिसकी प्रत्यंचा भीतर की ओर है, पीठ पर तूणीर और दाहिने हाथ में धनुष पर चढ़ा हुआ बाण धारण किये हैं। उनकी अनुगामिनी सीता चुस्त चोली, लहँगा, ओढ़नी और हाथों में चूड़ियाँ पहने हैं। उनका बायाँ हाथ सामने उठा हुआ है और दाहिना पीछे लटकता है। उनके दोनों हाथों में फूल का गुच्छा है। रामसीता के ऊपर बीच में नागरी अक्षरों में 'रामसीय' अंकित है इसके पट की ओर "५० इलाही अमरदाद" लिखा हुआ है।

इससे यह विदित होता है, कि ये दोनों मुद्रायें, अकबर की मृत्यु के पहले, एक वर्ष के भीतर, उनके द्वारा प्रचलित इलाही सम्वत् के ५० वें वर्ष के दो भिन्न महीनों में प्रचलित की गई थीं।

अब यह प्रश्न उठता है कि 'रामसीय' भाँति की ये दो भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रायें उनके जीवन की किस स्थिति की परिचायक हैं। मोटे तौर से सीताराम का दाम्पत्य जीवन तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—विवाह के पश्चात् और वनगमन के पूर्व अयोध्या में व्यतीत होने वाला उनका गार्हस्थ्य जीवन, चौदहवर्षीय वनवास में सीताहरण से पूर्व का जीवन और लंकाविजय के पश्चात् उनके पुनर्मिलन के समय से लेकर सीता के द्वितीय वनवास के पहले तक उनका अयोध्या का राजैश्वर्यपूर्ण जीवन। इन तीनों के अन्तर्गत ही किसी अवस्था में उनकी स्थिति का अंकन उपर्युक्त दोनों प्रकार की मुद्राओं में हुआ है। यह स्पष्ट ही है कि इन तीनों में प्रथम तथा तृतीय स्थिति की क्रीडाभूमि अयोध्या रही है और मध्यवर्ती अवस्था 'वनलीला' की है।

सोने की मुहरों में दंपति की जिस मुद्रा का चित्रण हुआ है वह उनके गार्हस्थ्य जीवन के अधिक मेल में है। पति के पीछे चलती हुई सीता का दाहिना हाथ कमर पर रखना और बायें हाथ से घूँघट सभालना, उनके दाम्पत्य जीवन के आरंभिक काल की मुद्रा प्रतीत होती है। लज्जा का जो भाव इससे व्यक्त होता है, उसकी व्याप्ति इसी अवस्था में अधिक सगत जान पड़ती है। यह भी असंभव नहीं कि यह उनके चित्रकूट के वन-विहार की किसी स्थिति का द्योतक हो। अतः इसे प्रथम तथा द्वितीय अवस्था के अन्तर्गत मानना उचित होगा।

भारतकलाभवन काशी की अठन्नी में अंकित सीताराम की मुद्रा के विषय में मेरा यह विचार है कि इसमें उनके चित्रकूट अथवा पंचवटीवास के समय किये गये आखेट एवं वन-विहार का दृश्य अंकित है। यह स्मरणीय है

कि पचवटीवास के समय यह उस स्थिति का द्योतक नहीं माना जा सकता, जब सीता ने राम को सुवणमृग दिखाया था और उनकी प्रेरणा से वे उसके आखेट म प्रवृत्त हुए थे। यदि उस स्थिति से इसका सम्बन्ध होता तो सीता मृग को इंगित करती हुई दिखाई जातीं, किंतु प्रस्तुत चित्र में ऐसा कुछ लक्षित नहीं होता। सीता का, नि सकोच भाव से दोनों हाथों म फूल के गुच्छे लिये हुए, पति का अनुगमन करना, वन विहार का ही द्योतक हो सकता है। मेरा *अनुमान है कि इस लीला का क्षेत्र माने जाने की सभावना पचवटी से चित्रकूट*[1] की अधिक है। कारण यह है कि रामभक्तिसाहित्य में 'अहेरी' राम[2] की मुख्य क्रीडा भूमि तथा सीताराम की विहारस्थली के रूप म इसी स्थल की सर्वाधिक प्रतिष्ठा है। रसिकसाहित्य म चित्रकूटवासी राम तापस नहीं, राजैश्वर्यपूर्ण और नित्यरासलीलारत चित्रित किये गये हैं। तुलसी ने भी 'रामचरितमानस,' 'गीतावली' और 'विनय' म चित्रकूट का स्मरण दम्पति की विहारभूमि क रूप में किया है।[3]

उनके परवर्ती रामरसिकों ने भी उसे इसी रूप म देखा है।[4]

इस प्रकार दोनों भाँति की मुद्राओं म सीताराम की शृगारीभावना प्रकट होती है। उदार अकबर को इन माधुर्यव्यंजक दृश्यों के सिक्कों पर उत्कीर्ण करले

१— चित्रकूटसम नास्ति तीर्थं ब्रह्माण्डगोलके।
यत्र श्रीरामचन्द्रोऽसौ सीतया सहित सुखी॥
विमलादि सखीयुक्तो अणिमादिविभूषित।
महावरणसयुक्तो मदिरे रत्नभूषिते॥
सर्वं तस्यान्तरालेऽसौ विहार कुरुते सदा॥
—बृहत्चित्रकूटमाहात्म्य, ३।६

२— करि केहरि कपि कोल कुरगा। बिगत बैर बिचरहिं सब सगा।
फिरत अहेर राम छवि देखी। होहिं मुदित मृगवृन्द बिसेषी॥
—रामचरितमानस, अयोध्याकाड, पृ० २६७

३— अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि लोपित मगल मगु बिलसत बढ़त मोहमाया मलु।
भूमि बिलोकु राम पद अकित बनविलोकु रघुवर बिहार थलु॥
—तुलसी ग्रथावली द्वि० ख०, पृ० ४६६

४— चित्रकूट जहँ प्रिया रामचन्द्र। करत तहाँ नित रास कुसुदद।
कामद चित्रकूट के नामा। ताकर अर्थ सुनहु अभिरामा॥

की प्रेरणा रामभक्ति में बढ़ती हुई रसिकभावना से प्राप्त हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

राय आनन्दकृष्ण जी ने इन सिक्कों के प्रचलित करने का कारण, जीवन के अंतिम दिनों में उद्बुद्ध, अकबर की रामभक्ति बताया है। इनका प्रचलन उसने जिस किसी भाव से भी प्रेरित होकर कराया हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि उसकी 'रामसीय' में निष्ठा थी और उनके 'स्वरूप प्रचार' में वह प्रजा और राजा दोनों का हित देखता था। शताब्दियों पहले से भारतीय शासकों द्वारा शिलालेखों, मूर्तियों और मुद्राओं में प्रतिष्ठित विष्णु और कृष्ण को छोड़कर यवन शासक अकबर का 'रामसीय' के नाम पर सिक्का चलाना, इस देश के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना थी। जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक को ज्ञात है, किसी हिन्दू सम्राट् ने भी शासन कार्यों में सीताराम को इतना महत्त्व नहीं दिया था। इससे तत्कालीन समाज पर रामभक्ति के बढ़ते हुए प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है।

रामकाव्य में गतिरोध

तुलसीवाणी में चरम अभिव्यक्ति पाकर, उनके तिरोहित होते ही, रामभक्ति की सभी शाखाओं में सहसा एक दीर्घ गतिरोध उपस्थित हो गया और वह न्यूनाधिक मात्रा में लगभग एक शताब्दी तक बना रहा। इसके भीतर लिखे गये रामोपासनासम्बन्धी ग्रंथों की संख्या बहुत थोड़ी है। कोई उत्कृष्ट चरित काव्य तो मिलता ही नहीं। जो प्राप्त हैं, वे शृङ्गारी साधना से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसी परिस्थिति जिन अनिवार्य कारणों से उत्पन्न हुई, उनका विवेचन नीचे किया जाता है।

कामद जनकदुलारीके रूपा। चित्रकूट रघुनाथ सरूपा।
मन्दाकिनि तहँ बहति मोहनी। रसभूमि तहँ लसति सोहनी॥
कुञ्ज कुञ्ज जहँ रास विलासा। होत तहाँ लखि दम्पति निवासा॥
—नृत्यराघव मिलन, पृ० ३३

चित्रकूट चकभोर जहँ, रासस्थल सुभनूप।
यूथ यूथ अलिगन तहाँ, निवसहिं सुहृत सरूप॥
मंदाकिनी सरित सुखमूला। बहहि सदा नाशक सब शूला।
महारास तहँ नित प्रति होई। कृपापात्र जन जानत कोई॥
कोटिनि अमरावती विलासा। प्रगन्त जहँ सियराम निवासा॥
—वृ० उ० १०, पृ० ८३

धार्मिक असहिष्णुता

अकबर के बाद उसका उत्तराधिकारी जहाँगीर बहुत कुछ पिता की नीति का पालन करता रहा। उसने धार्मिक असहिष्णुता को अपना अस्त्र नहीं बनाया। किंतु गोस्वामी जी के साकेतवास के चार ही वर्षों के भीतर, १६२७ ई० में, उसकी भी जीवनलीला समाप्त हो गई। उसके साथ ही अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अंत हो गया और शाहजहाँ के शासनारूढ होते ही उस हिन्दूदमन नीति का सूत्रपात हुआ, जो औरंगजेब के शासन में पराकाष्ठा को पहुँची। हिन्दुओं की स्थिति अरक्षित और अशांतिमय हो गई। उनके सामाजिक जीवन पर नानाप्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये। मुगलशासन में पहली बार शाहजहाँ ने अपने को इस्लामेतर धर्मावलम्बियों का विरोधी घोषित किया।[1] महत्त्वपूर्ण पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति बंद कर दी गई।[2] उसने हिन्दुओं के तीर्थस्थानों पर भी वक्रदृष्टि रखी और मंदिरों को यत्र-तत्र नष्ट किया। साम्राज्य में नवीन मंदिरों का निर्माण १६३२ ई० में राजाज्ञा से बन्द कर दिया गया।[3] लाल कवि के अनुसार, शाहजहाँ के शासनकाल से ही, हिन्दुओं पर मुसलमानों का अत्याचार बढ़ने लगा था और एक के बाद दूसरे वीर तथा देशभक्त हिन्दूराजाओं के पतन से वे निरवलम्ब होने लगे थे।

> साहिजहाँ उमड्यो घन घोरा। चंपति झञ्झापवन झकोरा।
> जबते चंपति कियो पयानो। तब ते परयो हीन हिंदुवानो।
> लग्यो होन तुरकन को जोरा। को राखै हिंदुन को तोरा।[4]

औरंगजेब के शासन में स्थिति और भी बिगड़ गई। बलपूर्वक धर्म परिवर्तन, जजिया एवं तीर्थयात्रा करों से हिन्दू-जीवन यातनामय हो गया। तीर्थों को भ्रष्ट करने का तो जैसे उसने संकल्प ही कर लिया था। मथुरा के केशवदेव और काशी के विश्वनाथमन्दिर को नष्ट करने के साथ ही अयोध्या के मंदिरों पर भी उसकी शनिदृष्टि पड़ी। यहाँ त्रेता के ठाकुर का प्राचीन मन्दिर गिराकर उसके स्थान पर मस्जिद का निर्माण हुआ।[5] स्वर्गद्वार और राजा वेणु

१–दि रिलीजस पालिसी आफ मुगल एम्परर्स, पृ० ९६।९७

२–वही, पृ० ९८

३–वही, पृ० ४२१

४–मि० ब० वि०, पृ० ५९४

५–ए हिस्टारिकल स्केच आफ फैजाबाद तहसील, पृ० ४८

के सागर के पास अनेक मस्जिदों के ध्वंसावशेष, उनके मन्दिर सामग्री से निर्मित होने का पता आज भी देते हैं। औरंगजेब की इस हिन्दूविरोधी नीति का, 'छत्र प्रकाश' में, लाल कवि ने आँखों देखा वर्णन किया है।

> जब ते साह तख्त पर बैठे, तब ते हिन्दुन ते उर ऐंठे।
> महगे कर तीरथन लगाये, वेद देवाले निदरि ढहाए।
> घर घर बाँधि जेजिया लीन्हे, अपने मन भाये सब कीन्हे।[1]

अयोध्या के प्रति औरंगजेब के पूर्ववर्ती मुसलमान शासकों की भी नीति कड़ी रही है। राम की जन्मभूमि होने के कारण यह हिन्दू जीवन का मुख्य प्रेरणाकेन्द्र था। अतएव आरम्भ से ही उनका प्रयत्न इसके महत्व को नष्ट करने का रहा है।[2] मुहम्मद गोरी के सहायक शाह जूरन गोरी द्वारा अयोध्या के प्राचीन मन्दिरों को ध्वस्त[3] करने और दिल्ली के सुल्तानों का उसे अवध सूबे की राजधानी[4] बनाने का यही रहस्य था। मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर ने राणा सांगा के पतन के पश्चात् राम-जन्म भूमि का मंदिर गिरा कर १५२८ ई० में 'बाबरी मस्जिद' की वहीं स्थापना की। इस घटना के पश्चात् इस्लामी शासन का उस पर ऐसा आतंक छाया कि अकबर के उदार शासन में भी यहाँ कोई महत्त्व का मंदिर न बन सका। जो कुछ पहले के बचे रह गए थे उनमें अधिकांश औरंगजेब ने नष्ट कर डाले। हमारी समझ में अयोध्यापुरी की इस अरक्षित और संघर्षमय स्थिति का ही यह परिणाम था कि हिन्दू-हृदय में उसके प्रति अपार श्रद्धा बनी रहने पर भी इस काल में वह साधकों का प्रमुख आश्रय न रह सकी, केवल तीर्थरूप में उसकी ज्योति जगती रही। इस दशा में रामभक्तों का जीवननिर्वाह कठिन हो गया, जिससे वहाँ से उठकर वे जहाँ-तहाँ हिन्दू राज्यों में अपना स्थान बनाने लगे। तीर्थवासी साधकों के लिए इस समय की भयंकर स्थिति का चित्रण एक समकालीन रामभक्त महात्मा सूरकिशोर ने इन शब्दों में किया है—

१—भूषण का निम्नलिखित छन्द इसकी पुष्टि करता है—

> देवल गिरावते फिरावते निसान अली,
> ऐसे डूबे राव राने सबी गये लब की।
> गौर गणेश दिगबरा दिखाई देत,
> सिद्धि की सिधाई गई रही बात रब की॥—भू० ग्र०, पृ० १४०

२—डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ फैजाबाद, पृ० १७२

३—ए हिस्टारिकल स्केच आफ फैजाबाद तहसील, पृ० ५५

४—डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ फैजाबाद—पृ० १७२

जहँ तीरथ तहँ जमन बास पुनि जीविका न लहिये।
असन बसन जहँ मिलै तहाँ सतसंग न पैये ॥
राह चोर बटपार कुटिल निरधन दुख देहीं।
सहवासिन सन बैर, दूरि कहुँ बसैं सनेही ॥
कह 'सूर किसोर' मिलै नहीं, जथा जोग चाही जहाँ।
कलिकाल भसेब अति प्रबल हिय, हाय राम रहिये कहाँ[1] ॥

शासन की हिन्दू विरोधी नीति से परेशान होकर, तीर्थों में रहकर भजन करने वाले एकान्तसेवी संतों ने, नगरस्थ तीर्थों को छोड़कर, मुस्लिमप्रभाव से दूर निर्जन तीर्थों का आश्रय लिया। रामतीर्थों में ऐसे दो मुख्य स्थान थे—चित्रकूट और मिथिला। इनके अतिरिक्त गलता और रैवासा नामक दो अन्य महत्त्वपूर्ण पीठ थे, जो राम से सम्बद्ध न होने पर भी कृष्णदास, पयहारी, कील्हदास और अग्रदास ऐसे प्रसिद्ध रामभक्तों की तपोभूमि होने से तीर्थों के समान ही पवित्र माने जाते थे। ये चारों स्थान मुगल आतंक से रहित थे। राजपूताना औरंगजेब के शासनकाल में भी हिन्दूसंस्कृति का प्रधान गढ़ माना जाता था। जयपुर राज्य के प्रति तत्कालीन मुगलशासन अपेक्षाकृत उदार भी था, अतएव उसके निकटस्थ गलता और रैवासा, राम भक्तों के लिये अधिक निरापद स्थान थे। चित्रकूट, पर्वतीय प्रदेश में स्थित होने के साथ ही पन्ना, बाघवगढ़ ऐसे धर्मप्राण बुन्देल और बघेल[2] राज्यों से घिरा था। अतएव इस अशांति और अव्यवस्था के युग में भी साधकों के लिये वह एक शान्तिमय तीर्थ था। मिथिला मुगलराजधानी से दूर एकांत स्थान था, फिर भी मुस्लिम आतंक से इतना अप्रभावित नहीं था, जितना उसे होना चाहिये था। अतएव वहाँ के भक्त इस काल के पूर्व ही उसे छोड़कर इधर-उधर चले गये थे। फलतः मिथिला के तीर्थस्थान नष्ट होने लगे थे, जिनके उद्धार का कार्य महात्मा सूर किशोर ने किया। इस तथ्य का उल्लेख करते हुए 'युगल-प्रिया' जी कहते हैं—

भाविक सूर किसोर लली लालन मन भाये।
अटल भक्ति अविरल सुयोग रसरीति लखाये ॥

१—मिथिलामाहात्म्य, छं० १।
२—डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ बांदा, पृ० १६८।

काल कठिन मानस विमल, कलि उपमा कवि को रहत।
मणि भूमि अनादि उपास्य थल, मिथिला प्रगट कियो महत।[1]

सामाजिक-अधःपतन

परिवर्तित राजनीतिक स्थिति का तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक जीवन पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। औरंगजेब की कठोर राजनीतिक व्यवस्था के बावजूद, शासन के उच्च पदाधिकारियों, अमीरों और हिंदूराजाओं में व्यभिचार, मद्यपान[2] और विलासिता का प्रचार भीतर ही भीतर बढ़ता रहा।[3] इनके प्रभाव से सन्त-समाज मुक्त न रह सका। तीर्थों में जो साधु और पंडे इस काल में भी अपने परम्परागत धन्धों में चिपके थे, उनमें अधिकांश, धर्म और नैतिकता को तिलांजलि देकर यात्रियों को मूसने और ऐहिक वासनाओं की तृप्ति में शासक-वर्ग का अनुकरण करते थे। समाज इन दम्भियों को गुरु मानकर पूजता था। सच्चे सन्त इस समय भी थे, किन्तु इनके आगे उन्हें पूछता ही कौन![4] धर्मशास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना राजाज्ञा से निषिद्ध हो गया था।[5] अतएव हिन्दूसमाज पर से धर्मग्रन्थों का नैतिक प्रभाव एक प्रकार से उठ चला था। ऐसी दशा में क्या वेद-पुराण, क्या साधु-सन्त, और क्या तीर्थ-व्रत, किसी में इतनी शक्ति

१—रसिक प्रकाश भक्तमाल, पृ० २०।

२—हिस्ट्री आफ् औरंगजेब, भाग ५, पृ० ४६०

३—ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इन्डिया, पृ० ६५३

४—बाल अली जी ने इस स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है—

> बनि पद गुर घर घर में डोलैं। जे गुर मूढ़ रहैं अत बोलै।
> केतक गुर सिर जटा बढ़ाई। हिये पोल गाड़ी भर छाई॥
> केतक परहिं महा मठ देखी। कहैं यही गुरु सिद्ध विसेषी।
> केतक सुन्दर रूप निहारी। कहैं मिले गुर आप बिहारी॥
> पंच अगनि में तपत निहारी। होंहि सिष्य केते नर नारी।
> झारा फूँकी जो बहु करै। तिनकौं हरिहि मानि उरधरैं॥
> केतक गुरु ध्यानें धरि चालैं। वस्तु न करैं पेट को पालैं।
> केतक गुरु बहु वेष बनावहिं। बाजगुरी ज्यों लोक रिझावहिं॥
> माया अन्ध अमित गुरु ऐसे। सूधे साधु बहुत पुनि तैसे।
> जे निरदम्भ सकल गुन खानी। तिनकी किउ नर सुनहि न बानी।
>
> —सिद्धान्त तत्वदीपिका बालअली, पत्र ३९

५—दि रिलीजस पालिसी ऑफ दि मुगल एम्परर्स, पृ० १३०

न रह गई थी, जो तत्कालीन ह्रासोन्मुख आध्यात्मिकता का उद्धार कर सकता। सूर किशोर जी ने, प्रसिद्ध तीर्थों और स्थानों को छोड़कर, अपने मिथिला आगमन के कारणों का विश्लेषण करते हुए, समाज की इस अधोगति की ओर संकेत किया है।

कलि काल चढ़्यो दल जीति चढ़्यो,
सब वेद पुरान भये सिथिला।
साधु के ठौर असाधु बसैं,
सुथला जेइ ठौर भये कुथला।
वरनाश्रमधर्म विचार गये,
द्विज तीरथ देव भये निथला।
रही ठौर न और कहूँ जग में,
तब सूर किसोर तकी मिथिला॥[1]

सांप्रदायिक-संघर्ष

इसी समय राममक्तों को एक अन्य संकट का भी सामना करना पड़ा। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक रामानंदीयवैष्णवों का एक विशाल समुदाय उत्तर भारत में तैयार हो गया था। राजपूताना इसका प्रधान क्षेत्र था। पहले से ही वह शैवों का भी मुख्य गढ़ बना चला आ रहा था। अतएव औरंगजेब के शासन के कुछ पूर्व से ही सैद्धान्तिक विरोध के कारण इन दोनों सम्प्रदायों में संघर्ष आरंभ हो गये थे।[2] रामानंदीय साधु—वैरागी, तथा शैव—दसनामी, गोसाईं इत्यादि नामों से पुकारे जाते थे। शैवों में औघड़, कनफटे, और नागे भी शामिल थे। शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित इनकी बड़ी-बड़ी जमातें वैष्णव तीर्थों पर आक्रमण कर साधुओं को दंड देती थीं और उन्हें कंठीमाला, तिलक आदि वैष्णवी चिन्हों को त्यागने पर विवश करती थीं। उनके आतंक से वैष्णव धर्म के लुप्त हो जाने का भय पैदा हो गया था।

प्रेमलता जी ने इन वैष्णवविरोधी गोसाइयों के नेता "लच्छीगिरि" के अत्याचारों का वर्णन करते हुए लिखा है—

लच्छीगिरि यक भयउ गोसांईं। प्रभु पद विमुख कंस की नाईं॥
लै सहाय बहु यती गोसांईं। बहु वैस्नव मारेउ बरियांईं॥

१—मिथिलामाहात्म्य—छं० ८
२—रामदल की विजय थी, पृ० १

शस्त्र लिये धावत जग डोलैं। मारहिं निदरि वचन कटु बोलैं॥
उमगेउ खल जिमि नदी तलावा। वैस्नव धर्महिं चहत उड़ावा॥'

दसनामी गोसाइयों द्वारा अयोध्या पर किये गये एक आक्रमण का उल्लेख महात्मा रामप्रसाद के जीवनवृत्त 'श्रीमहाराजचरित' में मिलता है। यह हमला रामनवमी महापर्व के अवसर पर हुआ था। हजारों की संख्या में दूर-दूर के रामभक्त वहाँ एकत्र हुए थे। संयोगवश रामप्रसाद जी भी उस समय वहाँ उपस्थित थे। संक्षेप में चरितकार के शब्दों में घटना यों कही गई है—

वही समय सम्मत जो गावा। राम जन्म अवसर जब आवा।
जुरे लोग कोसलपुर जाई। बरनि को सकै भीर बहुताई॥
तहँ वेष-संन्यास अपारा। आयुध धरे बीर बरियारा।
जटा बिभूति धरे सब अङ्गा। अनी अपार सुभट रन रंगा॥
वैरागिन सन बैर विचारा। व्यर्थ वैर बिन किये बिचारा।
कीन्ह अनीति तहाँ तिन जाई। वेष विराग भये दुखदाई॥
गयो निकसि सब वेष विरागा। तिनके त्रास अवधपुर त्यागा।
जहँ वैराग वेष कहुँ पावहिं। ताहि भाँति बहु त्रास देखावहिं॥
तिनके डर सब लोग डेराने। जहँ-तहँ बैठि यकंत लुकाने।
बदलि वेष निज छाप छिपाई। कोउ निज भाँति न देहि देखाई॥[2]

'श्रीमहाराजचरित' के रचयिता रघुनाथप्रसाद जी महात्मा रामप्रसाद के शिष्य थे। अतएव इस घटनाविषयक उक्त ग्रन्थ की प्रामाणिकता असंदिग्ध है।

गोसाइयों से वैष्णवों की रक्षा के लिये, जयपुर की रामानन्दी गद्दी के तत्कालीन आचार्य, बालानन्द ने, चारों सम्प्रदायों के वैष्णवों को संगठित किया और उनकी एक सभा वृन्दावन में बुलाई।[3] इसके निर्णयों के अनुसार वैष्णव संगठन को सैनिक रूप दिया गया। किन्हीं कारणों से कृष्णभक्तों और रामानुजीय आचार्यों के बीच यह योजना प्रगति न कर सकी, किन्तु रामानन्दीय सम्प्रदाय के विभिन्न वर्ग 'अनी' (सेना) तथा "अखाड़ों"[4] के नाम से संगठित किये गये

१—बृहद् उपासना रहस्य, पृ० १२६–१२७
२—श्रीमहाराज चरित्र, पृ० ४२–४३
३—रामादल की विजय थी, पृ० ८
४—अखाड़ा 'अखंड' शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है। वैष्णवों के चार वर्गों में विभक्त हो जाने से उनमें काफी मतभेद चलता था। शैव उनकी इस आपसी फूट का लाभ उठाकर उन्हें तंग किया करते थे। बालानंद जी ने

और इसी आदर्श के अनुकूल उन्हें सैनिक तथा मल्ल शिक्षा देने की व्यवस्था की गई।[1] इससे कुछ ही दिनों में रामानंदीय वैष्णव बहुत शक्तिशाली हो गये और दशनामी गोसाईं संघर्षों में उनसे पराजित होने लगे। इस प्रकार स्वामी बालानंद ने वैष्णवसंप्रदाय का पुनः उद्धार किया। इसीलिये संप्रदाय में वे हनुमान के अवतार माने जाते हैं—

यहि विधि बीते जब बहुकाला। सिय प्रेरित तब हनुमत बाला।
प्रगटेउ वैस्नव कुल अभिरामा। स्वामी बालानंद सुनामा।

पारस्परिक भेदभाव की उपेक्षा करके उन्हें एक सूत्र में बांधने के लिये ही 'अखाड़ों' की प्रथा चलाई थी। इनके द्वारा संगठित होकर वे प्रतिपक्षियों से अपनी रक्षा के साथ ही तीर्थों की भी प्रतिष्ठा बचाने में समर्थ हुए।

सांप्रदायिक साहित्य में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

नाहमादिखंडो यत्र स अखंड उदाहृतः।
चतुर्णां सम्प्रदायानां अखंडाः सप्त वै मताः॥
अखंडसंज्ञासंकेतः कृतो धर्मविवृद्धये।
बालानंदप्रभृतिभिः संप्रदायानुसारिभिः॥

—भजनरत्नावली, पृ० ३०४

१—अखाड़ों में प्रविष्ट होने वाले साधुओं को क्रम से प्रशिक्षण की छः स्थितियों से गुजरना पड़ता है। इनमें प्रत्येक स्थिति की अवधि तीन वर्ष की होती है। पूर्वाचार्यों ने इनका क्रम और साधकों की सेवा का स्वरूप निम्नलिखित प्रकार से निर्धारित किया है—

(क) छोरा—अपने से बड़े नागा अतीतों की सेवा करता है। वह दातून लाता है, जल देता है, स्नान कराता है, झाड़ू लगाता है, चौका साफ करता है, पत्ता-दोना लाता है, और इसी प्रकार की अन्य निम्नश्रेणी की सेवायें करता है।

(ख) बन्दगीदार—इसका काम है—हनुमान जी के पट्ट का धरना उठाना, पंगत में थार पहुँचाना, बर्तन साफ करना, छड़ी उठाना तथा भगवत्कैंकर्यविषयक अन्य कार्यों का संपादन करना।

(ग) हुड़दंगा—इस स्थिति में साधक को भोजन पकाना, भोग लगाना, पंगत कराना, निशान उठाना तथा आरती इत्यादि कैंकर्य करना पड़ता है।

(घ) मुरादिया—श्री सीताराम के समीपस्थ दासरूप में आनन्दमग्न होकर सेवा करता है।

शस्त्र सुविद्या सबहिं पढाई। बाँधेउ सात अखाड़े भाई।
स्वामी बालानंद कृपाला। राखेउ तिलक लगे अस भारा।[१]

राजनीतिक उत्पीडन के साथ ही, यह सांप्रदायिक संघर्ष, कुछ काल तक राममक्ति के प्रसार में जिस सीमा तक बाधक रहा, उससे कहीं अधिक राम-भक्तों के दैनिक जीवन में भय और आशंका का वातावरण उत्पन्न कर, वह रामकाव्य के विकास में हानिकर सिद्ध हुआ।

तुलसी का प्रभाव

तुलसी की असाधारण प्रतिष्ठावृद्धि से भी रामकाव्य के विकास में बाधा पड़ी। 'मानस' तथा 'विनय' ऐसे उत्कृष्ट भक्तिकाव्यों के होते हुए, इस विषय पर अन्य ग्रंथों की आवश्यकता का अनुभव साहित्यिकों एवं संतों को न हुआ। तुलसी के पीछे लगभग सौ वर्षों तक उनका दिव्यप्रकाश लोगों को ऐसा मंत्रमुग्ध किये रहा कि अन्य धार्मिकरचनाएँ उनके लिये सारहीन प्रतीत होती रहीं। इस काल में तुलसी साहित्यिक-संत से कहीं अधिक एक महर्षि के रूप में समादृत हुए। उनका 'मानस' "तारक" ग्रंथ समझा जाने लगा।[२] रामभक्तों के द्वारा उसको वही प्रतिष्ठा मिली जो कृष्णभक्तों ने

(च) नागा—अखाड़ों की आर्थिकव्यवस्था सम्बन्धी आवश्यक वृत्ति का प्रबन्ध करता है।

(छ) अतीत—उपर्युक्त पाँचों स्थितियों को पारकर जो अपना सारा समय भगवदाराधन एवं चिन्तन में व्यतीत करता है, वह अतीत कहलाता है।

इनके अतिरिक्त एक विशेष स्थिति 'अखाड़मल्ल' की भी होती है जिसमें साधक गुरु की अनुमति प्राप्त कर अपने समय का अधिकांश शारीरिक-विकास में व्यतीत करता है। यों तो उपर्युक्त सभी अवस्थाओं में व्यायाम के द्वारा शारीरिक उन्नति करने पर जोर दिया जाता है किन्तु यह व्यवस्था विशेष रूप से उस दिशा में उन्नतिशील साधकों के लिये स्वीकृत की जाती है।

१—वृ० उ० र०, पृ० १४०

२— बेनी प्राचीन (१७ वीं शताब्दी) की उक्ति है—

वेद मत सोधि सोधि देखि कै पुरान सबै,
संतन असंतन को भेद को बतावतो॥
कपटी कपूत कूर कलिके कुचाली लोग,
कौन राम नाम हू को चरचा चलावतो॥

"भागवत" को दे रखी थी। साहित्य के क्षेत्र में तृप्ति का यह भाव नई शैलियों के विकास के लिये अहितकर सिद्ध हुआ। तुलसी के साहित्य की भावगरिमा, कलात्मकता और आदर्शों की श्रेष्ठता तथा उनकी वाणी की अलौकिक शक्ति से अभिभूत, नये भक्त कवियों को अपनी विद्वत्ता एवं काव्य कौशल दिखाने का अवकाश भी कम रह गया था। उनमें एक प्रकार का हीन भाव आ गया था जिससे निरुत्साह होकर वे प्रायः काव्यरचना से पराङ्मुख हो गये थे। फलतः इस काल के साधकों ने रामयशगान अथवा उनके प्रति अपने भक्ति भाव की व्यंजना में इतनी रुचि नहीं दिखाई, जितनी 'रामचरितमानस' के अवगाहन और 'विनयामृत' के पान में। भक्तमाल के तुलसीविषयक छप्पय से प्रकट होता है कि उनके व्यक्तित्व और काव्य के लोकातीत स्वरूप की स्थापना उनके जीवनकाल में ही हो चुकी थी।[1] अतएव देहावसान के सौ वर्षों के भीतर, इस सीमा तक उनकी प्रभाववृद्धि आश्चर्यजनक नहीं कही जा सकती।

साराश यह कि शाहजहाँ और औरंगजेब के शासन की दमननीति, नैतिक पतन तथा दशनामी गोसाइयों के आतंक से समाज में ऐसी अशांति एवं अव्यवस्था फैल गई थी, जिसमें उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण संभव नहीं था। रामभक्तिक्षेत्र में तुलसी-साहित्य की अभूतपूर्व लोकप्रियता से इसकी असंभावना और भी दृढ़ हो गई। यही कारण है जिससे साहित्य रचना की दृष्टि से रामकाव्य का यह सबसे अधिक अनुर्वर काल दिखाई देता

'बेनी कवि' कहै मानो मानो रे प्रमान यही,
पाहन स हिये कौन प्रेम उपजावतो॥
भारी भवसागर में कैसे जीव पार होते,
जौ पै यह रामायन तुलसी न गावतो॥
—शि० स०, पृ० २०३

१—त्रेता काव्य निबन्ध करी सत कोटि रमायन।
इक अक्षर उद्धरै ब्रह्महत्यादि परायन।
अब भक्तनि सुख दैनि बहुरि लीला विस्तारी।
राम चरन रस मत्त रटत अह निसि व्रतधारी।
संसार अपार के पार को, सुगम नाम नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीक तुलसी भयो।
—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ७६२।

है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इस काल में भक्तिकाव्य की यह धारा लुप्त ही हो गई। जैसा हम पहले कह आये हैं, जीवन की विषम परिस्थितियों से विवश होकर अधिकतर रामभक्त संतों ने सुरक्षित तथा दुर्गम तीर्थों की शरण ले ली थी और वहीं साधनामय जीवन बिता रहे थे। ऐसी स्थिति में इस काल के रामभक्तों की सबसे बड़ी देन, साधनात्मकसाहित्य की रचना और रामभक्ति के बीज की रक्षा है, जिससे परिस्थितियों के अनुकूल होने पर अगली शताब्दी में उसका पुनः उत्कर्ष संभव हो सका।

रामकाव्य का पुनरुत्थान

मुगलसाम्राज्य का पतन और हिन्दूजागरण—

औरंगजेब के पश्चात् जो राजनीतिक स्थिति उत्पन्न हुई उसने रामभक्तों में एक नवीन उल्लास की सृष्टि की, इससे रामकाव्य के विकास को अपूर्व प्रोत्साहन मिला। यद्यपि उसके उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने हिन्दुओं के प्रति शासन की पुरानी द्वेष और दमनपूर्णनीति को कार्यान्वित करने में उतनी तत्परता नहीं दिखाई फिर भी किसी सीमा तक उसके शासन में भी वह चलती ही रही।[1] इसके पश्चात् तो मुगलबादशाह दरबारियों के हाथ के खिलौने बन गये। एक के बाद दूसरे गद्दी पर बैठाये जाते रहे। अपनी क्षमता का प्रदर्शन करने का कुछ प्रयत्न मुहम्मदशाह रंगीले ने किया किन्तु उसमें भी इतनी शक्ति नहीं थी कि मुगलसाम्राज्य की आन को अक्षुण्ण रख सकता। इसके परिणाम स्वरूप एक एक करके हिन्दू राजे स्वतंत्र होते गये। अतः औरंगजेब की मृत्यु के बाद ३१ वर्षों तक उसके उत्तराधिकारियों को निरन्तर सिक्ख, जाट, बुन्देलों, कछवाहों और सीसोदियों के विरुद्ध युद्धों में व्यस्त रहना पड़ा। मराठे औरंगजेब के समय से ही मुगल शासन में घुन की तरह लग गये थे। उनके युद्धों से साम्राज्य की शक्ति और आकार दोनों का ह्रास हुआ। जो हिन्दू राजे पहले मुगल शासन के प्रबल समर्थक थे और जिनके बल पर बहुत अंश तक शासन का अस्तित्व निर्भर था, औरंगजेब और उसके उत्तराधिकारियों की नीति-रीति से वे ही साम्राज्य के घोर शत्रु बन गये। मुगलशासकों की धार्मिककट्टरता से अपनी रक्षा के लिए हिन्दुओं में संगठन की भावना औरंगजेब के शासन के अंतिम दिनों से ही अंकुरित होने लगी थी। उसके हिन्दूपदाधिकारी मराठों के

१—लेटर मुगल्स (विलियम इरविन) भाग १, पृ० १४०

विरुद्ध युद्धों में अपने कर्तव्य की अवहेलना करते थे।[1] परवर्ती मुगल सम्राटों के समय में यह भावना जोर पकड़ती गई और मराठों के उत्कर्ष में वे हिन्दू मान का अभ्युत्थान मानने लगे।[2] अतएव बाजीराव प्रथम ने जब माल्वा पर आक्रमण किया तो वहाँ की जनता ने उसका कोई विशेष विरोध न किया। इससे स्थानीय हिन्दू राजाओं को 'धर्म रक्षा' के नाम पर संगठित करने में उसे सफलता मिली। १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, मुगलसाम्राज्य के पतन के साथ, हिन्दुओं का किस प्रकार उत्थान आरम्भ हो गया था, इसका आभास इस काल के प्रसिद्ध युद्धवीर भरतपुर के राजा 'सूरज मल जाट' के आश्रित कवि 'सूदन' की निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है।

> महल सराय से रवाना हुआ बू बू करो,
> मुझे अफसोस बड़ा बड़ी बीबी जाने का।
> आलम में मालुम चक्त्ता का घराना यारों,
> जिसका हवाल है तनैया जैसा ताने का।
> खाने खाने बीच में अमाने लोग जाने लगे,
> आफत ही मानो हुआ ओज दहकाने का।
> रब की रजा है हमें सहना बजा है,
> वक्त हिन्दू का गजा है आया छोर तुरकाने का।[3]

१—'This belief rooted deep in the minds of the Hindu officers and vassals of Aurangzeb made them indifferent or secretly hostile to their master's cause during his wars with Shivaji and his successors'

—लेटर मुगल्स भाग 1, पृ० ३०९

२—'This point comes out very clearly in Sawai Jai Singh's letter to Nand Lal Manadaloi the chowdhry of Indore after the latter had treacherously caused an immense slaughter of his master's troops by his collusion with the Maratthas (oct 1731)

"A thousand praise to you, because you in sole reliance upon my word and with a view to benefit your 'Dharma' have destroyed the Muslims in Malwa and finally established 'Dharma' there You have fulfilled my hearts wishes"

—(सरदेसाई, २, पृ० १६९), लेटर मुगल्स, भाग 1, पृ० ३१०

३—मि० ब० वि०, पृ० ७७४ में उद्धृत।

परवर्ती मुगल शासकों के समय में हिन्दुओं के बढ़ते हुए प्रभाव और उनकी धार्मिकजागृति के तत्कालीन इतिहास में अनेक प्रमाण मिलते हैं। इनमें एक है फरुखसियर की हत्या के बाद, उसकी राजपूत बेगम इन्द्रकुँवरि को सैयदबन्धुओं का, उसके पिता अजीतसिंह के घर भेजना। इतिहासकारों का मत है कि वह सैयदबन्धुओं की सम्मति से ही, 'शुद्ध' होकर सम्मान के साथ, अपने नैहर जोधपुर को गई थी। सैयद बन्धुओं के इस कार्य की, कट्टर मुल्लाओं ने, घोर भर्त्सना की। मुगल इतिहास में यह पहली घटना थी जब मुगलहरम से कोई राजपूतकन्या अपने पूर्वजों के घर वापस गई हो। परन्तु उसके पिता अजीतसिंह को प्रसन्न करने के लिये सैयद बन्धु ऐसा करने के लिये बाध्य थे।[1]

इसी प्रकार 'जज़िया' कर की वसूली भी, जिसे हिन्दू अपमानजनक और अपनी हीनता का द्योतक मानते थे, जयपुर के राजा जयसिंह और अवध के सूबेदार गिरधरबहादुर के जोर देने पर मुहम्मदशाह ने बन्द करा दी। निजाम-उल-मुल्क ने १७२३ ई० में इसे पुनः लागू करने का प्रयत्न किया किन्तु वह इसमें सफल न हो सका और यह कर सदा के लिये उठ गया।[2]

परवर्ती मुगल-शासकों की उदारता

परिस्थितियों के बदलने के साथ शासकों के स्वभाव और व्यवहार में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। बहादुरशाह के पश्चात् जितने बादशाह हुए, धार्मिक सहिष्णुता और हिन्दू जीवन से सहानुभूति, उनकी नीति की प्रधान विशेषताएँ थीं। जहाँदारशाह (१७१२-१३) लालकुँवरि के साथ साधुसन्तों का दर्शन करता था और उनका चरणस्पर्श करने में अपना गौरव समझता था। रामलीला में लंका-दहन के अवसर पर कागज की लंका में आग वह स्वयं लगाता था। सैयदबन्धुओं में विशेषरूप से अब्दुल्ला खाँ को तो भारतीय रीतिरिवाजों एवं व्रतोत्सवों से इतना प्रेम था कि वसंत और होली के अवसरों पर हिन्दुओं के साथ वह रंग और गुलाल भी खेलता था।[3] मुहम्मद शाह (१७१९-४८) को 'रंगीले' की उपाधि ही मिल गई थी। वह हिन्दुओं के होली-दीवाली आदि त्योहारों में खुलेदिल से सम्मिलित होता था। और

१-लेटर मुगल्स-भाग १, पृ० ४२९
२-वही, भाग २, पृ० १०३
३-वही, भाग २, पृ० १००

सामयिक वातावरण से अनुरंजित अपनी हार्दिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति भी करता था। 'होरी' विषय पर हिन्दीभाषा में लिखे गये उसके पदों के कुछ नमूने देखिये—

> होरी की ऋतु आई सखी री चलो पिया पे खेलिये होरी।
> अबीर गुलाल उड़ावत आवत सिर पर गागर रस की भरी री॥
> 'मुहम्मद शा' सब हिल मिल खेल मुख पर अबीर मलोरी[1]॥

ऐसी ही एक होरी में उसकी 'रंगीले' छाप का भी उल्लेख मिलता है—

> आवो बलम जी हमारे डेरे।
> अबीर गुलाल मलों मुखतेरे होरी के दिनन मोसों मत उरझेरे।
> जो पिय मो से रूस रहे हो बलि बलि जाऊँ सबही घनेरे।
> 'मुहम्मदशा' पिया सदा ही रंगीले दूर न बसो बसो मोरे नेरे।[2]

युगलप्रिया जी तथा महाराज रघुराजसिंह ने प्रसिद्ध रसिक रामभक्त रूपसखी जी के प्रसंग में दिल्ली के बादशाह द्वारा एक विशाल 'रामहोरी लीला' के आयोजित किये जाने का उल्लेख किया है। उक्त दोनों महानुभावों ने बादशाह का नाम तो नहीं दिया है किन्तु रूपसखी के आविर्भाव काल को देखते हुए उनके समकालीन बादशाह औरंगजेब के परवर्ती मुगल शासक जहाँदारशाह, फर्रुखसियर तथा मुहम्मदशाह इन तीनों में से ही कोई रहे होंगे। कारण यह है कि रूपसखी जी के गुरु बालअली जी, 'रामध्यानमंजरी' के रचनाकाल के अनुसार, सं० १७४९ तक वर्तमान थे। इसके १५ वर्ष बाद सं० १७६४ (१७०७ ई०) में औरंगजेब का देहान्त हुआ था। अतएव उसके उत्तराधिकारियों के समय में रूपसखी का वर्तमान होना असंगत नहीं कहा जा सकता।

'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में बादशाह की आज्ञा से रामभक्त रूपसखी द्वारा आयोजित उक्त होरीलीला का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

> रूपसखी श्री रूपलाल जुगरूप लुभाने।
> दिल्लीपति दीवान सरस रस रसिकन जाने॥
> बालअली की कृपा लहे मानसी प्रधानी।
> शीशमहल प्रतिबिम्ब छाप दिल्लीपति जानी॥
> दुतिय देह कलिजुग प्रबल, करी अवज्ञ सब जानहीं।
> हो हो होरी है रही, रसिक सम्प्रदा मानहीं॥[3]

१–संगीत रागकल्पद्रुम–दूसरा खण्ड, पृ० २०४
२–वही, पृ० २०४
३–रसिक प्रकाश भक्तमाल, पृ० २९

महाराज रघुराजसिंह ने इस घटना का चित्रण अधिक विस्तार से किया है—

रूप सखी में भक्त महाना। दिल्ली तासु रह्यो सुस्थाना।
दिल्ली के दिवान के बेटा। काहू सों न करैं कहुँ भेंटा॥
दशपट् वर्ष वचन नहिं बोले। बादशाह कह वचन अमोले।
वचन उचारहु भाँति जेहि, सो तुम कहहु सुजान।
जो न कहहु तौ देहु लिखि, सो हम करब निदान॥
मम बोलन उपाय तुम पूँछे। लिखे देत मुनि परेहु न छूँछे।
दशकरोरि मुद्रा तुम लावहु। नारायण उत्सव करवावहु॥
पाँचि शाह दश कोटि मँगाई। रूप सखी ढिग दियो धराई।
तब प्रभु होरी समय विचारी। मौनरीति करि दीन्हीं न्यारी॥
नृत्यवाद्य अरु गानहु माहीं। जे जे गुणी सुने भुवि माँही।
तिन सबको तुरंत बोलवायो। दशहजार बालकन सिखायो॥
वर्ष रोज भर लीला भयऊ। पूरण भये त्यागि तन दयऊ।[1]

वासुदेवदास का कहना है कि इस अवसर पर रूपसखी जी ने दिल्ली में अयोध्या को विहारलीला की पूरी झाँकी तैयार कराई थी। होरीलीला उसी में हुई थी।

होरी परिपूरण करै को अभिलाप सही,
कोटि तब कही मानी सुरद रजाई है।
भई है तयारी सुनि रसिक सजाती जुरे,
यमुना की धारा ते सरयू प्रगटाई है॥
विपिन प्रमोद श्री अवध प्रतिबिम्बधाम,
सरल सँवारे रचि किल्ला कोट खाई है।
कनक भवन रंग भवन सभाभवन,
अष्टयामसेवा-साज सकल भराई है॥[2]

इससे तत्कालीन मुगलशासकों की धार्मिक उदारता और हिन्दूजीवन के प्रति बढ़ते हुए आकर्षण का पता चलता है।

अवध के नवाबों की हिन्दूपरक नीति

मुगलसाम्राज्य की शृंखलाएँ ढीली होते ही अवध के नवाब सआदत खाँ ने अपने को बहुत कुछ स्वतंत्र कर लिया था। इस समय से अवध शिया-मत और

१—रामरसिकावली, पृ० ९९८—९९

२—रसिक प्रकाश भक्तमाल, पृ० ३०

संस्कृति का प्रधान क्षेत्र हो गया। इस नवाबीशासन का केन्द्र अयोध्या बना।[1]

अठारहवीं शताब्दी में रामभक्ति में जो नई चेतना आई, उसमें अवध के नवाबों की उदार धार्मिक नीति का मुख्य हाथ था। सआदतखाँ के समय से ही अवध के नवाबीशासन में सुन्नी मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं को प्रमुखता दी जाने लगी थी।[2] नीलकंठ नागर और आत्माराम उसके विश्वास पात्र उच्चकर्मचारी थे। सआदतखाँ के उत्तराधिकारियों ने उसकी इस नीति का सम्यक् निर्वाह किया। सफदरजंग ने नवलराय को महाराज की उपाधि देकर अपना नायब तथा प्रधान सेनापति नियुक्त किया और राज्य का सारा कारोबार उन्हीं के हाथों में सौंप दिया। इन नवलराय के महलों के ध्वसावशेष आज भी अयोध्या में सरयूतट पर देखे जा सकते हैं। तीसरे नवाब, शुजाउद्दौला के खजान्ची, केशरीसिंह थे। उनके उत्तराधिकारी नवाब आसफुद्दौला के दीवान महाराज टिकैतराय थे, जिनकी दानशीलता की कथायें अबतक अवध में प्रसिद्ध चली आती हैं। कहा जाता है, अयोध्या में हनुमानगढ़ी का विशाल मंदिर बनाने के लिये महाराज टिकैतराय को शाही खजाने से रुपया दिया गया था। परवर्ती नवाबों के शासन में भी हिन्दुओं को इसी प्रकार प्रोत्साहन मिलता रहा।[3]

शान्ति, सुव्यवस्था एवं सांस्कृतिक अभिरुचि

रामभक्ति के विकास की दृष्टि से नवाबीशासन का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य अवध में शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना करना तथा ललित कलाओं को प्रश्रय देना था। जिन दिनों देश के अन्य भाग अराजकता के शिकार हो रहे थे, अवध की प्रजा शान्ति एवं समृद्धिमय जीवन व्यतीत कर रही थी।[4] अपनी सैनिक शक्ति दृढ़ करके नवाब शासकों ने बाहरी आक्रमणों और आन्तरिक विद्रोहों पर नियन्त्रण रखा, जिससे प्रजा में सम्पत्ति और जीवन की रक्षा का विश्वास उत्पन्न हो गया।[5] इससे कला, व्यापार एवं साहित्य की उन्नति का द्वार खुल

१— डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ फैजाबाद, पृ० १७२

२— फर्स्ट टू किंग्स आफ अवध, पृ० ८१

३— वही, पृ० २५६

४— वही, पृ० २५९

५—बेनी कवि (बेती, जिला रायबरेली) ने नवाब गाजीउद्दीन हैदर के शासन में अवध की समृद्धि का वर्णन करते हुए, इन्हें 'हिन्दुआने के सदन'

गया। अवध की अपनी विशिष्ट सभ्यता इसी युग में एक नये साँचे में ढली, जो ऐहिक समृद्धि और सांस्कृतिक प्रसाधनों में शताब्दियों पुरानी दिल्ली की सभ्यता से होड़ लेने लगी।

रामभक्त रसिक सन्तों और उनके द्वारा विरचित साहित्य के प्रति इनका कैसा भाव था, इसका ज्ञान रसिक साहित्य में उल्लिखित दो घटनाओं से हो जाता है।

'रामरसिकावली' में प्रेमसखी का परिचय देते हुए महाराज रघुराजसिंह ने लिखा[1] है, कि एक बार महात्मा रामप्रसाद से 'शाह' ने उनके समान किसी अन्य भक्त का नाम बताने के लिए कहा। रामप्रसाद जी ने 'प्रेमसखी' का नाम लिया। बादशाह ने उनकी परीक्षा लेने के विचार से सवालाख की 'खिलत' भेजी। प्रेमसखी ने बादशाह का भाव ताड़ लिया। उन्होंने वह 'खिलत' लौटा दी और उसके साथ ही यह छंद लिख भेजा—

चंचलता सिगरी तजि कै थिर ह्वै न रहो यह बात भली है।
सेउ सिया पदपंकजधूरि सजीवन मूरि विहार थली है॥
बारहिं बार पुकारि कहै अपने मन को यह प्रेम अली है।
ठाकुर रामलला हमरे ठकुराइन श्री मिथिलेश लली है॥

मेरा अनुमान है कि रघुराजसिंह ने उक्त प्रसंग में जिन 'रामप्रसाद' का उल्लेख किया है, वे अयोध्या के प्रसिद्ध महात्मा रामप्रसाद जी हैं। और 'शाह' के रूप में निर्दिष्ट शासक अवध के प्रथम नवाब सआदतखाँ बुर्हानउल-मुल्क हैं। यह कहा जा चुका है कि इनकी राजधानी अयोध्या थी और वहाँ ये किला

(स्वयम) की उपाधि से भूषित किया है।

दंडत अदंड खल खंडत अखंड औ,
उदंड भुजदंड पर वीरता के थाने के।
गव्वर गनीमन के गरब बिलाइ गये,
छाइ गये प्रबल प्रताप मरदाने के॥
बेनी कवि कहै सुनी सहक सुहाइ जासों,
हिम्मत की हद सब थातन थराने के।
गाजुदीन हैदर बहादुर नवाब देखो,
होत या जमाने को खतून हिंदुवाने के॥
—शिवसिंह सरोज, पृ० २०१

1—रामरसिकावली, पृ० ९६९

मुबारक (वर्तमान लक्ष्मण किला) नामक स्थान पर रहा करते थे। १७३२ ई० में[1] वे अवध के सूबेदार नियुक्त होकर अयोध्या आये थे और तब से मृत्युपर्यन्त (१७३९ ई० तक) वहीं रहे।[2] रामप्रसाद जी (१७०३—१८०४ ई०) इनके समकालीन ठहरते हैं और प्रेमसखी का भी आविर्भाव इसी के अंतर्गत सं० १७९१[3] (१७३४ ई०) माना जाता है। अतएव रामप्रसाद जी के मुँह से चित्रकूटवासी प्रेमसखी की प्रशंसा सुनकर सआदतखाँ उनकी ओर आकृष्ट हुए हों, यह सर्वथा संभव है। पूर्वोक्त वृत्तान्त में आये हुए तीनों व्यक्तियों के समकालीन होने से इसकी संभावना और भी दृढ़ हो जाती है।

इसी प्रकार उक्त ग्रंथ में एक अन्य रसिक महात्मा रामसखे की गानकला से उनके समकालीन नवाब के प्रभावित होने का उल्लेख हुआ है। कहते हैं कि संगीतविद्या में रामसखे जी की अद्भुतगति थी। एकबार कोई गायक उनके पास गानकला सीखने के उद्देश्य से गया। कुछ दिनों तक साथ रहकर उसने उस कला में निपुणता प्राप्त कर ली। रामसखे जी ने उसे अपने बनाये हुए कुछ पदों को गाने की विधि भी भलीभाँति सिखा दी। वह गायक उनके यहाँ से विदा हो, नवाब की संगीतप्रियता की प्रशंसा सुनकर लखनऊ गया और दरबार में उसने राम सखे जी के दो पद गाकर सुनाये। पदों के सुनते ही नवाब, उनकी ध्वनि और भाव पर मुग्ध हो गये[4]। वे दोनों पद यह थे—

प्यारे तेरी छवि पर वारियाँ।
छूटी वदन कुँवर दसरथ के मारत जुलफें कारियाँ॥
तीखी सजल लाल अंजन जुत लागत आँखें प्यारियाँ।
'रामसखे' दृग आट न हमको करो न क्षणभर न्यारियाँ॥

× × ×

येरी कोऊ मोहिं बताओ देखे कहूँ राम सुजान।
नृत्यत हँसत रास मण्डल में ह्वैगे अन्तर्ध्यान॥
मणि बिन नाग मीन ज्यों जल बिन, तलफत त्यों मम प्रान।
'रामसखे' जो आनि मिलावै, देहिं सो अन निय दान॥

महाराज रघुराजसिंह का कहना है कि, उस गायक से रामसखे जी का पता पूछ कर, नवाब ने अपना नाजिर को उनकी सेवा में इस संदेश के साथ भेजा, कि यदि वे लखनऊ आकर रहें, तो उन्हें शासन की ओर से एक लाख

१—ए हिस्टारिकल स्केच आफ फैजाबाद, कार्नेगी, पृ० २९
२— वही, पृ० २९
३—शिवसिंह सरोज, पृ० ४४६ ४—रामरसिकावली, पृ० ९६३—९६४

रुपये वार्षिक का बँधान मिलेगा। रामसखे जी विरक्त संत थे। वे इसे स्वीकार ही क्यों करते!

रामरसिकावली में दिये गये इस वृत्तान्त में नवाब का नाम नहीं दिया गया है। किन्तु साम्प्रदायिक ग्रंथों के अनुसार रामसखे १७४० से १७९६ ई० तक वर्तमान ठहरते हैं। महाराज रघुराजसिंह ने उक्त प्रसंग में 'नवाब' का निवास स्थान लखनऊ बताया है। ऐतिहासिक उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि १७७५ ई० में नवाब आसफउद्दौला ने अवध की राजधानी फैजाबाद से हटाकर लखनऊ में स्थापित की थी। उसकी मृत्यु १७९३ ई० में २१ सितम्बर को लखनऊ में ही हुई।[1] इससे यह प्रकट है कि १७७५ से १७९३ ई० तक वह लखनऊ की गद्दी पर विराजमान रहा। संभवतः इसी के शासनकाल में उक्त घटना घटी होगी। उदारता और कलाप्रियता के लिये आसफउद्दौला का नाम आज भी श्रद्धा के साथ लिया जाता है। 'जिसको न दे मौला उसे दिलाये आसफउद्दौला' वाली प्रसिद्ध उक्ति का सम्बन्ध इसी आसफउद्दौला से है।

राजधानी की छाया से अयोध्या की मुक्ति

हिन्दूतीर्थों की मर्यादारक्षा एवं हिन्दुओं के धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण कर, नवाब शासकों ने भारतभूमि पर मुस्लिम-शासन के इतिहास में एक नया पृष्ठ खोला। अयोध्या के प्रति हिन्दूमात्र का पूज्यभाव एवं आकर्षण देखकर, सफदरजंग की मृत्यु के बाद १७५४ ई० में शुजाउद्दौला ने दिल्ली के सुल्तानों के समय से स्थापित अवधसूबे की राजधानी अयोध्या से हटाकर उसके समीप ही फैजाबाद में स्थापित की। नगर के भीतर मुसल्मान शासक और उसके दरबारियों की उपस्थिति से, उसकी उदारता के बावजूद भी, कुछ आतंक तो बना ही रहता था। राजधानी हट जाने से वह बहुत मात्रा में कम हो गया। पुराने मंदिरों की मरम्मत कराने और नये मंदिरों का निर्माण करने की स्वतंत्रता भी नवाब सफदरजंग के समय तक मिल चुकी थी। नवाब आसफुद्दौला ने १७७५ ई० में फैजाबाद से भी राजधानी हटाली और लखनऊ को अपना शासनकेन्द्र बनाया। इस परिवर्तन से अयोध्या पर नवाबीशासन का रहा-सहा दबाव भी जाता रहा और संत तथा गृहस्थ सभी पूजा-पाठ करने एवं मनोत्सवों के मनाने में स्वतंत्र हो गये।[2]

१—ए हिस्टारिकल स्केच आफ फैजाबाद तहसील, पृ० ३३

२—डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ फैजाबाद, पृ० १७३

मंदिरों का जीर्णोद्धार एवं निर्माण

अवध के नवाबों की इस उदार नीति से अयोध्या में पुराने मंदिरों का जीर्णोद्धार एवं प्राचीन ध्वसावशेषों पर नये मंदिरों का निर्माण होने लगा। सर्व प्रथम पंजाब स्थित कुल्लू के राजा ने औरंगजेब द्वारा नष्ट किये गये 'त्रेता के ठाकुर' के प्राचीन मंदिर का जीर्णोद्धार कराया।[1] इसके अनन्तर इस कार्य में १७८४ ई० में अहिल्याबाई होल्कर का हाथ लगा। 'त्रेता के ठाकुर' के मंदिर की पुनः मरम्मत कराने के अतिरिक्त उन्होंने नयाघाट के निकट एक राममंदिर तथा होल्करघाट[2] बनवाया। उनके पश्चात् सफदरजंग के नायब नवलराय ने[3] नागेश्वर नाथ के मंदिर का निर्माण कराया। १७५४ ई० से १७७५ ई० के बीच नवाब शुजाउद्दौला के खजाँची केसरीसिंह ने पाँच श्वेताम्बर जैन मंदिर बनवाए।[4] हनुमानगढ़ी के निर्माण के विषय में कहा जाता है कि इसके लिये भूमि की स्वीकृति नवाब शुजाउद्दौला ने अभयरामदास नामक एक साधु को, उसकी प्रार्थना से रोगमुक्त हो जाने[5] पर, दी थी जिस पर आगे चलकर आसफुद्दौला (१७७५–९३) के दीवान टिकैतराय ने शाहीखर्च से यह विशाल मन्दिर निर्मित कराया।[6] इनके अतिरिक्त अनेक देशी राजाओं, अवध के रजवाड़ों और साधारण तथा मध्यम श्रेणी के श्रद्धालु गृहस्थों ने भी अपने मन्दिर बनवाये। इसके परिणामस्वरूप शतियों के मुस्लिमशासन से ध्वस्त और त्रस्त अयोध्या शंखों और घड़ियालों की गूंज से पुनः अनुप्राणित हो उठी।

अखाड़ों की स्थापना

इस प्रकार राजकीय अत्याचारों का भय समाप्त हो जाने और धर्माचरण की स्वतन्त्रता मिल जाने से देश के विभिन्न भागों में छिपे हुए रामभक्त अयोध्या में आकर छावनियों और अखाड़ों की स्थापना करने लगे।[7] १८ वीं

१–ए हिस्टारिकल स्केच आफ फैजाबाद तहसील, पृ० ५१
२–वही, पृ० ५४
३–अयोध्या का इतिहास, पृ० १५७
४–वही, पृ० ५४
५–ए हिस्टारिकल स्केच आफ फैजाबाद तहसील, पृ० ५२
६–अ० का इ०, पृ० ४३।
७–अयोध्या में सर्वप्रथम सात अखाड़े स्थापित हुए जिनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

शताब्दी के मध्य में, सफदरजंग के शासनकाल में, बाहर से आने वाले साधुओं द्वारा अखाडों की स्थापना के निश्चित प्रमाण मिलते हैं। इनमें अधिक संख्या राजपूताना से आने वाले रामभक्तों की थी। इन अखाड़ों के स्थापकों ने अयोध्या में अपना अड्डा जमाकर रामानन्दीय वैष्णवपीठों की स्थापना की और विशाल शिष्यपरम्पराओं का प्रवर्तन किया। इनके द्वारा देश के सुदूर प्रान्तों में रामभक्ति का प्रचार हुआ। ये अखाड़े अपनी पृथक् पचायतों के द्वारा नियंत्रित होते हैं। सामान्य उद्देश्यों की सिद्धि एवं नियमों के पालन के लिये उनकी एक केन्द्रीय पंचायत स्थापित की गई, जिसने सभी अखाडों के साधुओं के लिये सात अधिकारों एवं सात कर्तव्यों की व्यवस्था

---

(१) निर्वाणी–इसके स्थापक अभयरामदास नामक सन्त थे, जो नवाब सफदर जंग (१७३९–५४ ई०) के समकालीन थे। हनुमानगढ़ी पर इसी अखाड़े का अधिकार है। कालान्तर में शिष्यों की संख्या में असाधारण वृद्धि होने पर यह चार थोक अथवा पट्टियों में विभक्त हो गया–हरद्वारी, वसन्तिया, उजैनिया और सागरिया। आरम्भ ही से अयोध्या का यह सबसे शक्तिशाली अखाड़ा रहा है।

(२) दिगम्बरी–१८वीं शती के आरम्भ में इसकी स्थापना बलरामदास नामक एक साधु ने की थी।

(३) निर्मोही–गोविन्ददास नाम के एक सन्त ने, जो जयपुर से अयोध्या आये थे, रामघाट पर इस अखाड़े की स्थापना की थी। इनका भी समय १८वीं शती का आरम्भ माना जाता है।

(४) संतोषी–जयपुर से आये हुए खीरामदास ने सफदरजंग के शासन-काल में, एक मन्दिर बनवाकर, इस नाम से अपना अखाड़ा चलाया।

(५) खाकी–चित्रकूटवासी संत दयाराम ने शुजाउद्दौला के समय (१७५४–७५ ई०) में, नवाब से चार बीघा भूमि प्राप्त कर, इस अखाड़े की नींव डाली।

(६) महानिर्वाणी–कोटा-बूँदी के निवासी महात्मा पुरुषोत्तमदास ने शुजाउद्दौला के शासनकाल में इस अखाड़े की स्थापना की।

(७) निरालम्बी–कोटा से आकर संत बीरमलदास ने शुजाउद्दौला के समय में यह अखाड़ा स्थापित किया था।

विशेष विवरण के लिए देखिये—

—ए हिस्टॉरिकल स्केच आफ फैजाबाद तहसील, पृ० ४५–४८

दी।[1] ऐसा करते हुए उनके लोकोपयोगी और संप्रदायरक्षक, दोनों पक्षों की उन्नति पर विशेष ध्यान रखा गया।

(क) कर्तव्य

१—मठ मन्दिरों की रक्षा ।
२—पर्वों पर बहू बेटियों की रक्षा।
३—विधर्मियों के आक्रमणों से तीर्थस्थानों की रक्षा।
४—डाकुओं एवं लुटेरों से वैयक्तिक और सार्वजनिक सपत्ति की रक्षा।
५—नाके, घाट, उत्सव, यात्रा और कुंभस्नान पर सर्वांगीण रक्षा।
६—निशान अर्थात् धर्मध्वज की रक्षा।
७—सम्पूर्ण वेष की मर्यादा की रक्षा।

(ख) अधिकार

१—धाम क्षेत्र पर अधिकार।
२—स्वामी रामानंद की चरणपादुका पर अधिकार।
३—अस्त्र शस्त्र ग्रहण करने पर अधिकार।
४—अखाड़े के महंत के निर्वाचन का अधिकार।
५—देवोत्तर-धर्मोत्तर सपत्ति पर अधिकार।
६—स्थानधारियों से भिक्षा का अधिकार।
७—साधारण जनता से भिक्षा का अधिकार।

उपर्युक्त उद्देश्यों की सिद्धि के लिये, सभी अखाड़ों में विरक्त शिष्यों के प्रशिक्षण की समान व्यवस्था चलाई गई। यह किसी न किसी रूप में आज भी जीवित है।

कहना न होगा कि रामभक्तों के इस सैनिकसंगठन ने अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक, समीपवर्ती मुसल्मानसरदारों के आक्रमणों[2] से, अयोध्या के मंदिरों की रक्षा करने में स्मरणीय सेवायें कीं और इस प्रकार नवाबीशासन के हस्तक्षेप न करने की नीति से प्रोत्साहित मुसल्मानों के द्वारा उसे नष्ट भ्रष्ट किये जाने से बचाया। हनुमानगढ़ी, बाबरी मस्जिद और जन्म स्थान पर अधिकार का प्रश्न ही इनमें अधिकांश संघर्षों के मूल में था।[3] अत

१—सुधा, दिस० १९३३ ई० (लाला सीताराम बी० ए० का 'अयोध्या के अखाड़े' शीर्षक लेख)।
२—डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ फैजाबाद, पृ० १७३
३—ए हिस्टारिकल स्केच आफ फैजाबाद तहसील, पृ० ५०

तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन अखाड़ों की उपस्थिति से ही अयोध्या की पवित्रता की रक्षा हुई और यहाँ आकर तपोमय जीवन व्यतीत करने वाले रामभक्तों को काव्यरचना का अवसर मिला।

रसिक संतों का समागम

इन साम्प्रदायिक अखाड़ों की स्थापना के साथ ही इस काल में अयोध्या से मिथिला चित्रकूटादि रामतीर्थों के निवासी, रसिक संतों का संसर्ग भी बढ़ा। अयोध्या में रत्नसिंहासन और कनकभवन माधुर्योपासकों के मुख्य केन्द्र बन गये। 'श्रीमहाराजचरित' में इसका उल्लेख करते हुए रघुनाथप्रसाद जी कहते हैं—

> मिथिला पुर के संत महंता, आवहिं लै सौगात अनन्ता।
> ते सब कनक महल पहुँचावैं, सिया राम हित लाड़ लड़ावैं॥[1]
>
> × × ×
>
> बसहु समीप महल के दक्खिन। रतन सिंहासन पूरब पच्छिम।
> राम कोट रजधानी खासी। रहत तहां माधुर्य उपासी॥[2]

परिस्थितियों के अनुकूल होने से अन्य रामतीर्थों से भी रामभक्तों का आवागमन बढ़ा। इनमें मुख्य थे गलता, रैवासा, चित्रकूट और मिथिला। राजपूताने से मधुराचार्य और रामसखे, इन दो रसिक महात्माओं के चित्रकूट और अयोध्या जाने के स्पष्ट उल्लेख साम्प्रदायिक ग्रन्थों में मिलते हैं।[3] इसी प्रकार महात्मा कृपानिवास तथा रामप्रसाद जी की मिथिलायात्रा का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि कृपानिवास जी को 'श्रीप्रसादस्वरूप' के रूप में हनुमान जी का दर्शन सबसे पहले मिथिला में ही हुआ[4] था। सूरकिशोर जी के प्रयत्नों से उनके जीवनकाल में ही मिथिला की पुण्यभूमि, संतसमागम के लिये कितनी प्रसिद्ध हो गई थी इसका आभास उनकी नीचे लिखी पंक्तियों में मिलता है—

> मिथिला कटि काल ग्रसी सिगरी, तब जानकी जू झट दै उघरी।
> अनसोधन सो पर भूपन सो, सुख संपति मंदिर आन धरी॥
> सतसंग समाज कथा चरचा, नित आनन्द मंगल होत हरी।
> कह सूर किशोर कृपा सियकी, यक बारहि बात सबै सँवरी॥[5]

१—श्रीमहाराज चरित्र, पृ० ५३ २—वही, पृ० ५९
३—रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० ३२-३३
४—वही, पृ० ३५ ५—मिथिला माहात्म्य, पृ० २

इनके अतिरिक्त अन्य रामानंदीय स्थानों से भी रामोपासकों का सम्पर्क बना रहा। गलता और रैवासा के प्रसिद्ध आचार्यपीठों में बालअली, मधुराचार्य और हर्याचार्य ऐसे रसिक महात्माओं का प्रादुर्भाव हुआ। इनके द्वारा प्रस्तुत साहित्य इस युग की रसिकसाधना का मुख्य संबल बना। स्वयं भी इन संतों ने रामतीर्थों का पर्यटन कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। इनमें मधुराचार्य जी के तो रसिकोपासना विरोधी अन्य सम्प्रदायों के विद्वानों से अनेक शास्त्रार्थों का भी उल्लेख मिलता है।[1] यह द्रष्टव्य है कि रामभक्ति की शृंगार, सख्य, और वात्सल्य इन तीन प्रमुख धाराओं के प्रधान प्रचारक १८ वीं शती में आविर्भूत मधुराचार्य, रामसखे और कृपा किशोर राजपूताना के ही निवासी थे।

कृष्णभक्तों से सम्पर्कवृद्धि

प्रस्तुत प्रसंग में एक और ध्यान देने की बात यह है कि इस काल में मथुरा, वृन्दावन इत्यादि कृष्णतीर्थों एवं वहाँ के निवासी कृष्णभक्तों से रामोपासकों के व्यक्तिगत सम्पर्क की वृद्धि हुई। कहने की आवश्यकता नहीं कि रामभक्ति की रसिक शाखा के विकास में कृष्णभक्ति का योग पहले से ही कुछ न कुछ चला आ रहा था। इस काल में यह भावना अधिक विकसित हुई। 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' में ऐसे कई रामभक्तों के वृत्त दिये गये हैं, जिन्होंने रसिकोपासना के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये वृन्दावन की यात्रा की थी और वहाँ के प्रसिद्ध आचार्यों से सत्संगलाभ किया था। मोहनरसिक एक ऐसे ही भक्त थे। उन्होंने वृन्दावन के महात्मा भगवतरसिक से रास-ध्यान सीखा था।

मोहन रसिक श्री मुरारि देव वंश भये,
बैठ ग्राम गुरुकुल बसे सुख पाय के।
उठी उत्कंठा वृन्दावन भूमि देखिबे की,
ललित बिहारी छवि ठौर ठौर जाइ के॥
भगवत रसिक समीप रास ध्यान पाये,
हिय हुलसाने जैसे रंक निधि पाइ के।
जनक लली जू स्वप्न चूरा पहिरायो,
उर अति सुख पायो दुहुँ ओर पद गाइ के॥[2]

उपर्युक्त छन्द की अन्तिम पंक्ति से यह ज्ञात होता है कि वे सगुण भक्ति की

१—सुन्दरमणिसंदर्भ, पृ० ७।
२—र० प्र० भ०, पृ० ११९

राम और कृष्ण दोनों शाखाओं में श्रद्धा रखते थे और उनकी रसिक परम्पराओं के समन्वयवादी भक्त थे।

कुछ रसिक रामभक्त स्थायीरूप से कृष्णतीर्थों में निवास भी करने लगे थे। मौनी ब्रजकीदास के वृन्दावन में रहकर शृङ्गारीसाधना करने की चर्चा 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' में आई है—

> बिरति उम सुठि बोध सुहृद अनुमोद भावहीं।
> मति अनुकूल अनूप चरित रघुबर जो ध्यावहीं॥
> ध्यान मजरी जाप आप निज ठौर सँवारे।
> विमलादिक अलि पुन सहित दपति उर धारे॥
> गोप्यकेलि मत्त गोप्यरस रसिकसनेही निपुनजस।
> अग्रस्वामी रसरीति मति मौनी वृंदाविपिन बस॥[1]

इन उदाहरणों से यह व्यक्त होता है कि १८वीं शती के अन्त तक रसिक रामभक्तों में कृष्णभक्तों की रससाधना से कोई वैमनस्य नहीं रह गया था और रससाधना की परिपूर्ण प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कृष्णोपासक आचार्यों के शरणागत होने में वे अपने इष्टपरत्व का अपमान नहीं समझते थे। 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' में भगवतरसिक, हितसेवक, हितदामोदर, हितगुलाब तथा विहारिणीदास,[2] आदि कृष्णभक्त महात्माओं का आदरपूर्वक स्मरण कर उन्होंने अपनी इसी उदारभावना का परिचय दिया है।

१—र० प्र० भ०, पृ० ११९ २—वही, पृ० ११७

तीसरा अध्याय

संप्रदाय और साधना

रसिकसाधना की जो प्रगति अठारहवीं शती तक रही उसका दिग्दर्शन पिछले अध्याय में हो गया है। उन्नीसवीं शती साम्प्रदायिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण काल माना जाता है। इस काल में रसिकभक्तों ने साधना-परक प्राचीन साहित्य का आलोडन कर उसका एक व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया। उन्होंने स्वयं भी रसिकभक्ति के विविध अंगों पर साहित्यरचना की, जिससे उसकी अनेक धुँधली रेखायें स्पष्ट हो गईं। वास्तव में अग्रदास, बालअली, मधुराचार्य तथा रामसखे ऐसे तत्त्वज्ञ पूर्वाचार्यों द्वारा प्रवर्तित एवं पोषित 'रहस्य-साधना' का पूर्णतम विकास इसी काल में हुआ। रसिकभक्ति का जो रूप आज हमारे सामने है, वह बहुत अंश में इसी शताब्दी के संतों की देन है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उसके आधारभूत सिद्धान्तों के प्रवर्तक भी ये ही थे। इनका कार्य केवल परंपरा में प्रचलित ग्रंथों के मूल-तत्त्वों का पल्लवन एवं प्रतिपादन था, न कि नये सिद्धान्तों का सृजन। इनकी प्रतिभा का महत्त्व इसी बात में है, कि इन्होंने साम्प्रदायिक साधना को सुबोध, सुगम एवं सुरम्य बनाया जिससे सहस्रों की संख्या में जिज्ञासु साधक इस रसात्मिका रामभक्ति की ओर लपक पड़े।

सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यों की भाँति इस काल के रसिकभक्तों का आचार-विचार अत्यन्त निर्मल और पवित्र था। सांसारिक प्रपंचों से विरक्त होकर ये, दंपति के दिव्य-शृंगार में रस लेते थे और उसे भक्ति की रसभूमि का प्रसाद समझते थे। इनका सारा समय आराध्य के नाम, रूप, लीला और धाम के चिंतन में बीतता था। साधारण दृष्टि से सांसारिक जीवन में सरसता के जितने उपकरण हो सकते हैं, इन भक्तों के साधनात्मक जीवन में परिष्कृत एवं सूक्ष्म रूप में वे सभी विद्यमान थे। उपास्य को जिस रूप में चाहें, पूजने की इन्हें स्वतन्त्रता थी। आरम्भ में ही एक नाता जोड़कर उसका आजन्म निर्वाह करना इनकी साधना का मूल उद्देश्य होता था। इससे सांसारिक सम्बन्धों एवं विषयों से विरक्ति स्वतः हो जाती थी। रसिकों की यह एकान्तसाधना कितनी

व्यवस्थित, कितनी गंभीर और कितनी मनोमोहक है, इसका सम्यग्दर्शन इसके सर्वांगीण विवेचन से ही हो सकता है।

रसिक संप्रदाय

साम्प्रदायिक साहित्य में यह धारा पाँच नामों से अभिहित है—जानकी-सम्प्रदाय[1], रहस्य-सम्प्रदाय,[2] रसिक-सम्प्रदाय,[3] जानकीवल्लभी-सम्प्रदाय[4] और सिया-सम्प्रदाय[5]। इनमें 'रसिक सम्प्रदाय' नाम ही सर्वप्रचलित और विख्यात हुआ। जिसका कारण है—इस धारा के प्रवर्तक अग्रदास का इसके अनुयायियों को 'रसिक' नाम से सम्बोधित करना। उन्होंने 'ध्यानमंजरी'[6] तथा 'अष्टयाम',[7] अपनी इन दोनों रचनाओं में 'रसिक' सदा ऐसे भक्तों को दी है जो राम की रसमयी लीलाओं का ध्यान करते हैं और उनकी अंतरंग सेवा के आश्रित हैं।

१—श्रीजानकीसम्प्रदाय रामदासमनन्यताम्।
ऋते केऽपि न यास्यन्ति वाञ्छितं फलमेव च॥
—रामनवरत्नसारसंग्रह, पृ० ४९ (सदाशिवसंहिता से उद्धृत)

२—विमला विमल विहार में, रहति सदा लवलीन।
रहस सम्प्रदा लाल की, प्रगटति चाह नवीन॥
—भावनापचीसी (कृपानिवास), पृ० १

३—तेई मंगल रूप जाको जस बरनन करौं।
परंपरा सु अनूप, रसिक सम्प्रदा रसिकथा॥
—रसिकप्रकाश भक्तमाल (युगलप्रिया), पृ० २

४—रसिक जानकी वल्लभी, प्रबल काल कीनो अदल।
श्यामदास गुरु कृपा लहि, शिष्य उजागिर भे प्रबल॥
—वही, पृ० १०२

५—भयेउ अहहि आचार्य जे, सिय सु संप्रदा माहिं।
सखिनि के सु अवतार सब, नारि पुरुष जग माहिं॥
—पू० द० र० (प्रेमलता), पृ० १०४

६—यह दंपति वर ध्यान रसिक जन नित प्रति ध्यावैं।
रसिक विना यह ध्यान और सपनेहुँ नहिं पावैं॥
—ध्यान मंजरी (अग्रदास), पृ० २२

७—अंतरंगाश्रितायेव, इदं रसमनुत्तमम्।
प्रकाशितमग्रदेवेन रघुनाथकृपाश्रयम्॥
—अष्टयाम (अग्रदास), पृ० १८

'रसिक' नाम

'रसिक' शब्द का सामान्य अर्थ है, 'रसमर्मज्ञ' अथवा 'भावुक'। साहित्य में साधारणतया यह इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'नेह प्रकाश' की टीका में जानकीरसिकशरण जी ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

वेत्ता भोग्यस्य, भोक्तुर्वा, समर्थ शील इत्यपि।
पुण्यश्लोकोनुरागी च, रसिकोऽसौ प्रकीर्तित ॥[1]

बिहारी के निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहे में भी उसके इस अर्थ की व्याप्ति दिखाई देती है—

गिरितें ऊँचे रसिक मन, बूडे जहाँ हजार।
सोई पामर नरन को, प्रेम पयोधि पगार॥

यहाँ 'रसिक' से कवि का तात्पर्य रस के एकनिष्ठ भोक्ता से है।

आध्यात्मिक जगत में 'रस' की व्याख्या में ही 'रसिक' के विशेष अर्थ का बोध हो जाता है। वेदों में 'रसो वै स' से उसे ब्रह्म का स्वरूप ही कहा गया है। अतएव धार्मिक साहित्य में 'रसिक' ब्रह्मानंद अथवा लीलारस के भोक्ता का द्योतक माना जाता है। भागवत में इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।

पिबत भागवत रसमालय
मुहुरहो रसिका भुवि भावुका ।[2]

इसी आधार पर कालान्तर में भक्ति के पंचभावों में से किसी एक का आश्रय लेकर राम और कृष्ण की उपासना करने वाले रसिक कहे जाने लगे।

श्रीवैष्णवों की प्राचीन संहिताओं तथा रामभक्तिशाखा के संस्कृत भाषा में लिखे गये पुराने ग्रंथों—'बृहद्ब्रह्मसंहिता,'[3] 'हनुमत्संहिता'[4] और

1—टीका नेहप्रकाश, पद्य २४

२—श्रीमद्भागवत, १।१।३

३—रसिकानां विनोदार्थं, शारदी चन्द्रिका शुभा।
सदैकरूपा विद्यातु, दिव्या किरणधामरै ॥

—बृहद्ब्रह्म संहिता, पृ० १८

४—अस्माद्रासादिभूतानां रासो भविष्यति।
ज्ञात्वैव रसिका सर्वे, रमते कथयति च ॥

—हनुमत्संहिता, पद्य २१

'सत्योपाख्यान,'[1] में 'रसिक' शब्द उपर्युक्त अर्थ में ही गृहीत हुआ है ।

हिन्दी साहित्य में रसिक शब्द का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग, अग्रदास की पूर्ववर्ती एवं समकालीन, कृष्णभक्ति की निम्बार्क और राधावल्लभी शाखा में मिलता है । टट्टी अथवा सखी-सम्प्रदाय के स्थापक स्वामी हरिदास की रसिक छाप और उनके भक्ति सिद्धान्त का परिचय देते हुए नाभादास कहते हैं—

> जुगल नाम सो नेम, जपत नित कुंज बिहारी ।
> अवलोकत रहैं केलि, सखी सुख के अधिकारी ॥
> गान कला गन्धर्व, स्याम स्यामा को तोषैं ।
> उत्तम भोग लगाय, मोर मरकत तिमि पोषैं ॥
> नृपति द्वार ठाढ़े रहैं, दरसन आसा जास की ।
> आसधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदास की ॥[2]

इसी प्रकार राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हितहरिवंश (सं० १५५९–१६०९) की भी गणना भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास ने रसिक संतों[3] में की है । मूल छप्पय में नाभादास जी ने तो स्पष्ट रूप से उनकी 'रसिक' छाप नहीं बताई है किन्तु उनकी रसमयी भक्तिभावना का जैसा चित्रण उन्होंने किया है, उसके आधार पर उन्हें रसिक मान लेने में कोई अड़चन नहीं पड़ती । हितहरिवंश जी के शिष्य श्रीहरिराम व्यास (सं० १५६७–१६६९) ने अपनी 'जाति' की "रसिक" संज्ञा स्वीकार करते हुए उसकी निम्नलिखित विशेषतायें भी बताई हैं—

> रसिक अनन्य हमारी जाति ।
> कुलदेवी-राधा, बरसानो खेरो, ब्रजवासिन सों पांति ।
> गोत-गोपाल, जनेऊ-माला, सिखा सिखंडि, हरि-मंदिर भाल॥

१–इदं तु चरितं रम्यं, रामस्य परमात्मनः ।
श्रोतव्यं रसिकैः सर्वैर्भावुकैः प्रीतिपूर्वकम् ॥
श्रुत्वा पापानि नश्यन्ति रामे भक्तिः प्रजायते ॥
—सत्योपाख्यान, पत्र ८१

२–भक्तमाल (रूपकला टीका), पृ० ६०७

३–श्री हित जू की रीति कोऊ लाखन में एक जाने ।
राधाई प्रधान माने पाछे कृष्ण ध्याइये ।
सुखद चरित्र सब रसिक विचित्र नीके ॥
जानत प्रसिद्ध कहा कहिके सुनाइये ॥
भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ६०५

हरिगुन नाम वेदधुनि सुनियत, मूँज पखावज कर करताल।
बसी रिधि, जजमान-कल्पतरु, 'व्यास' न देत असीस सराप॥'

इससे यह प्रकट होता है कि इस समय रसिक शब्द का प्रयोग एक निश्चित साधनापद्धति के अनुयायियों के लिये होता था और उसके साधक चाहे राम के उपासक हों अथवा कृष्ण के, 'रसिक' नाम से ही प्रसिद्ध थे।

रसिक भाव की व्यापकता

इन दोनों भक्तिसम्प्रदायों के साहित्य का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि रस की समानता होते हुए भी उनमें रसिकभाव की व्यापकता के सम्बन्ध में कुछ भेद है। कृष्णभक्ति में उसका प्रयोग प्रायः शृंगारी उपासकों के लिये ही होता है, किन्तु रामभक्ति में अन्य रसावेशी भक्तों की भी गणना रसिकभक्तों की श्रेणी में की जाती है। शर्त केवल यह है कि वे दिव्यदम्पति (सीताराम) की साकेतलीला का चिन्तन करते हों और अपने भावानुसार उसमें परिकररूपेण प्रविष्ट होना ही परमपुरुषार्थ मानते हों।

अग्रदास ने रसिक रामभक्तों को पंचभावोपासक[2] मानकर उनकी अष्टयाम भावना में भक्ति के पाँचों रसों के अनुकूल सेवाओं का विधान किया है। साथ ही काव्य के नवरसों का स्वागत कर अपने इष्टदेव को चौदह रसों[3] का आश्रय माना है। इस प्रकार साहित्य और भक्ति के समस्त रसों से अपनी भक्ति भावना को पुष्ट कर आचार्यपाद ने आरंभ ही में इसे एकांगी उपासना का रूप धारण करने से बचा लिया है। इसके अंतर्गत भक्तों को अपनी रुचि के अनुसार पंचभक्तिरसों में से किसी एक[4] का आधार लेकर साधना करने का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार रुचि विभिन्नता, एवं व्यक्तिगत विचारों की महत्ता स्वीकार कर एक रूढ़िवादी साधना के साँचे में ढल जाने से उसकी रक्षा की गई है।

अग्रदास जी के पश्चात् सम्प्रदाय के एक दूसरे प्रमुख आचार्य बालअली जी ने भी रसिक भक्ति की उदारता का प्रतिपादन करते हुए पाँचों भक्तिभावों के साधकों को उसके 'रहस्यज्ञान' का पात्र माना है—

१–भक्तकवि व्यास जी (वासुदेव गोस्वामी), पृ० २१५

२–अष्टयाम (अग्रदास), पृ० ६९

३–चतुर्दशरसाभोगी नागराणां शिरोमणि।
नानावर्णसमायुक्ते मोदते वनकानने॥
अष्टयाम (अग्रदास), पृ० ६३

४–सिं० र० दी०, पद्य ३२

पंचभाव के हैं सब संत। भिन्न भिन्न बरनौ सब तंत ॥
सांत सख्य वात्सल्यरु दास्य। शृङ्गारहु पुनि रसनि उपास्य ॥
प्रभुको ईश सर्वगत जानैं। निजकों जीव अल्पकरि मानैं ॥
यह सम्बन्ध बसै मन माहिं। सांतभक्त सो प्रभु पद पाहिं ॥
प्रभु को सखा मानि पुनि सेई। सब ईशता दूरि करि देई ॥
निसिदिन उर राखै विस्वासू। सख्य भक्त सू पहुँचै पासू ॥
पुनि सो पुत्र मानि तेहि सेवे। लाड़लड़ाय परम सुख लेवै ॥
ईश जानि मन में नहिं डरै। सो वात्सल्य भक्त सुख करै ॥
प्रभु को जो स्वामी करि ध्यावै। निजको दास समानि मुख्यावै ॥
करै न निरखै रास विलास। दास्य भक्त ते सदा हुलास ॥[1]
प्रियको निज स्वामी पुनि जानै। सियसहचरि अपना को मानै।
निसिदिन राखे रास विलास। ते शृंगार भक्त निज पास ॥
येहि विधि पंच भाव के भक्त। जुगल रूप निसिदिन अनुरक्त।[2]

अन्यत्र बालअली जी ने भगवान् के सगुणरूप के प्रेमीमात्र को "रसिक" संज्ञा दी है—

तिनको रसिक लेहु जियजानि। जिन लइ सगुनरूप रति मानि ॥

रसिकों के भेद

बालअली जी ने रसिक सन्तों के दो वर्ग माने हैं—रसिक और रूक्षरसिक। प्रथम के अन्तर्गत इन्होंने वात्सल्य, दास्य, सख्य और शृङ्गारी भाव से सीता राम की उपासना करने वालों को रखा है और दूसरे में केवल शान्त रस के साधकों को स्थान दिया है। इनमें भगवान की सगुण लीलाओं में मग्न होने वाले पहले वर्ग के माधुर्यप्रेमी भक्त, उनके परस्वरूप के ध्याता दूसरे वर्ग के ऐश्वर्य प्रेमी भक्तों से बढ़कर माने गये हैं—

प्रभु के द्वै स्वरूप पुनि जानहु। इक माधुर्य महा सुखमानहु ॥
दूसर पुनि ऐश्वर्य बखानि। तामें परमेश्वर तेहि जानि ॥
केवल राजपुत्र करि मानै। सगुण चरित में उर सुभ आनै।
चक्रवर्ति सुत सुख मन भावै। यह माधुर्य स्वभाव सुहावै ॥

१–शांतवात्सल्यदास्यं च, सख्यमाधुर्यमुज्ज्वलम्।
रसानि नादिता पंच, स्वस्वभावानुसारतः ॥
—अष्टयाम, पृ० १९

२–सि० त० दी०, पद्य ३३

पुनि सबही कारण के कारण। व्यापक अमित जीव उद्धारण।
जोगी जतन करत नहिं पावहिं। अद्भुत अगम अगोचर गावहिं॥
अस कहि जो मानिय पररूप। सो कहिये ऐश्वर्य सरूप।
सातभक्त ऐश्वर्य मझार। निशिदिन पगे रहैं करि प्यार॥
चारिभाव के भक्त रहैं जो। सखी सखा पितु दास कहैं जो।
ते केवल माधुर्य मझारी। पगे ईसता दूरि बिहारी॥
तिनको रसिक लेहु जिय जानि। जिन लइ सगुन रूप रतिमानि॥
इनहूँ में जिनको परधान। नित्य ईशता को संधान।[1]
सगुणसरूप लखहिं करि गौन। रूक्षरसिक जियजानहु तौन॥
सातभक्त तौ रूक्ष सरूप। सो केवल देवत परकूप।
सगुणचरित तिनको प्रियनाहिं। केवल व्यापकब्रह्म लुभाहिं॥[2]

रसोत्कर्ष एवं आराध्य के सेवाधिकार में समीपता की दृष्टि से, रसिकवर्ग के भक्तों में सखीभावोपासकों को सर्वोपरि स्थान दिया गया है, वैसे तो रसिकमात्र 'संतन के राजा' समझे जाते हैं।

सतन के राजा ते चारि। सखी सखा पितु दास निहारि।
जिनके सगुण मुख्य तिनमाहिं। तिनके चूड़ामणि जे आहिं॥
तिनमें सखीभाव नरनारि। सकलसिरोमनि तिन्हैं विचारि।
जिनके कर विहरैं दोउ लाल। रास महल बसि रहत निहाल॥[3]

रसिक-लक्षण

आचार्यों ने रसिक संतों के जो लक्षण बताये हैं, उनमें कुछ सामान्य रीति से सभी सम्प्रदायों के सच्चे भक्तों में पाये जाते हैं। यहाँ उनकी केवल उन्हीं विशेषताओं का परिचय दिया जाता है, जो अन्य साधकों से उन्हें पृथक् करती हैं। निम्बाचार्य रामसखे के मत में उनके कुछ लक्षण ये हैं—

रसिक अनन्य यहै सुखदानी। राम रूप बिनु लखहिं न आनी।
छवि आसक्त रहहिं मनमाहीं। क्षण पल राघव बिसरत नाहीं।
हेरि कोऊ सुन्दर नर नारी। राम वियोग करहिं अतिभारी॥
वेष नृपति खेलन असवारी। आवत राम ध्यान छविकारी।
सुनि कोकिल कर कूक मृदु, नटनि मयूर निहारि।
रामसखे मन करत झप, मिलन राम छवि धारि॥

1—मि० त० दी०, पत्र २३ 2-3—वही, पत्र २४

सूँघि सुगंध राग सुनि काना। लावत नयनन राम सुजाना।
लखि श्रावण घन तड़ित शरद ससि। रह रघुनंदन विरहचित्तगसि।
देखि कुसुम वसंत ऋतु सोभा। लावत राम प्रेम उर गोभा॥
कहुँ बिलोकि नग जटित नूपुरन। अवध लाल कर रूप चुभतमन॥[1]

तात्पर्य यह कि सूफी संतों की भाँति, विश्व की प्रत्येक सुन्दर वस्तु में, वे अपने प्यारे का जलवा देखकर मुग्ध होते हैं और कृति से कर्ता की याद आते ही "अवध लाल" के विरह में व्याकुल हो उठते हैं।

इस संप्रदाय के संत केवल सजातीय साधकों से ही हेलमेल रखते हैं, विजातीयों अथवा अन्य पंथों के संतों से इनका कोई प्रयोजन नहीं। विधिनिषेध से परे रह कर अहर्निश राम की छविमाधुरी का पान ही इनका धर्म है। आदर्श रसिकों की विराग-वृत्ति इतनी तीव्र होती है कि शीत से बचने के लिये एक गूदरी के अतिरिक्त और कोई वस्तु वे अपने पास नहीं रखते। गले में तुलसी की माला, मस्तक पर तिलक, दोनों भुजाओं में रामायुध की छाप, कमर में लँगोटी, हाथ में कमंडल और शरीर में पीले रंग का एक वस्त्र, यही इनका बाना है।[2] षडक्षर राममंत्र का उपदेश, रासग्रन्थों का स्वाध्याय, रामरास का ध्यान और तद्विषयक पदों का गान करते हुए, वे अपना कालक्षेप करते हैं। रामरास के दिव्य रस से छके हुए इन भक्तों को अन्य साधनाप्रणालियाँ 'खारी' लगती हैं।[3]

१—नृत्यराघवमिलन, पृ० १०

२—रसिक अनन्यन सो मिलि लोभहिं। उनके पगन धोय मन छोभहिं।
विधि निषेध सब कर्म जु त्यागे। रहत सदा रघुपति छवि पागे॥
राखहिं एक राम विश्वासा। करहिं न त्रिभुवन दूसर आसा।
राम कुटुम्ब कुटुम निज जानहिं। सपनेहुँ जग नातो नहिं मानहिं॥
राखहिं इक हिम अर्थ गूदरी। जनु विराग की तिया सुन्दरी।
तुलसी की धारहिं इक माला। भक्ति स्वरूपानन्द मराला॥
देहिं तिलक निर्मायल चंदन। हरदी बिन्दु पीत जगवन्दन।
घोरि हरिद्रा में धनुशायक। धरहिं भुजान छाप रघुनायक॥
कटि कोपीन कमंडल धारी। मन प्रमोद कल कुंजन चारी।
एक सूक्ष्म वस्त्र रंग पीरा। धारहिं तन मानौं रघुवीरा॥
—नृत्यराघवमिलन, पृ० १८

३—राममंत्र षटअक्षर काना। करहिं यही उपदेश प्रधाना।
रामरास ग्रंथन मन लाई। सुनहिं सुनावहिं प्रेम बढ़ाई॥

रामसखे जी का विश्वास है कि ऐसे वीतराग रसिकों की रहनी का अनुकरण करने वाले भी समय पाकर पहुँचे हुए संत हो जाते हैं।

रसिक धारा का प्रसार

१९ वीं शती के आरम्भ में रसिकाचार्य महात्मा रामचरणदास जी की अद्भुत संगठनशक्ति का बल प्राप्त कर रसिक सम्प्रदाय का अभूतपूर्व विकास हुआ। सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यों की तरह उन्होंने भी इसे भक्तमात्र के लिये आचरणीय बतलाया—

> सखी सखा अरु दास जो, भाव बिना नहिं होइ।
> तीनों का अधिकार यह, भाव भावमय सोइ॥[1]

सम्भवतः इसी उदार भावना का यह परिणाम है कि, रसिक धारा की उत्ताल तरंगें रामभक्ति के अन्तर्गत, विविध उपासनापद्धतियों के कृत्रिम व्यवधानों को पार करती हुई आगे बढ़ती गई और १९ वीं शती के अन्त तक यह स्थिति हो गई कि रामकाव्य का कोई कोना उनसे अछूता न रह सका। उसके व्यापक एवं गम्भीर प्रभाव का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है, कि बाबा रघुनाथदास ऐसे शुद्ध दास्यभावना के उपासक संत को भी प्रमोदवन की युगलविहार-लीला[2] का गान करने के लिए विवश होना पड़ा और पं० उमापति ऐसे वात्सल्य निष्ठ महात्मा को युगतनी के स्वर में स्वर मिलाकर राजकुमार राम की वसंत, फाग, हिंडोल और रासलीलाओं के वर्णन में ही अपनी वाणी की सार्थकता माननी पड़ी। जब दास्य और वात्सल्य, इस युगधारा में स्नान कर मधुरदास्य और मधुरवात्सल्य भावों में परिणत होने लगे तब सख्यभाव का कहना ही क्या था। इस भाव के उपासकों के लिए रामसखे जी पहले ही रसिकता का मार्ग

> मन क्रम बचन रास को ध्याना। करहिं सु निशि दिन परम सुजाना।
> वचन रास के पद उचारहिं। मन महँ रासधारना धारहिं॥
> रामरास रस जे मतवारे। तिनको लगत सकल मत खारे।
> रसिकन को जो नकलहुँ पावहिं। तो वह कबहुँ असल ह्वै जावहिं॥
> —नृ० रा० मि०, पृ० ४८-४९

१—अष्टयाम पूजाविधि, पृ० ७१

२—श्री सरयू तट मोद प्रमोद बने भवन मणिमय सर्व ठामै।
सीतल मंद सुगंध समीर सुहाय सबै रितु सीत न घामै॥
हाथ लसे धनु बाण कसे कटि पीत दुकूल सखान के सामै।
रंग रसे 'रघुनाथ' के राम कुमार बिहार रहे करि तामै॥
—हरिनामसुमिरिनी, पृ० ९८

प्रशस्त कर चुके थे। नर्मसखा तो युगलरसकेलि के साधक ही माने जाते थे। प्रियसखाओं के लिये भी रास का ध्यान और समवयस्क होने से, व्यंग्य-विनोद, की स्वतंत्रता थी। कुछ प्रतिबन्ध सुहृदसखाओं पर अवश्य था, कारण कि, राम के बड़े भाई होने से वे 'युगल सरकार' पर स्नेह भाव के ही अधिकारी थे। उन्हें भी लघुभ्राता के विवाह और गवन (द्विरागमन) लीला की व्यवस्था तथा ध्यान का अधिकार प्राप्त था। इसीलिये सुहृदसखा कामदेन्द्रमणि ने लघुभ्राता की विविधविवाहलीलाओं का गान कर अपनी रसभावना को सतृप्त किया। इन भावों के होते हुए भी रामरसरंगमणि जी ने किसी एक से अपना सम्बन्ध स्थापित न कर, सखाओं में एक नये भाव की कल्पना की और अपने को 'मधुरसखा' घोषित किया। इस प्रकार 'मधुरदास्य', 'मधुरवात्सल्य' एवं 'मधुरसख्य' रूप में भक्ति की इस भावनयी ने अपनी उपासना-पद्धतियों को रसमय कर रसराज का स्वागत किया।

इतना होते हुए भी रामभक्ति की परम्परागत प्रवृत्तियों की एकदम अवहेलना इस धारा की शक्ति के परे की बात थी। रामकथा को जो रूप वाल्मीकि से तुलसी तक मिला था, उसमें ऐश्वर्य एवं मर्यादा की ही प्रधानता थी। जनसाधारण तथा रामभक्तों में इसके संस्कार दृढ़ हो चुके थे। अतएव युगप्रवृत्ति के झकोरों से अपना प्रतिबंध कुछ ढीला करते हुए भी इस काल के रसिकसाधक रामभक्ति की मौलिक विशेषताओं की रक्षा में तत्पर रहे।

रसिक भक्ति की प्रमुख विशेषतायें

१. रसिकों का मध्यम मार्ग

रसिक साधना की पहली विशेषता है—मध्यम मार्ग का अवलम्बन। नाभादास जी ने माधुर्य-रति अथवा रसिकभावना की स्थिति ऐश्वर्य और शृङ्गार के मध्य में मानी है—

> कहूँ प्रगट ऐस्वर्य अति, कहुँ संयोग वियोग।
> जुगल संधि माधुर्य रति, नित्य दिव्य सुख भोग॥[1]

रसिकअली जी के अनुसार यह रसधारा भक्ति के उभयकूलों—वैधी और रागानुगा, को छूती हुई बहती है—

> वैधी अरु रागानुगा, उभयकूल सो जान।
> करि निवास जे मज्जहिं, तिनकर सुकृत पुरान॥[2]

१—खोज रिपोर्ट (१९०९-११) भाग २, पृ० १०६७
२—अनन्यतरंगिनी, पृ० १

रसिकअली जी ने ऐश्वर्य तथा माधुर्य मिश्रित भावभक्ति को रसिकों की उपासना का आदर्श बताया है। इनमें से केवल एक को लेकर साधनामार्ग में प्रवृत्त होने वालों को वे रसिक ही नहीं मानते—

ऐश्वर्यरु माधुर्य पुनि, दोउ मिश्रित मिल जान।
ये तीनों करि सिद्धि सो, वस्तु त्रिदेसिक मान॥
गहि केवल ऐश्वर्य करि, माधुरि रीति मे सक।
तेहि न उपासक मानिये, महारुक्ष मतिरक॥
गहि केवल माधुर्य पुनि, धरै न चित ऐश्वर्य।
रसिक ताहि नहिं मानिये, राम उपासक वर्य॥[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि रसिक साधकों की भक्तिपद्धति में व्यक्तिगत भावसाधना के साथ लोकधर्म को भी उचित स्थान दिया गया है। अधिकांश रागमार्गी उपासकों की तरह प्रेम के नाम पर शील तथा मर्यादा को तिलांजलि नहीं दी गई है। रागात्मिका भक्ति को प्रधानता देते हुए भी रसाचार्यों ने उपासना की प्रेरकविधियों तथा औपचारिकक्रियाओं के संपादन को अनिवार्य बताया है। श्रीरामचरणदास ने अपने पट्टशिष्य 'युगलप्रिया' जी को रसिकभक्ति के मर्म की व्याख्या करते हुए जिन ६४ तत्वों का उपदेश दिया है, उनमें उक्त दोनों प्रणालियों का अपूर्व मिश्रण मिलता है। उसके अन्तर्गत साधकों की गुरुशरणागति, दिनचर्या, पंचसंस्कार, आचार विचार और अन्तरंग तथा बहिरंग पूजा के समस्त अंगों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इसके साथ ही ३२ सेवापराधों तथा १० नामापराधों की सूची देकर उनसे सन्तों को बचने की चेतावनी दी गई है। स्वयं युगलप्रिया जी ने नवधाभक्ति के पश्चात् प्रेमा[2] और परा की स्थिति मानी है और साम्प्रदायिकसाधना में वैधीभक्ति का महत्व स्वीकार करते हुए उसे सामान्य साधकों के लिये श्रेयस्कर बताया है। रसिकअली जी प्रकारान्तर से उपर्युक्त वैधी और प्रेमा भक्ति को क्रमशः ऐश्वर्याश्रय एवं माधुर्याश्रय भक्ति की संज्ञा देते हैं और साधना की आरम्भिक स्थिति में प्रथम को अनिवार्य मानते हुए माधुर्याश्रय की स्थिति उसके अनन्तर मानते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में ऐश्वर्याश्रय भक्ति की जैसी व्याख्या वे करते हैं, वह दास्यभक्ति का ही प्रतिरूप है।

1—अनन्यतरंगिनी, पृ० २

2—सुमिरत सुखद समाज, नवधा जहँ साधन नई।
दसधा भक्ति सुसाज, परा दसा छाके रहत॥
र० प्र० भ०, पृ० २

सीस नवै सियराम को, जीह जपै सियराम।
हृदय ध्यान सियराम को, नहीं और सन काम॥
सबै उपासक जानिये, राम सिया ऊपास्य।
माँगत कर सम्पुट किये, दीजै निज पद दास्य॥
यहि विधि धरि ऐश्वर्य चित, पुनि सब विधि माधुर्य।
धरे चित्त तेहि जानिये, राम भक्त अति धुर्य॥[1]

राम के इस ऐश्वर्यप्रधान रूप के वास्तविक बोध के लिये, उन्होंने उनके १६ गुणों का निरन्तर ध्यान करने की व्यवस्था दी है। वे हैं—वात्सल्य, स्वामित्व, सौशील्य, सौन्दर्य, सौलभ्य, सर्वज्ञत्व, कारुण्य, सर्वशक्तित्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वपूर्णत्व, ज्ञान, दया, कृतज्ञता, क्षमा, सौहार्द्र और तेज। माधुर्यरूप का ध्यान अन्तिम कहा गया है। इसी प्रकार सख्यभक्ति में भी ऐश्वर्यसमन्वित माधुर्य-भक्ति का वर्णन मिलता है। कामदेन्द्रमणि जी के ये भाव इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं—

अवधराज पुत्रन प्रमोदमय मुदित सदा सुखपाते हैं।
श्री सीतापति पदसरोज विमुखन घर कभो न जाते हैं॥
विधि-निषेध मतवाद छोड़िके पराभक्ति मदमाते हैं।
श्री कामदेन्द्र श्री राजकुंवर संग सख्यनेह के नाते हैं[2]॥

इस सम्प्रदाय की मानसिक पूजा में भी भक्ति के उक्त दोनों प्रकारों को स्थान दिया गया है और साधनापद्धति में तो कर्म-ज्ञान के बाद ही रागात्मिका भक्ति की स्थिति मानी गई है। इन प्रतिबन्धों के कारण राम की माधुर्योपासना में मन की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों को पनपने का अवसर नहीं मिलता।

२. उपास्य से व्यक्तिगत सम्बन्ध की घनिष्ठता

उपास्य से व्यक्तिगत सम्बन्ध की घनिष्ठता इसकी दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। सम्बन्ध से यहाँ तात्पर्य उन नातों या रिश्तों से है जो हमारे कर्तव्यपूर्ण

१–इसी प्रकार लोमशसंहिता में भी प्रेमाभक्ति की प्राप्ति के लिये नवधा भक्ति एक अनिवार्य भूमिका मानी गई है—

नवधा सेवनाद् सम्यग्भावदृढ़ेरनन्तरम्।
प्रादुर्भवदीव कल्लोलतरंगावर्तवेगतः॥
समुदं विगते ध्रुवं स्नेहवृत्तिः परेश्वरे
प्रेमैषा सर्व दोषाणां दहने दहनोपमा॥

—लोमशसंहिता पृ० १२-१३

२–माधुर्यकेलिकादंबिनी, पृ० ११२

पारिवारिक जीवन को स्निग्ध और सरस बनाते हैं[1]। रामभक्तिशाखा में भक्त और भगवान के बीच ऐसे पारिवारिक भावसम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास इसके पूर्व भी हुआ था किंतु उससे इस सम्प्रदाय के भक्त तृप्त न रह सके। पञ्चधाभक्ति के अवान्तर भेदों के अन्तर्गत अपनी उपासना के विविध रूपों की कल्पना कर, इन रसिक भक्तों ने इष्टदेव की अवतारलीला में सहायक विविध पात्रों से अपना भावनामय पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित किया। उसी के आधार पर आत्मस्वरूप की तदाकार भावना की सिद्धि के लिये ये साधनापथ पर अग्रसर हुए। यह द्रष्टव्य है कि सर्वप्रथम इस प्रकार के भावसम्बन्धों और उसके विविध भेदों की विस्तृत व्याख्या कृष्णभक्ति साहित्य में रूपगोस्वामी महाराज ने की थी[2]। रसिक रामभक्तों को उससे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रेरणा अवश्य मिली होगी और रामभक्तिधारा पर कृष्णभक्ति के अनेक प्रभावों में एक यह भी रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। दोनों माधुर्यप्रधान सम्प्रदायों में सखाओं और सखियों के भेद, यूथेश्वरियों की कल्पना, एवं युगल विलास-लीलाओं के वर्णनों में प्राप्त एकरूपता से इसका समर्थन होता है। सखीभाव के उपासक सन्तों ने अपने आचार्यों को युगल सरकार की उन षोडश मुख्य सखियों का अवतार माना है, जो सीता जी की बालसखियाँ और महाराज जनक तथा उनके भाइयों की पुत्रियाँ थीं। वे अपने आत्मस्वरूप को यूथेश्वरियों की बहनों अथवा निमिवंशी कुमारियों, से अभिन्न मानते हैं और सीता जी के साथ ही स्वयं को राम की परिणीता समझते हैं, किन्तु स्वामी से उनका सम्बन्ध सीधा न होकर सीता जी के माध्यम से होता है। कारण कि, उनका सीता से अलग कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है। दार्शनिक दृष्टि से वे सीता जी की अंशभूता तथा अंगभूता हैं, अत एव जार, परकीया तथा सपत्नी भाव की कल्पना रामभक्ति की इस रागात्मिका

१—कुटुम्ब बिना नहि स्वाद है, कुटुम्ब सकल विधिमूल।
कुटुम्ब मूल पितु मातु है, मिथिला अवध अतूल॥
इसलिये मिथिला अवध में, सुचि सम्बन्ध विलास।
भ्राता पिता सुबन्धु गुरु, सब विधि वंस प्रकास॥
करु विचार सम्बन्ध पथ, रसिकन को करु संग।
तब यह मारग लखि परै, चढ़ै अनूठो रंग॥
—सम्बन्ध-पत्र (शीलमणि), छं० ११, १२ और २१

२—उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४१–४७, यूथेश्वरी भेदाः—पृ० १४७–१५४

धारा में न हो सकी। ज्ञानाअलि जी का निम्नलिखित विवरण, सम्बन्ध के उपर्युक्त सूत्रों को स्पष्ट कर देगा—

निमि कुल उद्भव भूपवर, जनक नाम जग जान।
तिनके भ्राता अष्ट हैं, यह अगस्त्य परमान॥
चंद्रकीर्ति मम मात पितु, शत्रुजित नृप जान।
चारुशीला भगिनी बड़ी, ताकी अनुचरि मान॥
ज्ञा कहिये जो गोप्यरस, ना निश्चय जिय जान।
ताकी शरणागति भई, ज्ञाना अली बखान॥
ज्ञानअखण्ड अनादि अज, जनकलली को पीय।
तासों वरी निसंक होय, ज्ञाना सहचरि सीय॥
श्रीमिथिला नइहर समुझि, सासुर अवधहि जानि।
दोउघर सुखद सु सर्वदा, रहिहौं जहँ मन मानि॥[1]

इसी प्रकार सख्यभावावेशी संतों ने अपने को उन रघुवंशी सखाओं का प्रतिरूप माना है, जो महाराज दशरथ के बान्धवों, गुरु और मंत्रियों के पुत्र थे। इस नाते से वे सख्यभक्ति के विविध भावों का आलम्बन लेकर राम तथा उनके तीनों भाइयों से अपने सहोदर भ्राता की तरह अभिन्नता और घनिष्ठता का अनुभव करते हैं, और तदनुकूल व्यवहार करते हैं। नर्मसखा सीताप्रसाद जी 'उनके छोटे भैया हैं'। बड़े भाई के साथ वे नित्य प्रातःसायं सवारी में निकलते हैं—

स्याम सलोना बसै नैन में गोरा प्यारा मेरा है।
मैं उसका हूँ छोटा भैया वहीं सदा ही फेरा है॥
रतनाचल सरयूतट कुंजन रहै हमारा डेरा है।
गज तुरंग चढि राज खेल मे हरदम सुबू सवेरा है॥[2]

राम से उनका यह सम्बन्ध बहुत पुराना है। वे उन्हीं के गोत्रज, महाराज दशरथ के भ्राता वीरसिंह के पुत्र हैं। उनके शिक्षक 'बड़े भैया' लक्ष्मण और गुरु वशिष्ठ हैं। गुरुपुत्र सुयश उनके प्रियसखा हैं—

इष्ट शिक्षक लखन मेरे, सखा रघुकुल लाल।
वीरसिंह प्रतापनिधि कहँ, कहाँ सन मम मात।
कहँ परिजन प्रजा सिगरे, कहाँ गुरू वशिष्ठ॥
कहँ सुयश सुमित्र मेरे, सकल गुणन गरिष्ठ॥[3]

1–मिथवरकेलिपदावली, पृ० ३। 2–इश्कविनोद, पृ० ४–५।
3–वही, पृ० ४६–४७।

मधुर-सखा रसरंगमणि जी राम को 'दद्दा साहेब' 'भय्या साहेब', तथा 'बड़े भाई' इत्यादि सम्बोधनों से स्मरण करते हैं—

दद्दा दीनदयाल मम, भय्या जी भूपाल।
रघुनन्दन रसरंगमणि, अपनाइये कृपाल॥
भय्या साहब भय हरण, भरतबन्धु रघुनाथ।
भावबूत रसरंगमणि, चरण गहइये हाथ॥
बन्धु बड़े भाई प्रभो, प्राणनाथ रघुनाथ।
शीलसिन्धु रघुवंशमणि, राखिय चरणनि साथ॥[1]

मिथिलावासी जगन्नाथदास जी, महात्मा सूरकिशोर जी की ही तरह जानकी जी को अपनी पुत्री और राम को अपना दामाद मानकर उपासना करते थे।

सुखद पताही वास जक आसा नहिं राख्यो।
जनक नन्दनी सुता, भाव मायिक अभिलाख्यो॥
रामश्याम जामात जथा किसोर सुखपाये।
मनीराम जो रामदास रस रसिक सोहाये॥[2]

इसी भाँति लाला दुनियापति दशरथभाव से तथा कौशल्यादासी मातृभाव से राम की उपासना करती थीं।[3] पं० उमापति जी 'पितृभाव' से राजकुमार राम' की आराधना करते थे[4] और अन्य रसात्मकी सन्तों की तरह आराध्य को साष्टांग दंडवत न करके उन्हें गुरु-भाव से आशीर्वाद दिया करते थे। मामा प्रयागदास जी किस प्रकार राम को बहनोई मानने में महाभाव का अनुभव करते थे, इसकी चर्चा आगे जीवनवृत्त प्रकरण में होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल के रसिक सन्तों ने राम को सामाजिक सम्बन्धों के जितने रूपों में और जितने निकट से देखा है, पूर्ववर्ती रामभक्ति के किसी सम्प्रदाय के अंतर्गत उपास्य से उतनी आत्मीयता स्थापित करने का प्रयास नहीं हुआ था। इस विषय में यह भी उल्लेख्य है कि भक्तों के ये सम्बन्ध, युगलोपासना के सिद्धान्त के अनुसार राम और जानकी दोनों पक्षों को लेकर विकसित हुए। इससे ऐश्वर्य एवं माधुर्य दोनों भावों का सतुलन निरन्तर बना रहा और यही उसके आकर्षण का कारण बना।

१—श्रीसीताराम मानसीपूजा, पृ० ४।
२—रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० १२९।
३—भागवत चरित्रचंद्रिका, पृ० ४८।
४—सख्यसोजमाष्टक, पत्र १९।

३ मर्यादा-रक्षा का भाव

माधुर्य चित्रण म भी रामचरित की मर्यादा को अक्षुण्ण रखना, रसिक भक्ति की तीसरी विशेषता है। सबसे पहले इसक दाम्पत्यभाव को ही लीजिये, जो इस काल के सन्तों के ध्यान-गान का मुख्य विषय रहा है और जिसके कारण इनकी रचनाओं की कटु आलोचना की गई है। पर म्परा से राम एकपत्नीव्रत, पारिवारिक एव सामाजिक मर्यादा के पालक, लोकरक्षक तथा अनुपम सौन्दर्य के आदर्श माने गये हैं। हम यह देखेंग कि रसिक सन्तों की रचनाओं में राम की उपर्युक्त चारित्रिक विशेषतायें किस सीमातक व्यक्त हुई हैं। रसिक भक्तों ने सखीभाव से उपासना करते हुए भी राम के एकपत्नीव्रत का सिद्धान्त, सीतातत्त्व की दार्शनिक व्याख्या क द्वारा बडे कौशल से निभाया है। सभी सखियाँ राम की आह्लादिनी शक्ति सीता की अंश हैं और इन्हीं के द्वारा राम से उनका सम्बन्ध होता है।[१] इसलिय वे तत्सुख की अधिकारिणी कही जाती हैं।[२] ऐसी दशा में अनन्त सखिया से राम का सम्बन्ध युगल-स्वरूप क दाम्पत्यसम्बन्ध के ही अन्तर्गत आ जाता है। यह भावसाधना है, अतएव सीता को भावरूप में अंशी मानने वाली सखियों के साथ राम की क्रीडा, सीता क साथ दाम्पत्यकेलि से भिन्न नहीं है, अत सखीभाव की यह उपासना राम क एकपत्नीव्रत में बाधक नहीं होती। लौकिक दृष्टि स सभी सखियाँ मिथिला की हैं और महाराज जनक क वंश की ही कुमारियाँ हैं। वे रामविवाह क अवसर पर सीता क साथ परिणीता होकर राम के अन्त पुर में प्रविष्ट हुई हैं। अतएव व्रजवधूटियों की भाँति आर्यपथ से विचलित होन और सामाजिक मर्यादा क उल्लंघन का प्रश्न उनके विषय में नहीं उठता। लौकिक दृष्टि स भी उनकी स्थिति राजकुल की मर्यादा क सर्वथा मेल में है। रसिक भक्तों के अनुसार प्रत्येक दशा में उनका माधुर्य सम्बन्ध स्वकीयाभाव क भीतर ही रहता है। इस दाम्पत्यभाव क अतिरिक्त राम क मधुरजीवन की झाँकी उनक ससुराल क अन्य सम्बन्धों में भी मिलता है। अपनी सरहज सिद्धिकुँवरि के साथ उनका हास्यविनोद करना, पहुनाई क समय जनकपुर की स्त्रियों का राजमार्गों पर उनका आरती करना तथा सासुओं

१—श्री रामनवरत्नसारसंग्रह, पृ० ४० ।

२—अपर नायिका रमन जानकी रमन न कामित।
सखी समूह विहारि तत्सुखी स्वाद विभावित॥
—युगलविनोद पदावली, पद्य २०

का स्निग्ध व्यवहार इत्यादि प्रसङ्गों में मर्यादा के भीतर गृहस्थजीवन के आकर्षक पक्ष का सुन्दर चित्रण हुआ है। इन वर्णनों में ये सन्त इतने सतर्क रहे हैं कि रामकलेवा के समय गालियों में भी मर्यादा का कहीं अतिक्रमण नहीं पाया जाता है। यह तो हुई उनकी प्रत्यक्षलीला की बात, मानसीपूजा म भी जो साधकों की एकान्तसाधना की वस्तु है, युगलस्वरूप की दिनचर्या का ध्यान करने की जैसी प्रणाली रसिक सन्तों में प्रचलित है, उसमें सामाजिक एवं पारिवारिक शिष्टाचार की पूर्ण व्यवस्था मिलती है। उदाहरण के लिये युगल सरकार को शयन से जगाने के लिये प्रात धीमे स्वर में गान, एक सखी का उन्ह नाम्रत देखकर शयनकक्ष में प्रवेश, पुरुषों के वहाँ जाने का निषेध, आदि उनक मर्यादाप्रेम के परिचायक हैं। इसीप्रकार सीता और राम के स्नानगृहों की पृथक् स्थिति, सीता का कनकभवन के सरोवर में सखियों के साथ और राम का सरयू में सखाओं के साथ जल-विहार, युगलस्वरूपों का अपने परिकरा के साथ अलग-अलग भोजन करना, राम का दरबार म बैठकर राज्यसबधी कार्यों का संपादन, राजदूतों का सम्मान करना, अन्य देशों को दूत भेजना, रघुवशी सरदारों—अपने पिता के भाइयों क यहाँ जाना, उन्हें प्रणाम करना, अयोध्यावासियों द्वारा उनका स्वागत, सीता द्वारा सासुओं की नित्य वन्दना, राम का सखाओं और भाइयों समेत महाराज दशरथ का नित्य दर्शन, राम एवं शयनकक्ष म केवल स्त्रियों का प्रवेश इत्यादि कार्यव्यापारों में उनकी मर्यादा निष्ठा झलकती है। अनेक रसिक संतों के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे अपने दैनिक जीवन म भी भावसम्बन्ध की मर्यादा का पालन करते थे। सुहृदसखा कामदेन्द्रमणि अपनी 'अनुज वधू' सीता का दर्शन नहीं करते थे। कनकभवन म प्रविष्ट होने के पूर्व ही वे इसकी सूचना अपने अनुज राम क पास भेज देते थे, फिर जानकी जी के लिए पर्दा की व्यवस्था हो जाने पर वे उन से मिलते थे। इसीप्रकार स्वय कामदेन्द्रमणि जी से मिलने पर, जनकपुर क सम्बन्ध से सखीभावसम्पन्न भक्त, बड़े बहनोई क नाते, अगाऊ, या हाथों का ही, आँखों क सामन पर्दा कर नीची आँख कर बातें करते थे। राजकुमार क रूप में राम क उपासक प० उमापति जी क विषय में यह जनश्रुति है कि उपास्य को उनके आशीर्वाद देने का एक बार साधुओं न आपत्ति की, तो उनसे विवाद न कर वे प्रणाम करने क लिए तैयार हो गए। कहा जाता है कि वैसे ही वे साष्टाग दंडवत क लिए झुके, युगलविग्रह स्वय झुकते दिखाई दिये। तब सन्तों ने उन्हें दौड़कर उठाया और अपनी पूर्वप्रणाली क अनुसार आचरण करते रहने की प्रार्थना की।

सखाओं और दासों की उपासनापद्धति में तो राम का माधुर्यमिश्रित ऐश्वर्यरूप ही विशेष ध्येय होता है, अतएव उनकी दिव्य तथा प्रत्यक्ष सभी लीलाओं के चित्रण में शीलरक्षा का ध्यान रहना स्वाभाविक ही है।

रसिक साधना मे राम की मधुर लीलाओं को ही प्रमुखता दी जाती है फिर भी आराध्य के ऐश्वर्यप्रधान चरितों में इस शाखा के संतों की श्रद्धा में कमी नहीं पाई जाती। रसिकअली जी, राम के शौर्य एवं पराक्रम संबन्धी लीलाओं के निरन्तर ध्यान को, साधना की आवश्यक भूमिका मानते हैं—

अतिकराल शंकर धनुष, पचि हारे भूपाल।
सो गज पंकज नाल इव, तोर्‌यो श्री रघुलाल॥[१]
शत्रुबलाधिक जान जहँ, हते सहसदश चार।
औरौ जहँ जस योग तहँ, सुमती लेय विचार॥[२]
संगर रंग मही हतौं, दशमुख परिकर युक्त।
सो बन्धूबल जानिये, औरौ जहँ जस उक्त॥[३]
अत्र विचित्र विचारिये, महावीर रघुनन्द।
तेज तहाँ अनुमान लखि, मन्द भये भृगु चन्द॥[४]

रामचरणदास जी के अनुसार राम के ऐश्वर्य और यश का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण, उनके द्वारा स्थापित उत्तम राजव्यवस्था तथा विश्वविजय के साथ आत्मविजय प्राप्त करना है।

सुत तिय धन ऐश्वर्य जो, तो वह भय जग वर्य।
जासु राज त्रिय सब सुखी, श्रुति कह यह ऐश्वर्य॥
जस कहिये सब जीतिबो, मन जीतिबो विशेषि।
बस कृत रसना लिंग द्वै, तब मन जीतव लेखि॥

× × ×

रामजीति जुगलादि सब, विदित बात सब ग्रंथ।[५]

इन क्षेत्रों में मर्यादा की पूरी रक्षा करते हुए भी राम के रूपमाधुर्य और लीला-माधुर्य के वर्णनों में, कहीं कहीं भावातिरेक के कारण, वे संत लौकिक दृष्टि से असावधान दिखाई पड़ते हैं। किन्तु जिन स्थितियों में उपास्य

१–सिद्धांत मुक्तावली, पृ० ३० (५२),
२–वही, पृ० ३० (४८)
३–वही, पृ० ३० (४९)
४–वही, पृ० ३१ (५२)
५–उपासनाशतक, पृ० १३।

के चरित्र के ऐसे वर्णन मिलते हैं, उनका सम्बन्ध राम की लौकिकलीलाओं अथवा अवतारलीलाओं से न होकर अवतारी की दिव्यकेलि से रहता है, जो साधकों की गोप्यभावना की वस्तु है, प्रचार की नहीं। आगे इस विषय पर कुछ अधिक विस्तार से विचार किया जायगा।

४. हनुमान का आचार्यत्व

रसिक सम्प्रदाय की सभी शाखाओं में हनुमान की समानरूप से प्रधानता और आचार्यत्व[1], उसकी चौथी विशेषता है। शृंगारी उन्हें सीताराम की सखियों में सर्वेश्वरी एवं राम की प्रधान सखी-इन दो रूपों में पूज्य मानते हैं। कृपा-निवास जी ने हनुमान के प्रथम सखीरूप को 'श्रीप्रसादा सखी' और दूसरे को 'चारुशीला' कहा है। अपने दोनों रूपों में युगलसरकार की सखियों एवं किंकरियों में वे अग्रगण्य माने गये हैं। एकान्तिक लीलाओं में कभी वे 'चारु शीला' रूप में राघवेन्द्र की ओर से और कभी 'श्रीप्रसादा' सखी रूप में 'श्री मिथिलेश राजकिशोरी' की ओर से आराध्ययुगल की सेवा करते हैं।

प्रथमहिं श्रीप्रसाद जू, सकल सखिन सिर मौर।
जिनके कर विहरत सदा, दम्पति श्यामल गौर॥[2]
प्रथम चारुशीला सुभग, गान कला सुप्रवीन।
युगलकेलि रसना रसित, राम रहस रस लीन॥[3]

सख्यभक्ति में ब्रह्मसम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री मध्वाचार्य, हनुमान[4] जी के अवतार माने जाते हैं। श्री रामसखे के गुरु वशिष्ठतीर्थ उडुपी में माध्वगद्दी के आचार्य थे। अतएव इस संप्रदाय के भक्तों की सख्यधारा में हनुमान जी की प्रतिष्ठा उतनी ही हुई जितनी शृंगारी भक्तों में चारुशीला जी की है। सीता-प्रसाद जी, हनुमान जी के प्रति सख्यभक्तों के भाव को, इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

१—आद्याचार्यं हनूमतं स्वकत्वा सख्यमुपासते।
क्लिश्यन्ति चैव ते मुग्धा मूलहाः पल्लवाश्रिताः॥
—रामनवरत्नसारसंग्रह (सदाशिवसंहिता से उद्धृत), पृ० ५८

२—भावनापचीसी, पृ० १

३—वही, पृ० २

४—रामाज्ञया हनूमांश्च मध्वाचार्यः प्रभाकरः।
रामानन्दः स्वयं रामः, प्रादुर्भूतो महीतले॥
रामनवरत्नसारसंग्रह (सदाशिवसंहिता से उद्धृत), पृ० ६०

जहाँ श्रीमन्मध्वस्वामि, कपीन्द्र मारुतनन्द।
श्री वशिष्ठ सुतीर्थ निर्मल, सुमति करुणाकन्द॥
जहाँ राम सखेन्द्र निधि, प्रभु श्री सुशील समेत।
शील-प्रेम-सुचित्रनिधि, पुनि कहाँ सकल सहेत॥[1]

रामसखे जी के अनुसार सीता का संकट दूर करने वाले हनुमान का ही आश्रय प्राप्त कर भक्त राम का साक्षात्कार कर सकता है।

माध्वभाष्य निज द्वैतमत, मिलनद्वार हनुमान।
रामसखे विधिसम्प्रदा, चढ़पी गुरुअस्थान॥
सिय को जिन संकटहन्यो, तरि समुद्र अपार।
राम सखे ताके शरण, मिटत सकल दुखभार॥[2]

रामावत सख्यभक्तों में वे 'चारु शील-मणि' नाम से राम के प्रधान सखा और यूथपति कहे गये हैं, ठीक उसी तरह जैसे 'चारुशीला' की सखीभावोपासकों में सर्वेश्वरी अथवा यूथेश्वरियों की प्रधान मानी जाती हैं। कामदेन्द्रमणि जी इसकी व्याख्या निम्नलिखित पंक्तियों में करते हैं—

चारुशीलमनिलाल, चारुशिला यूथेश्वरी।
हनुमत वपुष विशाल, आज्ञा सब सिर पर धरी॥
युगल सुभासन से कछुक, नीचे मिलित निवास।
तहाँ चारुशीला सुथिति, चारुशीलमनिभास॥[3]

दासों के लिये तो रामदूत हनुमान भक्ति के आदर्श ही हैं। महात्मा रघुनाथदास, अयोध्या की हनुमानगढ़ी में प्रतिष्ठित, उनके इसी रूप का गुणगान करते हैं—

अवध के ठाकुरद्वार में एक अनोखी महा छवि छाजत है।
मोतीमाल हीरालरि कोटिहु कोटि मनोजन को मन लाजत है॥
रघुनाथ जहाँ लौं बखाने तहाँ घंटा घोर घनाघन बाजत है।
हनुमान गढ़ी में महान बड़ो बाँका राम को वीर विराजत है॥[4]

श्री काष्ठजिह्वास्वामी 'देव' के अनुसार रसिकों की हनुमन्निष्ठा का कारण उनके चरित्र की महानता है। पवनकुमार का अखंड ब्रह्मचर्य और साधनामय जीवन, जहाँ एक ओर भक्तों के हृदय में विरक्ति की प्रतिष्ठा करता है, वहीं उनके द्वारा रावण की अशोकवाटिका अथवा 'विषय-वन' के ध्वस्त होने की घटना

१— हरकविनोद, पृ० ४७।
२— नृपरायवमिलन, पृ० ५६
३—माधुर्यकेलिकादम्बिनी, पृ० १२
४—हरिनामसुमिरनी, पृ० ५६

विषयनिवृत्ति की प्रेरणा देती है। रसिकभक्ति दिव्यरस की साधना है। हनुमान उसके सबसे बड़े आदर्श हैं। संप्रदाय की सभी शाखाओं में 'रसिक शिरोमणि' हनुमान के आचार्यत्व का यही रहस्य है। 'देव' स्वामी का कथन है—

विरति की मूरति पवन कुमार।
संतो करहु विचार॥
जनमत ही से ब्रह्मचर्य व्रत दल-फल-मूल अहार।
कहाँ रही तब विषयन पर रति सदा यकंतविहार॥
असन-बसन को मुख न सहत नित बरषा-घाम तुषार।
रामचरित के रसिक शिरोमणि रामनाम आधार॥
बिना अलंब निशंक निडर अति गे भव सागर पार।
रावण बल विषया-बन ताको बरबस कीन उजार॥
बड़े बीर विषयन से हारे कवि विषयन को मार।
'महावीर' यहि हेतु 'देव' यह विदित सकल संसार॥[3]

तात्पर्य यह कि विविधभाव के भक्तों ने अपनी रुचि के अनुसार, विविध रूपों में इष्टदेव की प्राप्ति के लिये, हनुमान जी को ही एक मात्र अवलम्ब माना है और उनमें पुरुषकारत्व की कुछ ऐसी शक्तियों का आरोप किया है, जिनकी प्रधान आश्रय जानकी जी मानी जाती हैं। माधुर्यभक्ति में भी वीतराग हनुमान की इतनी प्रतिष्ठा उसके प्रवर्तक आचार्यों की उत्कट विरक्तिभावना का द्योतक है।

५. तुलसीदास में एकांत-श्रद्धा

तुलसी के प्रति अगाध निष्ठा इस धारा की पाँचवीं विशेषता है। शृंगारी शाखा के आचार्य रामचरणदास जी मानस के प्रसिद्ध आदिटीकाकार और तुलसी के अनन्य भक्त रूप में प्रसिद्ध हैं। सम्प्रदाय में मानस के गुप्त शृंगार को प्रकट करने के लिये वे तुलसी के अवतार माने जाते हैं—

रामचरण सिय राम रसिक अनन्य जिन,
मानस-रामायण को तिलक सु कीनो है।
भावभक्तिपूषण रहित दोषदूषण,
विज्ञाननैन खोलन को पूषण प्रवीनो है।

३—सीताराम विवादसंग्रह, पृ० ७२

गोपित शृंगाररस मारग प्रसिद्ध करि,
भक्ति भामिनी को जनु भूषण नवीनो है।
गूढ़ जानि निज ग्रंथ अर्थ को प्रसिद्ध हेतु,
स्वयं अवतार श्री गोसाईं जनु लीनो है ॥[1]

रामचरणदास जी की मानस की उपर्युक्त टीका शृङ्गारी भक्तों का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ है। जीवाराम जी 'युगलप्रिया' को रसिक भक्ति की प्रेरणा इसी से मिली थी। उनके बाद भी यह शृंगारी सन्तों के गले का हार बना रहा, 'युगलप्रिया' जी की भक्तिभावना पर रामचरितमानस के प्रभाव का वर्णन करते हुए उनके शिष्य वासुदेवशरण जी लिखते हैं।

आसिष पुनीतपाय अवध में आये नैन,
प्रेम जल छाये पेखि सोभा परधामकी।
गये घाट जानकी लखी सभासुजान की,
मतीभई न जानकी सो फेरि और ठाम की ॥
पादपद्म आरज आचारज को सीसनाइ,
लीनो सनबंध यथारीति अली नामकी।
रामायन टीका पढ़ि निज रूप जाने तब,
लोचन लुभाने पाय परा पूर काम की ॥[2]

सखाओं में भी तुलसी इसी रूप से समादृत हुए। रामरसरंगमणि जी ने उनके महत्त्व पर 'श्री तुलसीदास यशविलास' ही लिख डाला है। तुलसीवाणी का रामसाहित्य पर कितना प्रभाव पड़ा, इसका वर्णन इन्हीं के शब्दों में सुनिये—

तुलसी की बानी प्रभु तुलसी सी मानी,
लीन्हें संग सियारानी सुनै आपु मुसकैयाँ हैं।
ज्ञानी रामध्यानी भक्त संत जे अमानी,
कौन बात नरप्रानी पढ़ें प्रेम सो चिरैयाँ है ॥
सेयैं हरसैयाँ पद दोहा चौपैयाँ,
रस राम बरषैयाँ सुख मानो सुरगैयाँ हैं।
राम ही के नैयाँ जीव राखे सरनैयाँ,
पढ़ि साधु सुखदैयाँ भे गोसाईं जो गोसइयाँ हैं ॥[3]

रामचरित मानस के अनुशीलन से जनसामान्य एवं संतों को आनन्द ही नहीं मिला, उसके पाठ से बहुत से साधारण लोग ऊँचे भक्त बन गये। इसीलिये

१—रसिक प्रकाशभक्तमाल, पृ० ४०। २—रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० ३।
३—श्री रामविवर्णयशत पृ० १६।

रामरसरंगमणि जी की सम्मति में राम को मानस के प्रेमी तुलसी के समान ही प्रिय हैं—

कविता सुनि गाय सुलोग तरें तुलसी भवसागर के पुल-सी।
रस रंग मणी जेहि बाँधि अनन्त सुसन्त भये इमसे अलसी॥
अस सेवक पाय सिया पिय को कलि में भगती भुवि में विलसी।
तुलसी कुन में अति प्रेम जिन्हैं, प्रियते रघुनाथहिं ज्यों तुलसी॥[1]

दास्य भक्तों में तो तुलसी सभी प्रकार से पूज्य माने ही जाते हैं। बनादास ने इस साधना में इनको कितनी प्रधानता दी है, इसका बोध उनके 'उभय-प्रबोधक' रामायण के गुरुखण्ड से हो जाता है। उसका एक छन्द यहाँ उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा—

ऐंड़ अनोखी है श्री तुलसी हुलसी हिय में मन बुद्धि परे हैं।
पाणी पियें नहीं आइ सकें तेहि कौन कहै अहंकार दरे हैं॥
विघ्न अनेकन हारि गये अवलोकि जिन्हैं कलि काल जरे हैं।
दास बना बिगरी सुधरी भव सिन्धु अथाह में थाह करे हैं॥[2]

६—रसिक तीर्थों में आस्था

रसिक तीर्थों में आस्था, उसकी छठवीं विशेषता कही जा सकती है। रसिकभक्ति के विकास का वर्णन करते हुए, पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि, १८ वीं शताब्दी के आरम्भ से ही चित्रकूट और मिथिला रामभक्तों के प्रधान केन्द्र बन गये थे। उक्त स्थानों के कई महात्मा यहीं आकर रम से गये थे। १९ वीं शताब्दी में यह सम्बन्ध और भी अधिक दृढ़ हो गया। सभी सम्प्रदायों के रसिक सन्त उपर्युक्त तीनों स्थानों को समान रूप से पूज्य मानने लगे। केवल इसीलिये नहीं कि उनका रामचरित से सम्बन्ध था, बल्कि इसलिये भी कि १७ वीं और १८ वीं शताब्दी के बीच विशेष रूप से चित्रकूट और मिथिला, रामभक्तों की साधनाभूमि के रूप में प्रतिष्ठित और सिद्धस्थल के नाम से ख्यात हो चुके थे। इन तीर्थों का प्रत्येक सम्प्रदाय के लिये न्यूनाधिक रूप में पृथक्-पृथक् महत्त्व है।

मिथिला

जानकी जी की जन्मभूमि होने से, मिथिला, शृंगारी सन्तों के लिये साधना

१—श्रीरामप्रियपंचाशत, पृ० १८, २—उ० प्र० रा०, पृ० ३०

की सबसे उपयुक्त भूमि है। युगलप्रिया जी 'मिथिलादास' के प्रसंग में 'रामरसिकों की भूमि' मिथिला का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं—

रसिक गुरू उपदेश बसे मिथिला सुख रासी।
रामरसिक यह भूमि उपासक लखैं रुपासी॥
ताते मिथिलादास तिन्हैं सब सन्त कहत हैं।
प्रकट्यो कुंज अनादि जहाँ सुख रसिक लहत हैं॥
सिय-सेवा-सुख अनुपम लह्यो, सारो ध्यान अयान मन।
मति, गति, रति अटल अनन्यता, मानस विमल सुजान जन॥[1]

चित्रकूट

इसीप्रकार राम की विहारस्थली[2] के रूप में शृंगारी साधकों के लिए चित्रकूट के 'कामदवन' और 'जानकी कुंड' दो स्थान भी माधुर्यसाधना के प्रसिद्ध केन्द्र हैं। महात्मा युगलानन्यशरण की प्रेरणा से, रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह और रघुराजसिंह ने, सन्तों की सुविधा के लिए यहाँ मंदिर और भवन बनवाये हैं। शृंगारी, सखा एवं दास भक्तों में चित्रकूट के विषय में यह भी धारणा बन गई है कि वहाँ १२ वर्ष तक साधना करने से उपास्य का साक्षात्कार होता है। युगलानन्यशरण जी का निम्नलिखित संकल्प इसकी पुष्टि करता है—

बसि के सुदृढ़ सनेह सजि, सिय-कलकुंड समीप।
नाम निरन्तर एक रस, जपिहौं तजि सब दीप॥
जपिहौं तजि सब दीप, दीप जब लगि न प्रकासै।
महा अविद्या-मूल, सूल भव सूल न नासै॥
बारह बरस प्रयत्न, नेम गहि अचल सुखसिकै।
'युगल अनन्य' प्रमोद, काम गिरिवर-तट बसिकै॥

अयोध्या

परम्परा से अयोध्या दास्यभाव के भक्तों का गढ़ माना जाता रहा है, किंतु १८वीं शताब्दी में जब रसिक भक्ति का वेग बढ़ा तो यह भी एक प्रकार से रसिकक्षेत्र बन गया। शुद्ध दास्यभाव के साधक बहुत थोड़े रह गये।

१—रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० ८७।

२—चित्रकूट घन खण्ड में, विहरत दसरथ लाल।
राम सखे मन बाँधिकै, रहै सो होय निहाल॥
—वृ० रा० मि०, दो० ५०

(पृष्ठ १६३)

अयोध्या में रसिक संप्रदाय की सभी शाखाओं के तत्कालीन आचार्यों ने अपने स्थान बनवाये और स्थायी रूप से वहाँ निवास करने लगे।

शृंगारी एवं सख्य संप्रदाय के आचार्यपीठों के रूप में क्रमशः गलता और मैहर की भी प्रतिष्ठा इस काल में बढ़ती गई।

रसिक भक्ति का प्रसार-क्षेत्र

अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक राजस्थान ही रामभक्तों की रसभूमि बना रहा, किन्तु उसके अनन्तर अयोध्या, मिथिला और चित्रकूट के बीच सन्तों का आवागमन बढ़ा, जिसके फलस्वरूप उत्तरप्रदेश, विंध्यप्रदेश और बिहार, इस समय रामभक्ति के मुख्य क्षेत्र बन गये। इस काल के शृंगारी सन्तों में अधिकांश पूर्वी प्रदेशों के निवासी थे, इसलिये भी उनका उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग और बिहार पर विशेष प्रभाव पड़ा। सख्यभक्ति का केन्द्र विन्ध्यप्रदेश में मैहर राज्य था। यहाँ रामसखे जी की प्रधान गद्दी थी। अतएव चित्रकूट के आस-पास बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड में इस परम्परा के सन्तों की प्रतिष्ठा बढ़ी। सियासखी जी की जयपुरवाली शृंगारीपरम्परा के पन्ना और छतरपुर राज्य तथा राजपूताना विशेष कार्यक्षेत्र बन गये। महात्मा रामचरणदास जी और रघुनाथदास का उत्तर भारत और अवध के पश्चिमी जिलों तथा पं० उमापति जी का अवध के राजाओं में विशेष मान था। इनके समकालीन अन्य रसिकसंतों के भी चेले सहस्रों की संख्या में थे, जिनमें बड़े बड़े राजे-महराजे, सेठ-साहूकार, साधारण कृषक और कारीगर सभी जातियों और श्रेणियों के लोग थे। ये महात्मा स्वयं तो शक्ति के केन्द्र थे ही इनके विचरने वाले शिष्य भी ऊँचे दर्जे के साधक और उत्साहसम्पन्न धर्मदूत थे। अतः थोड़े ही समय में रामभक्ति की यह धारा विद्युतगति से उत्तरप्रदेश तथा विन्ध्यप्रदेश के अधिकांश भाग और पूरे बिहार में फैल गई। मध्यभारत में भी, कृपानिवास जी की उज्जैन की गद्दी द्वारा, थोड़ा बहुत इसके सिद्धान्तों का प्रचार होता रहा।

रसिकों में स्नेह-सद्भाव

रसिक सम्प्रदाय के इस उत्कर्ष का प्रधान कारण उनके विभिन्न वर्गों में पारस्परिक प्रेम और सद्भावना का होना था। सभी को अपने-अपने ढंग से राम का गुणगान इष्ट था। ये रामभक्ति के ऐश्वर्य को पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित करना चाहते थे अतएव इनमें आपसी कलह और संघर्ष को स्थान न मिल सका। अपने व्यावहारिक जीवन में विभिन्न रसों के भक्त, एक दूसरे की मर्यादा

का कितना ध्यान रखते थे, इसका निदर्शन पहले हो चुका है। सखी, सख्य, पिता, माता, दासी, दास, कुटुम्बी, सम्बन्धी, प्रजा आदि विविध भावों के साधकों की उपस्थिति से, रामतीर्थों में रसिक भक्तों का एक समृद्ध कुटुम्ब बन गया था और प्रत्येक वर्ग, इष्टनिष्ठा के अनुसार अलग होते हुए भी अपने को उस विशाल परिवार की, एक अभिन्न इकाई समझता था। उसका व्यवहार भी पारिवारिकमर्यादा के अनुकूल ही होता था। भावक्षेत्र में अपने रसों में अनन्यता रखते हुए भी रसाग्रह अथवा रसद्वेष, रसिकसाधकों को छू तक नहीं गया था। एक दूसरे के भावों का सम्मान करते हुए, अपने व्यावहारिक जीवन में वे कितने मृदु, कितने सरस और कितने उदार थे; दो-एक उदाहरण देकर इसे स्पष्ट कर देना विषयान्तर न होगा।

महात्मा युगलानन्यशरण शृंगारीभावना के उपासक थे और परमहंस शीलमणि जी सख्यभाव के। इनमें व्यक्तिगत सौहार्द के साथ ही एक दूसरे के भक्तिरसों के प्रति कितना आदर और सम्मान था, इसका आभास इनके निम्नलिखित पत्र व्यवहार में मिलता है।

एक बार शीलमणि जी ने अपना 'अनुरागलहरी' नामक ग्रन्थ महात्मा युगलानन्यशरण के पास निम्नलिखित शब्दों के साथ, सम्मत्यर्थ भेजा—

"स्वस्ति श्री परमप्रवीण रंगीन नवीन सनेही सज्जन साहेब अजायब नायब दम्पति सम्पत्ति सलोने अनूपम सर्वेशवेश सुदेशदेश श्री अवध सरयूसुजीवनधन सर्वदा परम अनन्यशरण प्राणप्रिय उभयलोकसंजीवन जीवन जू को लिखि श्री सीतारामानन्य शीलमणि कृत अनन्त जोहार अंकमाल छविजाल रसाल दम्पति सम्पति ख्यालहाल लाल बाल सर्वकाल रस रसिकन के धन को जयति जय।"

इस पत्र के उत्तर में 'अनुरागलहरी' की प्रशंसा करते हुए श्रीयुगलानन्यशरण जी ने एक पद्यबद्ध पत्र भेजा, जो इस प्रकार है—

स्वस्ति श्री प्रताप दाप आपकी सदा हरैं।
न शंक वंक तंक रंक राव का हिये करैं॥
अपंकप्रेम अंक की कला कला लसी धरैं।
अटंक डंक ठांकि कामकंक कालिमा हरैं॥
सदा दमंक दामिनी दिमाग राग हो भरैं।
सखे! सुजानशील! शानशीक सामुहे सजैं॥
उछाह शाह चाह ते विशेष चोर लौं चजैं।
सुनेह देह गेहसी विवेक से सभी वजैं॥

बिहार जान आनिके रसीर से सही भजैं।
हमेश हर्ष हीय को मिले विना कहाँ तजैं॥
सुदेशवेश पीय को छिले विना कहाँ सजैं।
वशिष्ठजासुतीर तानगान को गमे गजैं॥
विशेष ओट चोट ते विचार हूँ धजे धजैं।
हुलास हासरासको कहीं झलक पलक परें॥
गुलाब आप माहताब ताब खाक सी करें।
अनन्य मौज मानसी प्रकाश वे यहा भरें॥
शीलमनी नव नागर आगर रूप।
इन्द्रनीलमणि मोहित अजब अनूप॥[1]

पं० उमापतित्रिपाठी वात्सल्यनिष्ठा के रामभक्त थे, किंतु सखा और शृङ्गारी भक्तों से वे अपने भावसम्बन्ध के अनुकूल स्नेहमय व्यवहार करते थे। राम के सखा और सखियाँ उन्हें उतने ही प्यारे थे जितने स्वयं राजकुमार राम और महारानी सीता। अपने समय के ये अयोध्या क्या अवधप्रदेश के प्रकाण्ड पंडित माने जाते थे, अतएव सभी रसों के भक्त उनसे, संस्कृत भाषा के सैद्धांतिक ग्रन्थ पढ़ने आते थे। शृङ्गारी हरिदास जी भक्तमाली ने उनसे 'कोशल-खण्ड' पढ़ा[2] और सख्यावेशी पं० अवधशरण जी की प्रेरणा से उन्होंने स्वयं 'सख्यसरोजभास्कर' नामक सख्यरस के सिद्धांतग्रंथ की रचना की। प्रियसखा शीलमणि जी से उनका प्रगाढ स्नेह था। यह उनके निम्नलिखित पत्र व्यवहार से प्रकट होता है।

पं० उमापति जी ने परमहंस शीलमणि जी के पास संस्कृत एवं हिन्दी में मिश्रित निम्नांकित काव्यबद्ध यह पत्र भेजा :—

अनन्तकल्याणगुणैकराशिमशेषदोषोज्झितमप्रमेयम्।
मुमुक्षुभिः सेव्यमनन्तसौख्यदं भवच्छिदं तं प्रणमामि नित्यम्॥
परमहंस छवि रसमय अनघ अनूप।
छाके रहत मधुररस ज्ञानसरूप॥
राघो मुकुट छटा पर वारे प्रान।
शीलमनी भे संज्ञासून सुजान॥
रामसखे! तव झाकी बिसरत नाहिं।
'कोविद' धन्य सुभाव भावना आहिं॥

१—श्रीगुरुरामचरितम्, पृ० ५१ २—रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० ६१।

सदयितो दयितो जगतामसौ,
सुदयितो दयितोऽपि शनैस्सदा।
विजयते जयतेश्वरवंदनः,
सर्मुदितो मुदितो रघुनन्दनः॥

'इति श्रीमच्चक्रवर्ति चक्रचूड़ामणि महाराजकुमार सज्जितभार श्रीमद्राम सभासद् त्रिपाठ्युपनामोमापतिशर्म...श्रीरस्तु।'[1]

इसके उत्तर में शीलमणि जी ने कृतज्ञतासूचक निम्नलिखित पत्र भेजा—

'स्वस्ति श्री करुणाकल्याणसागर सुयशउजागर वात्सल्यरसिकवर पंडितप्रवर श्रीमच्चक्रवर्ति चक्रचूड़ामणि महाराजकुमार सज्जितभार श्रीमद्रामसभासद श्री सहसयुक्त श्री उमापति त्रिपाठी परमविचारवान् सुजान यतात्मवान् माधुर्यरसखान जू को लिखि श्री सीतारामानन्य शील-मणि कृत अनन्त जोहार अङ्क माल।

जानकी नयनयुग्मगोचरं, मानिनां नयनयोरगोचरम्।
नीलमेघरुचिरच्छवि सदा, भावये मनसि राघवं मुदा॥
जयतु जयतु॥ जय॥'[1]

त्रिपाठी जी का पूर्वोक्त पत्र उस घटना के बाद लिखा गया था, जब शील-मणि जी इष्टदेव के मुकुट की छटा देख कर तीन दिन तक मूर्छित पड़े रह गए थे। इस पत्र को उमापति जी ने उनके प्रति अपने हृदय के भाव व्यक्त करने के विचार से लिखा था।[2]

इसीप्रकार विविध भावसम्बन्धों के आधार पर इस काल के रसिक महात्माओं में भाँति भाँति के विनोद होते रहते थे और संतजीवन में भी वे महानुभाव गृहस्थजीवन के हास-परिहास का आनन्द लिया करते थे। अयोध्या के संत मिथिला के संतों को जिस दृष्टि से देखते थे, उसे कहने की आवश्यकता नहीं। लोकजीवन में वह आज भी मनोरंजन का विषय बना हुआ है। सख्य-भावना के प्रसिद्ध संत रामसखे जी की खुलेआम घोषणा थी—

सीताराम विवाहते, नातो भयो उदार।
रविबंसिन के लगत हैं, निमिबंसी सब सार॥[3]

मिथिलावासी संत मामा प्रयागदास ने अपने अगाध भावुकतापूर्ण आचरण

1—श्रीगुरु रामचरितम्, पृ० ५४-५५
2—वही, पृ० ५४
3—नृत्यराघव मिलन दोहावली, पृ० ५६

इससे यह विदित होता है कि इस काल में राम तथा कृष्ण के शृंगारी रूप की मीमांसा चल पड़ी थी और उनकी लीलाओं के उत्कर्ष का मानदंड माधुर्यविलास बन चुका था। रामचरित में शृंगारिकता का गहरा रंग चढ़ाने में इस भावना का पूरा योग रहा होगा, इसमें संदेह नहीं।

अयोध्या का आकर्षण

रामभक्ति में रसिक साधना की असाधारण उन्नति से उन्नीसवीं शती के आरंभ से ही कृष्णभक्त अयोध्या की ओर आकृष्ट होने लगे थे। अठारहवीं शती के अंत तक स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत थी। रामभक्त रस साधना की प्रक्रिया सीखने वृन्दावन और मथुरा जाया करते थे, किन्तु अब कतिपय कृष्णभक्त वृन्दावन छोड़ कर अयोध्या को अपना निवासस्थान बनाने और कृष्ण की ब्रजकुंजों की रासलीला का ध्यान करना छोड़कर, राम की प्रमोद-वन-लीला का ध्यान करने लगे। ऐसे संतों में रामदास वृन्दावनी, मोहनदास वृन्दावनी, सन्तदास वृन्दावनी और बंगाली सन्त गोपालदास वृन्दावनी मुख्य थे। रामदास जी हितहरिवंश जी के घराने के थे। ये रामसखे जी के शिष्य-चित्रनिधि जी, के द्वारा रामभक्ति में दीक्षा लेकर अली-भाव को प्राप्त हुए थे। इस विषय में महात्मा जानकीरसिकशरण का निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य है—

> हितवंस विदित जे रामदास वृन्दावनी,
> स्वच्छ भाव पेखि लली जू ने अपनाई है।
> अलि भगवान और रीति जैसे भई तैसे,
> विपिन प्रमोद कुंज गली में भुलाई है॥
> चित्र निधि जी से दश आठ दिन चर्चा करि,
> हियो भरि भावना सो सेवा रीति पाई है।
> और हू मोहन दास वृन्दावन रास तजि,
> विपिन अशोक रास लीला लव लाई है॥[1]

श्रीकृष्ण के रूपोपासक भक्त गोपालदास जी बंगाली, वृन्दावन की गलियों में पहले झाड़ू लगाया करते थे। वहाँ से अयोध्या चले आये। और यहाँ सोनखर-कुण्ड पर निवास करते हुए सखी-भाव से राम की उपासना करने लगे।

> श्री गोपालदास बड़े रूप के उपासी जिन,
> वृन्दावन वीथिन में प्रेम झारु दीनी है।
> एक दिन स्वप्न जनायो आवो अवध को,
> है है काम पूरन तुरन्त मानि लीनी है॥

1—रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० ६१।

कोशला में आय यही कीनो है उपाय,
परिक्रमा देत झाडूकरि मणिभूमि चीन्ही है।
विद्या कुंड सोनखर मध्य मनभायो पायो,
मांगुवर बानी सुनि भक्ति मांगि लीन्हीं है[1] ॥

इसी प्रकार संतदास जी वृन्दावनी, अयोध्या आकर महात्मा रामचरणदास जी से दीक्षित हुए और पीछे जनककिशोरीशरण नाम से विख्यात हुए—

संतदास वृन्दावनी निर्गुण निरंजनो श्री
राघव की प्रेरणा से अवध में आये हैं।
सरयू नहाय प्रति मन्दिर में जाय,
वर दम्पति उदार छवि लखि के लोभाये हैं ॥
जानकी के घाट संत सभा देखि हरखाये,
चर्चा में माधुरी रहस्य सुख छाये हैं।
जनक किशोरी शरण नाम निज पायो,
अष्टयाम रस रसिकन हाथ में बिकाये हैं[2] ॥

सामान्य कृष्णभक्तों तक ही यह आकर्षण सीमित नहीं रहा, कुछ कृष्ण-भक्त आचार्य भी अयोध्यावासी रसिक सन्तों से प्रभावित हुए। वृन्दावनवासी श्रीललितकिशोरी जी (शाह कुन्दनलाल, आविर्भाव काल १८५६–७३ ई० के बीच) के एक पत्र से, जो महात्मा युगलानन्यशरण के पास लिखा गया था, उक्त धारणा का समर्थन होता है। पत्र इस प्रकार है—

प्रेमावधि रस लाड़िले, काम केलि सुख धाम।
श्रीयुगलानन्यशरण प्रति, मेरी श्यामा श्याम ॥
वन विनोद वसि कुसलइत, वर्ते प्रमोद निवास।
समाचार युग बंचने, रजनी सुरति विकास ॥
रजधानी रस रीति की, सेज सिंहासन हाल।
एक रजाई राजहीं, राजा प्यारी लाल ॥
सहृत न पट विविधान उर, अद्भुत लालन ख्याल।
वजी उरबसी उरबसी, बसी उरबसी बाल ॥
मदन मास रति तिथी शुभ, वे लिकुतूहल वार।
संवत सरवर मनहरन, ललित किशोर विहार ॥[3]

१—रसिकप्रकाश भक्त माल, पृ० ८५। २—वही, पृ० ५५।
३—इस पत्र की प्रतिलिपि लेखक को अयोध्यावासी महात्मा रामप्यारी शरण से प्राप्त हुई है।

रसिक-साधना

साधना का स्वरूप

राममक्त रसिकों की एक निश्चित साधनापद्धति है, जिसका अपना अलग साहित्य है। सम्प्रदाय के प्रवर्तक अग्रदास जी से लेकर रसिकाचार्य रामचरण दास जी तक शृंगारी शाखा में, और रामसखे जी से लेकर शीलमणि जी तक सख्य शाखा में, जिन शास्त्रों एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थों के आधार पर रसिकभक्ति के सिद्धान्त विकसित हुए हैं, उनमें वेद, उपनिषद्, पुराण, संहितायें, वाल्मीकि-रामायण, शैव, वैष्णव एवं शाक्ततन्त्र, भागवत, आलवार सन्त शठकोपाचार्य की रचनायें, हनुमन्नाटक, भुशुण्डिरामायण, महारामायण तथा सत्योपाख्यान विशेष उल्लेखनीय हैं। इसका थोड़ा बहुत सकेत हम, रसिक राममक्ति के विकास की स्थितियों का वर्णन करते हुए, पहले कर चुके हैं। यहाँ एक बात यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रसिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत यों तो पाँचों रसो की साधना अन्तर्निहित मानी गई है, किन्तु उसका क्रम-बद्ध इतिहास शृंगारी और सख्यशाखाओं में ही मिलता है। शान्त को ये लोग रूक्षरसिकों की साधना मानते हैं, अतएव इस ओर इनका ध्यान कम गया है। इस भाव के उपासक भी बहुत थोड़े हैं। वात्सल्य और दास्य, शुद्ध रसिकभाव माने जाते हैं किन्तु इन रसों के साधकों की भी सख्या अपेक्षाकृत न्यून है। निदान इनकी उपासनापद्धतियों का विवेचन व्यवस्थित रूप से नहीं हुआ है। भक्ति रसों में शृङ्गार और सख्य को ही विशेष महत्त्व दिया गया है, क्योंकि अंगी रूप से यही दो भाव आते हैं। शेष प्रायः अग के रूप में हैं। अतः उनमें से बहुतों की साधना मिश्रित रूप में पाई जाती है। इस शाखा में अनेक सन्त ऐसे मिलते हैं जिनकी साधनापद्धति पूर्वोक्त धारणा की पुष्टि करती है। महात्मा रामराघवदास दास्य भाव के उपासक होते हुए भी शृङ्गारी साधना में श्रद्धा रखते थे और प० उमापति जी उपास्य पर वात्सल्यभाव रखते हुए भी उनकी शृङ्गारी और सख्य लीलाओं का गान करते थे। इसी प्रकार श्रीरामसख रद्दनगि दास्यमिश्रित सख्यभाव के उपासक थे।

विकासक्रम से रसिकों में शृङ्गारी साधना का सूत्रपात पहले हुआ। अतएव सुव्यवस्थित एवं शृङ्खलाबद्ध साधनात्मक साहित्य उसी का मिलता है। सख्याचार्यों ने थोड़ा बहुत हेर फेर करके जो अपनी अलग उपासनापद्धति चलाई, वह सखीभाव की ही पुरुषाकार कल्पना पर आधारित है। इन दोनों की

साधनाप्रणाली में कोई तात्विक अन्तर नहीं। उदाहरणार्थ नर्मसखा, दिव्यदम्पति की केलि के सहायक, उसी रूप में माने जाते हैं, जैसी मंजरी सखियाँ। प्रियसखा, उपास्य से उसी प्रकार का स्वंग्यविनोद करते हैं, जिस प्रकार जानकीजी की समवयस्क सखियाँ। सुहृद सखाओं को वात्सल्यभाव रखते हुए भी राम की शृङ्गारी लीलाओं के चिन्तन की स्वतन्त्रता है। दोनों में भेद केवल इतना है कि सखियों को जिस प्रकार उपास्य की अन्तरङ्ग सेवा का एकाधिकार प्राप्त है उसी प्रकार सखा, राम की बहिरंग सेवा—बाल क्रीडा, आखेट, सवारी, युद्ध-यात्रा, देशरक्षा तथा राज्य प्रबन्ध आदि, में मुख्य सहायक माने जाते हैं। अतएव उनकी साधना में केवल सेवा के स्वरूप में अन्तर है। रसिक साधना-पद्धति के आगामी विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा।

रसिक साधना के अधिकारी

रसिक आचार्यों ने विशिष्टभावसम्पन्न वीतराग साधकों को ही माधुर्य भक्ति का अधिकारी माना है। इसीलिये इसका विकास एक गुप्त अथवा रहस्य साधना के रूप में हुआ। साम्प्रदायिक ग्रंथों का इस विषय में स्पष्ट आदेश है—

> उपादिशेच्च सम्बन्धं परीक्ष्य विधिवज्जनम्।
> वैपरीत्यं च नो कार्यं कदाचित् भावज्ञातृभिः॥
> अस्याधिकारिणो लोके ये पि केपि महामुने।
> अतः सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं सदैव हि॥[१]

अग्रस्वामी सांसारिक भोगों से विरक्त ऊँची स्थिति के संतों को ही 'दिव्य शृङ्गार' का पात्र मानते हैं—[२]

१–हनुमत्संहिता, पृ० २६

२–भारतीय एवं पाश्चात्य माधुर्यसाधना में, इस दृष्टि से एक अद्भुत समानता मिलती है। संत बर्नार्ड की साधना के विषय में सिडनी केव ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे अग्रदास के तत्संबन्धी आदर्शों के सर्वथा अनुकूल ठहरते हैं।

"In the quite of the forest St. Bernard meditated on the scriptures, so that, at last, after much discipline, he might be able in an ecstacy, which made him dead to the world, to ascend in spirit into the immediate presence of

रसिकों के ध्येय

रासमंडलमध्यस्थं रसोल्लाससमुत्सुकम् ।
सीताराममहं वन्दे सखीगणसमावृतम् ॥
— रामचरण दास
(पृ० ३११,३१२)

स्वामी अग्रदास और नाभादास
(पृ० ३७६,३८२)

देव तथा ऋषिकोटि के उपासकों, एवं शठकोप, अग्रदास, बालअली, रामसखे और रामचरणदास ऐसे भक्तों का उनकी रासलीला में रस लेना स्वयं उस रस की उज्ज्वलता का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त तत्सुख अथवा सखीभाव धारण कर अपने सुख की भावना का सर्वथा त्याग करना भी रसिक भक्ति की वासनाहीनता का द्योतक है। रामभक्त रसिकों का यह विश्वास है कि उनके आराध्य की शरण में जो लौकिक कामभावना की तृप्ति के लिये जाता है, उसकी वही दशा होती है जो दण्डकारण्य में शूर्पणखा की हुई थी।

महात्मा रामसखे का अनुभव है कि युगलसरकार की प्रमोदवनलीला का ध्यान करने से विषयभोग की वासना समूल नष्ट हो जाती है—

विषय भोग जग स्वप्नवत्। समुझिपरै मन माँह।
राम सखे भजु राम का। वन प्रमोद द्रुम छाँह॥[1]

लीला रस

साकेत की युगलविहारलीला ऐश्वर्य और माधुर्य के कूलों से टकराती हुई लहरों का एक अपार समुद्र है। विश्व में जो कुछ सरसता दिखाई देती है, उसकी सृष्टि उसके कणमात्र से हुई है। आनन्द का मूल स्रोत लीला ही है।[2] *उस रस की अणुमात्र छींट* जिनके हृदय पर पड़ जाती है वे प्रभु की आनन्द मयी लीलाओं के चिन्तन और गान में सतत विभोर रहते हैं।[3] जिन्हें साधना द्वारा उसके आस्वादन का अधिकार मिल जाता है, वे फिर मोक्ष के भिखारी नहीं बनते।[4] भगवत्प्राप्ति के अन्य मार्गों का अनुसरण वही करते हैं

१—नृ० रा० मि०, पृ० ५७

२—एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति
—बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।३२

३—या रस की अणुमात्र छींट जाके हियलागी।
वसीभूत तिह सग रहत, प्रभुरस अनुरागी॥
—रामध्यानमंजरी (बालअली), पृ० १३

४— कैवल्यदौर्बल्यकरं महारसं,
सीतापते रासविलासमाधम्।
कायेन वाचा मनसा स्मरेद्य
स याति गोलोकनिरामय पदम्॥
—हनुमत्संहिता, पत्र २१

जिन्हें इस 'रस पथ' की पहचान नहीं होती। बालअली जी का यह निश्चित मत है—

यहि सुख लगि जे रहे सन्त सतत जग माहीं।
मुक्तादिक आनन्द और चितवत हूँ नाहीं॥
सकल सुकृत पथ मोक्ष भीख अस देतहिं जोई।
यह रस पथ अनुहरत होत सब तीवो सोई॥
जोग जज्ञ व्रत दान करे जिहिं सुकृत जिते हैं।
नहिं यह पथ पहिचानि जानि हरि विमुख तिते हैं॥[1]

रामसखे जी 'रासरस' को ही सभी रसों में प्रगाढ़तम मानते हैं—

रासध्यान करिये सदा, सकल रसन गंभीर।
राम सखे प्रणकुटी करि, वसि सरयू के तीर॥

महात्मा बनादास प्रतिक्षण नये स्वाद देने वाले उस दिव्य रस का पान करते छकते नहीं। उसका स्वाद अनिर्वचनीय है। रसना उसका अनुभवमात्र कर सकती है, बखान नहीं।

छिन छिन पीवै छकै नहिं, अमल अमी सरसाय।
बनादास जिमि गूंग गुड़, स्वाद कहो नहिं जाय॥

रसिकों की कालक्षेप व्यवस्था

रसाचार्यों ने साध्य तत्त्व की प्राप्ति के बाद भी साधकों की दिनचर्या सम्बन्धी कुछ नियम निर्धारित किये हैं, जिनका उद्देश्य है उन्हें सर्वदा प्राप्त वस्तु के अखंड आनंदभोग की परिस्थिति में रखना। इस प्रकार के करणीय कृत्य हैं[2]—अखंड भजन, सद्ग्रन्थावलोकन, प्रपन्नानुकूल आचरण, आश्रमकुलोचित धार्मिक कृत्यों का संपादन, कर्तृत्वबुद्धि का त्याग, सतगुरु सेवा, मधुकरी अथवा अनाश्रुति वृत्ति से भोजन प्राप्ति, निरवलम्ब जीवन यापन, आराध्य की बहिरंग पूजा, मानसीभावना से उनकी दिव्य केलि का ध्यान, अष्टयाम सेवानुकूल पदों का गान, अर्चाविग्रहों में उपास्य के रूपमाधुर्य का अवलोकन, देशकालानुसार उत्तम वस्तुओं का उपास्य को अर्पण, अपने भाव के अनुसार आराध्य की रसमयी क्रीडाओं का ध्यान और उनसे मिलन की उत्कंठा, आहार नियति, अर्थ काम अहंकार का त्याग, देहयात्रा में उपेक्षा तथा आत्मयात्रा में अपेक्षा का भाव, प्राकृत वस्तुओं में भोग्यत्व बुद्धि की निवृत्ति, अन्नवस्त्रादि का प्रसाद रूप में ग्रहण, दुःख को मोक्ष

1—रामध्यानमंजरी, पृ० ५१ 2—अर्थपंचक, पृ० ३१-३२

का कारण मानना, रामतीर्थों तथा रामभक्तों की साधनाभूमियाँ—विशेष रूप से अयोध्या, चित्रकूट, काशी और मिथिला में—वास करना और पूर्वाचार्यों की रीति पर सदाचारपूर्ण ढंग से जीवन यापन करते हुए भक्ति का प्रचार करना।[1]

इनके साथ ही 'युगल सरकार' की द्वादश मास[2] अथवा षड्ऋतु लीला का ध्यान, समय समय से लीलानुकरण का आयोजन और उनके चरितसम्बन्धी

१—रसिकन के मति यह अति दाना। अञ्च जियन दीजिय निज ज्ञाना।

—वृ० रा० मि०, पृ० १९।

२—षट्ऋतु बारह मास की अवध पुरी सुख खानि।
सीय लाल नितरग में तहँ सरसत रस सानि॥
सावन रस हिंडोलने भादवँ भाव नेवार।
आश्विन शारद विहार बहु कार्तिक दीप उदार॥
अगहन ब्याह महान रस दुलह-दुलहिनी रग।
पूस माघ सिय लाडिलो विलसत परसत अंग॥
फागुन, होरी कुंज मे गोरिन के सँग रग।
केसरि कुमकुम नीर के मचत मदन को जग॥
चैत हरीरे लतन में विहरत सखिन समेत।
कूजत कोकिल भँवर बहु लाल रसिक रस लेत॥
फूल वाटिका बाग चहुँ वन विगसित सर कञ्ज।
विलसत माधव मास में रली लाल रस मञ्जु॥
तहखाने खसखान में मोती महल उदार।
फूलन के बँगले बने तामें छुटत फुहार॥
फूलन गादी गेंदुआ चँदवा झालरि फूल।
परदा फूल बिछावने सोहत परम अमूल॥
तामे सुमन सिंगार करि विलसत नवल किसोर।
सेवति नैनन पलक से अली छली चित चोर॥
केसरि अतर कपूर शुभ चन्दन अगर उसीर।
जेठ मास दोउ लाडिले विहरत सरजू तीर॥
सुन्दर मास असाढ़ में घटा व्योम दरसाय।
विहरत ऐंठ छबीलि दोउ राग रग सरसाय॥

—सम्बन्ध प्रकाश (हीरमणि), पृ० ८१-९१

व्रतोत्सवों को उत्साहपूर्वक मानते रहना भी रसिकों का साम्प्रदायिक कर्तव्य माना गया है।

रसिकों के व्रतोत्सव

श्री वैष्णव सम्प्रदाय के सामान्य व्रतोत्सवों के अतिरिक्त रसिक शाखा में श्रीसीताराम की लोकलीलाविषयक कुछ विशिष्ट पर्व एवं त्योहार मनाये जाते हैं। साधना में माधुर्य की प्रधानता होने के कारण ये उत्सव 'दिव्य दम्पति' के 'सम्बन्ध-स्थापना-दिवस' अर्थात् रामविवाह की तिथि मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी से आरम्भ और कार्तिकी पूर्णिमा को समाप्त होते हैं। इनकी सूची नीचे दी जाती है—

उत्सव	समय
१. रामविवाह	मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी
२. सिद्धा जी की रसोई	मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी
३. राम का गौना (द्विरागमन)	पौष शुक्ला द्वितीया
४. रामानन्द-जयन्ती	माघ कृष्ण अष्टमी
५. वसन्तलीला	माघ शुक्ला पंचमी
६. फागलीला	फाल्गुन मास भर, होली को समाप्ति
७. रामजन्म	चैत्र शुक्ला नवमी (प्रतिपदा से नवमी तक राम जन्म कथा, बधावा और झाँकी)
८. राम की छठी	चैत्र शुक्ला चतुर्दशी
९. राम की बरही	वैशाख कृष्ण पंचमी
१० जानकीनवमी	वैशाख शुक्ला नवमी (प्रतिपदा से नवमी तक सीताजन्मकथा, बधावा और झाँकी)
११. चन्द्रकला-जयन्ती	वैशाख शुक्ला चतुर्दशी
१२. चारुशीला जयन्ती	वैशाखपूर्णिमा
१३. सरयूजन्म	जेष्ठ पूर्णिमा
१४. फूलबंगला	ज्येष्ठ पूर्णिमा से आषाढ पूर्णिमा तक
१५. रथयात्रा	आषाढ शुक्ला द्वितीया
१६. गुरुपूर्णिमा	आषाढ पूर्णिमा
१७. हिंडोललीला	श्रावण शुक्ला तृतीया से पूर्णिमा तक
१८. कृष्णजन्माष्टमी	भाद्रकृष्ण अष्टमी
१९. सरयूनौकाविहार	भाद्र शुक्ला एकादशी

रस शृंगार अनूप है, तुलवे को कोउ नाहिं ॥
तुलवे को कोउ नाहिं, सोई अधिकारी जग मैं।
कंचन कामिनि देखि, हलाहल जानत तन मैं ॥
जावत जग के भोग, रोग सम त्यागेउ द्वन्दा।
पियप्यारी रस सिन्धु मगन नित रहत अनन्दा ॥
नहीं 'अग्र' अस सन्त केसरि लायक जग माहिं।
रस शृंगार अनूप है, तुलवे को कोउ नाहिं ॥[1]

सात्विक अंतःकरण के शान्तशील, और वीतराग महात्माओं के हृदय में, उपास्य के प्रति जो अनुराग उत्पन्न होता है, भोग का अनुसंधान न होने से वह काम विकाररहित होता है। अतएव उस स्थिति में वे जिस दिव्य रसकेलि का वर्णन करते हैं, उसका उपभोग समानधर्मा भक्त ही कर सकता है। विषयासक्त साधारण लोग न तो उसके पात्र हैं और न उनके लिये उनका सृजन ही होता है। सांसारिक विषयभोग के उपादानों पर आश्रित देखकर वे उद्दिष्टभाव के विपरीत एवं अपनी वासनाओं के अनुकूल अर्थ लगायेंगे और उसकी खिल्ली उड़ायेंगे, इसका अनुमान करके ही आचार्यों ने रसिकसाहित्य के खुले प्रचार का निषेध किया है। बालअली जी का इस विषय में कहना है—

दंपति नेह विलास, कथा सजीवनि अलिन की।
है है जग परिहास, आन श्रवन मुख परत ही ॥[2]

× × ×

आली नेह प्रकासिका, वचन हिये में राखि।
त्रिविध सजाती भक्तबिनु, जिन कतहूँ कछु भाखि ॥[3]

उन्होंने उसे प्रकृति पुरुष से परे अलौकिक रसमयी उपासना माना है, जो लौकिक-बुद्धि-वाले लोगों के लिये सर्वथा दुष्प्राप्य है—

God, there with the angels to enjoy the beautiful vision of the Divine, as a wife with her husband, the believer enjoys Christs presence in a tender intimacy which has left all fear behind, Such love dalliance, St Bernard held to be the highest blessing of religion, vouchsafed only to those wholly consecrated into God".

Sydney Cave, : Redemption of Hindu & Christian P. 208

१—सुंदरमणि संदर्भ, पृ० २ २—नेहप्रकाश, छन्द १२९।
३—वही, छन्द १२८।

प्रकृति पुरुष से जो परे, परमतत्व रस रासि।
सो वह परम उपासना, चहै सु परम उपासि ॥[1]

तात्पर्य यह कि उपासना का रूप शृङ्गारिक होने से, इस मार्ग में साधकों के पतन की सबसे अधिक सम्भावना देखकर, रसिक साधना के सिद्धान्तग्रंथों में उसके लोकप्रचार पर बड़ी पाबन्दियां लगाई गई हैं। सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने के बाद भी रसमयी चिन्तन-पद्धति का अनुसरण करने पर कच्चे साधकों के स्खलन की आशंका सदैव बनी रहेगी, इस विचार से केवल रागानुगा भक्ति का अनुसरण न कर उनकी संपूर्ण जीवनचर्या को वैधी भक्ति की शृङ्खलाओं में जकड़ने की व्यवस्था की गई है। महात्मा रामचरणदास सच्चे रसिक की 'रहनी' का वर्णन करते हुए कहते हैं—

माँगि मधुकरी खात जो, श्री सरयू जल पान।
रामचरन में अवध बसु, तेहि सम धन्य न आन॥
सकल विषय तजि सीठ जिमि, सरयू तट हरपाइ।
राम विचार मदांध इव, रामचरण रस पाइ॥
जगते प्रथम विराग करु, दुसरे तन सुख त्यागु।
तीसर अन्तर त्यागकरु, रामचरण तब लागु ॥[2]

संक्षेप में, कामसंकल्पविवर्जित जीव ही इस रसकुंज में पैठने के अधिकारी हैं।

रसिक साधना का साध्य तत्त्व

रसिक सन्तों के अनुसार साधना का परम लक्ष्य दिव्य दम्पति का सेवा-सुख और युगलकेलि के लोकोत्तर रस का आस्वादन है।[3] इन दोनों की प्राप्ति उपास्य के सान्निध्य से ही हो सकती है, अतएव अपने दिव्य शरीर का सखी, सखा, दासादि किसी एक रूप में ध्यानकर, प्रभु की सेवा में स्वयं को अर्पित करना ही उसका मुख्य साधन माना गया है। इसे साम्प्रदायिक साहित्यों

१—वही, छन्द ४। २—वैराग्य शतक, पृ० १५।

३—प्रथम उपासक भाव विचारे।
सतगुरु दया सखी तन करि निज रंग महल रस रहसि निहारे।
तनकृत करि गुरु प्रेमभावना आयसु पाय महल पगु धारे॥
मधुर मधुर गति मधुर भावसों मधुर मनोहर सेज सँवारे।
—कृपानिवास पदावली, पृ० ४

में 'निकुंजसेवारस'[1], 'महल माधुर्य'[2] इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है। युगलस्वरूप की अष्टयाम सेवा में ये सभी रस प्राप्त हो जाते हैं। अतएव रसिकोपासना का यह एक अनिवार्य अंग कहा गया है। रासलीला में उपास्य के आनन्दमय स्वरूप की चरम अभिव्यक्ति होती है। वह अवतारी राम का चिद्विलास है,[3] अतः उसमें प्रवेश, जीव का परम पुरुषार्थ माना जाता है। रसिकाचार्यों ने साधनावस्था में भी रास[4] एवं प्रभु की शृङ्गारिक चेष्टाओं[5] का चिन्तन कर, उस दिव्य आनन्द का आस्वादन करने की व्यवस्था की है।

साधना में प्रवृत्ति का हेतु

साधना में प्रवृत्ति भगवत्कृपा से होती है।[6] भगवदनुग्रह निरपेक्ष होता है। आवागमन के चक्र में पड़े जीव को दुखी देख कर भगवान के हृदय में करुणाजनित कृपा का प्रादुर्भाव होता है।[7] उनके सकल्प मात्र से ही जीव

१–युगल निकुंज रहस्य नवरस, सो सद्गुर उपदेश करै वस।
—माधुर्यकेलिकादम्बिनी, पृ० ५१।

२–श्री प्रसाद प्रसाद करि, अष्ट सखी गुन गाय।
अलिनिवास जिनकी मया, महल माधुरी पाय॥
—भावनापचीसी, पृ० ४।

३–रचौ झरोखन आय पुनि, रास आस्वादिक पाय।
चिद्विलास सिय लाल को, पीवत पलन अघाय॥
—भावनापचीसी, पृ० १९

४–रासध्यान करिये सदा, सकल रसन गम्भीर।
रामसखे प्रण कुटी करि, बसि सरयू के तीर॥
—नृत्यराघवमिलन दोहावली, पृ० १७।

५–ॐ रासमण्डलमध्यस्थ रसोल्लाससमुत्सुकम्।
सीतारामौ वन्दे, सखीगणसमावृतम्॥
—रसमालिका, रामचरणदास, पृ० २।

६–रामचरन नहि सुरति लगु, बिना कृपा श्री राम।
बसीकार जिमि मंत्र ते, हरत चित्त परदाम॥
—नामशतक, छ० ४१

७–चारि खानि आकृति अमित, धरि धरि फिर्यो असेष।
जन्म मरन अरु रोग षट्, तहँ तहँ सह्यो विसेष॥

ईश्वरोन्मुख होने लगता है।[1] संसार से विमुख होने पर ही वह अपने सच्चे हितैषी परमात्मा को प्राप्त कर सकता है, अतएव इसी क्षण से उसके हृदय में लौकिकप्रपंचों से विरक्ति होनी प्रारंभ हो जाती है। सच्चे घर का पता लग जाने पर झूठे घर में आसक्ति नहीं रह जाती।[2] प्रियतम का स्मरण होते ही सखीरूप में वह उन से मिलने की तैयारी में लग जाता है।

चल पिय के भवनवाँ बड़ी भई अब देर री।
पिय को भवनवाँ अवधपुर राजै कनक भवन सुख सेर री॥
छोटी बड़ी सौं हिलिमिलि रहिये ना करिये समसेर री।
तब तो रसिक पिया सो मिलिये घन घमंड की घेर री॥[3]

प्रेम मिलन की यह उत्कण्ठा प्रियतम की कृपा का ही प्रसाद है।

भगवदनुग्रह का स्वरूप

ईश्वर के अनुग्रह का स्वरूप बड़ा विचित्र है। अनुग्रह होने पर ऐसी परिस्थितियों की सृष्टि होती है, जिनसे साधक की ससार से विरक्ति हो जाय। भगवदनुरक्ति की प्रवृति भी तभी जगती है। कभी कभी तो प्रभुकृपा का प्राकट्य इतने अद्भुत रूप में होता है, कि लौकिक दृष्टि उसमें भाग्य के दोष और भगवान के कोप के अतिरिक्त और कुछ देख ही नहीं पाती। प्रत्यक्ष अकल्याण में निहित कल्याण के दर्शन की क्षमता उसमें कहाँ? अपनी ओर खींचने के लिये प्रभु कैसे साधनों का प्रयोग करते हैं, बनादास जी ने अपने अनुभव से उनके कुछ नमूने दिये हैं।

ईश्वर छोरैं जाहि को, ताहि पुत्र धन लेयँ।
अरु टारैं अपमान करि, रोग वृद्धि कै देयँ॥

भूख प्यास बधन सह्यो, सह्यो पीठ अति भार।
अगम पंथ परबस चल्यौ, तू पसु जोनिहि धार॥
सीता पति करना भवन, अतिहि दुखित तोहि देखि।
करि हित मानुप तन दियो, सो उपकारहि पेखि॥
—दोहावली (रसिक अली), पृ० ३-४

१—गाई हुती अति दूरि पै, लीन्हीं नाथ बुलाइ।
अब किह बातन अटकिये, लीजै लाग लगाइ॥
—वही, पृ० ४

२—घर घर घूमै कौन अब, निज घर आयो पास।
घर ही सब सुख मिलत है, घर है सब सुख रास॥
—वही, पृ० ७

३—वही, पृ० ५

रोग वृद्धि कै देयँ, रहै नहिं कोई आसा।
सबै निरादर करैं, हृदय में होय प्रकासा॥
यहि विधि लावैं शरण निज, रहैं कमल पद सेय।
ईश्वर छोरैं जाहि को, ताहि पुत्र धन लेयँ॥'[1]

अनुग्रह का समय

भगवत्कृपा 'मलपरिपाक' होने पर होती है। मल की अपरिपक्व अवस्था में उसका अवतरण नहीं होता। जब तक व्यक्ति द्वारा अर्जित पाप पुण्य में वैषम्य चलता रहता है, तब तक उसे जन्म-मरण से अवकाश नहीं मिलता। बंधन तो उनकी साम्यावस्था में ही कटते हैं। व्यक्ति का कोई प्रयत्न इस विधान को ढीला नहीं कर सकता।[2] जिस प्रकार ईश्वर की कृपा अहैतुकी होती है उसी प्रकार उसके प्रयोग और कालनिधारण में भी वह स्वतंत्र है। वह तभी कृपालु बनता है, जब जीव किसी निश्चित स्थिति में पहुँच जाता है।

साधनापद्धति

अनुग्रहीत जीव अंत प्रेरणा से साधनापथ पर अग्रसर होता है। इस अधरे मार्ग में उसका सर्वप्रथम पथनिर्देश संत करते हैं। भगवन्निष्ठ सज्जनों के उपदेश और सत् शास्त्रों के अवलोकन अथवा श्रवण से उसे ऐहिक एवं पार लौकिक पदार्थों में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रह जाती। संतों के अनुग्रह से भक्त के अपेक्षित गुण, साधक के हृदय में स्वयं आ बसते हैं। समस्त सांसारिक सम्बन्धों को त्याग कर वह हरि तथा हरिजनों की सेवा में लीन रहता है। इससे अंत शुद्धि के साथ ही जिज्ञासा का उदय होता है। साधक के हृदय की यह स्थिति साधना के लिए उपयुक्त आधारभूमि प्रस्तुत करती है। स्थूलरूप से रसिक साधना उत्तरोत्तर विकसित होती हुई, निम्नांकित चार अवस्थाओं में बाँटी जा सकती है—

१—आचार्यप्रपत्ति अथवा ज्ञानदशा
२—सम्बन्धदीक्षा अथवा वरणदशा
३—साकेतलीलाप्रवेश अथवा प्राप्तिदशा
४—लीलासुखभोग अथवा प्राप्त्यनुभवदशा

१—उ० प्र० रा०, पृ० ५२२

२—हौं चाहौं प्रभु मिलन को। मिलैं न करउ अनेक।
राम चहैं छन में मिलैं। घन जल तजि जिमि ऐंक॥
—नामशतक, छं० १८

इनमें प्रथम अवस्था में आचार्य के शरणागत होकर वह साम्प्रदायिक सिद्धान्तों तथा ईश्वर, जीव और जगत सम्बन्धी दार्शनिक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करता है। दूसरी अवस्था में भावदेह से आराध्य को वरण कर उनकी दिव्य लीला के विविध अंगों से परिचित हो, कैंकर्य की योग्यता संपादित करता है। तीसरी अवस्था में साकेतलीला में प्रविष्ट हो, अपने भावानुकूल सेवा की प्राप्ति करता है। और चौथी तथा अंतिम अवस्था में सेवासुख का आनन्द भोगता है। साधना की यह परम दशा है। रसिकों का यही इष्टतत्त्व है।

नीचे साधनाक्रम के अनुसार इन चारों दशाओं का कुछ विस्तार से परिचय दिया जाता है।

आचार्यप्रपत्ति

रसिकों का मत है कि तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होने पर ईश्वर स्वयं गुरु रूप में अवतरित होता है।[१] उनके चरणों में सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर, साधक दीक्षा का अधिकारी होता है।

क—पंचसंस्कार-दीक्षा

आचार्य पंचसंस्कारों[२] से विभूषित कर साधक को विधिवत् रामभक्ति की दीक्षा देते हैं। वैष्णवशास्त्रों के अनुसार पंच-संस्कार माया के पाँच अंगों से साधक की रक्षा करते हैं और कालान्तर में आराध्य के नित्य धाम की प्राप्ति में सहायक होते हैं। रसिक भक्तों के पंचसंस्कार वही हैं जो अन्य वैष्णवों के हैं, किन्तु लक्ष्य की विभिन्नता के कारण उनके स्वरूप और साधना में ऐसी अनेक पद्धतियाँ समाविष्ट हैं, जो दूसरे वैष्णवसम्प्रदायों से मेल नहीं खातीं। ऐसी स्थिति में उनका संक्षिप्त विवरण दे देना उचित होगा—

(१) मुद्रासंस्कार

पंचसंस्कारों में मुद्रासंस्कार प्रथम है। मुद्रायें पाँच हैं—धनुष, बाण, नाम (सीताराम), चन्द्रिका और मुद्रिका। आचार्यदीक्षा के अवसर पर, सबसे पहले, शिष्य के बायें हाथ में धनुष, दाहिने हाथ में बाण, वक्षस्थल पर

१— कृपासिन्धु है गुरु भये, धाम दियो निज बास।
पुनि दीनो निज बोध सब, तातें और हुलास॥
—दोहावली (रसिकअली), पृ० ४

२—तसेन मूले भुजयोः समङ्कनं, शरेण चापेन तयोर्ध्वपुण्ड्रकम्।
प्रदिष्टुतं नाम च मन्त्रमालिके, संस्कारभेदाः परमार्थहेतवः॥
—वै० म० भा०, पृ० ११२

युगल नाम तथा मुद्रिका और ललाट पर चन्द्रिका की छाप देते हैं। चन्द्रिका, मुद्रिका और नाम की छाप धारण करने के स्थान विषयक, सन्तों में विभिन्न रीतियाँ प्रचलित हैं।[1] इनमें धनुष बाण श्रीरामचन्द्र जी के, चन्द्रिका एवं मुद्रिका सीता जी के और नाम युगलविग्रह के प्रतीक हैं। ये पाँचो मुद्रायें, पंचतन्मात्राओं के प्रभाव से साधक की रक्षा करती हैं। धनुष शब्द, बाण स्पर्श, नाम रूप, चन्द्रिका गन्ध और मुद्रिका रस की निरोधक हैं। ये मुद्रायें तप्त और शीतल दोनों रूपों में धारण की जा सकती हैं।

(२) तिलक

रसिकों के संस्कारविधान में तिलक का मुख्य स्थान है। शृङ्गारी साधक इसे उतना ही महत्त्व देते हैं, जितना सधवा स्त्रियों के शृंगार में सिंदूर को प्राप्त है।[2] ये लोग तिलक को, युगलस्वरूप का ही प्रतिनिधि मानते हैं। भगवान की चरणाकृति का[3] ऊर्ध्वपुण्ड्र उसके बीच में श्रीबिन्दु अथवा श्रीरेखा रसिकतिलक के ये दो अनिवार्य अंग हैं। इनके अतिरिक्त चन्द्रिका, मुद्रिका और ऊर्ध्वपुण्ड्र के निम्नभाग में सिंहासन धारण करने की भी रीति प्रचलित है। आचार्य शिष्य को अपनी साम्प्रदायिक परंपरा के अनुसार तिलक धारण करने की विधि तथा उसके स्वरूप का बोध कराता है। श्रीसहित ऊर्ध्वपुण्ड्र की रचना, शरीर में बारह स्थानों पर की जाती है। रसिक सम्प्रदाय में प्रायः चित्रकूट से उत्पन्न रामरज का ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण किया जाता है और उसे उतना ही पवित्र समझा जाता है जितना कृष्णभक्त गोपीचंदन को मानते हैं। इसके उपयोग में उनकी एक रसमयी भावना सन्निहित है और वह है—चित्रकूट की रामरज को सीता जी के अंगराग से अनुरंजित मानना। उनकी धारणा है कि चित्रकूट में निवास

१—रसिकों के एक वर्गविशेष में हाथ में धनुष बाण, ललाट पर तिलक की दाहिनी और बाईं ओर युगलनाम, कपोल और ललाट के बीच तथा दाहिने हाथ में मुद्रिका और मस्तक पर चन्द्रिका धारण करने की प्रथा है। ये सभी रामरज से अङ्कित किये जाते हैं।

—वृ० उ० र०, पृ० १४९

२—जिमि सुहागिनी बिन सिन्दूर। तस बिन तिलक रसिक जन क्रूर॥
तिलक राम रूपहि पहिचानि। श्रामधि सिया रूप तेहि जानि॥

—सि० मु० दी०, पत्र १९।

३—ऊर्ध्वपुण्ड्रं हरिपादाकृतिं आत्मनो निर्धारयति।

—रामपटल, पृ० २१।

करते समय अनुसूया जी ने सीता को जो दिव्य अंगराग दिया,[1] उसे रामचन्द्र जी ने स्वयं अपने हाथों से प्रियतमा को धारण कराया था।[2] युगलविहार तथा रासलीला मे वह सीता जी के अंगों से झड़कर चित्रकूट की पुण्य-भूमि में गिरा था। इसी से वहाँ की मिट्टी पीली हो गई। उसके शिरोधार्य करने से विश्वभर्ता प्रसन्न होते हैं।[3] तिलक धारण करने से साधक की रूपाभिमान से रक्षा होती है। मस्तक तथा द्वादश अंगों में उसके धारण करने का तात्पर्य है—संपूर्ण शरीर को उपास्य के चिन्हों से प्रकाशित कर उसे उनका भोग्य बनाना और उनके कैंकर्य की स्वरूपयोग्यता प्रदान करना।

(३) नामसंस्कार

नामसंस्कार का अभिप्राय, साधक का भगवत्सम्बन्धी नाम रखने से है। इसके द्वारा पूर्व प्राकृतदेह विषयक नाम के स्थान पर शरणागतिसूचक नया नाम रखा जाता है। शरणागति के बाद साधक के नाम, ग्राम, कुल आदि सब कुछ भगवान ही रह जाते हैं। अतएव पूर्वनाम के स्मरण से उसकी स्वरूप-हानि तथा अहंकारवृद्धि की आशंका रहती है। इस अनर्थ से बचने के लिये उसे प्रपत्तिसूचक नाम दिया जाता है। अन्य सम्प्रदायों में वह बहुधा 'दासान्त' होता है। किन्तु रसिक संत दासान्त नाम में नरता और अभिमान की गंध पाकर उस का प्रयोग प्रायः नहीं करते। रसिकों में गृहस्थ लोग भी सम्मिलित हैं। सांसारिक विषयभोगों में रत होने से, इस श्रेणी के साधकों के नामों में आत्मनिवेदन-सूचक 'दास' शब्द जोड़ना, वे सभी प्रकार से अनुचित समझते हैं। अतएव इसके स्थान पर वे, 'शरणान्त' नाम रखते हैं। इसे सभी वर्णों, आश्रमों और वर्गों के साधकों के नामों में निस्संकोच जोड़ा जा

१–अंगरागेन दिव्येन लिप्तांगी जनकात्मजे।
शोभयिष्यसि भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम्॥
—वा० रा०, २।११८।२०।

२–सिय अंग लिखैं धातुराग सुमननि भूषण विभाग।
तिलक करनि कहौं करुना निधान की।
—तुलसी ग्रं०, द्वि० भाग, पृ० ३४५

३–श्री चित्रकूटसञ्जात श्रीरामरज उत्तमम्।
पीतवर्णं सुवर्णाभं येनं रैर्धार्यते सदा॥
ते नराः सुकृतात्मानो भवन्ति भगवत्प्रियाः।
—श्रीवैष्णवधर्म-विज्ञान, पृ० १४
(सदाशिवसंहिता से उद्धृत)

सकता है।[1] सख्यभाव के उपासकों में शरण के साथ ही 'मणि' एवं 'सखा' शब्दांत नाम रखे जाते हैं। इस संस्कार का उद्देश्य है साधक को शरीर के सम्बन्धियों के मोहपाश से मुक्त करना। इसके अतिरिक्त उसे अंतरंगसेवा-सम्बन्धी एक नाम और दिया जाता है, जिस की व्याख्या सम्बन्धदीक्षा के प्रसंग में आगे की जायगी।

(४) मंत्रसंस्कार

मंत्र चिन्मय ब्रह्म का शब्दरूप है। तत्त्वज्ञ गुरु, अपनी दिव्यदृष्टि से साधक की इष्टदेवनिष्ठा से अवगत हो, उसे तदनुरूप मंत्र की दीक्षा देते हैं। रसिकों में यह संस्कार षडक्षर राममंत्र अथवा बीजमंत्र के साथ शरणागति और चरम मंत्र सहित सम्पन्न होता है। इनका उपदेश साधक के दाहिने कान में किया जाता है। सम्प्रदाय में ये 'रहस्यत्रय'[2] के नाम से प्रसिद्ध हैं। गुरु, मंत्रोपदेश के

१—दास नाम नहिं जेहि केरे। होत विशेष सु मदन घनेरे।
कंचन कामिनि बस जे लोगू। ते किमि होइं दासता जोगू॥
अस विचारि आचार्य उर। शरण सुखद प्रभु जानि।
शरण नाम लागेउ धरन। निरुपधि रहित गलानि॥
गृही, विरक्त, भक्त नरनारी। शरण नाम के सब अधिकारी॥
—वृ० उ० र०, पृ० १९२

२—रहस्यत्रय की व्याख्या नीचे की जाती है :—

प्रथम रहस्य—श्री रामषडक्षर मंत्र, इसको मंत्रराज और बीजमंत्र भी कहते हैं। "रां रामाय नमः"

द्वितीय रहस्य—अष्टाक्षर शरणागति मंत्र "श्रीरामः शरणं मम"

(मंत्र द्वय)—पंचविंशाक्षर शरणागति मंत्र अथवा मंत्र रत्न।

"श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये"

श्रीरामचन्द्राय नमः॥

तृतीय रहस्य—चरम मंत्र

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

इनमें प्रथम रहस्य से इस तथ्य का बोध कराया जाता है कि, श्रीसीताराम की शरणागति ही जीव के भवसंतरण एवं परमपद प्राप्ति का एकमात्र साधन है। द्वितीय के द्वारा शरणागति के स्वरूप और विधि की व्याख्या की जाती है और तृतीय से शिष्य को शरणागति की स्वीकृति का ज्ञान कराया जाता है।

अवसर पर इनका तात्विक महत्त्व बतलाते हैं। रसिक आचार्य बीजमन्त्र के साथ सीतामन्त्र के उपदेश को विहित मानते हैं। युगलोपासना में युगलमन्त्रों की आवश्यकता स्वतः सिद्ध है। कुछ आचार्यों ने युगलमंत्रों के साथ लक्ष्मण और हनुमान मन्त्र तथा पचछापों के अलग-अलग मन्त्रों का उपदेश भी आवश्यक बताया है।[1] प्रेमलता जी के अनुसार इस अवसर पर श्री रामचन्द्र जी के तीनों भाइयों और उनकी स्त्रियों के भी मन्त्रों की दीक्षा दी जानी चाहिये।[2]

मन्त्रदीक्षा के अवसर पर उसकी व्याख्या करते समय आचार्य, षडक्षर राममन्त्र में ईश्वर जीव के नवधा भावसम्बन्धों की व्याप्ति बताते हैं। ये सम्बन्ध निम्नांकित हैं—[3]

(१) पिता पुत्र भाव	(५) ज्ञेय ज्ञातृ भाव
(२) रक्ष्य रक्षक भाव	(६) स्वामी-सेवक भाव
(३) शेष शेषी भाव	(७) आधार-आधेय भाव
(४) भर्ता भार्या भाव	(८) आत्म शरीर भाव
	(९) भोक्ता भोग्य भाव

गुरु के आदेशानुसार इनमें से किसी भी एक भाव को लेकर साधक उपासनामार्ग में प्रविष्ट होते हैं। स्वामी रामानन्द ने 'वैष्णवमताब्जभास्कर' में इन भावसम्बन्धों की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है—[4]

अधिकांश आचार्यों ने राममन्त्र को ही सीतामन्त्र का भी वाचक माना है। कारण कि, एक ही परब्रह्म तत्त्व की ये दो प्रकार की स्थिति के प्रतीक मात्र हैं किंतु कुछ रसिकों ने राममन्त्र के साथ 'श्रीसीतायै नमः' नामक षडक्षर सीतामन्त्र के उपदेश की भी व्यवस्था दी है। अगस्त्यसंहिता में इसका प्रमाण मिलता है।

सीतामन्त्रेण कुर्वीत सूक्ष्मयन्त्रजपतथा।
उपस्थानादिकां कार्यास्तत्रैव गतकल्मषे॥

—अगस्त्यसंहिता, पत्र ९२

१—अगस्त्यसंहिता, पत्र १११–११५

२—वृ० उ० र०, पृ० १५७

३—पिता च रक्षक शेषी भर्ता ज्ञेयो रमापतिः।
स्वाम्याधारोऽयमात्मा च भोक्ता चाद्यमनूदितः॥

४—वै० म० भा०, छं० ११–१८

(५) माला (कंठी) संस्कार

माला अथवा कंठी का संतों में वही महत्त्व है, जो द्विजातियों में यज्ञोपवीत का है। रसिकगुरु शिष्य को तुलसीकाठ की युगलकंठी धारण कराते हैं। यह कंठी रसिकों को वृन्दा (तुलसी) और विष्णु के मधुर-सम्बन्ध का स्मरण दिला कर, उपास्य के प्रति उनकी तादात्म्यभावना को निरन्तर उद्दीप्त करती रहती है। उनका यह भी विश्वास है कि रसना से ग्रहीत पदार्थ, कंठ से होकर भीतर जाते समय कंठी का स्पर्श प्राप्तकर पवित्र हो जाते हैं और उनसे पोषित इन्द्रियाँ, वृन्दा के समान अनन्यभाव से प्रियस्मरण में प्रवृत्त होती हैं।[1] युगलनाम तथा मंत्रजप के लिये १०८ दानों की एक तुलसीमाला भी इसी समय दी जाती है जिसका आधार लेकर शिष्य जपयोग की साधना करता है।

इस प्रकार रसिक सम्प्रदाय के पंचसंस्कारों के अंतर्गत प्रत्येक में युगलोपासना के प्रतीक सन्निविष्ट किये गये हैं—युगलतिलक, युगलनाम, युगलमंत्र, युगलमुद्रा, और युगलकंठी उनकी 'युगलसरकारनिष्ठा' में अनन्यता सिद्ध करते हैं।

रसिकाचार्यों का मत है कि बिना गुरुशरणागति तथा पंचसंस्कारदीक्षा प्राप्त किये, साधक उपासना के क्षेत्र में प्रवेश पाने का अधिकारी नहीं होता। 'युगलसरकार' अपनी छाप और मोहर से सज्जित भक्त को ही परिकर रूप में स्वीकार करते हैं। रसिकअली जी का मत है—

> बिन आचार्य संस्कार बिनु, मिलें न सिय रघुलाल।
> बिना वसीले ना मिलें, प्राकृत हू भूपाल॥
> मोहर-छाप निज नाम की, लिखि दिवान के हाथ।
> ताहि देखिकै सहि करत, रीति यही सहिनाथ॥
> याते रामानन्द्य जे, रसिक ताहि गुरु धार।
> धारे सब संस्कार अग, तब सहि कर सरकार॥[2]

1—प्रपत्तिरहस्य, पृ० २७३

बालअली जी के मत में युगल कंठी धारण करने का उद्देश्य युगल स्वरूप श्री सीताराम का प्रेम प्राप्त करना है। उससे युगल रूप का उद्दीपन और उनके कैंकर्यपदप्राप्ति का गर्व व्यंजित होता है—

> भाव युगल कंठी कर एहूं। युगल लाल सेहिं करै सनेहू।
> युगल रूप उद्दीपन और। पुनि अभिमान युगल सिर मौर॥
> —सि० त० दी०, पत्र ३५

२—सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० ५

इन बाह्य संस्कारों से शिष्य का प्राकृत शरीर पवित्र कर आचार्य उसे साधना की योग्यता प्रदान करते हैं। इनमें क्रिया की प्रधानता रहती है। इसके अनन्तर उसकी आन्तरिक वृत्तियों के शोधन के लिए वे ज्ञान का उपदेश करते हैं।

ख—पंचार्थ (अर्थपंचक) उपदेश

सांसारिक प्रपंचों में आसक्त जीव को अपने शुद्धस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से आचार्य पाँच आध्यात्मिक तत्वों का उपदेश करते हैं। सम्प्रदाय में इसे ही पंचार्थज्ञान अथवा अर्थ पंचक का नाम दिया गया है।

अग्रदास जी ने रसिकभक्तों के लक्षण निर्धारित करते हुए उन्हें 'पंचार्थज्ञ'[1] के नाम से अभिहित किया है। हनुमत्संहिता में अर्थपंचक की व्याख्या निम्नांकित प्रकार से की गई है—

> ज्ञेयं प्राप्यस्य रामस्य रूपं प्राप्तुस्तथैव च।
> प्राप्त्युपाय फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधि च॥
> अर्थपंचकमेतत्तु संक्षेपेण वदामि ते॥[2]

इस प्रकार अर्थपंचक के अंतर्गत साधना के निम्नांकित पाँच तत्वों की गणना की गई है—

१—प्रापक (जीव-साधक) का स्वरूप	(स्व-स्वरूप)
२—प्राप्य (ब्रह्म-राम) का स्वरूप	(पर-स्वरूप)
३—प्राप्ति के उपाय	(उपाय-स्वरूप)
४—प्राप्ति का फल	(फल-स्वरूप)
५—प्राप्ति के विरोधी	(विरोधी-स्वरूप)

रसिकाचार्यों ने इनके स्वरूपनिरूपण-विषयक प्रचुर साहित्य की रचना की है, किन्तु उनके शृंखलाबद्ध वर्णन की ओर कुछ ही सन्तों ने ध्यान दिया है। अर्थपंचक के उपर्युक्त पाँच अंगों के अन्तर्गत रसिक साधना की दार्शनिक पृष्ठभूमि का सम्यक् निरूपण आ जाता है। इसलिये युगलानन्यशरण जी ने इसे प्रेम के ज्ञानपक्ष का मूलाधार माना है—

१— पंचाश्रया पंचसंस्कारयुक्ता,
पंचार्थज्ञा पंचमोपायनिष्ठा।
ते वर्णानां पंचमाद्याश्रमाणां,
विष्णोर्भक्ता पंचकालप्रपन्ना॥
—अष्टयाम (अग्रदास), पृ० १९

२— हनुमत्संहिता, पत्र २५।

अमल अर्थपंचक परम, प्रेम प्रबोध निवास।
सरल वचन रस रचन में, बरनौं सहित हुलास॥[1]

यह उल्लेखनीय है कि अर्थपंचक के पूर्वोक्त पाँचों अंगों में से प्रत्येक, पुनः पाँच उपांगों में विभाजित हैं। इस प्रकार उसके अंग उपांगों की संख्या मिलाकर पचीस तक पहुँच जाती है।

जीव ईस उपाय फल, जुत विरोध ये पाँच।
एक एक सो पाँच विधि, अर्थ पंचक ये साँच॥
पंच जीव-प्रभु, पंच वपु, पंच उपाय सो जानु।
पुरुषारथ पुनि पंच हैं, पंच विरोधी मानु॥[2]

इन पाँचों में प्रथम, स्वस्वरूप अथवा अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान होना है क्योंकि जब तक जीव स्वयं अपने को नहीं पहचानेगा तब तक, मायाबद्ध रहने से, वह किसी परमार्थसाधना में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। उसकी पाँच कोटियाँ हैं, उनमें उसकी स्थिति किस दशा में है, यही ज्ञातव्य है। आत्म-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर परमात्मतत्त्व के जानने की बारी आती है। उसके भी पाँच प्रकार हैं। साधक को, उनमें से जिस पर अधिक श्रद्धा हो, उसी का उपाय अथवा उपासना करनी चाहिये। उपाय के पाँच भेद हैं। उपाय की सिद्धि पुरुषार्थ से होती है, उसके भी पाँच अंग माने गये हैं। उपायसिद्धि में अनेक विघ्न आ खड़े होते हैं। इनकी संख्या पाँच कही गई है। इस प्रकार जीव, ईश्वर, उपाय, फल और विरोधी तत्त्वों का यथार्थज्ञान ही पंचार्थज्ञान अथवा अर्थपंचक की साधना है। नीचे पृथक् रूप से इनकी व्याख्या की जाती है।

१. प्रापक (जीव) का स्वरूप

जीव स्वभावतया ज्ञानानन्द, अविनाशी एवं चिन्मय है।[3] वह नित्य सच्चिदानन्दघन ईश्वर की तरह ही सावयव, द्विभुज तथा साकार है।[4] ईश्वर से उसका सम्बन्ध भोक्ता भोग्य अथवा शेषी शेष का है। कारण कि, उसकी सृष्टि ईश्वर की रमण करने की इच्छा से हुई है, अतएव वह नियम्य है।[5] वह सदैव अपने स्रष्टा के अधीन उसी प्रकार से रहता है, जिस प्रकार पत्नी, पति की

१–अर्थपंचक (युगलानन्यशरण), पृ० १
२–दोहावली (रसिक अली), पृ० ११
३– अर्थपंचक (श्री युगलानन्यशरण), पृ० २
४–सिद्धांतमुक्तावली, पृ० १२
५–हनुमत्संहिता, पृ० २५

वशवर्तिनी होकर रहती है, अथवा जैसे सखा, सखा के प्रेमपाश से बद्ध होकर रहता है। कर्मों के बन्धन में पड़कर उसे पंचतत्त्व या स्थूल शरीर और जड़ माया के संयोग से सूक्ष्म तथा कारण शरीर मिलते हैं।[1] विषयभोग के लिए वह इन तीनों में छिपता रहता है।[2] इस चक्कर में उसे अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। उसकी निम्नांकित पाँच कोटियाँ हैं—[3] बद्ध, मुमुक्षु, कैवल्य, मुक्त और नित्यमुक्त। इनमें प्रत्येक स्थिति को क्रमशः पार करता हुआ वह अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है।

१ बद्ध—यह जीव की मोहमुग्ध स्थिति है। विषयभोग में लिप्त होने से उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है, जिससे अनित्य शरीर में ही आत्मबुद्धि स्थापित कर वह गर्हित जीवन व्यतीत करता है। तीन-ताप[4], षड्विकार, षड्ऊर्मि और षड्वर्ग के वशीभूत होकर उसका आत्मज्ञान तिरोहित हो जाता है।[5]

२ मुमुक्षु—वे जीव हैं, जो सांसारिक प्रपंचों में बरतते हुए भी, मनसा उनसे विरक्त रहकर, सदैव मुक्ति की कामना रखते हैं और तदनुकूल आचरण करते हैं। इनके दो भेद हैं—

(१) मधुर मुमुक्षु[6]—जो दृढ़ निर्वेदभाव से लोकद्वय की कामना न करते हुए, अहर्निश केवल श्री सीताराम की लीलाओं के ध्यान में लीन रहते हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं—

(क) भक्त[7]—वे हैं, जो लोकवासनाओं का त्याग कर सारासार विचारपूर्वक श्री सीताराम का भजन करते हुए सत्संग में कालयापन करते हैं। अपने इष्टदेव की कृपा पर उन्हें पूरा विश्वास रहता है, जिससे प्रारब्ध का धैर्यपूर्वक भोग करते हुए वे एकरसवृत्ति से रहते हैं, वे अन्त में कर्मों के जाल से मुक्त हो, उपास्य को प्राप्त होते हैं।

(ख) प्रपन्न[8]—इनके स्वभाव का मुख्य गुण सरसता है। प्रिय मिलन के लिए क्षणभर का भी विलम्ब इन्हें असह्य होता है। अतएव तदर्थ समस्त उपायों का त्याग कर ये केवल उपास्य की कृपा पर आश्रित रहते हैं और प्रिय का कैंकर्य ही अपना भोग्य मानते हैं। ऐसे प्रपन्नों के दो भेद हैं—

१—नृत्यराघवमिलन दोहावली, पृ० ५
२—अर्थपंचक, पृ० २
३—वही, पृ० २।
४—वही, पृ० ३।
५—वही, पृ० ४।
६—वही, पृ० ४।
७—वही, पृ० ४।

दृप्त प्रपन्न—वे हैं, जो अपने कर्म के अनुसार सुख, दुःख आदि को इस शरीर से ही भोगकर शरीरान्त के अनन्तर मोक्षप्राप्ति का निश्चय कर लेते हैं और दृढ विश्वास एवं आत्मज्ञानपूर्वक प्रिय का नित्य चिन्तन करते हुए जीवन बिताते हैं। वे अनन्यशरणागत होते हैं।[१]

आर्त प्रपन्न—वे हैं, जो प्रिय की विरहज्वाला से विकल होकर उसका मिलन में अत्यन्त शीघ्रता चाहते हैं। सांसारिकप्रीति तथा लौकिक और वैदिक साधनापद्धतियों का त्याग कर प्रेमसाधना ही उनका एकमात्र उद्देश्य होता है।[२]

(२) रूक्ष मुमुक्षु—वे हैं, जिन्हें सगुण राम के चरणों में आस्था नहीं होती, और जो संसार को प्रवंचना देते हुए अनेक कर्मप्रधान सकामसाधना का आश्रय लेते हैं।[३]

(३) कैवल्य—जीव की वह दशा है, जिसे ज्ञानी स्वरूपप्राप्ति अथवा मुक्ति कहते हैं। यह उन ज्ञानमार्गी साधकों का साध्यतत्त्व होता है, जिन्हें श्री जानकी वल्लभ के चरणों में प्रीति नहीं होती। रसिक भक्तों की दृष्टि में ऐसा ज्ञान अज्ञान है, जहाँ युगलपदरति का अभाव है, वह मुक्ति नहीं 'जीव की फाँसी' है।[४]

(४) मुक्त—वे जीव हैं, जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों को छोड़कर दिव्यदम्पति का साकेत लोक में कैंकर्यलाभ करते हैं।[५] रसिक सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक ग्रन्थों में इस प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम युगलसरकार की कृपा से सुषुम्नादि श्रेष्ठ मार्गों से प्राण त्यागकर, साधक स्थूलशरीर को छोड़ता है। उसके अनन्तर सूर्य मण्डल पार कर वह विरजा नदी में स्नान करके वासनासहित सूक्ष्म और कारण शरीरों का त्याग करता है। इससे वह विरज हो जाता है और दिव्य परमानन्दमय शरीर प्राप्त करता है। यहाँ से उसे, नित्य मुक्त परिकरों के रूप में दिव्याभरणों से विभूषित स्त्रियाँ, साकेतधाम को ले जाती हैं। इस धाम में वह दिव्य मणिमण्डप के नीचे रत्नसिंहासन पर आसीन रसोत्सुक युगलसरकार को अपने भावानुरूप—सखी, सखा, दास, स्नेही या प्रजा रूप में प्राप्त होता है। उसे अपनी रुचि के अनुसार दम्पति की सेवा

१—अर्थपंचक, पृ० ५।
२—वही, पृ० ५।
३—वही, पृ० ५।
४—वही, पृ० ६।
५—वही, पृ० ७।

मिलती है। रसिकों का मत है कि जब तक स्त्री रूप जीव को अपने नायक का बल एवं उसके धाम का ज्ञान नहीं होता तब तक वह कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर इस कैंकर्यानन्द का लाभ नहीं कर सकता। रसिक सद्गुरु की कृपा से ही जीव, धामसुख प्राप्ति का अधिकारी होता है।[1]

(५) नित्य मुक्त—मुक्त रूप में अनन्त काल तक साकेतलीला में प्रभु का कैंकर्य प्राप्त करना ही जीव की नित्यमुक्ति है। शृङ्गारियों में यही नित्यसखी पद की प्राप्ति है। सख्योपासकों के अनुसार इस दशा में जीव प्रभु की तरह रूप धारण कर उनके साथ क्रीडा करता है। सखा जानकर भगवान भी उसे आलिंगन करते हैं। वह अनेक रूप धारण कर अपने दिव्य सखा को प्रसन्न करता है। वह उतना ही शक्तिमान और उतने ही ऐश्वर्य के भोग का अधिकारी है, जितने कि उसके आराध्य। वह कभी सेना के साथ शिकार को जाता है, कभी रास रचता है, कभी अवध की गलियों में विहार करता है। इस प्रकार देही देह से परे, साकेतलोक की नित्य लीला में, दिव्य परिकर के रूप में, वह श्री रामचन्द्र जी के साथ अनादि काल तक क्रीडा करता है।[2]

शृङ्गारी सन्तों का मत है, कि नित्यमुक्त जीव, सखीरूप में श्रीजानकी वल्लभ के साथ विविध भाँति के विहार करता है।[3] सीता जी के अंश से उत्पन्न होने के कारण वह साकेतपति श्रीरामचन्द्र जी का नित्यभोग्य है।[4] उनका यह भी विश्वास है, कि सीता जी की ही शक्ति आत्मा के रूप में घट घट में व्याप्त है। अतः उपासना की प्रकृतपद्धति सखी अथवा स्त्रीभाव की ही है। पुरुषभाव एक मिथ्याकल्पना है, वह अहंकार प्रधान है। अतएव प्रभु से उसका मिलन असम्भव है।[5] उसके विपरीत पराशक्ति श्रीजानकी जी के अंशोद्भूत होने से सखीरूप में उसके स्वभाव की विशेषता है—सर्वप्रकारेण आत्मसमर्पण, जो अन्यभावों में सम्भव नहीं है। माधुर्यभक्ति आत्मा को उसके मूलरूप का स्मरण दिलाकर ईश्वर के सम्मुख करती है। उसका आरोपित पुरुषभाव नष्ट करके अनन्तकाल से वियुक्त प्रिया (सखी-आत्मा) को प्रियतम से मिलाकर नित्य कैंकर्यसुख का भोग कराती है।[6] सद्गुरु इस दिव्यसम्बन्ध स्थापना में मध्यस्थ का काम करता है। अतएव साधना का वह एक अनिवार्य अंग है। आवागमन रहित होते

१—अर्थपंचक, पृ० ७—८।
२—वही, पृ० ९—१०।
३—वही, पृ० ९
४—वृहद् उपासनारहस्य, पृ० १११।
५—वही, पृ० ११५।
६—वही, पृ० ११७।

हुए भी नित्यमुक्त जीव, अवतारादि के समय प्रभु के साथ अवतरित होकर उनके लीलाविस्तार में सहायक होते हैं। हनुमान जी इस श्रेणी के परिकरों में सर्वश्रेष्ठ हैं।[1] सख्य और शृंगार दोनों रसों के भक्त, इसीलिये उन्हें रसिक-साधना के प्रधान आचार्य मानते हैं।

२. प्राप्य (ब्रह्म) का स्वरूप

ईश्वर के पाँच रूप हैं—पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी, और अर्चावतार। सामान्य साधक को अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार, इनमें से किसी एक की आराधना करनी चाहिये। किंतु रसिकों का उपास्य 'पर' स्वरूप ही होता है।

(१) पर

नित्य एकरस साकेतविहारी श्रीरामचन्द्र परात्पर ब्रह्म हैं।[2] वे निर्गुण और सगुण दोनों के कारण हैं। सभी अवतार उनकी अंशकला मात्र हैं। वे अंशी हैं, अवतारी हैं। संसार के सञ्चालन तथा जीवों के उद्धार के लिये वे ही व्यूह, विभव, अंतर्यामी और अर्चावतारों की सृष्टि करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश के वे ही कारण हैं।[3] नित्य-किशोरवय, सौन्दर्य सिन्धु, गुणातीत होते हुए भी गुणनिधान, सीतापति श्री रामचन्द्र, प्रियतमा के साथ, साकेतलोक में, नित्यमुक्त पार्षदों-सहित विहार करते हैं। सीता जी उनकी पराशक्ति हैं। उनके कला-अंश से सभी अवतारों की शक्तियाँ और सहवर्तिनी सखियों की उत्पत्ति होती है। वे शृंगार की स्वामिनी,[4] नित्या और ब्रह्म विग्रह-रूपा हैं।

अपनी इच्छा से भक्तों को मुक्ति-भुक्ति प्रदान करने के लिये दिव्य परिकरों सहित वे अयोध्या में अवतार लेते हैं।[5] पृथ्वी पर यही उनकी लीलाभूमि है।

१—अर्थपंचक, पृ० ९।

२—अर्थपंचक (सुन्दरानन्दकारण), पृ० १०।

३—ब्रह्मविष्णुमहेशानां कारणं सर्वव्यापकं।
मूलं तु ह्यवताराणां धर्मसंस्थापकं परं॥
द्विभुजश्चापधृक्चैव सत्कामीष्टप्रपूरकः।
वैदेहीवल्लभो नित्यं कैशोरे वयसि स्थितं॥
एवं भूतश्च शान्त्यो रामो राजीवलोचनः।
—हनुमत्संहिता, पत्र २५।

४—उपासनात्रयसिद्धान्त, पृ० ९०।

५—रामनवरत्नसारसंग्रह, पृ० ३०।

परमपुरुष का यह अवतार उनके अवतारीरूप से सौन्दर्य एवं गुण में अभिन्न होता है।

इसी प्रकार अयोध्या भी दिव्य साकेत के समान ही अखण्ड ऐश्वर्यमय और रसघन है। परिकरोंसमेत युगलसरकार की संसार में जो दिव्यलीला होती है, उसमें ऐश्वर्य की प्रधानता रहती है। दुष्टों का नाश करके वे धर्म की स्थापना करते हैं। इसलिए उनके इस रूप को मर्यादापुरुषोत्तम की संज्ञा दी गई है। अवतारलीला में उनका माधुर्य गोपनीय होता है। उसका रसास्वादन उनके साथ ही अवतरित सखी, सखा, दास आदि अन्तरंग भाव से आश्रित नित्य परिकर ही कर सकते हैं। रसिकों के लिए उपास्य की उभयलीलायें ज्ञेय और ध्येय होती हैं।[1] इनके गुणगान से वे सहज ही अथाह भवसिंधु पार कर नित्यलीला में प्रवेश करते हैं। परात्पर ब्रह्म के इस रहस्यमय स्वरूप का वास्तविक मर्म गुरुमुख से ही जाना जा सकता है।[2]

(२) व्यूह

व्यूहों की संख्या चार है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। ये चतुर्व्यूह के नाम से प्रसिद्ध हैं। सृष्टि के आदि में इनकी रचना, संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार के लिए हुई है। ये आमोद, सत्यादि लोकों में निवास करते हैं।[3]

(३) विभव

विभव का अर्थ है, ब्रह्म के सजातीय रूप में आविर्भाव। दशावतार इन्हीं के भीतर आते हैं। विभव—मुख्य और गौण दो प्रकार के हैं। मुख्य विभव साक्षादवतार और गौण विभव आवेशावतार कहे जाते हैं। मुख्यविभव अथवा साक्षादवतार वे हैं, जो अधर्म की वृद्धि से पीड़ित सज्जनों की रक्षा के लिए पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। कुछ काल तक संसार में रहकर अपना कार्य पूरा करके वे पुनः अपने नित्यलोक को चले जाते हैं। कृष्णादिक अवतार इसी श्रेणी के हैं।[4] युगलानन्यशरण जी का मत है कि इसके अंतर्गत रामावतार की गणना नहीं की जानी चाहिए। कारण यह है कि, यह अपनी लीलाविस्तार के लिये अवतारी राम

१—अर्थपंचक, पृ० ११
२— वही „ १०
३— वही „ ११
४— वही „ ११

या स्वेच्छा से आविर्भाव है। अतएव विभुरूप में प्रकट होते हुए भी वास्तव में वे उनसे परे हैं।[1] उनकी उपासना नित्यमुक्ति के लिए की जाती है।

गौण विभव के दो भेद हैं—स्वरूपावेश और शक्त्यावेश। स्वरूपावेश के भीतर परशुराम, दत्तात्रेय, कपिल आदि और शक्त्यावेश में ब्रह्मा, शिव आदि अवतार आते हैं।[2] इनकी आराधना, मुक्ति के इच्छुक साधक करते हैं।

(४) अंतर्यामी

भगवान का वह रूप है जो प्राणिमात्र के हृदय में नित्य स्थित रहता है। वह अगम, अगोचर और ज्ञानानन्दमय है।[3] संसार के सभी जीवों को वही कार्य में नियुक्त करता है। सभी कर्मों की प्रेरणा देता हुआ भी वह स्वयं अकर्ता है। हृदय में वह केवल साक्षी रूप में विराजमान रहता है। उसका शरीर अगुष्ठ मात्र माना गया है।[4] वह निराकार रूप से सब में व्याप्त है किन्तु रसिक भक्त अपने तपोबल से उसके साक्षात् रूप का दर्शन कर आनन्दलाभ करते हैं। उनके लिए निराकार का कोई महत्त्व ही नहीं है।[5] अंतर्यामीरूप, जीवों को स्वर्ग नरक इत्यादि अनुभवगम्य दशाओं का ज्ञान योगमार्ग के द्वारा प्राप्त कराता है।

(५) अर्चावतार

अर्चावतार मूर्तिविशेष में अवस्थित रहता है। प्रस्तर, रजत, धातु आदि की प्रतिमायें पांचरात्र विधि से पवित्र की जाने पर पूजनीय हो जाती हैं। भगवान का यह सर्वसहिष्णु रूप भक्तों के अधीन होकर उनकी इच्छानुसार स्नान, भोजन, शयन करता है। घर, गाँव, नगर, वन, पर्वत सभी स्थानों पर निर्मित देवालयों में उसका दर्शन-पूजन कर भक्त अभिलषित फल प्राप्त करते हैं। भगवान का यह सर्वाधिक सुलभ रूप है।

अर्चावतार के चार भेद हैं—स्वयंव्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष। इनमें स्वयंव्यक्त—श्री रंगादिक भगवत्स्वरूप हैं, दैव-मन्दिरों में प्रतिष्ठापित देवमूर्तियाँ हैं,[6] सैद्ध—सिद्धों के द्वारा पूजित मूर्तियाँ हैं और मानुषविग्रह—अयोध्या मथुरादि दिव्य स्थानों में पूजित रामकृष्णस्वरूप हैं। अर्चावतारों में शालिग्राम शिला में स्थित भगवत्स्वरूप का विशेष महत्त्व है।[7]

१– अर्थपंचक, पृ० १२
२– वही, पृ० १२
३– वही, पृ० १२
४– वही, पृ० १३
५– वही, पृ० १३
६– अर्थपंचक, पृ० १४
७– वही, पृ० १४

उपासना क्रम के विचार से साधक को पहले अर्चावतार की, उसके अनन्तर विभव की, फिर व्यूह की तत्पश्चात् अंतर्यामी की और अंत में सर्वेश्वर, परात्पर ब्रह्म श्री रामचन्द्र जी की उपासना करनी चाहिये।

३. प्राप्ति के उपाय

प्रभुप्राप्ति के मुख्य उपाय पाँच हैं।[१] इनकी सहायता से साधक, माया जन्य विविध वासनाओं का नाश कर परमानन्द प्राप्त करता है। साधनाक्रम तथा उत्तरोत्तर महत्ता की दृष्टि से उनकी स्थिति इस प्रकार है।

(१) कर्म—रसिकभक्ति में कर्म-साधना, उपासना की आधारभूमि मानी जाती है। सन्तों के आचरणीय कर्म हैं—यज्ञ, दान, तप, हवन, संयम, अध्ययन, सन्ध्योपासन, जप, पवित्रता, चातुर्मास्यव्रत, अष्टांगयोग, उपवास, अर्घ्य, पाद्य, तर्पण तथा तीर्थाटन आदि। इनमें प्राय सभी क्रियाकलाप वैष्णव-साधना की अन्य पद्धतियों के समान ही हैं, किन्तु तीर्थाटन को विशेष महत्त्व दिया जाता है। रसिक सन्तों ने तीर्थाटन के लिये राम की अवतारलीला से सम्बद्ध केवल तीन धाम प्रमुख माने हैं। अयोध्या, मिथिला और चित्रकूट।[२] ये भगवान के नित्य विहारस्थल के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस विषय में महात्मा 'तिलाम' जी का कथन है—

वैष्णव सहजहिं मे बनि जात।
चित्रकूट, अवध अरु मिथिला, इन तजि अनत न जात।
'जन तिलाम' सियाराम की चेरी इनहीं को यश गात॥[३]

अयोध्या और मिथिला के मधुर-सम्बन्ध का अनुभव, बिना दोनों क्षेत्रों का दर्शन किये, नहीं हो सकता। ये दोनों 'धाम' सीताराम की तरह ही अखण्ड और अभिन्न हैं, इसका रहस्य रसिक सन्तों के द्वारा ही जाना जा सकता है। श्रीकाष्ठजिह्वास्वामी का स्वानुभूत मत है—

बहुत सोहि संतन कह्यो बुझाय।
मिथिला परसि अवध हू परसौ दूनौ तार मिलाय॥

१—अर्थपंचक, पृ० १५।
२—मिथिला अवध अनूपथल, नित्य केलि सम्बन्ध।
छीक मनी दिन रैन चित, चढ़ो रहै पर बन्ध॥—विवेक गुच्छा, पृ० २६
चित्रकूट एक और जहँ रासस्थल सुअनूप।
यूथ यूथ अलिगन तहाँ, निवसहिं सुकृत सरूप॥—बृहद् उपासना रहस्य, पृ० ८२
३—जनकपुर की झाँकी, पृ० ७३

एक परसि दूजौ बिन परसे, खण्डित भाव लगाय।
युगलसरूप पुरुष तन नारी, अद्भुत रूप कहाय॥
यह रहस्य सन्तन के घर में, सतगुरु दीन पढ़ाय।
चले अवध को सुमिरत सियवर, पद पद पर हरषाय॥[1]

इन तीर्थों के पर्यटन के साथ ही वहाँ निवास करने का भी विधान साम्प्रदायिक ग्रन्थों में किया गया है। संतों का विश्वास है कि युगलसरकार के इन तीनों केलिस्थलों का महत्त्व, केवल दर्शन से नहीं जाना जा सकता। इसके लिये आवश्यक है कि वहाँ निवास कर भगवान की उन दिव्यलीलाओं और रासक्रीडाओं का चिंतन किया जाय, जो प्रभु के लीलावतार के समय वहाँ घटित हुई हैं। रसिक आचार्यों में श्रीकृपानिवास जी ने मिथिला में, श्री रामसखे जी ने चित्रकूट में और श्री बालअली जी ने अयोध्या में, इष्टदेव का साक्षात्कार इसी पद्धति से किया था।

श्रीयुगलानन्यशरण जी ने नित्य साकेतधाम की प्राप्ति के लिए, अन्य साधनों के अभाव में भी, केवल अयोध्यावास ही को समर्थ माना है—

जो चाहै पर रूप श्री, अवध अखण्ड विहार।
तो सब आस नसायके, सेवै अवध बहार॥[2]

प्रेमलता जी के अनुसार मिथिला की भूमि भगवान को इतनी प्रिय है कि वे उसे छोड़कर कहीं जाते ही नहीं। सन्तों को वहाँ युगलस्वरूप का दर्शन अनायास ही मिल जाता है—

- राम नहिं तजत कबहुँ ससुरारी।
सासु ससुर कर भाव अनूपम, अनुपम सरहज गारी।
वेदन के मंत्रहु से लागत, अधिक राम को प्यारी॥
श्री मिथिलेश सुनयना जू के, प्रेमहिं सकत न टारी।
प्रेमलता तेहिं लागि बसत पिय, मिथिला सिय उरधारी॥[3]

इसी प्रकार चित्रकूट में अखंडवास इष्टप्राप्ति का हेतु कहा गया है।

चित्रकूट बन कुंज में विहरत दशरथ लाल।
रामसखे प्रण बाँधि के, बसे सु होय बहाल॥[4]

प्रेमलता जी का मत है कि साधक के लिये मिथिला का-विवाह, परिक्रमा तथा होली, अवध का-जन्म, झूलन और अक्षय नवमी, रामनगर (काशी)

१—जानकी बिन्दु, पृ० ७०
२—अर्थपंचक, पृ० २६
३—मि० मा०, पृ० २५
४—नृत्यराघवमिलन दोहावली, पृ० १२

की रामलीला और चित्रकूट की दीवाली में सम्मिलित होना लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से श्रेयस्कर होता है।[१] इन लीलाओं के रसिक, विषय-रस में नहीं फँसते।

रसिक साधकों की दृष्टि में कर्मसाधना में कर्तृत्वभावना एवं कर्मफल का त्याग आवश्यक है। सकामभाव[२] से संपादित कर्म प्रिय-प्राप्ति में बाधक होते हैं।

(२) ज्ञान—शुभकर्मों के अनुष्ठान से हृदय में ज्ञान का प्रकाश होता है। ऐसी दशा में साधक को अपने मानस में दिव्य-सिंहासन पर आसीन, मणिमय वस्त्राभूषणों से अलंकृत युगलस्वरूप का ध्यान करना चाहिये। यह भक्तिमय ध्यान, योग तथा ज्ञान-साधना का सहकारी है। इससे त्रिविध वासना नष्ट हो जाती है और साधक कैवल्यसुख प्राप्त करता है। इसमें इन्द्रियों का निग्रह अनिवार्य है। अतएव विरले सन्त ही इस मार्ग में ठहर पाते हैं। युगलानन्यशरण जी इस प्रकार हृदय-कमल में साकेतविहारी के साक्षात्कार को ही ज्ञान मानते हैं। निर्गुण-ब्रह्म का ज्ञान, रसिक साधना में कोई महत्त्व नहीं रखता।[३]

(३) भक्ति—आचार्य का उपदेश ग्रहण कर तैलधारवत् नामस्मरण करने से शनैः शनैः अभ्यास के द्वारा साधक अजपा-जप का अधिकारी होता है। इसी स्थिति में उसे भक्ति की प्राप्ति होती है।[४]

भक्ति श्री रामचन्द्र जी की पटरानी है।[५] उसके कृपापात्र जीवन्मुक्त साधक ही हो सकते हैं। मुमुक्षुओं का वहाँ प्रवेश नहीं।[६] सामान्य साधकों की वहाँ पैठ नहीं।[७] उस क्षेत्र में तो रसिकों का ही एकाधिकार है।

(४) प्रपत्ति—यह आराध्यदेव की प्राप्ति का सबसे अधिक सुलभ, एवं मंगलमय साधन है। सभी दोषों से मुक्त होने के कारण प्रपन्न साधनावस्था में ही सिद्धस्वरूप हो जाता है। इसमें सद्गुरु की कृपा से चित्त निरोध स्वत हो जाता है। कर्म, ज्ञान तथा भक्ति के अन्तर्गत अहंकार का अस्तित्व सदा बना रहता है, किन्तु प्रपत्ति आत्मसमर्पणमूलक होने से स्वभावतया अहंकाररहित होती है। इसमें साधक के शक्त-अशक्त होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। प्रपत्ति

१—वृहद्-सम्बन्धपत्र, पृ० २५
२—अर्थपंचक, पृ० १५
३—वही, पृ० १६
४—वही, पृ० १६
५—वही, पृ० १६
६—वही, पृ० १६
७—वही, पृ० १७

श्रीरामचन्द्र जी की 'अत्यन्त प्रिय पत्नी' है।[1] अतएव उसका अवलम्ब ग्रहण करने से निश्चय ही वे प्रसन्न होकर साधक को अंगीकार करते हैं और उसे साकेत-धाम में अपनी नित्यलीलाविहार में स्थान देते हैं। उसके आर्त और दृप्त दो भेद हैं। जिनकी व्याख्या पीछे जीवस्वरूप-वर्णन के प्रसंग में की जा चुकी है। प्रपत्ति रसिकसाधना का सर्वोच्च एवं अन्तिम सोपान है।[2]

(५) आचार्याभिमान—रसिकसम्प्रदाय के सिद्धान्त, परम्परा से केवल गुरुमुखैकगम्यज्ञान के रूप में गृहीत होते रहे हैं। पंचसंस्कारों को संपन्न कराते समय जितना विस्तारपूर्वक सद्गुरु उनकी व्याख्या करते हैं और सम्बन्धसूत्र की जटिलपद्धति जिस प्रकार वे शिष्य को समझाते हैं, उतना प्रयास कदाचित् ही किसी अन्य सम्प्रदाय के गुरु, अपने शिष्य की परमार्थसिद्धि के लिये करते हों। साधक को निजस्वरूप और पररूप का बोध वही कराते हैं। और अनादिकाल से सम्बन्ध-ज्ञानाभाव से मुरझाये हुए स्वरूप को *अपनी पीयूषवाणी* से सींचकर अंकुरित एवं पल्लवित करते हैं। इसीलिये आचार्याभिमान प्रभु प्राप्ति का प्रधान उपाय माना जाता है। जो भक्तिसाधना में अक्षम हैं, प्रपत्ति की भावना जिनके हृदय में जागरित नहीं होती, ऐसे अशक्त लोगों के लिये आचार्यनिष्ठा ही एक मात्र साधन है। आचार्य को उपायतया स्वीकार कर लेने पर भयाभय जाते रहते हैं। यह प्रपत्ति की भाँति उपायान्तरों का अंग भी होता है और स्वतंत्र भी। अतएव सच्चे साधक, सुलभ आचार्य को छोड़कर दुर्लभ और दुराराध्य भगवान् को नहीं चाहते। उपर्युक्त चारों उपायों के लिये अक्षम और अयोग्य होने पर भी, गुरुचरणों की सेवा, गुरुभाइयों पर श्रद्धा, गुरु उच्छिष्ट प्रसादी का ग्रहण, गुरुमूर्ति का ध्यान, गुरु-आज्ञा-पालन और सभी प्रकार से गुरुचरणों में आत्मसमर्पण करके साधना का अभिप्रेत फल प्राप्त किया जा सकता है।

४. प्राप्ति के फल

पूर्वोक्त उपायों का आश्रय लेकर साधनापथ में प्रवृत्त होने से भक्तों के मानस में जीवदया और लोकोपकार के भाव उदय होते हैं। ऐसे सन्तों के उपदेश और आचरण शास्त्रीय सिद्धान्तों को प्रकाशित करते हुए मर्यादा का आदर्श स्थापित करते हैं। रसिक सन्तों ने, सभी श्रेणियों के उपासकों के स्तर के अनुसार साधना के पाँच फल माने हैं।[3]

१– अर्थपंचक, पृ० १७
३–वही, पृ० २१
२–वही, पृ० २०–२१

(१) धर्म— धर्मानुकूल आचरण साधना का प्रथम फल है। जिसमें सत्य, शौच, तप और दया साधकों के स्वभाव के अभिन्न अंश हो जाते हैं। धर्म का कवच धारण करके ही संत, संसार समर में विजय प्राप्त करते हैं। श्रीरामचन्द्र जी स्वयं धर्ममर्यादा के रक्षक हैं अतएव उनकी प्राप्ति में वे अन्यतम सहायक हैं। धर्म का संचय अनासक्त भाव से ही इष्टसाधक होता है। सकाम धर्माचरण आवागमन के बन्धनों को दृढ़ करता है, इसलिये निर्मल और निष्काम भाव से धर्म में प्रवृत्त होना चाहिये।[1]

(२) अर्थ—विश्व के बहिरंग-व्यवहार का मूलाधार अर्थ है। अर्थ से ही प्राणिमात्र का भरण-पोषण होता है। वर्णाश्रम के समस्त कृत्य उसी के सहारे चलते हैं। धर्म से जो धन संचित किया जाता है, उससे कुटुम्ब, अतिथि, गुरु, देव एवं सन्तों की सेवा होती है। उससे जीव की परितुष्टि होती है। अवांछनीय मार्गों से उसका सञ्चय और अपव्यय पतन का कारण होता है।[2]

(३) काम—साधना का एक फल अभिलषित भोगों अथवा 'काम' की प्राप्ति भी होता है।[3] रसिक साधकों ने उसे आराध्य का सान्निध्य प्राप्त कराने में सहायक बताया है। धर्म के अनुशासन का पालन करते हुए, जो लोग अध्यात्म साधना के साथ ही सांसारिक भोग्यपदार्थों का सेवन करते हैं, उन पर 'काम' का दुष्प्रभाव नहीं पड़ता, किंतु जो ईश्वर को भूलकर विषयभोगों को ही सब कुछ समझ बैठते हैं, उन्हें 'कामिनी' और 'कंचन' पथभ्रष्ट कर देते हैं। विरक्तों तक का ये पीछा नहीं छोड़ते। सकामभाव से उपासना करने वालों को ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ उसी प्रकार ले डूबती हैं, जिस प्रकार विषयरत लोगों को स्त्रियाँ।[4] अतएव काम का भोग तदर्पित मन से ही कल्याणप्रद होता है। रामसखे जी के मत से इस प्रकार रामरंग में 'पगे' रसिकों के पतन का भय नहीं रह जाता।

भावै रम गिरिदरिनि मे, भावै दारन संग।
राम सखे तब कौन डर, पगे राम के रंग।।[5]

१—अर्थपंचक, पृ० २२
२— वही, पृ० २२
३—रामभजे दोउ मिटैं, भुक्तिमुक्ति जग माँहि।
राम सखे सो देखिये, भुसुंडि बिभीषन माँहि॥
—नृ० रा० सि०, पृ० ६०
४—अर्थपंचक, पृ० २१
५—नृ० रा० सि०, पृ० ६०

उपर्युक्त तीनों फल वर्णाश्रम म रहकर उपासना करने वाले भक्तों के लिये तो वाञ्छनीय और सुखद हैं, किन्तु विरक्त सन्तों के लिए सर्वथा त्याज्य और दु ख पर्यवसायी कहे गये हैं। पाँच फलों में अन्तिम दो ही उनके लिए स्पृहणीय हैं।[1] ये हैं—मोक्ष और पुरुषार्थ।

(४) मोक्ष—इस फल को प्राप्त कर जीव भवबन्धन से मुक्त हो, परम प्रकाश म विलीन हो जाता है। इसकी निर्वाण, कैवल्य, आदि अन्य संज्ञायें भी हैं। ज्ञान मार्गी अथवा निर्गुण भक्तों का यही साध्य माना जाता है, परन्तु रसिक साधक इसकी प्राप्ति को जीव की शून्यावस्था कहते हैं, जिसमें द्वैत का अभाव होने से रसभोग की सम्भावना ही नहीं रहती। जहाँ प्रियतम की झाँकी का रस नहीं, उनके रूपमाधुर्य के पान की व्यवस्था नहीं, वह मोक्षदशा रसिकों की दृष्टि में एक प्रवञ्चना मात्र है।[2]

(५) पुरुषार्थ—भगवत्प्राप्ति रसिकसाधना का सर्वोत्कृष्ट तथा एकमात्र फल माना जाता है। साम्प्रदायिक ग्रन्थों म इसे ही जीव का परमपुरुषार्थ कहा गया है। तीनों वासनामय शरीरों को त्यागकर किस प्रकार जीव प्रियतम का दिव्य साकेतलोक में कैंकर्य प्राप्त करता है और नित्य लीला-रस का भोग करता है, इसकी व्याख्या जीव की नित्यमुक्तावस्था के लक्षण का वर्णन करते समय पहले हो चुकी है। ईश्वर जीव की इस संबंधस्थापना को 'रहस्यमिलन' भी कहते हैं।[3]

५. प्राप्ति के विरोधी

साधना का मार्ग निष्कण्टक नहीं है। आराध्य की प्राप्ति में अनेक बाधायें आती हैं, जो आराधक को पथभ्रष्ट करके जीवनमरण के बंधन में जकड़ने का प्रयत्न करती हैं। उनके कारण उसकी अध्यात्मप्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। रसिक-साधना में ऐसे विषयों को 'प्राप्ति के विरोधी' की संज्ञा दी गई है। ये पाँच प्रकार के होते हैं[4]—

(१) स्वस्वरूपविरोधी—अनात्मवस्तुओं, (शरीरादि) में आत्मबुद्धि रखना,[5] अपने को श्रीराम का नियम्य अथवा शेष न समझकर स्वतंत्र मानना, स्वयं को ब्रह्मज्ञानी एवं ईश्वर (सोऽहं) मानना और भगवान से अपने नित्य सम्बन्ध को भूलकर नवीन कल्पित मतों का अनुयायी बनना—आदि मार्ग आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में सबसे बड़े अवरोध हैं।[6]

१-अर्थपंचक, पृ० २२
२- वही, पृ० २३
३- वही, पृ० २४
४-अर्थपंचक, पृ० २८
५-हनुमत्संहिता, पृ० ३१
६-अर्थपंचक, पृ० २८

(२) परस्वरूपविरोधी—अपने इष्ट अथवा आराध्यदेव को विष्णु आदि देवों के समकक्ष मानना अर्थात् इष्टदेव में परत्वभावना का त्याग करना, उपास्य के अतिरिक्त ब्रह्मादि देवों को प्रभु के तुल्य समझना, श्रीरामचन्द्र जी के अतिरिक्त अन्य देवों को अपना रक्षक मानना, अन्य देव की उपासना करना, मूर्तियों में अनीशभावना रखना, वेदपुराणादिक सच्छास्त्रों को प्रमाण न मानकर कपोलकल्पित सिद्धान्तों पर विश्वास करना तथा अर्चा और परस्वरूप में भेद मानना। इनसे आराध्यदेव के वास्तविक रूप का ज्ञान नष्ट हो जाता है।[1]

(३) उपायविरोधी—आराध्य की प्राप्ति के लिये भक्ति और प्रपत्ति हीन साधनों का अवलम्ब लेना, अपने गुरु द्वारा निर्दिष्ट उपाय को हेय मानकर गुरुवचनों में अविश्वास करना और निराश हो जाना, भगवद्भक्तों से विमुख होना तथा वासनायुक्त मन से कर्म करना—ऐसे भाव इष्टप्राप्ति के मार्ग में बाधा उपस्थित करते हैं।[2]

(४) प्राप्तिविरोधी—पञ्चतत्त्व से निर्मित शरीर और उसके सम्बन्धियों से अतिस्नेह करना, सतों का अपमान करना, भगवान की सेवा में जानबूझ कर अपचार करना, राजधान्य ग्रहण करना, श्रद्धाहीन मनुष्यों के यहाँ भोजन करना, भोजन में स्वादानुसंधान करना, विजातियों (विरोधी सम्प्रदायों के अनुयायियों) का संग करना—ऐसे आचरण, साधक द्वारा संचित ज्ञान एवं तप को नष्ट और भगवत्प्राप्ति का मार्ग सदैव के लिये अवरुद्ध, कर देते हैं।[3]

(५) फलविरोधी—भगवत्प्राप्ति अथवा पुरुषार्थ को छोड़कर अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष आदि फलों की इच्छा रखना, प्रभु से अपने को असम्बद्ध समझकर स्वार्थों की सिद्धि के लिये भजन करना तथा अपनी इच्छा को प्रधान मानकर आलस्य भाव से कैंकर्य करना[4], इन सबका परिणाम आराधना के फल की प्राप्ति में बाधक होता है।[5]

रसिक संत इनसे सावधान रहकर साधनापथ पर अग्रसर होते हैं।

तत्त्वत्रय ज्ञान

चित् (जीव), अचित् (माया अथवा जगत्) तथा ईश्वर, इन तीन तत्त्वों को तत्त्वत्रय की संज्ञा दी गई है। आचार्य, शिष्य को इनके अर्थ एवं स्वरूपों से अवगत कराते हैं।

१–अर्थपंचक पृ० २९
२–वही, पृ० २९
३–वही, पृ० ३०
४–पंचक पीयूष पृ० १४
५–अर्थपंचक, पृ० ३१।३२

(१) चित्

चित्-स्वरूप जीवात्मा, प्राकृत विकारों से शून्य, अनादि और निरंजन है। वह जड़प्रकृति से सर्वदा असपृक्त है। अचित् के संसर्ग से ज्ञान में संकोच आ जाने के कारण वह अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि स्थापित कर लेता है। देहाध्यासजनित दुःख प्रातीतिक है, यथार्थरूप में वह अमल एवं ज्ञानानन्दमय है। व्यावहारिक जीवन में जो नाना प्रकार के विकार दिखाई देते हैं, वे बुद्धि के हैं, आत्मा के नहीं। वह तो नित्य एक रस है। इसके साथ ही वह अनादि, अज, अव्यय और अनन्त भी है। चेतन और व्याप्तिशील होने से वह स्वयंप्रकाश्य और निर्लेप है। शेषत्व और पारतन्त्र्य उसके आत्मगुण हैं। उसका यह पारतन्त्र्य सीता जी के पुरुषकारत्व से छूटता है। मूलप्रकृति सीता जी का अंश होने से वह नित्य स्त्रीरूपा है। शरीर छूटने पर शुद्ध (स्त्री)[1] रूप प्राप्त कर अपने अंशी सीता जी की शरण में जाता है। उन्हीं के माध्यम से उसे परम पुरुष की प्राप्ति होती है।

(२) अचित्

अचित् अथवा माया के तीन अंग हैं—शुद्धसत्व, मिश्रसत्व और सत्व शून्य। शुद्धसत्व, रज और तम गुणों से रहित, केवल सत्वगुणमय है। त्रिपाद् विभूति के अन्तर्गत, भगवल्लोकों के समस्त पदार्थ—सिंहासन, तोरण, वृक्ष, लता, मंडप, भूमि, पक्षी इत्यादि इसी से निर्मित हैं। वे आनंदस्वरूप एवं अविनाशी हैं। मिश्रसत्व, रज तथा तम गुणयुक्त सत्वविशिष्ट को कहते हैं। ब्रह्मांडों की रचना इसी से होती है। सत्वशून्य, वह है जिसमें केवल रजतम गुणों की ही प्रधानता हो। यही काल कहलाता है। त्रिगुणमय चौबीस तत्त्व—दश ज्ञान तथा कर्मेन्द्रियाँ, पंचतन्मात्रायें, पंचमहाभूत तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये अचित् के परिणाम माने गये हैं।

(३) ईश्वर

ईश्वर विश्व के समस्त चित्-अचित् पदार्थों एवं कार्य-व्यापारों का प्रेरक, धारक और सत्ताविधाता है। वह ज्ञानानन्द स्वरूप, अनन्त कल्याण-गुण विभूषित, भक्तमात्र के पुरुषार्थों से प्राप्त, त्रिदेवों का शक्तिप्रदाता, श्री भूलीलादिक अनेक शक्तियों एवं पार्षदों से युक्त, दिव्यसौन्दर्यमय, नित्यकिशोर श्री रामचन्द्र

1—तिय स्वरूप शुचि आतमा, अति प्रिय मम जिमि प्रान।
कबनेउँ धारे देह पर, तजै न निज तन ज्ञान॥
—वृ० उ० १०, पृ० ६

से अभिन्न है। इह तथा परलोक में वही एक मात्र पुरुष है, चित् और अचित् दोनों उसके भोग्य हैं।[१]

इन तीनों तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर साधक परम पद की प्राप्ति कर सकता है।

घ—प्रपत्ति-उपदेश

ज्ञानोपदेश के अनन्तर आचार्य 'षट् शरणागति' अथवा प्रपत्ति का उपदेश करते हैं। इसका उद्देश्य है, साधक के हृदय में उपास्य के प्रति अनन्य श्रद्धा एवं विश्वास पुरस्सर आत्मनिवेदन की भावना जाग्रत करना। नारदपाञ्चरात्र में प्रपत्ति के छ अंग बताये गये हैं—

> आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
> रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरण तथा।
> आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागति॥

अर्थात्

१—प्रभु की अनुकूलता का संकल्प—उसके नाम, रूप, लीला और धाम की उपासना के द्वारा अपने हृदय को सर्वप्रकारेण इष्ट के अनुकूल बनाना।

२—उपासना मार्ग में विरोधी—संग, देशकाल, कर्म और स्वभाव, का त्याग करना।

३—उपास्य के द्वारा अपनी रक्षा में दृढविश्वास रखना। उसके शरणागतपालक एवं रक्षक रूप का नित्य स्मरण करना।

४—सर्वतोभावेन आराध्य के चरणों में अपने को समर्पित करना।

५—रक्षकरूप में उपास्य का वरण करना।

६—आर्तभाव से प्रभु के शरणागत होना।

कामदेन्द्रमणि जी ने रामभक्तों की 'षट् शरणागति' की कुछ विशेषतायें निम्नलिखित पंक्ति में क्रमानुसार इस प्रकार अंकित की हैं—

> १—सिया राम प्रिय कर्म सुनि, करै सोइ दिन रैन।
> लोक वेद विधि विहित नहि, तदपि रमत सुखदैन॥

१—पुरुष एक मैं भोगता, भोग्य सकल संसार।
जड़ चेतन विय रूप सब, जानहि बुध न गँवार॥
—वृ० उ० र०, पृ० ९

२—सिया राम प्रतिकूल जो, सपनेहु धरे न हीय।
लोक वेद विधि विहित हूँ, करै न स्वजन स्वकीय॥
३—करै समर्पन स्वामिको, श्री गुरु देव सकास।
तन-मन धन नवनेह भरि, त्यागि और की आस॥
४—तिहूँ काल तिहुँ लोक महँ, सम रक्षक श्री राम।
त्रिभुवन भय कछु है नहीं, नहीं अपर सो काम॥
५—प्रभु सरन्यता गुन विवस, निज सेवक आधीन।
मम कर व्यजन पावहीं, भूषन धरत नवीन॥
६—मो सम अघ अवगुन भवन, त्रिभुवन नहिं कोउ आन।
दीन जानि अपनाइहैं, दीन बधु सिय जान॥[1]

उनका मत है कि शरणागति के उपर्युक्त छः अंगों के अंतर्गत पंचभक्ति रसों के समस्त लक्षण पाये जाते हैं। प्रथम और द्वितीय में शान्त, तृतीय में सख्य, चतुर्थ में शृंगार, पंचम में वात्सल्य और षष्ठ में दास्यरस की व्याप्ति रहती है।[2] इनमें से जिस रस में जिसकी रुचि हो, प्रपत्ति के पश्चात् उसी की साधना कर, वह इष्ट की प्राप्ति कर सकता है।

प्रपत्ति से उपास्य में अनन्यताभाव का उदय होता है। यह दो प्रकार की होती है।[3]

१. सामान्य—देवान्तर की उपासना का त्याग।

२. विशेष—मन्त्रान्तर और रूपान्तर का त्यागकर भावपूर्वक श्री सीता राम के नाम, रूप, लीला और धाम का चिंतन।

इस प्रकार अनन्यभावेन शरणागत होकर प्रभु का 'गोप्तृत्व वरण' कर लेने के पश्चात् जीव अपने नित्यसम्बन्धी से परिचय प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

१—राघवेन्द्ररहस्यरत्नाकर, पत्र २८

२—पंच रसहु लक्षन सकल, सरनागत के होत।
स्वयं सिद्ध जो जेहि रसहिं, निरसत करत उदोत॥
—वही, पत्र २८

३—वही, पत्र २८

नाम साधन

१ नामपरत्व-उपदेश

ज्ञान तथा प्रपत्ति के मूलतत्वों की व्याख्या करने के बाद गुरु, शिष्य को युगलनाम (सीताराम) के अर्थ और महत्त्व से अवगत कराते हैं। इससे एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति होती है। साधना के पूर्वोक्त दार्शनिक तथ्यों को वे ही साधक धारण कर सकते हैं, जो विशेष शिक्षित हों अथवा जिनका मानसिक स्तर ऊँचा हो। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि परमार्थ पथ के सभी पथिक इसी वर्ग के हों। अतएव अशिक्षित तथा अल्पशिक्षित जिज्ञासुओं के मार्गप्रदर्शन और प्रशिक्षण के लिये रामनाम का अवलंब लिया गया है। उससे साधक की ज्ञान और धर्म विषयक न्यूनतायें ही पूरी नहीं होतीं, परमतत्त्व का बोध भी अन्य साधनों की अपेक्षा शीघ्रतर और अधिक सरलता से हो जाता है। अर्थपंचक, तत्त्वत्रय और प्रपत्ति का सारा तत्त्व सीताराम के नाम में ही पुञ्जीभूत है। इसके जप से युगलभावना की पुष्टि और परमानन्द की प्राप्ति होती है।[१] दम्पति की रासक्रीडा का रहस्य इसी के द्वारा जाना जा सकता है।[२]

सीता नाम, षट् कलाओं का आश्रय है।[३] वह सभी रसों का कोष और अनन्त ज्योतिमय है। वह कृपा, करुणा, वत्सलता, अनुकम्पा आदि असंख्य दिव्य गुणों का धाम है।[४] भवरोग से ग्रसित, मोहमुग्ध जीवों के लिये तो वह संजीवनी ही है।[५] प्रियतम अपने नाम से अपनी हृदयप्रिया 'सीता' के नाम को

१–सीताराम सुनाम भणि, युगल भाव प्रिय पुष्ट।
जग जोग सञ्जोग नहिं, सुमिरत सब सुख सुष्ट॥
—श्री जानकीसनेहहुलासशतक (युगलानन्यशरण), पृ० १८

२–ललित लाडिली रस रहस, अगम सुगम सुठि होय।
रटै निरन्तर नाम श्री, सकल विकल मत खोय॥
—वही, पृ० ६

३–श्री सीता निजनाम मधि, षट कला कला विचित्र।
युगलानन्यशरण लखे, भाविक भेद पवित्र॥
—वही, पृ० ५

४–वही, पृ० ८

५–वही, पृ० ११

अधिक महत्त्व देते हैं।[1] अतएव रसिक उनका भी स्मरण जानकीवल्लभ रूप में ही करते हैं।

रामशब्द स्वयं—ब्रह्म का पर्याय है। तत्त्वज्ञानस्पृही योगी लोग चित्सुख-स्वरूप रामनाम में नित्य रमते हैं, अथवा सर्वभूतों में रमण करने से, राम परब्रह्म का मुख्य नाम है।[2] बीजरूप से सभीकुछ 'उस' में विद्यमान है।[3] वह प्रणव का मूल है।[4] सच्चिदानन्द विग्रह स्वरूप उनके इस नाम में ही रूप, लीला और धाम चारों तत्त्व विद्यमान हैं, अतएव उसकी उपासना से साधक के हृदय में ज्ञान, योग, ध्यान, भक्ति आदि साधना के सभी अंग आ बसते हैं।[5] प्रभु का नित्यकैंकर्य अनायास ही प्राप्त हो जाता है।[6]

१–श्री रघुनन्दन नाम नित करें जो कोटि उचार।
तातें अधिक प्रसन्न पिय, सुनि सिय एकहु बार॥
जे भीजे रसराज रस, अरस अनेक विहाय।
तिनको केवल जानकी, वल्लभ नाम सुहाय॥
—जा० स० द० दा०, पृ० १८

२–रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते॥
—रामतापनीयोपनिषद्, पृ० ७

३–राम नाम के भीतरहिं, जीव ब्रह्म त्रैलोक।
सीकर पियत पपीह जस, तिमि मैं कहत विसोक॥
—नामशतक, पृ० २

४–राम सुनाम प्रणव को मूला। नाम वेद सब गावि अनुकूला॥
मंत्र तंत्र श्रुति संहिता, अरु जो विविध पुरान।
राम लसे इन सबन पर, बीज सु राम सुजान॥
—नृत्यराघवमिलन, पृ० २१

५–नाम ही में रूप धाम, नामहीं अनूप धाम
नाम ही में गुण ग्राम प्रभुता सुनाम हीं।
नाम ही में भावभक्ति नाम ही में रसव्यक्ति
नाम ही में प्रेमी ज्ञानी प्रेमा परा पावहीं॥
—श्री रामरसरंगविलास, पृ० ५

६–राम नाम सुमिरत मद मोह दुरित भागे।
बरनाश्रम द्वारा कलित प्रकृति अनुरागे॥

२. नामार्थ-अनुसंधान

'राम' नाम

राम शब्द 'रम्' धातु से बना है, जिसका प्रयोग 'क्रीडा' के अर्थ में होता है। 'क्रीडा' शब्द की विभिन्न व्याख्याओं के अनुसार योगी, ज्ञानी, और कर्मकाण्डी 'राम' नाम की सार्थकता विविध प्रकार से प्रतिपादित करते हैं।[1] किन्तु रसिक रामभक्तों के तत्सम्बन्धी विचार उन सबसे विलक्षण हैं। उनका मत है कि राम के अलौकिक सौन्दर्य में जीवमात्र को रमाने की जो अद्भुत क्षमता है, उसी के कारण उनका नाम 'राम' पड़ा है।[2] रामचरित में ऐसे प्रसंग भरे पड़े हैं जिनमें उनके रूपलावण्य पर स्त्रीपुरुष ही नहीं खग-मृग, तृण-तरु सभी मोहित होते दिखाई देते हैं। एक स्थल पर तो तपोव्रतधारी दण्डकारण्यवासी मुनियों का स्त्रीरूप में प्रभु के साथ रमण करने की इच्छा व्यक्त करने का भी उल्लेख मिलता

शांति शील सत्य सरस तोष जिगर जागे।
'युग अनन्य' अनायास प्रीतम पद पागे॥
—श्रीरामनामपरत्व पदावली, पृ० २०

१—राम अर्थ योगी करहिं, रमु क्रीड़ा ते राम।
प्रणव संग आतम रमइ, परमातम के धाम॥
रमु क्रीड़ा याते कहत, रमेउ चराचर एक।
राम कहत ताते निगम, ज्ञानिन कीन्ह विवेक॥
कर्मकांडी ऐसे कहहिं, रमु क्रीड़ा असहोइ।
प्रलय काल जहँ जग रमैं, राम कहत श्रुति सोइ॥
—नामशतक, पृ० ४

२—राम भक्त अस कहत हैं, सत्य कहत सब राम।
राम रूप लखि को न रमु, ताते राम सुनाम॥
जनक पुरी जे नारि नर, परशुराम निष्काम।
रमेउ राम छवि लखि भये, ईश्वर ते मुनि नाम॥
चित्र कूट मग नारि नर, वनचर कोल किरात।
रमेउ राम छवि लखि विवस, मृग खग अरु तृण पात॥
छल तजि रमि रहि राक्षसी, शोभा राम निहारि।
दंडक मुनि प्रभु लखि रमेउ, पुरुष ते भये नारि॥
—वही, पृ० ४-५

है।[1] रूपासक्ति की यह पराकाष्ठा है।[2] वे इसका एक अन्य अर्थ भी करते हैं, जिसमें 'रमु' विहारबोधक माना गया है।[3] साकेतलोक में जो नित्यशृङ्गारी

१—साधु असाधु जिते रहे, सात दीप के भूप।
अरु विदेह कुल में भये, जेते भूप अनूप॥
रम्य रूप लखि राम रमि, निज निज कन्या दीन।
यातें, रमु क्रीड़ा अरथ, रामहि मैं श्रुति कीन॥
—रसिकविनोद, पत्र ३९

२—चन्द्रकान्ताननं रामं अतीव प्रियदर्शिनम्।
रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारकम्॥

इत्यत्र पुंसां दृष्टिचित्तापहारकमित्यनेन पुंसां तद्रूपास्यासक्तत्वेन तद्वियोगासहमानत्वेन स्त्रीव तद्रूपादिभोक्तृत्वं ज्ञापितम्।

तदेव पद्मपुराणे स्फुटमुक्तं भवति।

पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्॥

इति पुंसामपि मनो हरतीति हरिस्त्वमितीदृशोऽत्र हरिशब्दस्यार्थो ज्ञेयः। पुंसां दृष्टिचित्तापहारकमित्यस्यानुरोधात्। भोक्तुमैच्छन्निति स्त्रीवत्। रामेण सह भोगेच्छामकुर्वन्नित्यर्थः अनेन पुंसामपि स्त्रीभावेन श्रीरामस्य भजनमुपपद्यते। श्रीरामरूपादीनामेव पुंसां तत्पुरुषत्वविस्मरणपूर्वक-स्त्रीभावेन श्रीरामसेवनस्य संपादकत्वात्।

इत्येवमादिव्यासवचनप्रमाणाच्च।

नानामुनिगणाः सर्वे दंडकारण्यवासिनः।
ज्ञानयोगतपोनिष्ठा जापका ध्यानतत्पराः॥
मुनिवेषधरं राम नीलजीमूतसंनिभम्।
रमन्ते योषिद्भूता रूपं दृष्ट्वा महर्षयः॥

इत्येवमादीनां। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्सु विग्रहमिति व्यासवचनसमानार्थकानां महारामायणोक्तशिववचनानां प्रमाणत्वाच्चेत्यल-मिति विस्तरेण।

—श्रीरामस्तवराजभाष्य (हरिदास), पृ० ८५–८६

३—रसिक सर्व सब है कहत, रमु विहार को नाम।
रसविहार में जो रमहिं, रमु क्रीड़ा सो राम॥
—नामशतक, पृ० ५

क्रीडाओं में मग्न रहते हैं, उनका नाम 'राम' होना उचित ही है। रामनाम के इस अर्थ के समर्थन में रसिक संतों ने अनेक प्राचीनग्रंथों से प्रमाण एकत्र किये हैं।[1]

'राम' शब्द की प्रतीकात्मक व्याख्या कई प्रकार से की गई है।[2] कुछ संतों ने उसी से प्रणव की भी उत्पत्ति मानी है। 'रामनाम-कलामणि-कोष-मंजूषा' में उसका इतना ऊहात्मक विवेचन किया गया है, कि साधारण पाठक के लिए उसकी दार्शनिक पद्धति को समझने की बात कौन कहे, शब्दार्थ लगाना भी कठिन है।[4] रामचरणदास जी ने नारायण, कृष्ण, वासुदेव, हरि आदि नामों की व्याख्या करके उनसे राम नाम की विशेषता दिखाई है।[5]

'सीता' नाम

सीता का अर्थ है अपनी मधुर चेष्टाओं से (प्रियतम को) वश में करने वाली—"सिनोति वश करोति स्वचेष्टया भगवन्त सा सीता" इस शब्द की

१–श्रियो रमणसामर्थ्यात् सौन्दर्यगुणसागरात्।
श्रीराम इति नामेदं विष्णोस्तस्यैव गीयते॥
—सुदरमणिसदर्भ, पृ० २२७ में (उद्धृत)

२–मनोभिरामा रामस्ता रामो रमयतांवर।
रमयामास धर्मात्मा नित्यं परमभूषिता॥
—वा० रा० उ० का०, सर्ग ४२

३–रकारेणोच्यते राम. श्रीराकारेण इत्युच्यते।
मकारस्तु तयोर्दासो बीजस्यार्थ इति स्फुटम्॥
राम लक्ष्मणयोर्मध्ये श्रीश्चवस्थानवद्यथा।
तथैव मज्जीवयोर्मध्येऽकार श्रीरुच्यते॥
—श्रीरामरहस्यत्रयार्थ, पृ० ७

४–पर की त्रिकुटी एक रस, तुलसी रसी अकार।
उर पर ताल ताहि के, तापर कंठ उदार॥
वसु के विधु हृदये बसे, राम चचला रूप।
तुलसी राजै सो शिखा, ताते भ्राज अनूप॥
आदि अकारोकार पर, तापर लसे मकार।
आधो चन्द्र इकार है, तुलसी परे एकार॥
—श्रीरामनामकलामणिकोष-मंजूषा, पृ० ७

५–नामरात्क, पृ० १४

त्रिवर्णात्मिका माया का स्वरूप माना गया है।[1] सीतोपनिषद् में कहा गया है कि सीता शब्द में सकार विष्णु का, ईकार माया का, तकार मोक्षप्रद सत्य का तथा आकार अमृत का प्रतीक है। यह नाम अव्यक्त रूपिणी महामाया का व्यक्तविग्रह है।[2]

इन तीन वर्णों के अनुसार 'सीता' के तीन रूप हैं—प्रथम—शब्दब्रह्ममयी मूलप्रकृति, द्वितीय—पृथ्वी पर जनक के द्वारा सीता (लांगल पद्धति) से उत्पन्न होने के कारण जानकी अथवा सीता, और तृतीय—अव्यक्तस्वरूपा साकेत विहारिणी सीता।[3]

महात्मा युगलानन्यशरण ने 'जानकीसनेहहुलास शतक' में सीता शब्द का पारमार्थिक महत्त्व बताते हुए रसिकोपासकों के लिये विभिन्न दृष्टियों से उसकी उपयोगिता दिखाई है।[4] रामचरणदास जी के आदर्श पर उन्होंने सीता शब्द से "तत्त्वमसि" महावाक्य की उत्पत्ति प्रतिपादित की है।[5]

१–सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षान्माया मया भवेत्।

—सीतोपनिषद्, पृ० ४।

२–विष्णु प्रपचबीजं च माया ईकार उच्यते।
सकार सत्यममृतं प्राप्ति सोमश्च कीर्त्यते॥
तकारस्तारलक्ष्म्या च वैराज प्रस्तर स्मृत॥
ईकाररूपिणी सोमामृतवायव दिव्यालकारस्रड्मौक्तिकाद्या-
भरणालकृता महामायाऽव्यक्तरूपिणी व्यक्ता भवति॥

—वही, पृ० ४

३–प्रथमा शब्दब्रह्ममयी स्वाध्यायकाले प्रसन्ना उद्भावनकरी सात्मिका, द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना, तृतीया ईकाररूपिणी अव्यक्तस्वरूपा भवतीति सीता इत्युदाहरन्ति।

—वही, पृ० ४

४–जानकी सनेह हुलास शतक, पृ० २, ६।

५–तत्त्वमसी वेदान्त को महावाक्य सिद्धान्त।
सोउ सभव सिय नाम से, बिना बूझ भव भ्रान्त॥
तत् पद रुचिर तकार है, त्वं पद मधुर अकार।
सी मिलि असी प्रसिद्धि ही, कीजे विशद विचार॥
सीताराम सुमध्य ही, अमित मत्र सब काल।
ताते इनही को रटो, पावो सुमति रसाल॥

—वही, पृ० १०।

साराश यह कि, रसिकों ने सीताराम के नाम में अपनी युगलनिष्ठा के सभी अंगों की स्थिति मानी है और उसका स्मरण तथा जप, साधना का मूलाधार बताया है।[१]

(३) नामअभ्यास

भक्तिसाधना का श्रीगणेश नामजप से होता है। नाम का अर्थ है—'पुकारना' 'आह्वान करना'। साधक, गुरुप्रदत्त 'राम' नाम से अज्ञात, अचिन्त्य, परात्पर, ब्रह्म का स्मरण करता है, उसे बुलाता है। नामस्मरण में देश, काल, पात्र और पद्धति का कोई बंधन नहीं है। जहाँ, जिस किसी समय में, जो भी जैसे चाहे नामजप कर सकता है। किंतु जब उसका उद्देश्य किसी निश्चित फल की प्राप्ति हो जाता है तो उस मार्ग के विशेषज्ञों के अनुभव का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। इसलिये रसाचार्यों ने नामअभ्यास की विविध पद्धतियाँ अपनी अनुभूति के आधार पर निश्चित की हैं।

नीचे महात्मा युगलानन्यशरण के 'नाम-अभ्यास प्रकाश' नामक ग्रन्थ के आधार पर नामसाधना की विविध स्थितियों का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

पहली भूमिका—भूमिशोधन

नामअभ्यास की प्रथम भूमिका 'भूमिशोधन' है। जिसमें नामजप के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार की जाती है। शरीर और मन को साधना की स्थिति में लाने के लिए पहले चालीस दिन का अनुष्ठान किया जाता है। साधक को इस काल में निम्नांकित नियमों का पालन करना पड़ता है। भोजन क्रमश घटाते घटाते तृतीयांश करना, रात के प्रथम पहर के भीतर ही सो जाना, सोते समय प्रार्थना करके सोना, डेढ़ पहर रात शेष रहे उठना, एकांत स्थान में नि:संग होकर निवास करना, विनीतभाव से भगवान का हृदय में स्मरण करना और गुरुचरणों का नित्य ध्यान करते रहना आदि सतानुमोदित कृत्यों से साधक की मानसिक स्थिति इस योग्य हो जाती है कि वह नामजप की प्रक्रिया का उपदेश यथार्थरूप में ग्रहण कर सके।

१—सीता राम सु नाम मधि, युगल भाव प्रिय पुष्ट।
अंग जोग सजोग नहिं, सुमिरत सब सुख सुष्ट॥
जे भीजे रस राज रस, अरस अनेक विहाय।
तिनको केवल जानकी, वल्लभ नाम सुहाय॥

—जा० स० हु० दा०, पृ० १८

दूसरी भूमिका—नामजप

भूमिशोधन के बाद 'नामजप' की भूमिका आती है। आचार्य, प्रभु-चरणों में प्रीति की दृढता के लिए साधक को क्रमशः युगलनाम के ऐश्वर्य, वैभव, *गुण तथा अर्थपरत्वचिंतन* का उपदेश करते हैं। इसके अनन्तर जप-विधि की व्याख्या निम्नांकित प्रकार से की जाती है। अंधेरी कोठरी में बैठकर साधक, निर्निमेष दृष्टि को नासिकाग्र पर स्थित कर, श्वास-प्रश्वास के साथ सस्वर नामजप करे। इसके पश्चात् मुख बंद कर हृदय और कंठ से जप करता हुआ नाभि के ऊपर मूलचक्र पर बार-बार नामध्वनि की चोट लगाता जाय। विरहीभाव से निरन्तर बलपूर्वक चोट लगाते रहने से हृदय की चंचलता दूर हो जाती है। नामजप की संख्या के विषय में संतों का मत है कि विरक्तसाधकों के लिए उसकी सीमा निर्धारित करना ठीक नहीं। अतएव उनके लिए अहर्निश जप का विधान किया गया है। वैसे साधारण रामोपासकों के लिए कम से कम २५ हजार युगलनाम लेना आवश्यक समझा जाता है। महात्मा बनादास का यही सिद्धांत है—

नाम पचीस हजार गृही को। निसि दिन भजन विरक्तहिं नीको।

यह संख्या प्रतिश्वास पर एक नाम जपने के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके द्वारा जीवनदान करने वाले प्रभु का नित्य-ऋण चुकाया जाता है।

प्रेमलता जी ने विरक्त साधकों के लिए भी संख्या निश्चित कर दी है। वे इस श्रेणी के भक्तों के लिए नित्य एक लाख अथवा सवालाख नामजप आवश्यक बताते हैं।[1]

तीसरी भूमिका—अजपा-जप

जपसाधना के समाप्त होने पर तीसरी भूमिका में अजपा-जप का अभ्यास किया जाता है। उसकी विधि के विषय में कहा गया है कि साधक पद्मासन अथवा सुखासन से बैठ, नेत्रों को बंद कर, श्रीरामनाम के वर्णात्मक स्वरूप का ध्यान करे। इसके अनंतर सुकुमार से नामध्वनि नाभि से उठाकर दाहिने कंधे तक ले जाय, वहाँ से फिर त्रिकुटी की राह से ले जाकर ब्रह्मरंध्र में ध्यान से ही उच्चारण करे और हृदय पर उसकी चोट लगाये। आरोह में संसार का अभाव तथा अवरोह में परेशरूप की सत्यता का चिंतन करे। इस अभ्यास

1—दिन प्रति कर ऋण सहस पचासा। पुरए बिन न द्रवहिं जगदीसा।
अस बिचारि तजि सकल असंका। करहु नामकर नेम सुपका।
सवा लाख या लाख सुवारा। रटहु नाम नित तजि मद मारा।
—गृ० उ० र०, पृ० १०

से चित्त शांत और प्रकाशमय हो जाता है। इसके द्वारा अनाहत नाद का श्रवण भी सरलता से किया जा सकता है।

(४) नामध्यान

नामजप की परिणति 'नामध्यान' मे होती है। भगवान के रूप का ध्यान साधना की आरंभिक स्थिति में दुर्लभ होता है, अतएव पहले नाम के ही ध्यान म साधक को अपनी वृत्ति लीन करनी चाहिये। उसकी रीति यह है—हृदय कमल मे अनतसूर्यों के समान प्रकाशमान् युगलनाम का ध्यान करे। कमल के दलों पर प्रणवादिक महामत्रों का ध्यान करे। उस समय नाम के भीतर से उठती हुई मधुरध्वनि को सुनने का प्रयत्न करे। उसकी मधुरता की तुलना मे अनाहत नाद की ध्वनि फीकी लगने लगती है। इस प्रकार अभ्यास करते करते नाम के भीतर ही साधक को अपने भावानुसार भगवान का सच्चिदानद रूप प्रस्फुटित होता दिखाई पड़ने लगता है। उसके दर्शन से बीजसमेत वासना नष्ट हो जाती है। अभ्यास करने से कीटभृंगन्याय के अनुसार साधक उपास्य से तद्रूपता स्थापित कर लेता है।

रसिकसाधक नामसाधना को ही सर्वोपरि और सर्वफलदायक मानते है। युगलानन्यशरण जी ने नामध्यान के अतर्गत "ध्यानभावना" की एक स्थिति बताई है और उसे नामसाधना का अतिम सोपान कहा है। नामध्यान का अधिकारी दीक्षित तथा मंत्रार्थ से अभिज्ञ साधक होता है। इसकी तीन स्थितियाँ हैं[१]—ताडनध्यान, आरतीध्यान और मौक्तिकध्यान।

(१) ताडनध्यान

ताडन का अर्थ है दड देना। नामजप की चोट दे दे कर, रोम रोम से वासना को निकालने की ध्यानप्रधानक्रिया का नाम ताडनध्यान है। इससे अत करण शुद्ध हो जाता है और विषयभोग की इच्छा भीतर से निकल जाती है। विषयनिवृति से प्रभुचरणों में प्रीति उत्पन्न होती है और हृदय में भगवान श्रीरामचन्द्र जी का स्वरूप प्रकट हो जाता है।

(२) आरतीध्यान

मानस में भगवत्स्वरूप के प्रस्फुटित होने पर उसकी 'मानसी' आरती की जाती है। एक पहर रात शेष रहने पर उसका अभ्यास करना चाहिये। प्रभु के तेजोमय स्वरूप का ध्यान कर, मन से ही उसकी सौचार आरती उतारी जाती है। उस अवसर पर आराध्य के तेजोमय मुखमंडल का बड़ी तन्मयतापूर्वक

१—नामअभ्यास प्रकाश, पृ० ३८ ४१

ध्यान करना चाहिये। कुछ काल तक इसका अभ्यास करने पर प्रभुरूप के प्रकाश से हृदय ज्योतिर्मय हो जाता है।

(३) मौक्तिकध्यान

आराध्य के दर्शन से अंतर और बाह्य शुद्ध हो जाने पर साधक मौक्तिकध्यान की योग्यता प्राप्त कर लेता है। साधना का समय दोपहर और आधीरात है। इसकी विधि यह है कि पैर के अंगूठे से प्राणवायु को खींच कर धीरे-धीरे सावधानीपूर्वक ऊपर ले जाय। मध्याह्न और अर्धरात्रि की निस्तब्ध स्थिति में इस क्रिया को नित्य सौ बार करने की परिपाटी है। इस विधि से एक वर्ष तक अभ्यास करने पर साधक अपने शुद्ध-आत्म-स्वरूप चित्देह अथवा भावदेह को शरीर से अलग देखने लगता है।[1] तीन वर्ष तक इसका क्रम जारी रखने पर महान् शक्ति की प्राप्ति होती है और साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। इसके पश्चात् वह जब चाहे शरीर छोड़ कर पार्षदरूप में धाम-सेवा प्राप्त कर सकता है।[2]

छ—गुणचिंतन

आराध्ययुगल के गुणचिंतन की स्थिति नामध्यान के अनन्तर आती है। श्री सीताराम अनन्त दिव्य गुणों के सागर हैं। उनके गुणों के आस्वादन की अभिलाषा रसिकों की संजीवनी है। गुणों के श्रवण, मनन और चिंतन से भक्तों के हृदय के संशय और ताप दूर होते हैं, चित्तवृत्तियाँ स्वतः परिष्कृत हो जाती हैं और प्रियचरणों में दृढ़ानुराग उत्पन्न हो जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नाम से पूर्णतया परिचित हो जाने पर व्यक्ति के गुणों के प्रति जिज्ञासा का भाव उठना अत्यंत स्वाभाविक है। उसकी तृप्ति गुणचिंतन से होती है।

राम के गुण

महात्मा युगलानन्यशरण ने राम के गुणों का विभाजन निम्नलिखित चार वर्गों में किया है—

अ—विश्व-संचालनोपयोगी गुण—

१. ज्ञान	३. बल	५. तेज
२. शक्ति	४. ऐश्वर्य	६. वीर्य

ये छः गुण जिसमें होते हैं, उसकी संज्ञा भगवान् होती है। विश्व का संचालन वही करते हैं। परात्पर ब्रह्म राम उनके नियामक हैं। अतएव इनमें दो गुण और होते हैं—

१—नामअभ्यास प्रकाश, पत्र ४०

२— वही, पत्र ४१

७. अरोद्दत्व ८. अजातशत्रुत्व

आ—भजनोपयोगी गुण—

१—सत्य	४—एकत्व	७—स्वत्र
२—ज्ञान	५—विभुत्व	८—आनंद
३—अनन्तत्व	६—अमलत्व	

इन गुणों का ध्यान उन भजनानन्दी एवं निष्काम भक्तों के लिये कल्याणप्रद है, जिनका उद्देश्य स्वरूपज्ञानप्राप्ति होता है।

इ—आश्रितशरणोपयोगी गुण—

१. दया	९. क्षमा	१७. सौशील्य
२. कृपा	१०. गंभीरता	१८. वात्सल्य
३. अनुकंपा	११. चातुर्य	१९. सौलभ्य
४. करुणा	१२. स्थैर्य	२०. कृतज्ञता
५. आनृशंस्य	१३. औदार्य	२१. आर्जव
६. आनुक्रोश	१४. धैर्य	२२. मार्दव
७. दम	१५. शौर्य	२३. सर्वदारम्यत्व
८. शम	१६. सौहार्द	२४. कृतत्व

ये श्रीरामचन्द्र जी के अन्तःकरण के गुण हैं। जिनसे आश्रितभक्तों का रक्षण, पोषण होता है। इनके माध्यम से उपास्य को प्राप्त करने में सुविधा होती है।

ई—रसिकोपयोगी गुण—

१. सौंदर्य	७. स्वच्छत्व	१३. लावण्य
२. माधुर्य	८. शुद्धत्व	१४. रूपसंहननत्व
३. सौगन्ध्य	९. सुषमा	१५. कैशोरत्व
४. सौकुमार्य	१०. देदीप्यत्व	१६. भाग्यत्व
५. औज्ज्वल्य	११. मानत्व	१७. सर्वपरिकरस्नेहशीलत्व
६. नैर्मल्य	१२. सुवेष्य	१८. प्रीति

ये गुण रसिकसाधकों के लिये विशेषरूप से ध्येय हैं। इनके चिंतन से मन की अस्थिरता दूर हो जाती है। साधक आराध्य के उपर्युक्त गुणों में से अपनी सामर्थ्य और रुचि के अनुसार दो चार को ही अपनाकर तृप्त हो जाता है।

इनके अतिरिक्त श्री रामचन्द्र जी के स्वभाव और परिस्थितिजन्य कुछ

ऐसे और भी गुण रसिकों ने गिनाये हैं जिनका अस्तित्व अन्य अवतारों में नहीं पाया जाता और जो उनके चरित्र में माधुर्य की एकरसता प्रतिष्ठित करते हैं।

१—राम चक्रवर्ती राज कुमार हैं, अतः विश्व की सर्वोत्तम भोग्य वस्तुयें उन्हें सहज सुलभ हैं।

२—वे द्विभुज हैं, अतएव माधुर्यकेलि क्रीडा में ऐश्वर्य का आभास नहीं होने पाता।

३—अलौकिक सुन्दरी सीता जी उनकी भार्या हैं। उनकी अंशोद्भवा अनेक युवतियों के साथ वे कनकभवन में अखंडविहार करते हैं।

४—स्वकीया नायिकाओं के साथ रमण करते से, उनके विलास में संकोच, भय और मर्यादाहीनता का सर्वथा अभाव रहता है।

सीता के गुण

यद्यपि एक ही ब्रह्मतत्त्व के दो रूप होने से पति के उपर्युक्त गुणों में सीता जी के भी गुण संनिहित हैं, तथापि साधना में प्रिया-परत्व की विशेषता के कारण रसिकों ने किशोरी जी की कुछ व्यक्तिगत विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। ये गुण उनके स्वरूप और स्वभाव दोनों से सम्बन्ध रखते हैं।

१—सर्वांग सुन्दर प्रकाशमय रूप।	२—किशोरवय।
३—स्वरमाधुर्य।	४—संगीत-नृत्यप्रवीणता।
५—पुरुषकारत्व।	६—पराशक्तित्व।
७—अखंड सौभाग्य	८—स्वाधीनपतित्व

प्रिया के इन गुणों का चिंतन और उनके चरणों का आश्रय ग्रहण करने से प्रियतम की कृपा शीघ्र होती है, ऐसा रसिकों का विश्वास है। प्रसिद्ध रामभक्त-हनुमान, सुग्रीव और विभीषण को सीता जी के अन्वेषणसम्बन्ध से ही राम-भक्ति प्राप्त हुई थी। अतः उनका पुरुषकारत्व ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा निर्बाध रूप से रसिक साधना के चरम लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है।

ज—रूप ध्यान

नामसाधना और गुणचिंतन से पुष्टमाधुर्यनिष्ठा रूप के ध्यान में लीन होती है।[1] रसिकों का मत है कि जब तक प्राणप्रिय के नवल अंगों का दर्शन

१—चित मन मति अभिमान सब, लीन होय तब रूप।
नाम सुगुन सुमिरत सुजस, विश्व विहार कुरूप॥
—प्रीतिपचासिका, पद्य १८–१९

नहीं होता तब तक सभी साधन अधूरे और निष्फल रहते हैं।[1] अतः सब कुछ त्याग कर रसिक संतों का सत्संग करके केवल रूप ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।[2] युगलानन्यशरण जी का अनुभव है कि प्रभु के प्रत्येक अंग का सौन्दर्य इतना आकर्षक और अगाध है कि यदि उसका अवलोकन साधक, अनन्त काल तक करता रहे तो भी उसे तृप्ति नहीं होने की। इस ध्यान के अधिकारी, प्रभु के अंतरंग आश्रित रसिक भक्त ही हैं, अन्य पद्धतियों के साधकों के लिये रूप माधुरी का पान ही नहीं तत्सम्बन्धी प्रसंगों का श्रवण तक वर्जित है। उनकी दूषित विचारधारा अनेक कुतर्कों द्वारा साधकों को पथभ्रष्ट करेगी, इसलिए उनसे 'रूपरहस्य' को छिपाकर रखना ही श्रेयस्कर है। रसाचार्यों की यह निश्चित धारणा है—

> रसिकन को अधिकार यह, अपर देहु जनि भूलि।
> श्री सीता वर रूप रस, रसनिधान अनुकूलि॥
> और श्रवन बानी परत, गिरत सुधासुर व्याल।
> युगलानन्य शरन नहीं, मोद जहान जवाल॥[3]

ध्यानपद्धति

रूपध्यान में सीताराम की सर्वाङ्गशोभा का ध्यान करने की परिपाटी प्रचलित है। रसिक संतों के द्वारा प्रस्तुत साहित्य का बहुत बड़ा अंश सीताराम के नखशिख वर्णनों से ही सम्बन्ध रखता है। परन्तु युगलविग्रह के अंगों में प्रायः चरणचिह्नों और हस्तरेखाओं के ध्यान में ही उनकी सबसे अधिक दृष्टि जमी है। सभी रसों के उपासक निःसंकोच भाव से उसका ध्यान कर सकते हैं। अतएव रूपध्यान में उपर्युक्त अंगों के ध्यान को विशेष महत्त्व दिया गया है।

चरणचिह्नों का ध्यान

नाभादास जी ने राम के बाईस चरण चिह्नों का ध्यान साधकों के लिये सहायक बताया है—

१—जौ लौं अपने प्रान प्रिय छबि न परेउ नव अंग।
तौ लौं व्यर्थ अनर्थ कर, साधन सकल अनंग॥
—नवलअंगप्रकास, पत्र १०

२—सकल साधना निरस करि, परि हरि काज अकाज।
अमल अंग छवि निरखिये, बसि नित रसिक समाज॥
—वही, पत्र ७

३—वही, पत्र १०।

चरण चिन्ह रघुवीर के संतन सदा सहायका।
अंकुश अम्बर कुलिश कमल जव धुजा धेनुपद॥
शंख चक्र स्वस्तीक जंबुफल कलश सुधाह्रद।
अर्धचन्द्र षटकोन मीन बिंदु ऊरधरेखा॥
अष्टकोन त्रैकोन इन्द्रधनु पुरुष-विशेषा॥
सीतापति पद नितबसत, एते मंगल दायका।
चरण चिन्ह रघुवीर के संतन सदा सहायका॥[1]

अन्य रसाचार्यों ने इनकी संख्या ४८ कही है—चौबीस दक्षिणपद में और चौबीस वामपद में। इनमें राम के दक्षिण और वाम पद की रेखायें सीता के क्रमशः वाम और दक्षिण पद में विराजमान मानी जाती हैं। रसिकाचार्य राम चरणदास इनकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

श्री रामचरण चिह्न चिंतु सब विधि सुख छाजे।
रघुवर के चरण कमल अंकन जुत निरखु अमल
धारे पद चिह्न राज संतन हित काजे।
श्री रामचरण दाहिन सोइ सीतापद वाम चिह्न
विंश चारि स्वस्तिकाष्टे कोणं श्री विराजे॥

हलं मूसलं सर्पंबाण अम्बराष्टपद्म याने
वज्रं जवं ऊर्धरेखं कल्पवृक्षं छाजें।
अंकुशं ध्वजं मुकुटं चक्रं सिंहासनं दंडं चमरं
छत्रं पुरुषं मालों ये दक्षिण पद भ्राजें॥
गोपदं छितिं घटं पताक जम्बू फलं अर्ध इन्दु शंखं
षटकोण त्रयं गदा जीवं बिन्दुं राजें।
सरजुं शक्तिं सुधाकुण्डं त्रिवलि मीनं पूर्णचन्द्रं
बीणं वेणुं धनुषं तूणं हंसं चन्द्रिकाजे॥

सीयरामचरण शुभ चिह्न अष्ट चालीस नित
चिंतत सिव नारद सनकादिक अहिराजे।
श्री रामचरन ध्यान धरत गोपद इव जग तरत
विरलो ज्ञान भगति भरत सजत सत समाजे॥[2]

१—भक्तमाल सटीक (रूप कला), पृ० ५५

२—रसमालिका (आवरण पृष्ठ)

इन ४८ रेखाओं में १९ भक्तों के दुख को दूर करने वाली, और २९ सुख देने वाली मानी गई हैं। नाभा जी के पूर्वोक्त छप्पय की टीका में प्रत्येक रेखा को पृथक् रूप से साधनाक्षेत्र के विविध अन्तरायों को दूर करने में उपयोगी बताया गया है।[1]

१—सन्तनि सहाय काज धारे राम नृपराज,
चरण सरोजन में चिह्न सुखदाइये।
मनही मतङ्ग मतवारो हाथ आवै नाहिं।
ताके लिये अंकुश लै धार्‌यौ हिये ध्याइये॥
सठता सतावै सीत, ताही ते अम्बर धर्‌यौ,
हर्‌यौ जन सोक ध्यान कीन्हें सुख पाइये।
ऐसे ही कुलिश पाप पर्वत के फोरिवे को,
भक्त तिथि जोरिवे को कज मन ध्याइये॥
जव हेतु सुनो सदा दाता सिद्धि विद्या ही को,
सुमति सुगति सुख सम्पति निवास है।
चिन्हु में सभाव होत कलि को कुचाल देखि,
ध्वजा सो विशेष जानो अभै को विश्वास है॥
गोपद सो ह्वै है भवसागर नागर नर,
जो पै नैन हिये के लगावै मिटै त्रास है।
कपट कुचाल माया बल सबै जीतिबे को,
दर को दरसकर जीत्यौ अनायास है॥
कामहु निशाचर के मारिबे को चक्र धार्‌यौ
मंगल कल्याण हेत स्वस्तिक हू मानिये।
मंगलीक जम्बूफल फल चारिहूँ को फल,
कामना अनेक विधि पूर्ण नित ध्यानिये॥
कलश सुधा को रस भर्‌यौ हरिभक्ति रस,
नैन पुट पान कीजै जीजै मन आनिये।
भक्ति को बढ़ावै औ घटावै तीनि तापहूँ को,
अर्ध चन्द्र धारण में कारण है जानिये॥
विषया भुजंग वल्मीक तनमांहि बसै,
दास को न डसै याते परम भनुसायो है।

रूपकला जी ने चरणचिन्हों की उपर्युक्त रेखाओं के रंग, उनके ध्यान से लाभ तथा उनके द्वारा उद्भूत कार्यावतारों की तालिका भी दी है, जो इस प्रकार है—

१ श्रीरामचन्द्र जी के वाम चरण के चिह्न

२ श्रीसीता जी के दक्षिणचरण के चिह्न

सं० रेखाओं के नाम	उनके रंग	उनके ध्यान में लाभविशेष	उस चिह्न से कार्यावतार
१ सरयू	श्वेत	भक्ति	विरजा, गंगा इत्यादि
२ गोपद	श्वेत, लाल	भवसिंधु-लंघन	कामधेनु, पृथु, धन्वन्तरि
३ भूमि	पीत, लाल	क्षमा	कमठावतार
४ कलश	सुनहरा, श्वेत	भक्ति, जीवन्मुक्ति	अमृत
५ पताका	विचित्र	विमलता	—
६ जम्बूफल	श्याम	चारों पदार्थ	गरुड़, व्यास
७ अर्द्धचन्द्र	धवल	भक्ति, शांति, प्रकाश	वामन भगवान

अष्टकोन, षट्कोन औ त्रिकोन जंत्र किये,
जिये जेहि जानि जाके ध्यान उर भरयौ है॥
मीन बिन्दु रामचन्द्र कीन्हौ वशीकर्ण पाय,
ताहि ते निकाय जन मन जात हरयौ है।
संसार सागर को पारावार पावै नाहिं,
ऊर्ध्व रेखा दासन को सेतु बंध करयौ है॥
धनु पद माहिं धरयौ हरयौ सोक ध्यानिन को,
मानिन को मारयौ मान रावणादि साखिये।
पुरुष विशेष पद कमल बसायो राम,
हेतु सुनो अभिराम श्याम अभिलाषिये॥
सूधो मन सूधो बैन सूधी करतूति सब,
ऐसो जन होय मेरो याही के ज्यों राखिये।
जो पै बुधिवंत रसवन्त रूप संपति में,
करि हिये ध्यान हरि नाम मुख भाखिये॥
—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ११-१२

१—भक्तिसुधाबिन्दुस्वादतिलक, पृ० ५९

सं० रेखाओं के नाम	उनके रंग	उनके ध्यान में लाभविशेष	उस चिह्न से कार्यावतार
८ शंख	श्वेत, गुलाबी	जय, बुद्धि	वेद, हंस, दत्त, दास
९ षट्कोण	लाल, श्वेत	यन्त्र, षट्विकाराभाव	कार्तिकेय
१० तीनकोण	लाल	यन्त्र, योग	हयग्रीव, परशुराम
११ गदा	श्याम	जय	महाकाली, गदा
१२ जीव	दीपक-सा	—	जीव
१३ बिन्दु	पीत	सर्व पुरुषार्थ	सूर्य, माया
१४ शक्ति	पीला, गुलाबी	श्री	मूलप्रकृति, शारदा, महामाया
१५ सुधा कुंड	श्वेत, लाल	अमृत, रत्न	ऋषभ
१६ त्रिबली	हरा, लाल, धवल	शोभा	वामन
१७ मीन	रूपा (चाँदी) सा	मंगलार्थ, शुभशकुन	
१८ पूर्णचन्द्र	धवल	सरलता, शांति, प्रकाश	चन्द्र
१९ वीणा	पीत, रक्त, श्वेत	यशगान	नारद
२० वंशी	विचित्र	—	श्रीकृष्ण की वंशी
२१ धनुष	हरा, पीत, लाल	यमदूतनिवारण	शार्ङ्ग, पिनाक आदि
२२ तूणीर	विचित्र	सप्तभूमिज्ञान	परशुराम
२३ हंस	श्वेत, गुलाबी	विवेक, ज्ञान	हंसावतार
२४ चन्द्रिका	सर्वरंगमय तड़ितवत्	अकथ प्रभाव	—

श्रीरामचन्द्र जी के दक्षिणचरण के चिह्न

श्रीसीता जी के वामचरण के चिह्न

सं० रेखाओं के नाम	उनके रंग	उनके ध्यान में लाभ विशेष	उस चिह्न से कार्यावतार
१ ऊर्ध्वरेखा	लाल	महायोग, भवसिन्धु सेतु	सनकादिक
२ स्वस्तिक	पीत	मंगल, कल्याण	नारद
३ अष्टकोण	लाल और श्वेत	अष्टसिद्धिदायकमंत्र	कपिलदेव
४ महालक्ष्मी	गुलाबी	सर्वसम्पत्ति	लक्ष्मी
५ हल	श्वेत	विजय	बलराम का हल

१—भक्तिसुधाबिन्दुस्वादुतिलक, पृ० ५८

सं० रेखाओं के नाम	उनके रंग	उनके ध्यान से लाभविशेष	उस चिह्न से कार्यावतार
६ मूसल	धूम	शत्रु का नाश	बलराम का मूसल
७ शेष	श्वेत	शान्तिप्रद	रामानुजस्वामी, शेष
८ शर	श्वेत, पीत	सद्गुण,	सभी प्रसिद्धबाण
९ अम्बर (वस्त्र)	नीला	भयातिहरण	वराह भगवान
१० कमल	गुलाबी	हरिभक्ति	विष्णु का कमल
११ रथ	घोड़े श्वेत रथ विचित्र	विशेष पराक्रम	स्वयंभूमनु, पुष्पकविमान
१२ वज्र	बिजली सा	बलदायक, पापसंहारक	इन्द्र का वज्र
१३ यव	श्वेत, रक्त	मोक्ष, शृङ्गार	कुबेर, यज्ञावतार
१४ कल्पतरु	हरा	इच्छित फल	सुरतरु, पारिजात
१५ अंकुश	श्याम	मनोनिग्रह	—
१६ ध्वजा	विचित्र	विजय, यश	—
१७ मुकुट	सुनहरा	भूषण	पृथु, दिव्यभूषण
१८ चक्र	तप्तकांचन	शत्रु का विनाश	सुदर्शन,
१९ सिंहासन	तप्तकांचन	विजय	—
२० यमदंड	कांस्य-सा	निर्भयता	यमराज, धर्मराज
२१ चामर	धवल	हृदय में प्रकाश	हयग्रीव
२२ छत्र	शुक्ल	दया, बुद्धि, ध्यान	कल्कि
२३ नर	गौर	भक्ति, शान्ति, सत्वगुण	दत्तात्रेय
२४ जयमाल	तड़ित, विचित्र	उत्सव	—

हस्तचिन्हों का ध्यान

रसिक बिहारी ने श्रीसीताराम के दाहिने और बायें हाथों में प्रत्येक में १० चिह्नों की स्थिति बताई है। इनमें भी जो चिह्न राम के दाहिने हाथ में हैं वे सीता के बायें में।[1] उनका विवरण नीचे दिया जाता है—

> चिंतामणी, कामधेनु, ऊरध तुरङ्ग, गज
> कुंभ, षटकोण, लता, चक्र, ध्वज, भ्राजे हैं।
> यज्ञ, पंच-कोण, कंज, मंदिर त्रिकोण, बान,
> खड्ग, त्रिशूल, मीन, चन्द्र, रवि, राजे हैं।

१–रामरसायन, पृ० ७१

अष्टकोण, कुंडल, प्रसून, तिल, रंभा, कीट,
माल, फल, चन्द्रिका, गिरीश, ग्राम, साजे हैं।
'रसिक बिहारी' रघुचन्द कर दाहिन में,
विशद बतीस वर चिह्न छवि छाजे हैं ॥[1]
कंकण, कदंब, चाप, अङ्कुश, मलिंद, तुला
योनि, नरमुंड, रथ, कुंभ, मणि माल हैं।
मास, शक्ति, तोमर, पयोध, महि, कीर, केतु,
नलिनी, सरोज, शंख, भानुबिंब लाल हैं ॥
पारिजात-मंजरी, अशोक, मृग, मीन, सिंह,
तारा, सरिता, पियूष, कुंड, शशिबाल हैं।
'रसिक बिहारी' ये बतीस वर चिन्हन ते
राम को सुवाम कर चिन्हित बिसाल हैं ॥[2]

पूर्वोक्त विधि से रूप-ध्यान का सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह होता है कि 'युगल सरकार' की मनोहर अंग शोभा में अनुरक्ति हो जाने से मन की स्वाभाविक चंचलता स्वतः नष्ट हो जाती है,[3] और प्रियतम से मिलन की उत्कंठा जाग्रत हो जाती है।

भाव-साधना

क्ष—लगन की उत्पत्ति

आराध्ययुगल के नामजप, रूपध्यान और गुणस्मरण से भाव की उत्पत्ति होती है। इसका प्राथमिक उद्रेक विरह के रूप में होता है।[4] इस विरह-ज्वाला में ही प्रिय के मिलन का बीज संनिहित रहता है।[5] एक बार जल कर

१—रामरसायन, पृ० ७०   २—वही, पृ० ७१

३—चित्त प्रेम थिरता पलक, गहि न सकत कोउ काल।
तेहि बांधन हित मंत्र वर, सियवर अंग रसाल ॥
—नवलअंगप्रकाश, पृ० १०

४—नाम रूप गुन सुमिरत, विरह उदोत।
ताहित तिहुँ चितचिंतन, करहु निसोत ॥
—विलासभावन रहस्य, छं० १८४

५—विरह झरोखे झाँकत, पिय घन स्याम।
दरस परत दृग प्यारे, हुलित सकाम ॥
—प्रीतिपचासिका, पृ० १५

यह तब तक नहीं बुझती जब तक प्रणयी का दर्शन नहीं हो जाता। उत्कंठा पूर्ण विरह की इस स्थिति को लगन की सज्ञा दी गई है। यह अनुराग की पूर्व-दशा है। लगन की इस दशा में ज्ञान ध्यान सभी 'गर्क' हो जाते हैं—

लगन रूप वृझत बनत, बदत होत रस आन।
युगलानन्य शरण जहाँ, ज्ञान ध्यान गलकान॥[1]

लगन के लक्षण

लगन के उत्पन्न होने पर साधक की दशा और ही हो जाती है। वह पूर्णतया अध्यात्मसाधना में लीन हो जाता है। युगलानन्यशरण जी ने इस स्थिति को प्राप्त भक्तों के निम्नांकित लक्षण बताये हैं—

१—विरही संतों का संग

२—विजातियों का त्याग।

३—प्रेमपंथ की पुस्तकों का पाठ, श्रवण और मनन।

४—गुरुसेवा में प्रीति। ५—छविदर्शन की उत्कंठा।

लगन की आठ भूमिकायें

उत्पत्ति से लेकर उपास्य की प्राप्ति तक क्रमशः विकसित होती हुई लगन की आठ 'भूमिकायें' मानी गई हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. खेददा	५. विरतिविधारिणी
२. दुःखदा	६. विषयहारिणी
३. सिद्धिप्रदा	७. छविदायिनी
४. अहंवासिनी	८. विहारविलासिनी

इनमें प्रथम चार भूमिकाओं तक लौकिक बाधाओं का प्रकोप होता है। साधना की इस आरम्भिक स्थिति में अविचल रहने से ही ध्येय की प्राप्ति में सफलता मिलती है। इनसे अपनी रक्षा करने का उपाय है—सांसारिक व्यवहार का त्याग, सच्छास्त्रावलोकन श्रवण और सत्संग। इन्हें पार करने पर पाँचवीं भूमिका में निष्कामवृत्ति का उदय होता है। छठी भूमिका में प्रिय-छटा की झलक दिखाई देती है। सातवीं भूमिका में साधक ध्येय में लीन हो जाता है।[2] यह पराभक्ति की स्थिति है। आठवीं भूमिका में युगलकिशोर के विमल-

१—प्रीतिपचासिका, पृ० १०

२—योरप की प्रसिद्ध माधुर्योपासिका संट टेरेसा ने इस स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है—

"Perhaps when St. Paul said, "He who is joined to God is one spirit", he meant this sovereign marriage, which

विहार का दर्शन होता है। इस दशा का अनुभव करने के पश्चात् साधक फिर विषयानुरक्त नहीं होता।

प्रीति-दशा

लगन की उपर्युक्त आठ भूमिकाओं की परिणति 'प्रीति' में होती है। इस स्थिति में साधक के हृदय में प्रेम के सभी अंग आ बसते हैं।[१] यह लगन की सिद्धदशा है। इस अवस्था में साधक का चित्त आराध्य-युगल के रूप-दर्शन में तन्मय हो जाता है।[२] यह निष्काम प्रीति प्रतिक्षण नये-नये भावों का सृजन कर उसे दिव्य सुख का भोग कराती रहती है।[३]

प्रीति की आठ स्थितियाँ

रसिक आचार्यों ने प्रीति की आठ स्थितियाँ मानी हैं।[४]

१. प्रणय	५. लाग
२. प्रेम	६. अनुराग
३. आसक्ति	७. नेह
४. लगन	८. प्रीति

presupposes His Majesty's having approached the soul by union".

—The Interior Castle or The Mansions, Page 221.

१—उदित लाग सब भूमि जुत, जबहिं होत अति पुष्ट।
अनायास रति अंग सब, आय बसै सजि जुष्ट॥
नेह मोहब्बत मित्रता, प्यार प्रनय पद प्रीति।
भजतन अति अनुराग उर, उदय निरंतर रीति॥

—प्रीतिपचासिका, पत्र १७

२—मन मति अन्त:करन सब, सहित वपुष संघात।
लीन होय विस्वास सजि, तजि जग नूतन नात॥

—वही, पत्र १७

३—अनुदिन नूतन नेह जय, वर्द्धमान उर होय।
अति अकाम आराममय, मोह मोहब्बत सोय॥

—वही, पत्र १७

४— प्रणय प्रेम आसक्ति पुनि, लगन लाग अनुराग।
नेह सहित सब प्रीति के जानहु अंग विभाग॥

—(स्फुट)

उनकी व्याख्या इस प्रकार की है—

> ममतव तवमम प्रणय यह, बुद्धि निरंतर होइ।
> अति उमगाव यों प्रीति को, प्रेम जानिये सोइ ॥
> यों आसक्ति असक्त चित, जहँ तहँ निकसत नाहिं।
> किये उपाय सु कोटिविधि, नहिं लावत मनमाँहि ॥
> प्रतिछिन सुमिरन मित्र को, बिन कीन्हे जब होइ।
> टरै न टारै सहज चित, लगन यों कहिये सोइ ॥
> प्रीति यों ठेलत चित्त को, चित्त विषय रस होइ।
> नेही निज हिय जानहीं, लाग सुलच्छन जोइ ॥
> व्यापकता जो प्रीति की, जिमि सुठि बसन सुरंग।
> द्रगन द्वार दरसै चटक, सो अनुराग अभंग ॥
> चिक्कनता सोभा सहित, प्रीति हेत व्यवहार।
> हिलनि मिलनि बोलनि हँसनि, नेह जान सुखसार ॥
> उपजे कोउ उपचारते, पुनि न टरै सोइ प्रीति।
> पोषत तेहि आनदते, सब विधि लालन रीति ॥

प्रीति में दृष्टि-मुद्रा

इन आठों दशाओं म भाव की विविध स्थितियों के अनुकूल, साधक की 'दृष्टि-मुद्रा' भी बदलती रहती है। प्रत्येक स्थिति में उसकी निम्नांकित विशेषताओं का अंकन किया गया है—

१. प्रणय में सौम्य-दृष्टि
२. प्रेम में विह्वल दृष्टि
३. आसक्ति में निर्निमेष दृष्टि
४. लगन में घोर दृष्टि
५. लाग में उत्कंठित-दृष्टि
६. अनुराग में मत्त-दृष्टि
७ नेह में ललित दृष्टि
८. प्रीति में अधीन दृष्टि

महाभाव का उदय

प्रीति की दृढ़ता से महाभाव की उत्पत्ति होती है।[1] यह अनुपम रहस सुख की स्थिति है। इस दशा में साधक, स्वभाव सहित अपना सर्वस्व प्रिय के चरणों में अर्पित कर उनका सर्वतोभावेन पारतन्त्र्य स्वीकार कर लेता है। उसका अपना कुछ भी नहीं रह जाता, शरीर-मन-बुद्धि सबकुछ प्रणयी

[1]—दृढ़ अनुराग भये प्रबल महाभव मन होत।
जहाँ अनुपम रहस सुख, सुंदर छवि उद्योत ॥
—प्रीतिदपासिका, पत्र १८

का ही हो जाता है।[1] प्रीति की यह चरमस्थिति है।

महाभाव के दो भेद हैं—आरूढ और अधिरूढ। आरूढदशा में प्रिया-प्रियतम के विहार की छटा दिखाई देती है किन्तु उसका आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। इससे दर्शन का आनंद स्थायी नहीं रहता। रह-रह कर दृश्य हट जाने पर वियोग की तीव्रवेदना साधक को विकल कर देती है।[2]

अधिरूढ स्थिति में विहार-दृश्य के वियोग का समय नहीं रहता। अतएव आनन्दभोग में एकरसता बनी रहती है। इसके दो भेद हैं—

१—मादन २—उन्मादन

मादनदशा वह है—जिसमें विहार का दृश्य साधक को मस्त कर देता है। प्रियतम की लीलामाधुरी का पान कर वह छक जाता है।

उन्मादन की अवस्था इसके बाद आती है। इस दशा में युगलानुराग के उत्कर्ष से वह आत्मविभोर हो जाता है। यह दीवानेपन की वह स्थिति है,[3] जिसमें साधक अपना सब कुछ भूल कर प्रियतम के ही रंग में रँग जाता है।

सम्बन्धदीक्षा

साधनाशरीर (चित्देह)

अंतस्तल में महाभाव की प्रतिष्ठा हो जाने पर प्राकृतशरीर से साधक का मोह छूट जाता है, और इसके साथ ही उससे की जाने वाली साधना भी पराकाष्ठा को पहुँचकर समाप्त हो जाती है। भावसाधना, उसके जन्मजन्मान्तरों से संचित मल अथवा दूषित संस्कारों को भस्म कर देती है। गुरु द्वारा प्रदत्त बीजमंत्र का कार्य यहीं पूरा हो जाता है। इसके पश्चात् साधक के हृदय में प्रिय-मिलन की आकांक्षा उत्पन्न होती है। युगलसरकार की जिस विहारलीला का दर्शन कर उसे महाभाव की प्राप्ति हुई थी, उसमें वह स्वयं प्रवेश पाने के लिए

१—प्रीतिपचासिका, पद्य १८।

२—"Where the soul, wounded with love for the Bridegroom, strives more than ever for solitude...The sight, it has enjoyed of him, is so deeply imprinted on the spirit, that its one desire is to behold Him again"

The Interior castle or the Mansions, P. 112

३— चित्र वचन बोलत नयन, उद्घूरन ये होश।
दशा दिवानी नेम दिन, हरसाइवि जन जोश॥

—प्रीति पचासिका, पद्य १८

व्याकुल हो जाता है। दर्शन से, मिलन की उत्कंठा जाग्रत होती है। किंतु दिव्य दंपति की अप्राकृतलीला में प्राकृतशरीर का प्रवेश नहीं हो सकता। अत साधक की इस आकांक्षा की पूर्ति के लिये शरीरत्रय से पृथक्, एक दिव्यशरीर का आविर्भाव होता है। रससाधना इसी से की जाती है। यह शरीर कहीं बाहर से नहीं आता, उसी के देह में अव्यक्तरूपेण सदैव विद्यमान रहता है, किन्तु माया के आवरण से आच्छन्न रहने के कारण साधक की स्थूल दृष्टि उसका साक्षात्कार नहीं कर पाती। गुरुद्वारा निर्दिष्ट साधना विधि से आवरण को हटाकर वह उसे प्रत्यक्ष कर लेता है, और अपना अहंभाव पूर्व प्राकृत शरीर से हटाकर इस दिव्य साधना शरीर में स्थापित कर देता है।[1] "तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्" उपनिषद् की यह प्रसिद्ध उक्ति इसी स्थिति को लक्ष्य करके कही गई है। इसके अनन्तर पंचतत्वात्मक शरीर में उसका आभासमात्र रह जाता है।

यह दिव्य शरीर अनन्त सौन्दर्यमय होता है, साधक के प्राकृत शरीर की आकृति और वय से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उदाहरणार्थ यदि साधक का प्राकृत देह वयजर्जर, रोगग्रस्त अथवा अंगविकारयुक्त है तो भी उसका दिव्यशरीर वैसा ही होगा जैसा किसी हृष्टपुष्ट सर्वांगसुन्दर साधक का हो सकता है। कारण यह है कि इसकी रचना उसके भाव पर आधारित होती है और भावराज्य में प्राकृतविकारों का कोई महत्त्व नहीं होता। सखी, सखा तथा दास—जिस रूप में भी वह प्रभु का सामीप्यलाभ करना चाहता है, दिव्यशरीर उसी रूप, उसी वय और उसी भाव को धारण कर लेता है।

परमहंस शीलमणि ने इसे 'चित् देह" की संज्ञा दी है।

भिन्न न छिन जिमि प्राणतन, तिमि रस एक सनेह।
बस हो निरखत माधुरी, नहि अघात चित देह॥[2]

उन्होंने इसकी निम्न विशेषतायें बताई हैं—

देह तीन से जानिये, परे अनूपम देह।
श्याम गौर का अंस सो, शील मणी मयनेह॥
चित स्वरूप सो जानिये, निर्विकार जग पार।
नित्य निरंजन ज्ञान मय, शील मणी रिझवार॥

१— भई सखा रघुराज को, अहंकार अस नित्य।
ऐस रहै सुदेह में, जग सम्बन्ध अनित्य॥
—विवेकगुच्छा, पृ० २४

२—वही, पृ० २८

शांत निरंतर अजर अज, अविनाशी सुखराशि ।
शील मणी सु अचिंत अणु, लखु अव्यक्त प्रकाश ।।
निर्मल अरु निर्लेप है, देह देह प्रति मान ।
स्वयं प्रकाश सु शील मणि, व्याप्तशील गुनमान ।।[1]

निम्बाचार्य रामसखे ने इसे 'महाकारणशरीर' अथवा 'तुरिया तन' की संज्ञा दी है। उसके आविर्भाव की प्रक्रिया का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—

छूटहिं माया के तन तीनों। तब लगि परहि जीव सुख भीनों
परारब्धी भुक्तहि अरथूला। तन यह छुटहि भरयो बहु शूला ॥
गुरु संगति लहि आतम ज्ञाना। छूटहिं लिंग शरीर प्रमाना।
रामभिलन विरहानल छावै। तब कारण शरीर जरि जावै ॥
रहहि महा कारण जिय रूपा। मुक्तिरूप तब होय अनूपा।
तुरिया तन जिय अद्भुत दरसन। कहत न बनत रूप विधि बरणन।।[2]

अब प्रश्न यह उठता है कि रससाधना के लिये शरीरत्रय से परे एक चौथे शरीर की कल्पना क्यों की गई? रसिकों ने इसका समाधान बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। दार्शनिकों का मत है कि पंचतत्त्वात्मक प्राकृतशरीर का ही सूक्ष्मशरीर प्रतिबिम्ब होता है। वह उसी के रूप-गुण के अनुसार, उसकी छाया के समान स्थित रहता है। सूक्ष्मशरीर की रचना उक्त दोनों शरीरों के अवशिष्ट संस्कारों से होती है। उसकी स्थिति सुषुप्तिदशा में भी रहती है। इससे यह प्रकट है कि देहाभिमान, इन तीनों शरीरों में, किसी न किसी रूप में बना रहता है। वासना अथवा माया किसी भी दशा में उनका पीछा नहीं छोड़ती। अतः यदि साधक, पुरुष है तो कारणशरीर तक उसके पुरुषत्व की ख्याति रहेगी, यदि स्त्री है, तो सूक्ष्म और कारण दोनों शरीरों में उसके स्त्रीत्व के संस्कार बने रहेंगे। भगवान की साकेतलीला में प्रवेश करने की यदि उक्त तीनों शरीरों में से किसी एक की भी व्यवस्था की जाती तो दो बातें पहले ही स्वीकार कर लेनी पड़तीं—प्रथम यह कि पुरुषसाधक पुरुषरूप से और स्त्री साधक स्त्रीरूप से ही उसका रसास्वादन कर सकता है, दूसरे यह कि लीला-राज्य में भी माया का प्रवेश है। किंतु ये दोनों ही बातें वैष्णवसिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ती हैं।

साकेत, वैकुंठ अथवा गोलोक की स्थिति त्रिपाद्विभूति के परे मानी जाती

1-विवेकगुच्छा, पृ० १७
2-नृ० रा० मि०, पृ० ११-१२

है।[1] अतएव वहाँ माया का संचार किसी भी रूप में संभव नहीं, जीव विरजा में स्नान करते समय ही उससे मुक्त हो जाता है। दिव्यलोक में उसका प्रवेश भावनाशरीर से होता है। इस भावनाशरीर की रचना लीलाविहारी के प्रति उसकी सम्बन्धभावना पर आधारित होती है—यदि वह सखीरूप से प्रभु का कैंकर्य करना चाहता है, तो पूर्व प्राकृत स्वरूप में पुरुष होते हुए भी उसे सखी अथवा किंकरी (स्त्री) का भावनाशरीर प्राप्त हो जायगा।[2] इसी भाँति सखाभाव से प्रभुसेवा की भावना करने पर स्थूलशरीर में पहले स्त्री होते हुए भी साधक पुरुषरूप में अपने नित्यसखा के समक्ष प्रस्तुत होगा। इस दशा में उसका स्थूल देहाभिमान तीन शरीरों तक ही सीमित रहता है। चित् शरीर, भावना देह, तुरीयतन अथवा महाकारणशरीर में उसके दिव्य अहंकार की स्थापना होती है और यही उसका वास्तविक आत्मस्वरूप होता है। लीला सुख का अनुभव और भोग इसी शरीर से संभव है। इसके विपरीत प्राकृत शरीर में जो कृत्रिम रूप से सखी अथवा सखा भाव की स्थापना कर लेते हैं, वह स्थायी नहीं होता। स्थूल देहाभिमान के जाग्रत होने पर भावना में संकरता आ जाती है और यह भावसाङ्कर्य अथवा व्यभिचारीवृत्ति उसे कभी न कभी ले डूबती है।

१—नित्यमप्राकृतं धाम स्वप्रकाशमनामयम्।
अवस्थैकरस्यममरं कालप्रलयवर्जितम्॥
मायिकं यन्मया प्रोक्तं निबिडध्वान्तसंकुलम्।
तस्योर्ध्वभागे विरजा तिसीमा विद्यते नदी॥
वेदांतस्वेदजनितैस्तोयैः प्रस्राविता शुभा।
तस्यास्तीरे परव्योम त्रिपाद्भूतं सनातनम्॥

—बृहद्ब्रह्मसंहिता, पृ० ८४

२—आपन आतम रूप विचारै। सखी भावना उर दृढ़ धारै।
नर नारी कौनहु तन पावै। पुरुष भाव मन में नहिं लावै॥
पुरुष भाव धारहिं जे लोगू। ते नहिं दंपति सेवा जोगू।
निज आतम स्वरूप तिन्ह नाहीं। समुझै भुलाने यह तन माहीं॥
चेतन शक्ति सु घट घट व्यापी। सखी स्वरूपाकार प्रतापी।
सो सरूप निज जे निउपासक। सेवहिं नित नित इष्ट विलासक॥

—बृ० उ० र०, पृ० ९५

सम्बन्ध की उत्कंठा

इस दिव्य शरीर में प्रभु से मिलने के लिये तीव्र उत्कंठा उत्पन्न होती है। इस दशा में उसके एक एक क्षण कल्प के समान बीतते हैं। भक्त की व्याकुलता भगवान को द्रवित कर देती है और वे साधक को परिकररूपेण अपनाने की स्वीकृति दे देते हैं। यह व्यवस्था भगवत्प्रेरणा से सद्गुरु द्वारा सम्पन्न होती है।[1]

सद्गुरु की प्राप्ति

साधारणतया गुरु और सद्गुरु दोनों शब्द एक ही अर्थ के बोधक माने जाते हैं, किन्तु रसिक साधना में उनका प्रयोग दो भिन्न अर्थों में होता है। गुरु से तात्पर्य दीक्षागुरु अथवा मन्त्रगुरु होता है, किन्तु सद्गुरु वे कहलाते हैं, जो रसिकभावना का सम्बन्ध देते हैं। दीक्षाविषयक उपर्युक्त दो कृत्यों के लिये दो विभिन्न आचार्यों की शरण, साधक तभी लेता है, जब दीक्षागुरु रसमार्गी नहीं होते। अन्यथा दीक्षागुरु ही सद्गुरु बन जाता है। किन्तु ये दोनों पद साधना की दृष्टि से पृथक् माने जाते हैं, कामदेन्द्रमणि साधना के विकास में उनके महत्त्व का निदर्शन करते हुए कहते हैं—

> गुरु सेये सतगुर मिलैं, सतगुर सेये लाल।
> लाल पाय विलसत हियो, सखा सु कौसल पाल ॥[2]

१—बढ़े लगन निज भाव की, इमि प्रपन्न उपचार।
पर परेश सम्बन्ध रस, कब सिधिहैं सुखसार ॥
निज स्वरूप के रंग भरि, पर परेश के संग।
कब चढ़िहौं आनन्द युत, भरि उर सरस उमंग ॥
इमि अधिकारी के हृदय, बाढ़ै प्रीति अपार।
क्षण क्षण बीतै कल्प सम, प्रभु सम्बन्ध विचार ॥
देखि सुजन अनुराग प्रभु, द्रवैं तासु रुचि जानि।
वत्सल सख्य शृङ्गार नव, देत भाव निज मानि ॥
प्रभु प्रेरित सतगुरु हृदय, उमगी कृपा अनूप।
देउँ सविधि शुचि शिष्य सोहि, पर संबंध अनूप ॥
—मा० के० का०, पृ० ६

२—मा० के० का०, पृ० ६

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परम्परा से सम्प्रदाय में ये दोनों शब्द दो विभिन्न स्थितियों के द्योतक माने जाते हैं। प्रथम स्थिति में साधक और आचार्य गुरु शिष्य के नाम से जाने जाते हैं, किन्तु इस दूसरी स्थिति में इनका सम्बन्ध सिद्धगुरु अथवा सद्गुरु तथा साधक शिष्य का होता है।[1] इससे यह स्पष्ट है कि रसिक सम्प्रदाय में साधकों को, भावविकास के लिए, पर्याप्त सुविधा दी जाती है और इस प्रकार एक निश्चित सीमा के भीतर उनके विचार स्वातन्त्र्य का काफी सम्मान किया जाता है।

सद्गुरु का महत्त्व

रसिक आचार्य श्रीसीताराम के नित्य परिकरों के अवतार माने जाते हैं। *रसिकप्रकाश भक्तमाल में अग्रदास जी को, सीता की सखियों में अग्रगण्य,* चन्द्रकला जी का अवतार कहा गया है।[2] प्रेमलता जी का विचार है कि सीता जी की प्रेरणा से नित्यमुक्तजीव अनन्तकाल से लोक में अवतरित होकर *त्रितापपीड़ित विमुख जीवों को प्रभु सम्मुख कर उन्हें सखीरूप में लीला* प्रवेश की स्वरूपयोग्यता प्रदान करते आ रहे हैं। ये दम्पति के अंश से ही उत्पन्न, साकेतधाम की नित्य लीलानुरक्ता सखियों के, अवतार होते हैं।[3]

१–रसाचार्यों ने 'सद्गुरु' प्राप्ति के बाद भी साधकों को दीक्षागुरु का पूर्ववत् सम्मान करते रहने की व्यवस्था दी है। बालअली जी का मत है—

प्रथम गुरू हूँ को तस जानि। जैसे आदि रहे थे मानि।
कबहुँ न तिनसों भाव घटाय। तिनकी कृपा मिले ये आय।
—सि० त० दी०, पत्र ४०

२–र० प्र० भ०, पृ० १५

३–यहि विधि दुखी देखि जिव झारी। सियउर उपजी करुणा भारी॥
तब निज यक सम्प्रदा उपाई। सहित सनेह सुमहि पढ़ाई॥
सोइ आचारज कीन्ह प्रधाना। महा रमा जेहि वेद बखाना॥
जड़ माया के रूप विमोही। चेतन तेहि लगि पठवों ताही॥
तेहि कहँ चेत कराय तुम, सन्मुख करहु सुमीर।
मसकार करि पद ये, मम कृत बन्दी छोर॥
पुरुष भाव सबकर करि दूरी। सखी भावना दीजै रूरी॥
सखी भाव बिनु मम अंग सेवा। लहहिं न जीव होहिं करु देवा॥
भयेउ अहहि आचार्य यहु, सिय मुख सम्प्रदा माँहि।
सखिन के सु अवतार सब, नारि पुरुष जग आँहि॥
—वृ० उ० र०, पृ० १०२-१०४

अतएव जीव, लीलारस का सम्यक्प्रकारेण आस्वादन इन्हीं की सहायता से कर सकता है। कामदेन्द्रमणिजी ने इसीलिये इन्हें 'महल रस भेदी' कहा है[1] और 'नित्यनिकेतसुख' की प्राप्ति इन्हीं की कृपा से सम्भव मानी है।[2] ऐसे रसज्ञ आचार्य की सेवा करके, साधक 'युगलसरकार' से अपने नित्यसम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[3]

रसिकअली जी ने सद्गुरु-तत्त्व की प्रकारान्तर से बड़ी ही सरस व्याख्या की है। उन्होंने साधक अथवा आत्मा को परमपुरुष की भोग्या तरुणी माना है। ज्ञान और भक्ति की विकसित युवावस्था में संयोग के लिये प्रियतम 'गुरु' अथवा सद्गुरु रूपी दूती भेजकर उसे अपने पास बुलाते हैं। उनका सन्देश पाकर चेतन को अपने भूले हुए नित्यसम्बन्धी का स्मरण हो आता है। सखियाँ (गुरु अथवा सन्त) इसी स्थिति में उसे साथ लेकर ससुराल पहुँचाने के लिये प्रस्थान करती हैं—

> गुरु दूती सखियाँ सजन, राम पिया जियनार।
> विप्र कवीजन कहत हैं, ग्रन्थन तेहि व्यवहार॥
> ज्ञान युवा वय जब भई, भक्ति तरुनता छाय।
> तब कान्हो सुधि पीय की, सखियाँ चली लिवाय॥[4]

१-नित्य महल रस भेद के, भेदी भाव उदार।
ऐसे सतगुर खोजिये, उर धरि सरस विचार॥

—श्रीसीतारामभद्र केलिकादम्बिनी, पृ० ३

२-सतगुर से सम्बन्ध लहि, द्रुत आओ मम पास।
देहौं नित्य निकेत सुख, निज समीप वर वास॥

—वही, पृ० २-३।

३-सब भेदन की मूल दृढ़, सेवा त्रिविध प्रकार।
सतगुर प्रभु परिकर सविधि, सेवे परम उदार॥
इनकी सेवा से खुलैं, सकल भेद अनुकूल।
यथा वृक्ष गति देखिये, सम्प्रति कर गत मूल॥
तब सतगुर निज शिष्य को, पर परेश सम्बन्ध।
देत भये हर्षित हृदय, रस रतिभाव प्रबन्ध॥

—मा० के० का०, पृ० ४-८

४-दोहावली (रसिकअली), पृ० १

सम्बन्धयोजना

सद्गुरु अपनी अलौकिक शक्ति से, चित् देह से परमपुरुष के सम्बन्ध का स्वरूप निर्धारित कर साधक को तदनुकूल सेवा का उपदेश करते हैं। वह महाकारण अथवा चित्शरीर में उसी प्रकार की भावना प्रतिष्ठित करता है। इस समय से उसका समस्त मायिक व्यवहारों एवं सम्बन्धों से विच्छेद तथा अपने नित्यसम्बन्धी श्रीसीताराम के चरणों में दृढानुराग की स्थापना हो जाती है। पहले प्राकृत अहंकार से वह स्थूलशरीर के सम्बन्धियों—माता-पिता, पुत्र-कलत्र, बन्धु मित्रादि को अपना समझता था, अब इस नये शरीर में अप्राकृत अथवा दिव्य अहंकार की स्थापना हो जाने से इसी के सम्बन्धी उसके अपने, और अन्य सभी, पराये हो जाते हैं। सभी नातों के निर्णय का मानदंड एकमात्र 'राम का नाता' हो जाता है। चित्देह और परमपुरुष के बीच सद्गुरु द्वारा स्थापित यह नया सम्बन्ध सादि किन्तु अनन्त होता है। इसके पूर्व, प्राकृत शरीर के सभी सम्बन्ध, सादि, सान्त थे, अस्थिर और मायाजनित थे किंतु यह संबंध स्थायी और दिव्य होता है। प्राकृत शरीर के सम्बन्ध भव-बंधन के कारण थे, इस दिव्यशरीर का सम्बन्धज्ञान भवबन्धनों से सदा के लिए मुक्ति दिला देता है।

वैष्णवसंहिताओं में प्रथम को साधारण और द्वितीय को असाधारण सम्बन्ध कहा गया है।[1] रसिकों की दृढ धारणा है कि जब तक अपने भाव के अनुसार साधक किसी रसिक गुरु के आश्रित होकर सम्बन्ध भावना की दीक्षा नहीं ले लेता और उसमें उसकी अभिमानपूर्वक आस्था नहीं हो जाती तब-तक वह भवसागर में निरंतर डूबता-उतराता रहता है।[2] उससे छुटकारा मिलने का एक मात्र साधन अपने शुद्ध सत्त्वमय दिव्यस्वरूप के नित्यसम्बन्धी

१—सम्बन्धो द्विविधो विप्णोर्वस्तुमात्रेषु विद्यते।
साधारणो हि राजेन्द्र तथाऽसाधारणो मतः॥
साधारणो हि सम्बन्धो नच संसारनाशकः।
दासत्वेन च सम्बन्धो द्वितीयो मोचको मतः॥
तत्सम्बधानुसन्धान तनुवाद्यायमानसैः।
नेदं साधनसंसिद्धि किंतु निर्हेतुकी क्रिया॥
—वृ० ब्र० सं० पृ० १६१

२—अभिमानो भवेन्नैव यावत्सम्बन्धमद्गिरे।
नहि तावत्तरेत्कोपि घोरसंसारसागरम्॥
—सम्बन्धसम्बन्ध, पृ० ११४

श्रीसीताराम की पहचान ही है।[1] रसिकअली जी ने इस स्थिति को साधना के विकास में आनन्द की परम सीमा माना है।[2]

इस प्रकार लौकिक सम्बन्धभावना को अलौकिक सम्बन्ध में परिणत करते हुए रसिकाचार्यों ने भावपरिष्कार की एक अत्यंत स्वाभाविक पद्धति का अनुसरण किया है।[3]

सम्बन्ध का स्वरूप

सांसारिक सम्बन्धों की भाँति ही भक्त और भगवान के बीच भावसम्बन्ध भी पाँच प्रकार के होते हैं[4]—मधुर, सख्य, दास्य, वात्सल्य, और शान्त। यही भक्ति के पंचरस कहे जाते हैं। रसिक सम्प्रदाय में इन पाँचों भक्तिभावों की सम्बन्धदीक्षा दी जाती है। भावना सम्बन्ध देते समय, सद्‌गुरु, साधक को इनमें से जिस रसविशेष का उपदेश देते हैं, उसी के अनुकूल उसके

१—एवं विचार्य मनसा नित्यसम्बन्धमात्मना।
नाऽहं देहो न वै प्राणा न मनोऽहं न चेन्द्रियं॥
न वर्णो नाश्रमश्चाहं न मनुष्यो न देवता।
निरुपाधिकमत्स्वरवास्तव दासोऽस्मि केवलम्॥
सखाऽहं नित्यसम्बन्धी त्वमेव मम सत्पति।
शुद्धसत्वमयो दिव्यो जानकीरामचन्द्रयो॥
—श्रृ० म० स० (से उद्धृत), पृ० ४१

२—ज्ञानस्य च पराकाष्ठा मद्वत्तत्त्वावबोधनम्।
तत्त्वबोधस्य सा सीमा यत्सदानन्दनिर्भरं।
आनन्दनिर्भरस्यापि सीमा श्रीमद्रघूत्तमे।
सम्बन्धभावनोत्पन्ना दृढा प्रीतिस्तु तादृशी॥
—आत्मसम्बन्धदर्पण, पृ० १९

३—लोकेऽपि दृश्यते साक्षात्सम्बन्धस्य प्रगल्भता।
किंपुनर्जानकीजानौ सर्वभावप्रपूरके॥
—अगस्त्यसंहिता, पृ० १२४

४—सम्बन्धाख्यं परं तत्त्वं सदानन्ददायकम्।
तत्प्राप्त्यैवहि जीवानां प्रीतिर्भवति चाचला॥
पंचधा भेदमस्त्यैव तच्छृणुष्व महामुने।
शांतो दास्यस्तथा सख्य वात्सल्यश्च श्रृंगारक॥
—हनुमत्संहिता, पृ० २१

परिकर रूप का वर्ग, वय, सेवा और नाम निर्धारित किया जाता है और सम्बन्धसूत्र तथा रसभोग की प्रक्रिया की व्याख्या की जाती है। साधारणतया एक आचार्य अपने सम्प्रदाय के ही रसविशेष के सम्बन्ध का उपदेश देता है, फिर भी यत्र तत्र ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जहाँ एक ही आचार्य दो रसों का सम्बन्ध देते देखे गये हैं। परमहंस शीलमणि एक ऐसे ही सद्गुरु थे, जो स्वयं तो सख्यभाव के उपासक थे किन्तु सम्बन्ध, सख्य और शृंगार दोनों रसों का देते थे, सरयूदास को शृंगारी उपासना की दीक्षा देकर उन्होंने 'सुधामुखी' नाम रखा था। किन्तु ऐसा तभी होता है जब दूसरा रस, आचार्य की साम्प्रदायिक परम्परा में प्रचलित रससाधना का विरोधी न हो। दो से अधिक रसों की सम्बन्धदीक्षा देने की परिपाटी किसी सम्प्रदाय में प्रचलित नहीं दिखाई देती। रसिक सम्प्रदाय में इसके अपवाद केवल हनुमान जी हैं। वे एक साथ ही शृङ्गार-सख्य और दास्य इन तीन रसों के आचार्य माने जाते हैं, जिनमें दास्य और शृङ्गार ऐसे परस्पर विरोधी रस भी हैं।

सम्बन्ध का अनुसन्धान

साधकशिष्य को सम्बन्धभावना की दीक्षा देने के पश्चात् सद्गुरु, उसके अन्तःकरण में उस भावविशेष के सतत स्फुरण एवं पुष्टि के लिये, सम्बन्ध के विविध तत्त्वों की विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हैं। रसिकों के 'आराध्ययुगल' श्रीसीताराम हैं अतएव अयोध्या और मिथिला दोनों राजकुलों के बीच साधक के भावनामय शरीर (चित्देह) की स्थिति के अनुसार अनेक प्रकार के सम्बन्धों तथा साधना के विविध अङ्गों से उसे परिचित कराया जाता है। यह उपदेश केवल मौखिक ही नहीं होता, साधकों की सुविधा के लिये 'सम्बन्ध-पत्र' लिखकर भी दिये जाते हैं।

सखीभाव का सम्बन्ध

१. वयनिर्णय

आरम्भ में सद्गुरु चित् शरीर के वय का निर्णय कर उसे दिव्य दम्पति की सखियों की निम्नलिखित सात श्रेणियों में से किसी एक में स्थान देता है।[1]

(१) मधुर सखी—६ वर्ष से नीचे

(२) मंजरी सखी—आदि मंजरी ६ वर्ष का

मध्य मंजरी ७ ,, ,,

अन्त मंजरी ८ ,, ,,

१—श्री प्रेमलता पृ० स० प०, पृ० ५८

(३) मुग्धा सखी—आदि मुग्धा ९ ,, ,,
मध्य ,, १० ,, ,,
अन्त ,, ११ ,, ,,
(४) वयसन्धिनी सखी—११½ वर्ष की
(५) मध्या सखी—आदि मध्या १२ वर्ष की
मध्य ,, १३ ,, ,,
अन्त ,, १४ ,, ,,
(६) प्रौढा सखी—आदि प्रौढा १५ वर्ष की
मध्य ,, १६ ,, ,,
(७) नायिका—जिनकी आयु १६ वर्ष के ऊपर हो

२. वर्गनिर्णय

आचार्यों ने गोत्रभेद के आधार पर मोटे तौर से सखियों को दो वर्गों में विभाजित किया है—एक मिथिला से सीता जी के साथ हुई निमिवंशी सखियाँ; दूसरी अवध की रघुवंशी सखियाँ—जो राजकुल की मर्यादानुसार कनक-भवन में दम्पति की परिचर्या के लिये नियुक्त हैं। प्रथम, सीता जी की और दूसरी, रामचन्द्र जी की सखियाँ कहलाती हैं। इनकी स्थिति में थोड़ा भेद है। सीता जी की सखियाँ केवल युगलरूप माधुर्य की उपासिकायें अथवा रूप सेविकायें हैं। उनसे किसी प्रकार की स्थूल सेवा नहीं ली जाती। किन्तु श्री रामचन्द्र जी की सखियों को कैंकर्य भी करना पड़ता है। इन्हें सखी न कह कर किंकरी मानना ही अधिक उचित होगा। सखी भावना में प्रधानता प्रथम वर्ग की ही रहती है। चित् देह को इन दो वर्गों में से किसी एक में रखा जाता है।

३. सेवानिर्णय

रामचन्द्र जी की सखियों में स्थान पाने पर चित् शरीर को 'दिव्य दम्पति' की निम्नलिखित सेवाओं में से कोई एक दी जाती है—[1]

संगीत सेवा	अंजन सेवा
ताम्बूल सेवा	अंग राग सेवा
वस्त्र सेवा	व्यजन सेवा
आभूषण सेवा	पुष्पाभूषण सेवा
व्यंजन सेवा	सेज बिछाने की सेवा

1—नेहप्रकाश, पृ० ५

दर्पण सेवा	मुछल सेवा
सुगन्ध सेवा	छत्र सेवा
संरक्षण सेवा	चँवर सेवा

इनके अतिरिक्त दंपति की अन्य आवश्यक सेवायें भी इन्हें दी जा सकती हैं।

महात्मा युगलानन्यशरण ने युगलविहार के समय सेवा करनेवाली सखियों की मानसिकस्थिति को ध्यान में रखते हुए, उन्हें निम्न पाँच वर्गों में विभाजित किया है।[1]

१ मंजरी—युगलसरकार के एकान्तिक विहार में सकोच व्यवहार करने वाली।

२ सखी—युगलसरकार की रसकेलि में आत्यन्तिक अभाव वाली।

३ आली—युगलसरकार की परस्परकेलि में धृष्टता करने वाली।

४ सहचरी—युगलसरकार की विहारलीला में निस्संकोच भाव से आने जाने वाली।

५ किंकरी—युगलसरकार के रासविलास में डर डरकर कैंकर्य करने वाली।

इनमें प्रथम चार, सखी और पाचवीं किंकरी अथवा दासी की कोटि में रखी जाती है। भक्तिरस के विचार से सखीश्रेणी में शृंगार और किंकरीश्रेणी में शृंगारमिश्रित दास्यभाव की प्रधानता रहती है।

साधनाशरीर को यदि विहार के अवसर की सेवा दी जाती है तो रुचि और स्वभाव को देखते हुए उपर्युक्त पाँच वर्गों में से किसी एक में उसका स्थान निश्चय कर दिया जाता है।

दिव्य-नाम

वय, वर्ग और सेवा निर्धारित हो जाने पर चित्देह का अन्तरंगलीला सम्बन्धी नाम रखा जाता है। इसे 'महली' तथा आत्मसम्बन्धी नाम भी कहते हैं। यह नाम मंत्रदीक्षा के समय रखे गये शरणागतिसूचक नाम से सर्वथा भिन्न होता है। सखी भावोपासकों के भावनासम्बन्धी नाम अली, लता, सखा, प्रिया, वली, कला, मंजरी इत्यादि शब्दों के सहित रखे जाते हैं—जैसे अग्रअली,

---

१–चित्रकूट में रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह को सखीभाव के रहस्यों का उपदेश करते हुए महात्मा युगलानन्यशरण ने सखियों की विहारसेवा का यह मर्म बताया था।

रूपकला, प्रेमलता, प्रियासखी, और युगलमंजरी आदि। ये नाम प्रायः उपास्य से साधनाशरीर के भावसम्बन्ध अथवा सेवा के स्वरूप पर आधारित होते हैं।

इसके पश्चात् सद्गुरु शिष्य को उसके दिव्य जीवन से सम्बद्ध निम्नलिखित तत्त्वों का बोध कराता है—[1]

१—अपना सम्बन्ध श्री मिथिला जी से जानना।

२—श्रीजानकी जी के पाणिग्रहण के समय अपना भी पाणिग्रहण मानना।

३—अपने को किशोरी जी (सीता जी) की सखी मानकर उनके सचेत से ही अपना सुख विचारना।

४—अपनी इष्टसिद्धि श्रीजानकी जी की कृपा-कटाक्ष से ही संभव मानना।

इन तथ्यों की व्याख्या के रूप में निम्नलिखित सम्बन्धसूत्र लिखकर दिया जाता है। जिससे यथासमय गुरु की अनुपस्थिति में भी वह इसका पाठ और मनन कर अपनी रसभावना को दृढ़ कर सके।

सम्बन्ध-सूत्र

१. माता—महाराज जनक तथा उनके चार भाइयों की स्त्रियों में से कोई एक। इनके नाम हैं—सुनयना, सुष्ठुदर्शना, शुभचित्रा, सुखवर्द्धिनी और चन्द्रकान्ति।[2]

२. पिता—महाराज जनक (सीरध्वज) और उनके चार भाइयों कुशकेतु, यशध्वज, वीरध्वज और केकीध्वज में से कोई एक।[3]

३. बहन—महाराज जनक और उनके भाइयों की निम्नांकित इक्कीस पुत्रियाँ—चन्द्रकला, सुषमा, परमा, रतिवर्धिनी, मोदिनी, तरंगा, उमंगा, माधुर्या, विहारिणी, श्रुतिकीर्ति, माडवी, उर्मिला, सीता, चारुशीला क्षेमा, वरारोहा, पद्मगधा, सुभगा, लक्ष्मणा और हेमा।[4]

४. भाई—महाराज जनक और उनके भाइयों के पुत्र लक्ष्मीनिधि, गुणनिधि, इत्यादि।

१—वृ० स० प०, पृ० ३८-३९

२—र० प्र० स०, पृ० ५

३—वही, पृ० ५।

४—रहस्य-प्रमोदवन जयपुर-मंदिर, अयोध्या, के स्थानाधिपति महात्मा राजकिशोरीवर शरण जी, इन २१ बहनों के नाम 'देवल संहिता' के आधार पर निश्चित किये गये बताते हैं।

५. पति—श्रीरामचन्द्र जी।
६ ससुर—चक्रवर्ती महाराज दशरथ जी।
७ सास—कौशिल्या जी।
८. कुलगुरु—शतानन्द जी।
९. कुलदेव—शंकर पार्वती जी।
१०. वंश—निमिवंश।
११. गोत्र—अच्युत।
१२ सेवा—दिव्य दम्पति के निम्नांकित कैंकर्य में से कोई एक, अपने स्वभावानुकूल ग्रहण करना—संगीत सुनाना, पान खिलाना, सुंदर सुरुचिपूर्ण वस्त्र बनाकर पहिनाना, आभूषण पहनाना, अंजन लगाना, तिलक करना, अगराग लगाना, शृङ्गार करना, भोजन कराना, पुष्पादि के भूषण सजाकर पहनाना और सेज लगाना।
१३. आत्मस्वरूप—श्री युगलसरकार के सच्चिदानंदविग्रह के समान अपने स्वरूप का चिंतन करना, स्थूल-सूक्ष्म और कारण इन तीनों रूपों को मायामय मानकर इनसे परे अपने परमानंद रूप का ध्यान करना।
१४. धाम—मिथिलापुरी।
१५. ससुराल—अयोध्यापुरी।
१६. भावना—अष्ट कुंजों में अष्टयाम सेवा की भावना करना।
१७. शाखा—यजुर्वेद की माध्यन्दिनी।
१८. सूत्र—कात्यायन।
१९. नाना—श्री वीरप्रताप जी।
२०. नानी—श्री मोहिनी जी।
२१. मामा—श्री धीरमत जी।
२२. मामी—श्री मोहिनी जी।
२३. ननिहाल—श्री विष्णुकांचीपुरी।
२४. प्राप्ति—श्री सनत्मनरा साकेतधाम।
२५. सुख—तत्सुख प्रधान, स्वसुख तत्सुखोपलब्ध, अथवा स्वसुख।
२६. मान—स्वकीया।
२७. आचार्य—दीक्षागुरु अथवा सद्गुरु।
२८. यूथेश्वरी—श्री चन्द्रकला जी अथवा श्री चारुशील जी।
२९. रसाचार्य—साम्प्रदायिक शाखा के प्रवर्तक।

३० रस—शृङ्गार अंगी, अन्य चार उसके आश्रित। पंच रसों का उनके विभावानुभाव संचारियों सहित पूर्णज्ञान।
३१ गुरुद्वारा—गलता, रैवासा अथवा सम्प्रदायप्रवर्तक की मूल गद्दी।
३२. द्वारा—१२ द्वारों में से कोई एक जिससे अपने गुरु का संबंध हो।
३३ सम्प्रदाय—रामानन्दीय श्रीवैष्णव अथवा ब्रह्म।
३४. अनन्यता—नाम, रूप, लीला और धाम की।
३५ दार्शनिकमत—द्वैत, द्वैताद्वैत, अथवा विशिष्टाद्वैत, जो भी मत आचार्य का हो उसी के अनुसार।
३६ मुक्ति—सालोक्य।

अष्टयाम-भावना

सम्बन्धव्याख्या के अनन्तर उसके वास्तविक बोध एवं भोग के लिये आचार्य, शिष्य को निरन्तर अपने सम्पूर्ण सम्बन्धों का चिन्तन करते रहने का उपदेश करता है। उसकी दृढ़ता के लिये सम्प्रदाय में अष्टयाम भावना, मानसी पूजा अथवा अष्टयाम लीला के चिन्तन का विधान है। इसके अभ्यास से साधक को उपास्य से अपने सच्चे नाते का अनुभव होने लगता है। उसका मन सांसारिक विषयों एवं प्रपंचों से ऊपर उठकर प्रिय की नित्यकेलि भावना में तदाकार हो जाता है। साम्प्रदायिक शास्त्रों में यही सम्बन्ध, रसभोग की दशा मानी जाती है।

अष्टयाम भावना में साकेतलोक के अन्तर्गत दिव्यदम्पति की नित्यलीला में पंचकाल[1] एवं अष्टकुंज[2] की सेवा का ध्यान किया जाता है। इस विषय पर अग्रदास, नाभादास, कृपानिवास तथा रामचरणदास आदि, रसिक सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों के अष्टयाम मिलते हैं। इधर श्रीकृष्णदास पयहारी जी के भी एक अष्टयाम का पता चला है, किन्तु वह अभी देखने में नहीं आया। इन सभी अष्टयामों का वर्ण्य विषय एक ही है। सेविका सखियों के नामों तथा कुछ साधारण परिवर्तनों के अतिरिक्त सब में प्रायः वही विधान है। उनका तुलनात्मक अध्ययन करने से एक उल्लेखनीय तथ्य यह ज्ञात होता है, कि अग्रदास के पश्चात् रामचरणदास तक, जितने अष्टयाम लिखे गये हैं, उनमें

१—अष्टयाम (अग्रदास), पृ० ६८।

२—अष्टकुंज—स्नानकुंज, शृङ्गारकुंज, कलेऊकुंज, भोजनकुंज, शयनकुंज, केलिकुंज, हुलसकुंज और रासकुंज।
—श्री प्रेमलताप्रदद्सम्बन्धपत्रम्, पृ० ५९।

उत्तरोत्तर शृंगारिकता का पुट गहरा होता गया है, जिसके फलस्वरूप राम की ऐश्वर्यसम्बन्धी लीलाओं—राज्यप्रबन्ध, आखेट, अयोध्या के निवासियों और अपने गोत्रबन्धुओं के यहाँ जाना इत्यादि वृत्तों के वर्णनों की अपेक्षा उनकी शृंगारिकलीलाओं की ओर सन्तों का ध्यान अधिक आकर्षित होता गया है। हमारी धारणा है कि इसका प्रधान कारण रीतिकालीन शृंगारिकपरम्परा एवं कृष्णभक्ति की तत्कालीन शृङ्गारी प्रवृत्ति का प्रभाव था।

अष्टयाम की मानसीपूजा रसिकोपासना का मुख्य अंग मानी जाती है। अतएव यहाँ संक्षेप में परम्परागत पंचकाल एवं अष्टकुंज की सेवा का विवरण महात्मा रामचरणदास जी के 'अष्टयाम-पूजा-विधि' के आधार पर दिया जाता है।

अष्टयाम का आरम्भ ब्राह्ममुहूर्त से होता है। साधक, एकयाम रात्रि अवशिष्ट रहने पर उठता है और पवित्र होकर एकांत में बैठकर राममन्त्र का जप करता है। भावना से ही वह सखीरूप में अपना शृंगार करके ध्यान करता है कि साकेतधाम में कनक भवन के भीतर दिव्यदंपति सो रहे हैं।[1] शयनकुंज के चारों ओर विविध सेवाओं के लिए सज्जित सखियाँ जागरण-गान कर रही हैं। उनका शब्द सुनकर धीरे धीरे दिव्य दम्पति आँखें खोलते हैं। सखियाँ उनका वेष विन्यास ठीक करती हैं। अर्घ्य देकर वे दम्पति को चौकी पर बैठाती हैं फिर पाद प्रक्षालन कर मुँह धोती और दातून कराती हैं, तदनन्तर मुख पोंछकर उनका शृङ्गार करती हैं।[2] धूप दीप करके उन्हें भोजनकुंज में ले जाती हैं, वहाँ मधुपर्क तथा जलपान कराके बीरा खिलाती और मंगलआरती करती हैं।[3] कलेऊ के अनन्तर दम्पति के वस्त्राभूषण उतार सरयू जल में स्नान कराती हैं।[4] उसके बाद शरीर पोंछकर श्री रामचन्द्र जी को पीत धोती और जानकी जी को नीली साड़ी पहनाती हैं। फिर दम्पति के शरीर में केशर इत्यादि सुगन्धित द्रव्यों का लेपन करती हैं। सीता जी के चरणों में महावर लगाती हैं और दम्पति का आभूषणों से अलंकृत करती हैं।[5] इस प्रकार शृङ्गार करके उन्हें सिंहासन पर बैठाती हैं, और मंगलआरती करती हैं। सोने के कटोरे में बालभोग खिलाकर मुँह पोंछकर कलेऊ कुंज की आरती करती हैं।[6] उनके सिंहासन पर विराजमान होने पर सब सखियाँ नृत्यगान तथा व्यंजनादि की अन्य

१—अष्टयाम-पूजा विधि, पृ० ३ ४— ,, ,, ,, ३४
२— ,, ,, ,, १३ ५— ,, ,, ,, ३३-४०
३— ,, ,, ,, २१ ६— ,, ,, ,, ४५

सेवायें कर भोजन कराती हैं, फिर भोजनकुंज की आरती होती है।[1] इसके पश्चात् सखाओं सहित श्रीराम और सखियों सहित श्रीजानकीजी अलग अलग सरयू में नौकाविहार तथा जलक्रीड़ा करते हैं।[2] स्नान के बाद सखियाँ पुन दम्पति की आरती करती हैं, फिर सब युगलसरकार के साथ महल को जाते हैं, वहाँ सखियों तथा सखाओं सहित दिव्यदम्पति भोजन करते हैं।[3] भोजनोपरान्त सखियाँ पान खिलाकर भोजनकुंज की आरती करती हैं। इसके पश्चात् दम्पति शयनकुंज में विश्राम करते हैं।[4] उनके लेट जाने पर सखियाँ आज्ञा लेकर अपने-अपने कुंजों में जाती हैं। शयनीयसेवा में नियुक्त सखियाँ उनका चरण पलोटती हैं, कोई पीकदान देती हैं, कोई पानी भर कर लाती हैं, कोई मन्द-स्वर में गाती है। इस प्रकार कुछ समय बाद दम्पति निद्रावश होकर शयन करते हैं। थोड़े समय तक सोने के बाद वे सखियों के मधुर स्वर सुनकर जागते हैं। सखियाँ उनका मुख धोकर धूपादि करतीं और मधुरभोग देती हैं, तदनन्तर रासकुंज की आरती होती है।[5] सखियों का नृत्य-संगीत आरम्भ होता है। श्रीराम विचित्र वन, प्रमोदवन, आह्लाद वन इत्यादि में विहार करते हुए सरयूतट पर *शृङ्गार विपिन में जाते हैं, और वहाँ विविध प्रकार की रासलीलायें करते* हैं।[6] यहीं वे सीता जी सहित ब्यालू करते हैं। सीता जी की सखियाँ उस समय गाली गाती हैं। भोजन के बाद संगीत-वाद्य के साथ आरती होती है, तदनन्तर शयन की तैयारी होती है और सखियाँ रासमय के भूषण-वस्त्र उतार कर उनको शयनानुकूल वस्त्र पहनाती हैं। दंपति के लेटने पर वे उनका पादसंवाहन करती हैं।[7] कुछ सखियाँ मन्द स्वरों में बाजे बजाती हैं। आराध्य युगल के सो जाने पर सखियाँ अपने-अपने कुंजों में जाकर विश्राम करती हैं। शयनकक्ष के चारों ओर उस समय सखियों के पहरे होते हैं।[8]

रामचरणदास जी का कहना है कि उपर्युक्त अष्टयाम सेवा की विधि जानकी जी ने महात्मा रामप्रसाद को बताई थी, पौत्रशिष्य होने से रामप्रसाद जी ने उसकी साधना रामचरणदास जी को सिखाई। कालान्तर में आराध्य की कृपा से अभ्यास के द्वारा उन्होंने इसका प्रत्यक्ष बोध भी प्राप्त किया।

१—अष्टयामपूजाविधि, पृ० ४६
२—वही, पृ० ५२
३—वही, पृ० ५३–५६
४—वही, पृ० ५७
५—वही, पृ० ५८
६—वही, पृ० ५९
७—वही, पृ० ६०–६१
८—वही, पृ० ७०
९—वही, पृ० ७१

यह सेवा श्री जानकी रामप्रसादहि दीन।
महाराज प्रिय पौत्र लखि, मोहिं कृपा कछु कीन॥
जिहि आश्रय से मिलेउ मोहिं, तेहि आयसु ते कीन।
प्रकट बोध ताते भये, राम जानकी दीन॥[1]

रसाचार्य कृपानिवास जी ने रसिकों की मानसी सेवा का एक सचित्र चित्र अंकित किया है, वह बहुत अंश तक उपर्युक्त विवरण से मिलता है। उनका कथन है—

प्रथम उपासक भाव विचारे।
सतगुर दयासखी तन कर निज रंग महलरस रहस निहारे॥
तनकृत धरि गुरु प्रेम भावना आयसु पाय महल पगु धारे।
मधुर मधुर गति मधुरभाव सो मधुर मनोहर सेज सँवारे॥
सोये सजनी रजनि उनींदें सुरति विनोद प्रमोद अपारे।
निरखि झरोखन सकुच जगावत उन्मद छवि लखि प्रान विसारे॥
मंगल आदि सिंगार सेज सुख चिद् विलास रस टहल सम्हारे।
कृपा निवास श्री रामप्रिया की कृपा अगम सब सुगम हमारे॥

सखाभाव का सम्बन्ध

सखाभाव के सम्बन्धोपदेश की परिपाटी शृंगारियों की सी ही है। फिर भी सख्य में पुरुषभाव की प्रधानता होने के कारण चित् शरीर से 'युगलसरकार' के सम्बन्धों, सेवाविधियों और उसके नामकरण के सिद्धान्तों में कुछ भेद होता है।

१. वय-निर्णय—

वयक्रम के अनुसार श्रीरामचन्द्र जी तथा उनके भाइयों के सखाओं की निम्नलिखित चार श्रेणियाँ हैं। साधक को इनमें से किसी एक श्रेणी में रखा जाता है—

(१) मधुरसखा—जो श्रीरामचन्द्र जी से अधिक न्यून वय के हैं—५ से ८ वर्ष तक।

(२) नर्मसखा—जो किञ्चित् न्यूनवय के हैं-९ से १४ वर्ष तक। इनके पाँच भेद हैं—नर्मप्रिय, नर्मविट्, नर्मचेरक, नर्मविदूषक और नर्मपीठमर्द।

(३) प्रियसखा—समवयस्क १६ वर्ष।

(४) सुहृदसखा—अग्रज १८ वर्ष।

ये चार प्रकार के होते हैं—योद्धा, मन्त्री, स्वजाति और स्नेही।

१—अष्टयामपूजाविधि, पृ० ७१

२ वर्ग-निर्णय तथा दिव्य-नाम।

सखियों की तरह सखाओं के भी वर्ग निर्धारित करने में गोत्र भेद का ही सहारा लिया जाता है और उसी के आधार पर प्राचीन सखाओं के नामों के अनुरूप साधकों के नाम भी रखे जाते हैं। निम्नलिखित चार वर्गों में से किसी एक में साधक का प्रवेश होता है और उसी के अनुसार उसका नाम करण होता है। ये नाम प्राय मणि, निधि, शरण आदि छापों सहित रखे जाते हैं।

१. रघुवंशीसखा—महाराज दशरथ के आठ भाइयों के पुत्र, आठ मन्त्रियों के पुत्र, अथवा गोत्र बन्धुओं के पुत्र। इनके नाम मणिपरक होते हैं, जैसे वीरमणि।

२. निमिवंशी—महाराज जनक के भाइयों अथवा गोत्र बन्धुओं के पुत्र, जो रामचन्द्र जी के साले होने के नाते सख्यभाव के अधिकारी माने जाते हैं। इनके नाम 'निधि' परक होते हैं, कारण कि श्रीरामचन्द्र जी के साले का नाम 'लक्ष्मीनिधि' था।

३. वनवासीसखा—इस श्रेणी के अन्तर्गत वे सखा आते हैं, जिन्होंने श्रीरामचन्द्र जी को वनवास के समय सहायता दी थी। ये चार जातियों में विभाजित हैं। ऋक्ष, वानर, निषाद और राक्षस। दैवयोग से आज तक इस भाव से साधना करने वाले किसी रामभक्त का पता नहीं चलता। अतएव इनके नामों के लिये सख्य सम्प्रदाय के ग्रन्थों में किसी विशेष छाप की व्यवस्था नहीं की गई है।

४. ऋषिवंशी—महर्षि वसिष्ठ के पुत्र। अब तक केवल श्रीरसिकलाल पाठक के इस भावना के भक्त होने के प्रमाण मिले हैं।[1]

नामकरण के साथ ही वयक्रम के विचार से सखाओं की सेवायें भी निश्चित कर दी जाती हैं।

३. सेवा-निर्णय

१. मधुरसखा—सखाओं के चतुर्वर्ग की सेवायें उनकी रुचि और वय के अनुसार इस प्रकार हैं—अवध की गलियों में खेलना, महल में समाचार देना, सीता जी का कैंकर्य।[2]

२. नर्मसखा—श्री रामचन्द्र जी को भूषण पहनाना और शृंगार करना, महलों से सन्देश लाना, व्यंग विनोद, सर्वकाल उपस्थिति, मानिनियों का मान-मोचन, नृत्य, गान, शस्त्रादिधारण कर सर्वकाल रक्षा में सन्नद्ध रहना,

१—मानसमयंक, पृ० १०। २—हनुमत्संहिता, पृ० ३१।

भोजन शयन साथ ही करना, लीला के समय कैंकर्य करना।[1] परमानुराग की पुष्टि में सदैव तल्लीन रहना।

३. प्रियसखा—रसमयी बातें करना, सहभोजन, हास्यविनोद, गीत-वाद्य, शृङ्गार करना, रासलीला में कैंकर्य, युद्ध में आगे चलना, सन्देशवहन, अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार की सेवायें करना।[2]

४. सुहृद्सखा—श्रीरामचन्द्र जी के व्याह शयन लीलाओं का आयोजन और ध्यान में नित्य व्यस्त रहना, राजतिलक करना, कोष की रक्षा करना, राजप्रबन्ध, महल की रक्षा का प्रबन्ध करना, हँसकर प्रभु को शिक्षा देना और शत्रुओं को पराजित करना। इस भाव के भक्त, रास में सम्मिलित नहीं होते।[3]

सम्बन्धसूत्र

साधक के नाम, वय और सेवा का स्वरूप निश्चित करके सद्गुरु, शिष्य को दिव्य सम्बन्ध का निम्नांकित ब्यौरे के अनुसार ज्ञान कराते हैं—

१. पिता—(रघुवंशी सखाओं के) महाराज दशरथ के निम्नलिखित आठ भ्राताओं में से एक—

वीरसिंह, सूरसिंह, विजयसिंह, जयशील, चन्द्रशेखर, महाबाहु, धर्मशील और रत्नभान।[4]

(मन्त्रिपुत्र सखाओं के) महाराज दशरथ के निम्नलिखित आठ मन्त्रियों में कोई एक—सुमंत, विजय, धृष्ट, जयन्त, राष्ट्रवर्धन, सुराष्ट्र, अशोक और धर्मपाल।

(ऋषिवंशी सखाओं के) निम्नलिखित अष्ट महर्षियों में कोई एक—वशिष्ठ, वामदेव, मार्कण्डेय, मौद्गल्य, कात्यायन, जाबालि, गौतम और काश्यप।

(निमिवंशी सखाओं के) महाराज जनक तथा उनके चार भाइयों में कोई एक।

२. माता—महाराज दशरथ के अष्ट भ्राताओं की निम्नलिखित स्त्रियों में कोई एक—रत्नकला, रत्नप्रभा, रूपवती, मदनावती, भ्रमरकेशी, सुचित्रा, सुगन्धा और चन्द्रावती।[5]

महाराज जनक, और उनके भाइयों की स्त्रियों में कोई एक

महाराज दशरथ के अष्टमंत्रियों की स्त्रियों में कोई एक

१—नृत्यराघव मिलन दो०, पृ० ४५–४६
२—भक्तिविलास, पृ० ४७
३—वही, पृ० ४७
४—र० प्र० भ०, पृ० ६
५—वही, पृ० ६

महर्षि वशिष्ठ की स्त्री अरुन्धती तथा अन्य सात महर्षियों की स्त्रियों में कोई एक

३ जाति—रघुवंशी, निमिवंशी, ऋषिवंशी, और वनवासी सखाओं में राक्षस, वानर, भालु और निषादवंशी

गोत्र—काश्यप

शाखा—माध्यंदिनी

४ भाई—उपर्युक्त सम्बन्ध से सहोदर, पितृव्यपुत्र अथवा गुरुपुत्रों को भाई मानना। विशेष रूप से आठ मंत्रिपुत्र, आठ निमिवंशी और एक गुरुपुत्र का उल्लेख साम्प्रदायिक ग्रन्थों में मिलता है। सुलोचनमणि, सुमद्रमणि, सुचन्द्र मणि, जयसेनमणि, वशिष्टमणि, शुभशीलमणि, रसमणि और रसकेतुमणि ये आठ मंत्रिपुत्र[1] हैं। सुयज्ञ[2] गुरुपुत्र हैं।

५. साला—महाराज जनक के भाइयों के पुत्र—लक्ष्मीनिधि, शृङ्गार निधि, श्रीनिधि इत्यादि

६. सरहज—महाराज जनक के भाइयों की पुत्रवधुयें—सिद्धिकुँवरि, ऋद्धिकुँवरि इत्यादि

७. राज्य—कोशल मिथिला

८. गंगा—वाशिष्ठी (सरयू)

९. कुलगुरु—वशिष्ठ, वामदेव अथवा शतानन्द

१० कुलदेवता—श्रीरंगनाथ जी

११. इष्टदेवता—शिव जी

१२. आयुध—धनुष-बाण

१३ देश—गोलोक

१४ धाम—अयोध्या

१५. परिक्रमा—रत्नाद्रि

१६. वन—प्रमोद

१७. सुख—विलास

१८. ख्याल—होली, रास तथा अन्य रहस्यलीलाएँ

१९ दर्शन—चन्द्रिका, क्रीट और मुकुट का

२०. मुद्रा—धनुष-बाण

२१. मंत्र—श्रीरामतारक

१—अष्टयाम (अग्रदास), पृ० ८ २—हृदयविनोद, पृ० ४१

२२. निष्ठा—दुखनिष्ठा–वियोग । धर्मनिष्ठा–राजनीति । ज्ञाननिष्ठा–स्वात्म-परमात्म स्वरूपविभाग । अभिमाननिष्ठा–सख्य सम्बन्ध में। लोभनिष्ठा–उत्तरोत्तर सम्मानप्राप्ति में । माननिष्ठा–साम्यानुराग । मत्सरनिष्ठा–राम के विरोधी पर । व्यसननिष्ठा–अस्त्रों शस्त्रों के धारण करने में । दास्यनिष्ठा–ज्येष्ठ वर्ग से । सख्य-निष्ठा–रघुनाथ जी के साथ । वात्सल्यनिष्ठा–कनिष्ठ वर्ग के साथ । शृङ्गारनिष्ठा–स्वभार्या से । पाननिष्ठा–सरयू जल

२३. बैठक—सोमरट के नीचे तथा दरबार में, वीरासन से, राम की दाहिनी ओर

२४. संप्रदाय—श्रीवैष्णव (रामानन्दीय) अथवा ब्रह्मसम्प्रदाय

२५. आचार्य—श्री चारुशीलमणि जी (हनुमान जी)

२६. परमहित उपदेशक—दीक्षागुरु एवं सद्गुरु

२७. भावना—श्रीरामचन्द्र जी से न्यून, तुल्य एवं अधिक वय तथा तुल्यरूप, तुल्यगुण की भावना करना । सख्यभक्ति में अहंकार करना[1]

२८. सेवा—श्री रामचन्द्र की शरीर रक्षा, पान खिलाना, सुगंध लेपन, व्यंजन एवं चमर सेवा, अतःपुर से समाचार लाना, आखेट, शतरंज, गंजीफा आदि विविध भाँति के खेलों से आराध्य का मनोरंजन करना

२९. मार्ग—अग्रदास अथवा मध्वाचार्य का ।

३०. द्वारा—वीरस्वामी अथवा वैष्णवों के ५२ द्वारों में से कोई एक

३१. प्राण—रामाकार

३२. भाष्य—माध्वभाष्य अथवा रामानुजाचार्य का श्रीभाष्य

३३. मत—द्वैतवाद अथवा विशिष्टाद्वैत

३४. रस—वीर

३५. आनंद—तत्सुख

३६. प्राप्ति—साकेतधाम में श्री रामचन्द्र जी का सहवास, केलिसुख अथवा रामसुख

अष्टयाम भावना

सख्य संप्रदाय की अष्टयाम-भावना शृङ्गारियों की मानसीपूजा से मिलती-जुलती है फिर भी दोनों ब्यौरों में कुछ भेद है । सख्यभक्तों में उपास्य की बहिरंग लीला का चिंतन शृङ्गारियों की अपेक्षा अधिक है। उनके अष्टयाम चिंतन में दास्यभक्तों के अनुकूल सेवा का भी विधान किया गया है, जिसकी

1–विवेकगुच्छा, पृ० २४

शृङ्गारी-सम्प्रदाय में प्रायः उपेक्षा की गई है। नीचे उसकी विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है।

१—सख्यभावोपासक पिछले पहर में उठकर गुरुपरम्परा का पाठ करते हैं, भावना से ही गुरु को साष्टांग प्रणाम कर उनकी आज्ञा से स्नान करते हैं और ऐसा चिंतन करते हैं कि पार्थिव शरीर छूट गया। इसके अनन्तर दिव्य भावनामय शरीर से अवध का दर्शन करते हुए कनकभवन के द्वार पर आते हैं, वहाँ भक्ति स्वरूपा श्रीचारुशीला जी का साक्षात्कार करके उन्हीं की कृपा से दिव्यदम्पति की सेवा में उपस्थित होते हैं।[1]

२—श्रीरामचन्द्र जी की व्यञ्जनसेवा, पादप्रक्षालन, हस्तप्रक्षालन, दम्पति की आरती, भाइयों की आरती, गर्मी में शयनकुंज के बाहर पंखा खींचना, शृंगार करना, शयन के समय पाद-संवाहन इत्यादि कैंकर्य सखियों के स्थान पर सखा करते हैं और आखेट में शस्त्र धारण कर उनके साथ जाते हैं।[2]

३—तीसरे पहर श्री रामचन्द्र जी, सखाओं और भाइयों सहित महाराज दशरथ के दरबार में, और सीता जी, सखियों सहित कौशिल्या जी के भवन में प्रणाम करने जाती हैं।[3] महाराज दशरथ पुत्र को नीति तथा धर्म विषयक उपदेश देते हैं। सासुयें श्रीसीता जी को स्त्रियोचित कर्त्तव्यों की शिक्षा देती हैं।

४—राजभवन से वे सखाओं एवं भ्राताओं सहित अपने आठ काकाओं (पितृव्यों) के घर जाते हैं, वहाँ काकी और काका युवराजोचित सम्मान देकर उन्हें जलपान कराते और उनकी आरती करते हैं। सन्ध्या के समय सवारी निकलने पर अवधवासी प्रजा-जन उनका स्वागत करते हैं।[4]

५—श्रीरामचन्द्र परिकरों सहित अपनी और चारों भाइयों की वाटिकाओं तथा हस्तिशाला, अश्वशाला, रथशाला आदि का निरीक्षण करते हैं और परिचारकों को पुरस्कार देते हैं।[5]

६—सन्ध्यासमय बन्धुओं और मुख्य सखाओं के साथ वे मातृगृह को जाते हैं,[6] वहाँ मातायें और पिता, वात्सल्य विनोद के साथ उन्हें भोजन कराते हैं।[7] एक पहर रात बीतने पर चारों भाई सपत्नीक मातृसदन से विदा होकर अपने भवन को पधारते हैं।[8] दिव्यदम्पति के शयन करने पर साधक, स्वप्न में उनका सामीप्य लाभकर युगलमाधुर्यपान में रसमग्न हो जाता है।

१—श्रीसीताराम मानसीपूजा, पृ० २
२—वही, पृ० १८
३—वही, पृ० १९
४—वही, पृ० २०
५—वही, पृ० १९
६—वही, पृ० २२
७—वही, पृ० २३
८—वही, पृ० २३

दास भाव का सम्बन्ध

दास्यनिष्ठा के साधकों को दिव्य दंपति की बाह्यसेवा का सम्बन्ध दिया जाता है। अंतरंग सेवा उनके भाव के प्रतिकूल पड़ती है अतएव शृङ्गारी और मधुररस के आचार्यों ने उन्हें अंत पुर की रास तथा अन्य माधुर्य-लीलाओं में कैंकर्य का अधिकारी नहीं माना है। उनकी रसभावना की तृप्ति के लिये 'युगलसरकार' की सार्वजनिक माधुर्यपरक लीलाओं—वसन्त, होली, झूला इत्यादि में सेवा का विधान किया गया है। किन्तु दासभावना के भक्तों का इससे संतोष न हुआ। उन्होंने इस प्रतिबंध को पारकर अपनी शृंगारी प्रवृत्ति की तुष्टि के लिये मधुर दास्यभाव की कल्पना की है और उसके द्वारा मधुर सखाओं की भाँति ही अंत पुर में कैंकर्य का अधिकार प्राप्त किया है। महात्मा बनादास इसी भाव के उपासक थे।

१. वयनिर्णय

मधुर-दास की वय ५ से ८ वर्ष तक मानी गई है। दास्य भाव के अन्य उपासकों का वर्गीकरण आयु के आधार पर नहीं किया गया है।

२ वर्गनिर्णय तथा दिव्यनाम

दासों के दो वर्ग हैं—मिथिला के दास और अवध के दास। कुछ आचार्यों ने मिथिला के दासों को ही 'मधुर दास' की संज्ञा दी है। कारण कि, अंत पुर में उनके प्रवेश पर कोई प्रतिबंध नहीं होता।

इनके नामों में सखी तथा सखाभाव के भक्तों की भाँति कोई विशेषता नहीं पाई जाती। वे प्राय दासान्त ही होते हैं।

३. सेवानिर्णय

रास तथा अंत पुर की अन्य शृङ्गारी लीलाओं को छोड़कर दंपति का सभी प्रकार का बाह्यकैंकर्य करना।

सम्बन्धसूत्र

स्वामी—शरणागत पालक श्रीरामचन्द्र

स्वामिनी—आश्रितवत्सला श्रीसीता जी

आचार्य—हनुमान जी

कर्तव्य—प्रभुसेवा में नित्य उपस्थिति

सुख—सेवासुख

उपासना—आराध्ययुगल की मधुर लीलाओं की

प्राप्ति—साकेतविहारी श्रीरामचन्द्र जी का नित्यकैंकर्य

वात्सल्य भाव का सम्बन्ध

साधना की दृष्टि से वात्सल्य भक्ति अत्यन्त दुष्कर मानी जाती है। इसी लिये इस भाव से उपासना करने वाले महात्माओं की परम्परायें नहीं मिलतीं। यह दूसरी बात है कि किसी प्राचीन वात्सल्यनिष्ठ भक्त के शिष्य अथवा वंशज, उत्तराधिकारी रूप में उसकी लौकिक सम्पत्ति के भोक्ता, परम्परा से चले आ रहे हों। किन्तु इस भाव का स्फुरण शृङ्गार एवं सख्य के समान व्यापक रूप से नहीं होता। फिर भी रसिक सन्तों ने इसकी पुष्टि के लिये सम्बन्धानुसंधान का विधान किया है। कामदमणि ने इसके दो भेदों—वृद्ध-वात्सल्य (पिता पुत्र भाव) तथा लघु-वात्सल्य (पुत्र पिता भाव) के पृथक् पृथक् सम्बन्धसूत्रों की व्याख्या की है। प्रथम में साधक अपने को महाराज दशरथ, जनक अथवा वशिष्ठ की श्रेणी में रखकर राम से अपत्यस्नेहपूर्ण और दूसरे में उन्हें पिता अथवा गुरु मानकर पुत्र अथवा शिष्यवत् व्यवहार करता है। नीचे उक्त दोनों भावों के सम्बन्धसूत्रों का विवरण दिया जाता है।[1]

सम्बन्धसूत्र

(क)—वृद्ध-वात्सल्य—(पुत्र पिता भाव)

१. पुत्र—श्री राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न
२. पुत्रवधू—श्री सीता जी, उर्मिला, माडवी और श्रुतिकीर्ति
३. गुरु—वशिष्ठ
४. कुल—रघुवंशी
५. निजधाम—अवधपुरी
६. गोत्र—काश्यप
७ सूत्र—कात्यायन
८. शाखा—माध्यंदिनी
९. ब्राह्मण—शतपथ
१०. वर्ण—गौर
११. वय—वृद्ध
१२. बैठक—वीरासन
१३. यान—रथ
१४. रतिसुरस—अपने अंत पुर में महारानियों के साथ

1—यहाँ विस्तारभय से केवल पुत्र पिता भाव के सम्बन्धसूत्रों की व्याख्या की गई है। इसी प्रकार दामाद-ससुर और शिष्य-गुरु भाव के भी सम्बन्धपत्र होते हैं। वात्सल्यभाव के भक्त किंकरों की श्रेणी में नहीं आते अतएव इनके वय, वर्ण और सेवा निर्धारित नहीं की गई है।
—द्रष्टव्य 'वात्सल्य रससम्बन्ध' कामदमणि (अयोध्या)

१५. इष्टदेव—शिव-पार्वती
१६. कुलदेव—श्रीरंग
१७. सुखसंधान—कल्पतरु
१८. दृढ़प्रीति—मंत्रियों में
१९. अस्त्र शस्त्र—धनुष-बाण और तलवार
२०. भोग—बाल-विहार सुख
२१. क्रोध—धर्मदूषक पर
२२. लोभ—सदाशन और सम्मान का
२३. चाह—युद्ध में तनत्याग और राम के साथ वनयात्रा
२४. त्याग—अभक्ष्य, अपेय और परस्त्री का
२५. संबोधन—मुन्ना, धुन्ना, ललना, लेरूआ, छगन-मगन, छोहरा, भैया, मोहन और लला आदि।

वृद्ध-वात्सल्यनिष्ठा के भक्तों में महात्मा सूरकिशोर (जनकभाव) और पंडित उमापति (वशिष्ठभाव) का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

(ख) लघुवात्सल्य (पिता पुत्र भाव)—

१. पिता—महाराज रामचन्द्र जी
२. माता—सीता जी
३. काका (पितृव्य)—लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न
४. पितामह—महाराज दशरथ
५. दादी—महारानी कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी
६. नाना—जनक जी
७. नानी—सुनयना जी
८. भ्राता—लव, कुश
९. गुरु—वशिष्ठ
१०. वंश—रघुवंशी
११. मामा—लक्ष्मीनिधि
१२. मामी—सिद्धिकुँवरि
१३. ससुराल—अंतर्वेद में
१४. सास—सुमोदिनी जी
१५. सरहज—चंपा जी
१६. साली—मंगलदीपिका
१७. ध्यान—माता जी का महल (कनकभवन)

१८. निष्ठा—माता पिता में निश्छल श्रद्धा, दृढ विश्वास ।
१९. यान—अश्व
२०. बैठक—वीरासन
२१. विनोद—महल में भ्रातृवधुओं के साथ
२२. इष्टदेव—शिवपार्वती
२३. कुलदेव—श्री रंगनाथ
२४. मंत्र—अष्टाक्षर
२५. अवलंबन—वीररस
२६. भाव—उत्साह
२७. चाह—राजकेलिदर्शन
२८. व्यसन—भाइयों और पिता के साथ रहने का
२९. भोजन—पिता के संग
३०. पान—सरयूजल
३१. सुख—पितृसेवा सुख

शांतभाव का सम्बन्ध

शांतरस के भक्तों की स्थिति उपासना से परे मानी जाती है।[1] उनका श्रीरामचन्द्र जी से सम्बन्ध, ध्याता और ध्येय का होता है। वे अनीह, अनादि, अज, अनंत, अविनाशी, सर्वव्यापक, चैतन्यस्वरूप, परात्परब्रह्म राम के ध्यान में अहर्निश मग्न रहते हैं।[2]

बालअली जी ने इनकी गणना रूक्षरसिकों में की है। इनके अतिरिक्त अन्य चार रसों के उपासक शुद्ध 'रसिक' कहे गये हैं। किन्तु वामदेवेन्द्रमणि जी ने शांतरस के उपासकों को भी परिकरों में माना है। उन्होंने इस भाव के उपासकों के दो वर्ग बताये हैं—रूक्ष और रसरूप।[3] इनमें रसरूप उपासक महली-

---

१—जहाँ शांतरस को अधिकार। तहाँ कहाँ माधुर्य विहार।
—सि० त० दीपिका, पद्य २०

२—वही, पृ० ३४।

३—द्वै प्रकार ऐश्वर्य अनूपा। एक रूक्ष दूसर रस रूपा।
जो ऐश्वर्य अजादिक ध्यावैं। तेहि मदीय माधुर्य बनावैं॥
यह मम भक्ति युक्ति कोउ जानै। महल टहल रस-मर्म पिछानैं।
जो ऐश्वर्य रूक्षपथ वादी। तेहि मानत हठिशठ मतवादी॥
निर्वपु भेद प्रथम वै रानैं। अति अज्ञान न श्रुतिमत जानैं॥
—मा० के० का०, पृ० ५३।

सेवा और रसभोग का मर्म जानते हैं। उनकी साकेतविहारी युगलसरकार की सगुणलीला में आस्था होती है। किंतु रूक्षभाव वाले राम के निर्गुण रूप के भक्त होते हैं। उनको सगुणलीला में विश्वास नहीं होता अतएव उसमें उनके प्रवेश का प्रश्न ही नहीं उठता।

नित्या-भावना

नित्याभावना [1]मानसीपूजा की सिद्धदशा है। इसकी प्राप्ति उपास्य की अष्टकालीन लीला के चिंतन का सतत अभ्यास करने के बाद होती है। अष्ट याम भावना नियमबद्ध रूप से की जाती है। उसका समय ब्राह्ममुहूर्त होता है। साधक को उत्थापन से लेकर शयनकाल तक की युगलविहारलीला का क्रम से ध्यान करना पड़ता है। यह भावना प्रकृतिजन्य शरीर के व्यवहार की छाया लेकर की जाती है। इसकी निरन्तर साधना से उसे साकेत की नित्य लीला की झलक मिलने लगती है और धीरे-धीरे इस लीला में उसकी तन्मयता बढ़ती जाती है। उसकी अपने भावविशेष के भीतर जितनी गहरी पैठ होती है उतने ही समय तक वह इसमें निमग्न रहता है। कालांतर में एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब उसकी भावना सिद्ध हो जाती है। अब वह आराध्य की विहारलीला के जिस कृत्य का, जब चाहे साक्षात्कार कर सकता है। उसके लिये काल का बंधन नहीं रह जाता। लीला का आवर्तन प्रत्येक क्षण में हुआ करता है, अतएव वह किसी भी समय उसमें भाव से प्रविष्ट हो सकता है। पहुँचे हुए रसिक सन्तों के जीवनवृत्तों में ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनमें वे भाव-मग्न स्थिति में दिव्यलीला का दर्शन करते बताये गये हैं। इस स्थिति को साधना का प्रत्यक्षफल कहा जा सकता है जिसमें साधक सदेहमुक्ति का सुखभोग करता है।

रस-सम्बन्ध-बोध

साधक को उपदिष्ट रस के भोग की योग्यता प्राप्त करने के उद्देश्य से, सद्गुरु उस रसविशेष की मुख्य रूप से, तथा शेष चार भक्तिरसों और काव्य के नवरसों के विविध अंगों की, गौण रूप से व्याख्या करते हैं। इससे, नव दीक्षित शिष्य में, रस की अनन्यता का भाव उत्पन्न होता है। पहले कहा गया

---

[1]—अष्टयामी तथा नित्या भावना प्रेमसंयुता।
स्वस्वसम्बन्धविधिना शिक्षितव्या प्रयत्नतः॥
—अगस्त्य सं० परिशिष्ट, पृ० १२२

है कि रसिक सन्त 'चतुर्दशरसभोगी' माने जाते हैं। भक्ति के पंचरसों के साथ काव्य के नवरसों को भी उनकी रससाधना में स्थान दिया गया है। तात्पर्य यह कि, एक रस के उपासक होते हुए भी वे अन्य रसों की उपेक्षा नहीं करते। समन्वय के विचार से वे अपने इष्टरस को प्रधान और अन्य रसों को उसका सहायक मानते हैं। आचार्यों ने रसनिष्पत्ति के लिये सभी रसों का ज्ञान आवश्यक बताया है। कामदेन्द्रमणि के मत से, साधक, गुरुमुख से 'भक्ति रसों का सम्बन्ध' प्राप्त करने पर ही, दम्पति की युगलविहारलीला के रसास्वादन का अधिकारी होता है।[1]

परम पुरुष अनन्तरसाश्रय है। उसका सम्पूर्ण विग्रह ही रसमय है। रसिक सन्तों ने अपने आराध्य श्रीरामचन्द्र जी के विग्रह में पंच भक्तिरसों की स्थिति और उनके वर्णों की निम्नांकित प्रकार से कल्पना की है—

१. भगवद्विग्रह में पंचरसों की स्थिति और उनका वर्ण।[2]

रस	उपास्य के अंगों में निवास	वर्ण
शृंगार	मुख	श्याम
सख्य	बाहु	अरुण
दास्य	चरण	पीत
वात्सल्य	उदर	श्वेत
शांत	सर्वाङ्ग	पीत

महात्मा शीलमणि ने आराध्य के माधुर्यपूर्ण-व्यक्तित्व में द्वादश रसों की स्थिति मानी है[3]—

१–प्रभुता नाम स्वरूप, लीलाधाम बखान करि।
निजमति के अनुरूप, भक्ति सुरस बरनन करौं॥
सोइ सम्बन्धहिं पाय, राम शिक्षावत सहज नर।
उर अनुराग बढ़ाय, दम्पति-सुख-सम्पति लहत॥
—राघवेन्द्ररहस्यरत्नाकर, पत्र १२

२–वृ० स० प०, पृ० ७४

३–रसमय मूरति साँवरी, द्वादश स्वाद सहेत।
पात्र संग मैं जानिये, शीलमणी सुख देत॥
शान्त परम ऐश्वर्यमय, अनुभव अद्भुत रूप।
दास्य सु चानन में बसै, रघुनन्दन छवि भूप॥
सख्य सुभुज अस्कंध बस, हिय शृङ्गार सरूप।
वत्सल सुख सब अङ्ग को, पालक लखौ अनूप॥

रस	उपास्य के अंगों में निवास	वर्ण
शांत	ऐश्वर्य अथवा दिव्य कान्ति में	श्वेत
अद्भुत	रूप में	पीत
दास्य	चरणों में	चित्र
सख्य	कंधों में	अरुण
शृंगार	हृदय में	श्याम
वात्सल्य	मुख में	कंचन
करुण	नेत्रों में	धूम्र
रौद्र	भृकुटि में	रक्त
हास्य	ओठों में	वायु
वीर	दोनों भुजाओं में	गौर[1]
भयानक } बीभत्स }	दुर्जनों के संहार विषयक कृत्यों में	—

राम के स्वरूप और स्वभाव में सूक्ष्म रूप से विद्यमान ये रस उनकी आनंद-शक्ति के विलास से व्यक्त होते हैं और सौलभ्य गुण के प्रकाश से ये भक्तों के आस्वाद्य बनते हैं।

रामदेन्द्रमणि के मतानुसार परात्परब्रह्म (राम) ने इन रसों के प्रचार के लिये अपने अंशावतारों को भेजा—अंतर्यामी और व्यूह अवतारों से शांत रस का, अर्चावतारों से दास्य रस का और विभु अवतारों से थोड़ा बहुत सभी रसों का प्रसार हुआ। इसका विवरण उन्होंने इस प्रकार दिया है—[2]

रसानुसार अवतारों का वर्गीकरण

(क) मुख्यरस (पंच भक्ति रस)

रस	अवतार
शान्त	कपिल, ऋषभ
दास्य	परशुराम

करुना नैन सु राम को, भृकुटी रौद्र विचार।
हास्य अधर अद्भुत छलो, चिन्मय रवन अपार॥
वीर छराव भुज दंड़जर, भय विस्मय छद्म कर्म।
दुरजन प्रति दरसात है, देरास अग पुनि धर्म॥
—विवेकगुच्छा, पृ० २१-२२

१—रामायण सटीक (रामचरनदास), पृ० १११
२—राघवेन्द्ररहस्यरत्नाकर, पत्र १३

रस	अवतार
वात्सल्य	नृसिंह
सख्य	वामन
शृंगार	कृष्ण

(ख) गौणरस (सप्त काव्यरस)

वीर	कल्कि
रौद्र	परशुराम
अद्भुत	वामन, कूर्म, मीन
भयानक	नृसिंह
करुण	बुद्ध
वीभत्स	वाराह
हास्य	हयग्रीव

इन अवतारों में सभी रसों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। प्रत्येक में किसी विशेष रस को ही पूर्णता प्राप्त होती है और वही उसके उपासकों की आराधना का माध्यम बनता है। समस्त रसों का पूर्णरूपेण आस्वादन उनकी भक्ति में नहीं हो सकता।

वामदेवेन्द्रमणि जी का यह मत है कि इस कमी को दूर करने के लिये ही परब्रह्म ने राम के रूप में अवतार लिया था। उनकी लोकलीला में सभी रसों का विकास हुआ। पंच मुख्यरस, भक्तों के उपजीव्य हुए और सप्त गौणरस लोकधर्म की स्थापना में सहायक हुए। द्वितीय वर्ग के रसों की रामचरित में अभिव्यक्ति का विवरण देते हुए वे लिखते हैं—

गौतम की तिय पै करुना करि राम उधारन हेत सिधाये।
हास्य कियो मिथिलापुर में अरु भार्गव के उर भय उपजाये॥
वीरता कै खरदूषन सों तन श्रोणित बिन्दु विभत्स बनाये।
अद्भुत पाहन सिंधु तरे रन रावन के उर भय उपजाये॥[1]

शृङ्गारी रामभक्तों ने युगलसरकार की विहारलीला के भीतर ही अन्यरसों की व्याप्ति दिखाई है। शान्तरस अपनी 'रूक्षता' के कारण उसमें ग्राह्य नहीं हो सका है।

रौद्र रूठिबे मे वीर लखि सुरतोत्सव में,
जानियो वीभत्स नखरद व्रण साज है।

1—रा० र० र०, पत्र १२

> रति विपरीत समै उलटि सिंगार क्रिया,
> जानिये सुजान तहाँ अद्भुत साज है॥
> विछुरत भये सो भयानक विचारि चित्त,
> रद छद देखि प्यारो हाँस प्यारी लाज है।
> करुना वियोग ऐसे सब रस साजि लेखि,
> रत सियलाल महाराज रसराज है॥[1]

अङ्गी-अङ्ग का सम्बन्ध

भक्ति के पाँचों रस स्वत पूर्ण हैं। शृङ्गार को यद्यपि काव्य के नवरसों म रसराज कहा गया है, और रसिक साधना में भी उसे सर्वोच्च स्थान दिया गया है किन्तु भावभक्ति में वह अन्य चार रसों के समान ही है।[2] साधक के लिए सभी रसों की उपासना करना सम्भव नहीं। उसे किसी एक को लेकर ही अपने इष्ट की ओर बढना पडता है। अत वह सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट रसविशेष को मुख्य तथा अन्य रसों को गौण मानता है। शृङ्गार और सख्य रस के साधक अपने साध्यरस को अगी और अन्य रसों को उसका अग बताते हैं।[3] उन्हें ऐसा किसी द्वेष से नहीं, वरन् साधना क क्षेत्र म एकनिष्ठता प्राप्त करने क लिए करना पडता है।

शृङ्गारीभक्त माधुर्य को अगी और शेष तीनों रसों को उसका अग मानते हैं। उनक अनुसार दाम्पत्यभाव में शात को छोडकर भक्ति क अन्य सभी रस निवास करते हैं। जब पत्नी प्रिय को भोजन कराती है तो वात्सल्य, जब वह कार्य म उनकी सहायता करती है तो सख्य, परिचर्या क समय दास्य और शयन क समय शृंगार भाव को धारण करती है। इस प्रकार वह सभी रसों की अधि

1—श्रीसीताराम रसचन्द्रोदय, पृ० ४

2—शांत दास्य वात्सल्य कहि, त्रिमि शृंगार सुसख्य।
ये पाँचों रसभक्ति के, मञ्जिसरंग सुमुख्य॥
काव्यन में शृंगार को, कहैं यदपि रसराज।
पै भक्तिन में सम अहैं, पाँचों रस सुखसाज॥
—रामरसरंग दोहावली, पृ० १०

3—निज रस अंगी जानि हिय, सब रस मानै अग।
हिलि मिलि सिय रामहिं भजै, भक्त रसिक रसरंग॥
—वही, पृ० ११

कारिणी है।[१] अन्य रसों में इतनी व्यापकता न होने के कारण वे सभी शृङ्गार के अंग बनकर रससिद्धि में सहायक होते हैं।

इसी प्रकार सख्य रसावेशी भक्त सख्य में शेष तीन रसों का अन्तर्भाव मानते हैं।[२] उनका मत है कि स्वाभाविक हितैषणा अथवा स्नेह तथा एकात्मीयता सख्य का प्रकृत गुण है। यह साम्याकार स्नेहभाव, वात्सल्य में कृपारूप से, दास्य में सेवारूप से, तथा शृङ्गार में कामरूप से व्याप्त रहता है।[३] शृङ्गार की कान्तासक्ति, नारीविशिष्ट में मर्यादित सख्यासक्ति ही है। अतएव लिंग भेद होने पर भी, सखीभाव, सख्यभाव से अभिन्न है।

इसी प्रकार महात्मा रामरसरंगमणि ने, वात्सल्य और दास्य को सभी रसों का आधार बताया है और शृङ्गारी भक्ति के पूर्वाचार्यों द्वारा उसका महत्त्व स्वीकार किये जाने के प्रमाण दिये हैं।[४] हनुमान जी का, रामभक्ति की समस्त, शाखाओं में आचार्यत्व स्वयं यह सिद्ध करता है कि सभी रस एक दूसरे में अंतर्भूत रहते हैं।[५] अतः एक भाव की पूर्णता प्राप्त हो जाने पर अन्य भाव स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

१—वातसल्य सख्यादिक दासा। पचो महँ सब करत निवासा॥
जब तिय पतिहिं सुअसन पवावै। निज कर परसि सु प्रेम बढ़ावै॥
मृदुल वचन कहि पुनि पुनि परसै। वातसल्य रस तेहि क्षण सरसै॥
जब कछु करै साहिता नारी। सख्यभाव प्रगटित सुखकारी॥
सेवा समय सुखद रस दासा। सयन समय शृंगार सु खासा॥
यहि विधि सब रस की अधिकारिनि। पतिहिं सुखद पतनी व्रत धारिनि॥
—वृहद् उपासना रहस्य, पृ० ११४

२—सख्यसिन्धु चन्द्रोदय, पृ० ३२

३—वही, पृ० ३५

४—वातसल्य माता पिता, सब रस को है हेतु।
तिहि बिन जग लीला जुगल, बनत नहीं रस केतु॥
बिना दासता भक्ति नहिं, भक्ति बिना रस नाहिं।
रसिक जीव रस-रंगमणि, रामदास सब आहिं॥
शृङ्गारिन मैं अग्र श्री, अग्रदास मति मान।
निज को रघुवर दास ही, कहैं मंजरी ध्यान॥
—रामरसरंग दो०, पृ० १०—११

५—अतर सब रस के सबै, रस नियमहिं रसरंग।
रसिक परसपर प्रीतिकरि, मानैं गा अंग॥
—वही पृ० ११

रस-निष्पत्ति

भक्ति, देवसम्बन्धी रति है। काव्यशास्त्र के अनुसार, वह भावमात्र की स्थिति में रहती है, रसदशा तक उसकी पहुँच नहीं होती। इसके कारणों की मीमांसा करते हुए कहा गया है कि देवविशेषविषयक प्रीति होने से मनुष्यमात्र द्वारा उसका उपभोग संभव नहीं है, अतएव साधारणीकरण के अभाव में उसे रस की संज्ञा नहीं दी जा सकती। किन्तु भक्तों की दृष्टि में यह नियम केवल साधारण देवोपासना में अभिव्यक्त प्रीति पर लागू हो सकता है, देवाधिदेव परब्रह्म की भक्ति पर नहीं। समस्त विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण होने से वह प्राणिमात्र की भावना का केन्द्र और उनके हृदय का आश्रय है। उसके नाम, रूप, लीला और धाम के ध्यान और गान में सभी लोग कभी-न-कभी समान रूप से आत्मविभोर हो सकते हैं[1] और यह आत्मविभोरता अथवा तन्मयता ही रसोद्रेक की चरम स्थिति है।

रसिक रामभक्त इसी सिद्धान्त के समर्थक हैं। उनका मत है कि, सखी, सखा, स्नेही, दास तथा प्याला भाव से 'युगलसरकार' की उपासना करने वाले, परिकररूपेण लीलारस का विविध रूपों में आस्वादन करते हैं। अतः भक्ति के उक्त पाँचों भावों में रसनिष्पत्ति के लिये आवश्यक समस्त तत्त्वों का अस्तित्व, स्वयं सिद्ध है। रससाधकों का उनसे अभिन्न होना आवश्यक माना गया है। रामदेन्द्र जी का विचार है—

> सात्विक थाई भाव अनु, भाव विभावहु भाव।
> आलंबन उद्दीपनो, वरनौं करि चितचाव॥
> × × ×
> ये पाँचहुँ रस अङ्ग, जासु अंग पाइये।
> ता कहँ सन्त सुजान, रसिक कहि गाइये॥[2]

रस के अङ्ग

रसनिष्पत्ति के दो प्रमुख अङ्ग हैं—रसविधायक और रसभोक्ता। काव्य-शास्त्र प्रणेताओं ने इन्हें विषयालम्बन और आश्रयालम्बन के नाम से अभिहित किया है।

१– गद्द विशेष अनन्यता, प्रीति प्रबल उमगाति।
नाम रूप लीला प्रभुव, प्रियतन धाम सुहाति॥
प्रीति प्रबल की सुदृता, पावै स्वसुख विहाय।
सम्मुख पाइ निहार नित, यत्त प्रीति दरसाय॥
—रा० र० र०, पृ० २८

२–रामवेन्द्ररहस्यरत्नाकर, पृ० १२–१४

१. विषयालम्बन

रसिक साधना में विषयतत्त्व श्रीसीताराम हैं। उनकी सम्मिलित एवं पृथक् रूप में की गई बाल-पौगंड और कैशोर लीलाओं से रस की अभिव्यक्ति होती है। शृङ्गारी सन्तों के अनुसार राम उत्तमप्रकृति नायक हैं और सीता दक्षिणा नायिका। सीता के अतिरिक्त अष्ट पटरानियाँ,[1] तथा असंख्य, देव, मुनि, गन्धर्व और राजकन्यायें उनकी विवाहिता पत्नियाँ हैं।[2] इन्हें सामान्य विहारलीला में भाग लेने का अधिकार है। नित्य रास केवल सीता जी तथा उनकी अन्तरङ्ग १८१०८ सखियों के साथ होता है।[3] इस प्रकार असंख्य रमणियाँ उनकी स्वकीया हैं। रसिकों ने, लीला के समय राम के प्रति उनके मनोभावों की स्थिति को लक्ष्य करते हुए, उन्हें ९ वर्गों में विभाजित किया है—[4]

प्रोषितभर्तृका, खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जिका, स्वाधीनभर्तृका, अभिसारिका और मानवती।

परकीया तथा सामान्या नायिकाओं को रामभक्ति की इस रसात्मिका शाखा में स्थान नहीं दिया गया है।

२. आश्रयालम्बन

श्रीसीताराम की इस दिव्यलीला के रसभोक्ता अथवा आश्रयालंबन पंचभावोपासक भक्त मात्र हैं। वे सखी,[5] सखा, दास, स्नेही, तथा ध्याता रूप में उसका आस्वादन करते हैं। यह आस्वादन सेवानंद के रूप में होता है, साधक जिसका अनुभव लीलाद्रष्टा अथवा परिकर रूप में करता है। संभोगानन्द का अधिकार केवल सीता जी को है, सखियों को कदापि नहीं। सखियों तथा किंकरियों के अनेक भेदों तथा उनकी सेवाओं का विवरण पहले आ चुका है।

भावना की अपनी विशेषताओं के साथ अन्य चार रसों में भी आश्रय और विषय का निर्णय उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार ही होता है।

१–नृ० रा० मि०, पृ० ४२ ३–इ० सं०, पृ० १०
२–सि० त० दी०, पृ० ३१ ४–इ० सं० पृ० १०
५–आश्रयालंबन सखी बहु भाँति हैं।
सब स्वकीया जुगलसुख मद माति हैं॥
—रा० र० र०, पत्र २१

३. स्थायी भाव

सामान्य रूप से भक्ति के पाँचों रसों में स्थायीभाव श्री चरणों में अनन्य प्रीति का होना है, उसके अभाव में उपासना हो ही नहीं सकती। किंतु उसके साथ ही उनकी भावपद्धतियों की विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने प्रत्येक रस क स्थायीभाव इस प्रकार निश्चित किये हैं।[1]

रस	स्थायीभाव
शृङ्गार	रति
सख्य	विश्वास
वात्सल्य	परमप्रीति अथवा स्नेह
दास्य	सेवा
शांत	स्वेच्छा

कामदेन्द्रमणि जी ने इसके विकास की तीन अवस्थायें बताई हैं, जिनकी व्याख्या नीचे की जाती है—[2]

(१) सामान्या—वह स्थिति है जिसमें साधक, पाँचों रसों में समान भाव से श्रद्धा रखते हैं।

(२) स्वेच्छात्मिका—वह स्थिति है जिसमें साधक का मन किसी एक भाव में स्थिर नहीं रहता। एक को छोड़कर दूसरे रस में उसकी आसक्ति निरंतर सचरण करती रहती है।

(३) रसरूपात्मिका—वह दशा है जब उसकी निष्ठा क्रमशः पुष्ट होकर एक रस में अडिग हो जाती है और उसी की साधना कर वह लीलारस का आस्वादन करता है।

४. उद्दीपन विभाव

जिन वस्तुओं, प्रसाधनों अथवा विषयगत चेष्टाओं से भावोद्रेक होता है उन्हें उद्दीपन कहते हैं। रसिक सन्तों ने प्रत्येक रस के उद्दीपक तत्वों का पृथक् निर्देश किया है। उनकी चर्चा यथास्थान होगी। यहाँ रसपरिवार में सहायक, युगलसरकार के शृंगार, आभूषण और गुणों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. षोडश शृंगार

मज्जन, वस्त्र, हार, तिलक, अंजन, कुंडल, नासिका की मोती, कबरी,

१—रावेन्द्र रहस्य रत्नाकर, पृ० १३ २—वही, पृ० १३

नूपुर, जावक, कुचमणि, क्षुद्रघटिका, ताम्बूल, कंकण, अंगराग चंदन-केशर-अगर कस्तूरी का लेप, आदि ।[१]

२. द्वादश आभूषण[२]

चूरी, करमुद्रिका, बाजूबंद, ग्रीवाभूषण, कटिकिंकिणी, बिछुवा, ताटंक, कंचनमणि, शीशफूल, वेणी (मोतियों से गुँथी), बेसरि और कौंछी

३. आत्मगुण[३]

शील, माधुर्य, सौन्दर्य, दया, क्षमा, पतिव्रत, लज्जा, शांति, विनय, दृढ़ता, गुरुसेवा, सन्तोष आदि गुण अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार प्रकट होते रहते हैं और साधक की रससाधना सिद्धि में सहायक होते हैं ।

(५) अनुभाव

आश्रय की वे चेष्टायें जिनके द्वारा अनुभूत भाव की अभिव्यक्ति हो, अनुभाव कहलाती हैं । रामरसिकों ने परंपरागत नृत्य, रुदन, गान, श्वास-वृद्धि, उदासीनता, अट्टहास, हिचकी आदि अनुभावों की गिनती गिनाने में ही अपने कवि-कर्म की इतिश्री नहीं समझी है, प्रत्येक रस की अभिव्यंजना में विशेष रूप से कौन-कौन से अनुभाव सहायक होते हैं, इस पर इनका ध्यान बराबर रहा है । अतएव रसनिरूपण के प्रसंग में, इन्होंने बड़ी ही मनोवैज्ञानिक रीति से उनकी विवेचना की है । सखी, सखा, दास आदि की साधना पद्धति में भेद होने के कारण उनकी चेष्टाओं में कौन-कौन सी और किस प्रकार की विशेषतायें आ जाती हैं, इसका चित्रण बड़ी कुशलता से किया गया है । रस के विभिन्न अङ्गों के दिये हुए विवरण चित्र से यह स्पष्ट हो जायगा ।

(६) सात्विक भाव

रसिकसंतों ने सात्विकों की संख्या और व्याख्या में कोई नई बात नहीं कही है । परंपरा से चले आते हुए अष्टसात्विकों का ही उल्लेख, उनकी रस सम्बन्धी कृतियों में पाया जाता है ।

१–रामचरितमानस की टीका (रामचरणदास), पृ० ११०

२– वही, पृ० ११०

३– वही, पृ० ११०

(७) संचारी भाव

रसिक साहित्य में परम्परागत ३३ संचारी अथवा व्यभिचारी भाव स्वीकार कर लिए गए हैं[1] और विविध रसों में न्यूनाधिक मात्रा में उनकी व्याप्ति दिखाई गई है।

पंच भक्तिरसों में ईश्वर-जीव (विषय-आश्रय) सम्बन्ध का स्वरूप[2]

भक्तिरस	ईश्वर (विषय-उपास्य)	जीव (आश्रय-उपासक)
१–शृंगार	कान्त, पति, प्राणनाथ, भर्ता, रति केश्वर, शोभाधाम, प्रेममूर्ति, बहनोई (बहन का पति), नायक, सौंदर्यनिधि, किशोर, प्रियतम।	कान्ता, पत्नी (स्वकीया), अनन्या पतिव्रता, साली, नायिका, पातकी, रसीली, अली, सहेली, सहचरी, कला, कली, सुन्दरी, कमलनयनी, मंजरी, मुग्धा, वक्षधिनी,
	नित्य किशोर, रसिया, शोभाधाम ननदोई (पति की बहन का पति) उत्तम नायक	सरहज, प्रौढ़ासखी, रसरा
		दासी, किंकरी
२–सख्य	सखा, चचेराभाई, बहनोई	सखा (मधुर, नर्म, प्रिय और सुहृद) साला, पितृव्य पुत्र, सहपाठी, गुरुपुत्र, मंत्रि-पुत्र, रघुवंशी, निमिवंशी, वनवासी, राक्षसवंशी सेवक,
३–दास्य	स्वामी, सेव्य, पूज्य, प्रभु	अर्चक, किंकर
४–वात्सल्य	पुत्र, शिष्य, दामाद, भ्रातृपुत्र, राजपुत्र	पिता, गुरु, ससुर, चचा, मंत्री, स्नेही
५–शांत	शेषी, अंशी, अंतर्यामी, ज्ञेय, ध्येय, निधि, शरण्य	शेष, अंश, ज्ञाता, ध्याता, शरणागत.

१–भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० १८

२–भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० २२–२६ के आधार पर

(१) शृंगार रस (सखीभाव)[1]

स्थायीभाव	विषयालम्बन विभाव	आश्रयालम्बन विभाव	उद्दीपन विभाव	अनुभाव	सात्विक भाव	व्यभिचारी भाव
प्रियतम के चरणों में प्रेम, उनकी मनोहर छवि का निरंतर ध्यान	कनकभवन के मध्यकुंज में रत्न-सिंहासन पर श्री सीताजी सहित विराजमान, सखियों द्वारा सेवित, रसिकराज, माधुर्य सिंधु, किशोरमूर्ति, श्री रामचन्द्र जी दक्षिण नायक और सीताजी दक्षिणा नायिका	सौंदर्यनिधि, रसकेलिविधिज्ञा सीताजी की (क) सखियाँ १. प्रथमसखी, २. नित्यसखी ३. प्राणसखी, ४. परमप्रेष्ठा सखी ५. प्रियसखी तथा (ख) किंकरियाँ १. सहचरी २. ललना ३. मंजरी ४. किंकरी।	षड्ऋतु, विशेष रूप से वसत-ऋतु, कोकिल की कूक, त्रिविध पवन, सरयूतट, घन, दामिनि वाटिका इत्यादि	नृत्य, गीत कटाक्ष भ्रूविक्षेप, स्मित आदि	अष्टसात्विक भाव रोमाच स्तंभ, स्वेद विवर्ण, कंप स्वरभग प्रलय, अश्रु	आलस्य और उग्रता को छोड़कर शेष ३१ व्यभिचारी भाव

1–भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० १७१ । राघवेन्द्ररहस्य रत्नाकर (कामदेन्द्रमणि), पत्र २६, २७

२. सख्य-रस (सखाभाव)[1]

स्थायी भाव	विषयालम्बन विभाव	आश्रयालम्बन विभाव	उद्दीपन विभाव	अनुभाव	सात्विक भाव	व्यभिचारी भाव
सख्य-रति प्रभु में दृढ़ विश्वास मित्र भाव या अदीक्ष आवेश	मित्र, सुन्दर, उदार, चतुर, वीर शिरोमणि, सत्य-संकल्प, शोभा-सिंधु, नेहनिपुण, राजमाधुर्यपूर्ण वेष में श्री सीताजी के साथ सिंहासन पर सुशोभित और भ्राताओं तथा सखाओं द्वारा सेवित चक्रवर्ती राजकुमार श्री रामचन्द्र	सुन्दर सुशील, विविध सेवानिष्ठ, सखा क. सुहृद (अग्रज) १. योद्धा २. मंत्री ३. स्वज्ञाति ४. स्नेही ख—प्रिय (समवयस्क) ग—नर्म (किंचित् न्यूनवयस्क) १—नर्म प्रिय २—नर्मपीठमर्द ३—नर्म विट् ४—नर्म चेटक ५—नर्म विदूषक घ—मधुर सखा (अत्यन्त न्यून वयस्क)	पौगण्ड, किशोरवय, अश्व, रथ, अनेक भाँति के खिलौने, अस्त्र-शस्त्र, आभूषण, षट्ऋतु, अष्ट-कुंजकेलि, विहार, सरयूतटक्रीडा, संगीत, नाना रंग के घोड़े फिराना, जलकेलि नव-वन-विहार, शिकार, कुश्ती, युद्धयात्रा हास्य-विनोद आदि	सह क्रीडा, भोजन आखेट, विचित्रहास, हिलना-मिलना गलबाहीं डालकर घूमना मधुर मधुर बातें करना, रंग राग में भरे गानतान में मस्त रहना	अष्ट सात्विक भाव	तैंतीस स्थायी भाव

१—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० १७
श्री शीलमणि कृत सख्यरस सम्बन्ध पत्र, राघवेन्द्र रहस्य रत्नाकर [कामदेन्द्र भक्ति], पत्र २०—२२

३. वात्सल्यरस[1] (वात्सल्य–भाव)

स्थायी भाव	विषयालंबन विभाव	आश्रयालंबन विभाव	उद्दीपन विभाव	अनुभाव	सात्विक भाव	व्यभिचारी भाव
श्री रामलला तथा श्री जनकलली की बालकेलि में निश्चल रति	चक्रवर्ती महाराज दशरथ के पुत्र कौशल्यानंद वर्द्धक श्री रामललाजी तथा महाराज जनक की पुत्री, सुनयना जी की सुकृत वेलि श्री सीता (जनकलली) जी	युगल विग्रह के ईश्वरत्व का ज्ञान रखते हुये भी उनमें अपत्य स्नेह करने वाले महाराज जनक और मुनिगण एवं सलोम वात्सल्य निष्ठा के भक्त तथा उनकी बालकेलि में अहर्निश रसमग्न, महाराज दशरथ, मातायें एवं विलोम वात्सल्यनिष्ठा के अन्य भक्त	मीठेतोतरे बोल, किलकारी, भोलापन, सरलता, काजलरेखा, पैजनियाँ, बुलाक	खिलाना, लाड़लड़ाना, दुलारना, खिलौना देना, जन्मोत्सव मनाना	अष्ट सात्विक भाव	अङ्गताप, कृशता, जागरण, शून्यता, उन्माद, आधृति, प्रहर्ष, आदि

१–भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० १९ । राघवेन्द्र रहस्य रत्नाकर (कामदेन्द्र-मणि), पत्र १८ । वात्सल्य रस का सम्बन्ध (कामदमणि) ।

४. दास्य-रस¹ (स्वामिसेवक भाव)

स्थायी भाव	विषयालंबन विभाव	आश्रयालंबन विभाव	उद्दीपन विभाव	अनुभाव	सात्विक भाव	व्यभिचारी भाव
संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के एकमात्र कारण, श्री सीताराम के चरणों में अविरल मति, उनका तैलधारावत् स्मरण	भक्तवत्सल, दीनदयालु, सेवक-सुखद राजमाधुर्यपूर्ण, अपनी परा शक्ति श्री सीताजी सहित रत्न सिंहासन पर ज्ञानमुद्रासहित वीरासन से विराजमान, हनुमान, सुग्रीव लक्ष्मणादि पार्षदों से सेवित, ब्रह्मा विष्णु-महेशवंदित चक्रवर्ती महाराज श्री रामचन्द्रजी	चार वर्ग के दास्यनिष्ठ के भक्त (१) अधिकृत क–अंतरंग धृष्ट, जयंत सुमंतादि-मन्त्रीगण ख–बहिरंग–इन्द्र, चन्द्र, यम कुबेरादि (२) आश्रित क–सेवानिष्ठ अंगदादि ख–शरण्यआर्त-सुग्रीव विभीषणादि ग–ज्ञानचर ज्ञानी और जिज्ञासु (३) पार्षद हनुमान, लक्ष्मण आदि (४) अनुग पीर, वीर, प्रजा और सेनाध्यक्ष	राजमाधुर्य शरण सुख दता, सेवक प्रियता, शील, शक्ति और सौन्दर्य	आज्ञा-पालन, पच सत्कार, भजन सत्संग	अष्ट सात्विक भाव	प्रहर्ष, स्तंभ, दीनता, ग्लानि, निर्वेद, विषाद, अनुताप शंका, चिंता मति, धृति दुर्बलता, विवर्णता, मूर्च्छा, उन्माद, आदि

१–भक्तमाल सटीक (रूपकला) पृ० २० । रा० र० र० (कामदेन्द्र मणि), पत्र १५-१७

५. शांतरस[1]

स्थायी भाव	विषयालम्बन विभाव	आश्रयालम्बन विभाव	उद्दीपन विभाव	अनुभाव	सात्विक भाव	व्यभिचारी भाव
प्रशांत निर्द्वन्द्व तन्मय एवं निस्पृह मन से प्रभु का स्मरण चिंतन	विश्वनियंता, सच्चिदानंद स्वरूप गुणराशि, निर्गुण ब्रह्म, भक्तों के कल्याणार्थ अपनी आह्लादिनी शक्ति श्री सीता जी सहित भक्तों के कल्याणार्थ अनेक अवतार धारण करनेवाले, विश्वव्यापक, परात्पर-ब्रह्म, श्रीरामचन्द्र जी	विषयी और मुमुक्षु भक्त	पर्वत, वन, तीर्थ, नदी पर्यटन उपनिषद्-कथा, सत्संग, सूर्य, चन्द्र, दीपज्योति	नासाग्र पर दृष्टि, अवधूत-चेष्टा, परम वैराग्य, निर्वेद, निर्ममता	अष्ट सात्विक भाव	स्मृति, निर्वेद, आवेग, धृति, औत्सुक्य, विषाद, वितर्क, आदि

1–भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० २१ रा० र० र०, (कामदेन्द्रमणि) पद्य १५

(४) पंचरसों में पारस्परिक सम्बन्ध।

(१) रसमैत्री—शृंगार का सख्य मित्र, दास्य का शान्त मित्र।[1]

(२) रसविरोध—शृंगार के शान्त, वात्सल्य और दास्य शत्रु। वात्सल्य के शृंगार और दास्य शत्रु।[2]

(३) रसों की तटस्थता—शान्त और वात्सल्य—सख्य से तटस्थ, शान्त से सख्य और वात्सल्य तटस्थ।[3]

(६) रसाभास[4]

(१) शृंगार का रसाभास—व्यभिचारी वृत्ति, अनन्यता का त्याग, एक की रमणेच्छा हो दूसरे की नहीं तथा सम्भोग प्रार्थना, से होता है।

(२) सख्य का रसाभास—उस परिस्थिति में होता है जब दोनों में एक सख्य और दूसरा दास्यरस का भाव रखता हो।

(३) दास्य का रसाभास—प्रभु के समक्ष धृष्टता करने से होता है।

(४) वात्सल्य का रसाभास—पुत्र आदि स्नेहपात्रों को अधिक आयु का मानकर उनसे वात्सल्योचित व्यवहार न करने से होता है।

(५) शान्त रस का रसाभास—श्रीरामचन्द्र जी की अपार शक्ति में अविश्वास अथवा समता बुद्धि के विनाश से होता है।

पंचभावोपासकों के अंतर्मंडल में प्रवेश का क्रम और उनकी स्थिति

स्वरूपदृष्टि से भक्ति के पाँचों रस पूर्ण हैं। उनमें से प्रत्येक का आलंबन लेकर साधना करने वाले अनंत काल तक साकेत धाम में लीला सुख प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु अंतर्मंडल में उनके प्रवेश क्रम के विषय में रसिकों में मतभेद है। शृङ्गारी संतों की दृढ़ धारणा है कि 'महल' अथवा दिव्य कनक भवन में सखियों का ही एकाधिकार रहता है। उसके अन्तर्तम प्रदेश में, जहाँ दंपति का शयनकक्ष है, सखा और दास फटकने तक नहीं पाते।[5] इन भावों के भक्त विहारलीला के दर्शन की इच्छा होने पर सखी रूप में ही उसमें प्रवेश

१–सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० ४८ (१४३)

२–सि० मु०, पृ० ४९

३–वही, पृ० ४४

४–हनुमत्संहिता, पत्र ३२-३३

५–महलन महँ अधिकार सुपद्मा। आदिन कर समुझो यहि देशा।
जय प्रभु सैनागार सिधावत। सखा दास तहँ जान न पावत॥
—वृ० उ० र०, पृ० ११२

करते हैं।[1] पुरुष भावना वालों की उसमें किसी भी स्थिति में पैठ नहीं हो सकती।[2] उनका यह भी कहना है कि जिस सेवासुख की प्राप्ति के लिये उपासना की जाती है, उसकी भी पूर्णरूपेण उपलब्धि सखीभाव से ही होती है। पुरुष केवल श्री रामचन्द्र जी का कैंकर्य कर सकते हैं। सीता जी की परिचर्या करने का अधिकार उन्हें नहीं है। अतएव उनका सेवानंद अधूरा ही रह जाता है।[3] इसके विपरीत सखियाँ 'युगल-सरकार' के सेवासुख का आस्वादन कर सकती हैं। सखा और दास, पुरुषत्व के कारण, उससे वंचित रहते हैं।

सुहृदसखा कामदेन्द्रमणि, इससे पूर्णरूप में सहमत नहीं हैं। अन्तर्तम कक्ष में वे सखियों की स्थिति मानते हैं, किन्तु प्रिय नर्मसखाओं की भी वहाँ तक पहुँच होने के वे समर्थक हैं। उसके बाद के आवरणों में वे सखियों के समकक्ष सखाओं के विविध वर्गों की स्थिति बतलाते हैं। दास्यभावना के भक्त इन सबके बाद में पाँचवे आवरण में कैंकर्यरत दिखाये गये हैं—

प्रथम आवरन मंजरी, ललना सखि सहचारि।
दुसरे तिसरे किंकरी, सेवहिं समय निहारि॥
तेहि विधि लसैं सखा सरदारा। बसहिं नर्म प्रिय प्रथम प्रकारा॥
दुसरे में प्रिय सखा सुहावैं। तृतियावर्न सखा सब भावैं॥
चौथे सुहृद पाँचवें दासा। धरि धनुसर निरखहिं दस आसा॥[4]

१–पुंसामगोचरस्थानं केवलं प्रेमदायकम्।
नारीभावसमायुक्तास्तेषां दृश्यं भवेद्ध्रुवम्॥
—हु० सं० पत्र ७

२–पुरुष भाव जिन्ह मन में धारा, तिन्ह कहँ दुर्लभ जुगल विहारा।
कोटिन जन्म करैं जप तप किन, लहहिं न यह सुख नारि भाव बिन॥
रासकेलि दंपति पियप्यारी, करत लखत केवल शृंगारी।
सपरस धरि धरि नारि सरूपा, निरखहिं रास विहार अनूपा॥
—वृ० उ० र, पृ० ११६

३–जब लगि यह आतम प्रभु प्यारी। पुरुष भावना उर महँ धारी।
तब लगि दंपति अँग सेवकाई। लहहिं न कोटिन करैं उपाई॥
पुरुषभाव सह सिय अँग सेवा। मिलै न जीवनि सब सुखदेवा।
युगल उपासक जो सज्ञाना। सेवहिं दोउ दोउ अंग समाना॥
युगल रूप सेवा अधिकारा। पावहि जिन्ह तिय भाव सुधारा।
—वृ० उ० र०, पृ० ११६-११८

४–राघवेन्द्र र० र०, पृ० २०

इससे यह स्पष्ट है कि सखियाँ प्रथम से तीसरे आवरण तक, सखा चौथे आवरण तक और दास पाँचवें आवरण में स्थित रहते हैं। कामदेन्द्र जी ने ही अन्यत्र शांत और वात्सल्य भाव के उपासकों की स्थिति की चर्चा करते हुए उन्हें महल के बाहर नगरस्थ प्रासादों का निवासी बताया है। राम, कनक-भवन के गोपुर के बहिर्देश में महाराज दशरथ, गुरु वशिष्ठादि स्नेहियों की पूजा, करते दिखाये गये हैं।

गोपुर बहिर्देश सब आये। पुर श्री अवध पूजि सुख पाये।
अवध राज गोपुर पुर पूजे। मानि धन्य हम सम नहिं दूजे॥
पुनि श्री विश्वामित्र पूज्य विभु। श्रीवशिष्ठ श्रीरंगदेव प्रभु॥[1]

शांत रस के उपासक साकेत के नागरिक माने गये हैं—

पंचम वहिर शांत जेहि नामा। सो जनपद यहु व्यक्ति ललामा।
गौण मुख्यरस के अधिकारी। क्रमते पंचभाव रतिकारी॥
यद्यपि प्रजा शांत रस दायक। तदपि कछु माधुर्य सुभायक॥[2]

इन विवरणों के आधार पर साकेतधाम में कनकभवन के शयनकक्ष से लेकर सिंहद्वार और नगर तक पंचभावोपासकों की दिव्यपरिकर रूप में स्थिति का क्रम इस प्रकार ठहरता है—

१—सखी २—सखा ३—दास ४—स्नेही ५—प्रजा

तटस्थ दृष्टि से भी परिकरों के धामप्रवेश में यही तारतम्य दिखाई देता है। उपासना का साध्यतत्त्व युगलविहारलीला अथवा रासदर्शन होने से, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि, अंतर्तम प्रदेश में सखियों का ही प्रवेश विहित हो सकता है। पुरुषभावना से वहाँ प्रवेश करने पर व्यभिचारी वृत्ति सजग हो जायगी और यह भावकार्य साधना को नष्ट कर देगा। इसी लिये प्रथम पक्ष में सखियों का रहना समीचीन प्रतीत होता है। रसिकों ने सखियों में भी केवल अष्टवर्षीय मंजरियों को उस रहस्यलीलाकक्ष की सेविकायें माना है। इसका कारण कदाचित् यह है कि इस अल्पावस्था में यौवनप्रवृत्तियाँ जाग्रत नहीं होतीं, अतएव रास के समय कैंकर्य में उनकी भावना में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता। सखाओं ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए सब से छोटी आयु के (मंजरियों के प्रायः समवयस्क) प्रियनर्म-सखाओं को प्रथम पक्ष की सेवा का अधिकारी बताया है। उसके बाद के आवरणों में क्रमशः वयस्क सखियों और सखाओं को स्थान दिया गया है। दास, किंकर होने से महल के बाहर तो नहीं किये गये हैं, किन्तु अन्तिम द्वार पर उनकी

१—माधुर्यकेलिकादंबिनी, पृ० ८२ २—वही, पृ० ५१

नियुक्ति यही सिद्ध करती है कि माधुर्यसाधना में समीपवर्ती परिकरों में उनका स्थान सबसे निम्नकोटि का है। वात्सल्य और शांतभाव के साधकों की गिनती परिकरों में नहीं की जाती। इसलिये वे 'महल' के बाहर दिखाये गये हैं। इन दोनों में भी सम्बन्धभावना की दृष्टि से वात्सल्यनिष्ठ साधक युगलसरकार के अधिक समीप आते हैं। अत: उनकी स्थिति कनकभवन के निकटस्थ प्रासादों में निश्चित की गई है। उपास्य के दर्शन तथा स्मरण से संतुष्ट हो जाने वाले शांत रस के भक्तों को सबसे दूर नगरस्थ प्रजा की श्रेणी में रखा गया है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक भक्तिरस को अपने क्षेत्र में पूर्णता स्वीकार करते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि, स्वरूपानन्द की प्राप्ति के लिये उनका महाभाव में परिणत होना अनिवार्य है। व्यष्टिदृष्टि से उस की सिद्धि के लिये यह आवश्यक है, कि वे पूर्वोक्त क्रम का भेदन करें।

साकेत-लीला-प्रवेश

भारतीय अध्यात्म-साधना में, परात्पर ब्रह्म नित्यलीलानुरक्त माना गया है[1] और उसके दिव्यलोक की कल्पना लीलाभूमि के रूप में की गई है।[2] लीला राज्य, योगियों अथवा तन्मय साधकों द्वारा ब्रह्म विहार के हेतु चिदाकाश में की गई, सकल्पात्मक सृष्टि है। चिन्मयी रचना होने से, वह नित्य एवं ज्योतिर्मय होती है। उसके केन्द्र में स्थित महाप्रकाशपूर्ण बिन्दु से सत्त्व मय ज्योति की असख्य किरणें निकलती रहती हैं। ज्ञानी, इसे अक्षरब्रह्म और भक्त, नित्यलीलानुरक्त साकार ब्रह्म का प्रकाश मानते हैं। अखण्डज्योति की इस रजोगुणमयी प्रसरणक्रिया को तमोगुणस्वरूप प्राकारों से अवरुद्ध कर योगी लोकरचना करते हैं। उसके भीतर ब्रह्म की विहारभूमि तथा उसके परिकरों के निवासस्थलों की व्यवस्था की जाती है। वहाँ की समस्त विभूतियाँ

१–एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृदयान्तरात्मा

—'पिप्पलाद शाखा'

२–दिव्यलोक की कल्पना के सूत्र वैदिकसाहित्य में भी मिलते हैं।

"तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः"

—ऋग्वेद, १।२२।२०

"त्रिपादस्यामृतं दिवि"।

वही, १०।९०।३
यजुर्वेद, ३१।३, अथर्व०, १९।६।३
तैत्तरीय आरण्यक, ३।१२।१

भवन, कुंज, वन, उपवन, सर सरितायें, पर्वत, पशु पक्षी तथा पञ्चभूतादि, तेज के ही विभिन्न रूप होते हैं। इसीलिये इस दिव्य देश को धाम (प्रकाश) की संज्ञा दी गई है। विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने धाम के अधिष्ठातृदेव को नारायण, विष्णु, राम, कृष्णादि नामों से अभिहित किया है और उनकी पुरियों को वैकुंठ, गोलोक अथवा साकेत की संज्ञा दी है। रामभक्त साकेतलोक को अपने आराध्य की नित्य लीलाभूमि और उसमें प्रवेश अपनी साधना का लक्ष्य मानते हैं।

लीलाधाम के दो रूप (साकेत और अयोध्या)

रसिक भक्तों के अनुसार श्रीसीताराम अवतारी की तथा अवतार लीला के दो स्थान हैं—एक दिव्य लोक में साकेत और दूसरा भूलोक में अयोध्या। साकेत को परा अयोध्या भी कहते हैं। प्रथम उनकी भोगस्थली और दूसरी लीला स्थली है।[2] भगवान् की अवतारीलीला का स्वरूप नित्य माधुर्यमय है, अतएव साकेत उनकी नित्यक्रीड़ास्थली है।[3] अवतारलीला से सम्बद्ध होने के कारण द्वितीय लीलाभूमि अयोध्या का आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है।[4] ऐश्वर्य की दृष्टि से दोनों समान हैं।[5] युगलसरकार की मानवी लीला में मर्यादा की प्रधानता होने से अयोध्या को धर्मस्थान माना जाता है।[6] संक्षेप में साकेत परब्रह्म राम की माधुर्य और अयोध्या ऐश्वर्यलीला की भूमि है।

साकेत का साधनात्मक महत्त्व

अयोध्या अथवा साकेत का प्राचीनतम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। वहाँ उसका वर्णन, दिव्य प्रकाश से वलित देवताओं की पुरी अथवा स्वर्ग के रूप में किया गया है और उसे अष्टचक्रों तथा नवद्वारों से युक्त बताया गया है—

१–तत्र मध्यमपादप्रदेशोऽमिततेजः प्रवाहकतया नित्यवैकुंठो विभाति।
—त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषद् अ० ३

२–उ० प्र० सि०, पृ० ९१ ४–उ० प्र० सि०, पृ० ९१

३–रा० भ० सा० स०, पृ० ४२ ५–वृ० प्र० स०, पृ० ८०

६–एवं पुण्यतरा पुर्यं ह्येताण्यायतनानि च।
सर्वकान्तिकभक्तानां सत्त्वप्रापकाणि हि।
धर्मस्थानमयोध्याख्यं स्थानं श्रुतिरिदं स्मृतम्।
—वृ० प्र० स०, पृ० ८०

अष्टचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या ।
तस्या हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥[1]

वाल्मीकिरामायण में उसे अष्टपाद पुरी कहा गया है।[2] यह 'अष्टचक्रा' का ही दूसरा रूप है।

वशिष्ठसंहिता में उसकी स्थिति और महत्त्व पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डाला गया है। साकेत से उसकी अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए, उसे त्रिपाद्विभूति से ऊपर और गोलोक के मध्य में स्थित, कहा गया है—

वरेण्या सर्वलोकाना हिरण्मयचिन्मया जया।
अयोध्या नन्दिनी सत्या राजिता अपराजिता॥
कल्याणी राजधानी या त्रिपादस्य निराश्रया।
गोलोकहृदयस्था च सत्या सा साकेतपुरी॥[3]

इसी के आधार पर परवर्ती रामभक्ति-साहित्य में वह सीताराम की विहार स्थली मानी गई है।[4]

अथर्ववेद के पूर्वोक्त छंद में अयोध्या की स्थिति और बनावट का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसके अंतर्गत उस पुरी के साधनात्मक महत्त्व के सूत्र विद्यमान हैं। 'अष्टचक्रा' और 'नवद्वारा' की व्याख्या पारमार्थिक एवं भौतिक दोनों अर्थों में की जा सकती है, किंतु भक्तों ने उसके दूसरे रूप को ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। अयोध्या को मानव शरीर का प्रतीक मानकर उसके अंतर्गत मूलाधार से लेकर त्रिकोणबिन्दु अथवा शिवशक्ति के केन्द्र तक आठ चक्रों की स्थिति बताई जाती है। मध्य में ब्रह्मपुर चक्र है।[5] यही ब्रह्म का निवासस्थल है।

अयोध्या के मध्य में स्थित, कनकभवन का ही वह प्रतीक है। ब्रह्म अथवा पुरुष का यही नित्य वासस्थान है। यास्क ने पुरुष का अर्थ 'पुर में शयन करने वाला' किया है।[6] रामभक्त रसिकों ने इसी सिद्धान्त को आधार मान कर, साकेत के मध्य में स्थित कनकभवन के केन्द्र में, शयनकक्ष की कल्पना की है और उसमें परम पुरुष राम की अपनी 'मूलप्रकृति' सीता के साथ शयनलीला की झाँकी प्राप्त करना ही साधना का उद्देश्य माना है। यह

१—अथर्ववेद, १०।२।३१ ३—अयोध्यादर्शन (में उद्धृत), पृ० १
२—वा० रा० १।५।१६ ४—वही, पृ० १
५—दि हिन्दू टेंपुल, भाग १, पृ० ४७ ६—निरुक्त, १।१३

नयनवध कनकभवन के अष्टकक्षों अथवा कुंजों में से एक है, जहाँ अहर्निश लीलापुरुष की विभिन्न क्रीडायें चलती रहती हैं।

साधक पहले आचार्य के आदेशानुसार विभिन्न प्रकार की साधनापद्धतियों का अवलम्बन लेकर अपने शरीर के भीतर हृदयकमल में आराध्ययुगल का दर्शन करता है। साधना पूरी हो जाने पर अपने दिव्य परिकर रूप का साक्षात्कार कर लेने पर वह उसी रूप से साकेत की लीला भूमि में प्रवेश करता है। ये परिकर मूलप्रकृति और पुरुष के ही अंश होते हैं।

साराश यह कि दिव्य साकेत का दर्शन, सर्वप्रथम पिंड में कर लेने के बाद ही साधक उसके पारमार्थिक रूप के साक्षात्कार का अधिकारी होता है। अतएव साधना की दृष्टि से भी उसका महत्त्व कुछ कम नहीं है।

साकेत-परिचय

साकेतलोक जीवब्रह्ममय प्रकृतिमंडल से परे है।[1] विरजसीमा के प्रथम भाग में महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक, कुमारलोक, उमालोक और शिवलोक हैं। इन लोकरचनाओं के ऊपर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और महत्तत्त्व के सप्त आवरण हैं।[2] इनके ऊपर कार्यकारण का अभिमान रखनेवाले जीवों का परम वैष्णवलोक है, जिसमें सहस्रमूर्द्धा, सहस्र नेत्र और सहस्रपदवाले भगवान् विष्णु का निवास है।[3] उनके निमेष मात्र से सर्वलोक लयीभूत होकर व्यवस्थित होते हैं। उन महाविष्णु से लोक के कार्य निर्वाहक ब्रह्मा, विष्णु और महेश उत्पन्न होते हैं।[4] इसके ऊपर योगियों का दिव्यलोक है। वहाँ महाशम्भु सर्वशक्तियों सहित निवास करते हैं।[5] इसके ऊपर प्रकाशमय महावैकुंठसंज्ञक लोक है, जिसमें वासुदेवादि चतुर्व्यूह शक्तियों सहित विहार करते हैं।[6] इन सबके ऊपर प्रकृति से परे, मनवाणी से अगोचर, ज्योतिस्वरूप, सनातन गोलोक सुशोभित है।[7] इसी गोलोक के मध्य में साकेतधाम स्थित है।[8] साकेत के सात आवरण हैं जिनके अन्तर्गत समस्त मुख्यअवतारों की स्थिति है।[9] यह गोलोक का अंतःपुर है। परात्पर ब्रह्म श्रीरामचन्द्र, अपनी आह्लादिनी शक्ति सीता जी तथा अन्य परिकरों सहित, यहाँ निवास करते हैं।[10] उनके तेज से समस्त गोलोक आलोकित है।

१—रामनवरत्न सारसंग्रह, पृ० २९
२— वही, पृ० ३० (७)
३— वही, पृ० ३० (९)
४— वही, पृ० ३० (१०)
५— वही, पृ० ३१ (१२)
६—रामनवरत्नसार संग्रह, ३१ (१३)
७— वही, पृ० ३१ (१४)
८— वही, पृ० ३१ (१५)
९— वही, पृ० ३२ (१७)
१०—उ० प्र० सि०, पृ० १८९

कनकभवन की स्थिति

साकेत के अन्तर्गत मध्यभाग में कनकभवन नामक एक दिव्य प्रासाद है।[१] यह श्रीसीताराम का रंगमहल अथवा विहारभवन है।[२] इसके मध्य में सर्ववरदाता कल्पवृक्ष है, जिसके नीचे परम दिव्य मंडप है।[३] उसके मध्य में एक अत्यंत प्रकाशमान रत्नसिंहासन है, कोटि चन्द्रमा के समान प्रभापूर्ण वह सिंहासन, छत्र और चामर से मंडित है। उसके ऊपर मंडप में मोतियों की मालाओं के वितान तने हैं।[४] उसमें सहस्र दल का एक कमल है जो उन्नत कर्णिकाओं से युक्त है।[५] प्रत्येक कर्णिका में दो मुद्रायें हैं। पहली सूर्यमुद्रा है, दूसरी अग्नि और इन्द्रमंडल की मुद्रा है। इन मुद्राओं से वह पद्म वेष्टित है। उसके मध्य में सर्वकारण रूप बिन्दु शोभित है। उसके मध्य में, वामांग में सर्वशक्तियों से नमस्कृत जानकी जी को धारण किये, प्रेमविह्वल मुद्रा में श्रीरामचन्द्र विराजते हैं।[६] यह अन्तःपुर, पुरुष अगोचर है, सदा दासों से वर्जित है। यहाँ केवल महापुरुष श्रीरामचन्द्र ही निवास करते हैं। वे अनन्त सखियों से युक्त, सीता जी के साथ रासलीला में मग्न रहते हैं।[७] सखियों के वृन्द चिदात्मक, प्रकाशरूप एवं नयनानन्द दायक हैं। वे राम की नित्य उपासिकायें हैं। यहाँ के वृक्ष, लता, गुल्म आदि सभी नित्य सच्चिदानन्दमय हैं।[८]

साकेत के चार द्वारों पर स्थित चार विहारभूमियाँ

चारों दिशाओं में साकेत के चार द्वार हैं। रक्षा के लिये उन पर चार अंतरंग पार्षद नियुक्त हैं। पूर्व द्वार पर सुग्रीव, पश्चिम द्वार पर विभीषण, उत्तर द्वार पर अंगद और दक्षिण द्वार पर हनुमान का पहरा रहता है।[९] इन चारों द्वारों के निकट ही भगवान की चार लीलाभूमियाँ स्थित हैं। पूर्व में मिथिला, पश्चिम में वृन्दावन, उत्तर में महावैकुण्ठ और दक्षिण में चित्रकूट है। दक्षिण द्वार के पास ही सन्तानकवन नामक क्रीडास्थली है। साकेत की पश्चिमोत्तर दिशा में सरयू बहती है।[१०]

१—रा० म० सा० स०, पृ० ४० (६३)
२—उपासना त्रय सिद्धांत, पृ० ८६
३—रा० प० सा० स०, पृ० ३१ (१६)
४— वही, पृ० ३२ (१९)
५— वही, पृ० ३१ (१७)
६—राम नवरत्नसार संग्रह, पृ० ३३ (२४)
७—वही, पृ० ४०
८—उ० त्र० सि०, पृ० ८६
९—वही, पृ० १४२
१०—वही पृ० १४२

श्री राम कनक भवन

(पृ० २७६)
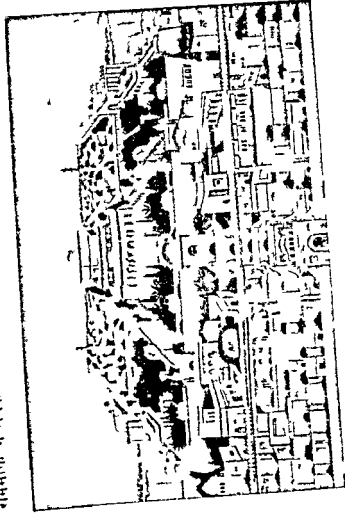
साकेत में पंचभावोपासकों के पूज्य स्थान

साकेतलोक में पंचभक्तिरसों के उपासकों की आराधना के स्थान नियत हैं। शृङ्गारी अथवा सखीभाव के कनकभवन, सख्यभाव के रंगभवन, दास्य भाव के रत्नसिंहासन और वात्सल्यभाव के भक्त जन्मभूमि की पूजा करते हैं। शांतभाव के उपासकों के लिए अयोध्यापुरी में सर्वत्र भगवान के ऐश्वर्यपूर्ण रूप का ध्यान करने का विधान है। उनके लिए कोई स्थान निश्चित नहीं है।[1]

लीला में भगवत्स्वरूप

श्रीरामचन्द्र के उभय लीलास्थलों—अयोध्या और साकेत की स्थिति के अनुसार लीला में भी उनके दो स्वरूप होते हैं।[2] प्रथम लीला का नायक उनका मर्यादापुरुषोत्तम रूप रहता है और द्वितीय का लीलापुरुषोत्तम रूप। एक से विश्वसंचालनोपयोगी ऐश्वर्य गुणों का प्रकाश होता है और दूसरे से साकेत की माधुर्यलीला का संचालन होता है। प्रथम ईश्वरत्व उनका बहिरंग रूप है, दूसरा लीलानायकत्व उनका अंतरंग आत्मस्वरूप अथवा 'स्वरूप' है।

अपनी इन दोनों लीलाओं में वे लोकसिद्ध रीतियों तथा व्यवहारों का अनुसरण करते हैं।[3] लीला अकेले नहीं होती। अतः अद्वैत होते हुए भी उनकी विहारलीला में द्वैत का विशिष्ट व्यवहार चलता है और यह द्वैत भाव उनकी ऐहिक और पारलौकिक दोनों लीलाओं में व्यवहृत होता है। अवतारलीला में उनके शरीर से सम्बद्ध जितने मनुष्य, पशु, जीवजन्तु तथा पदार्थ रहते हैं वे ज्यों के त्यों अवतारी अथवा साकेतलीला में उपस्थित होते हैं।[4]

लीला का उद्देश्य

भगवान की उपर्युक्त दोनों लीलाओं से दो पृथक् उद्देश्यों की सिद्धि होती है। उनकी पार्थिवलीला जीवों की शिक्षा[5] तथा उद्धार के

१—रामरसायन, पृ० ४६२
२—रामतत्त्वप्रकाश, पृ० १८६
३—स० सि० च०, पृ० ५५
४—रामवेन्द्ररहस्यरत्नाकर, पत्र ५
५—मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभो।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य॥
—भागवत, पंचमस्कंध १९।५

लिये[1] होती है और दिव्यलीला उन्हें स्वरूपानन्द अथवा नित्य कैंकर्यसुख प्रदान करने के लिये।[2] लीलापुरुष की प्रेरणा से सखियाँ, सतगुर रूप में अवतरित होकर, किस प्रकार विमुख जीवों को उपदेश देकर उनकी दिव्य सम्बन्धभावना को जाग्रत करती हैं और उन्हें प्रियतम की माधुर्यलीला में प्रवेश की स्वरूप योग्यता प्रदान करती हैं, इसकी चर्चा पहले हो चुकी है। इस प्रकार लीला का एक मात्र उद्देश्य मायाबद्ध बहिरंग जीव को अंतरंगभूमि में प्रवेश कराना है। किन्तु जीव उस आनन्द का ग्रहण भाक्तृभाव से नहीं कर सकता। क्योंकि उस दशा में स्वार्थ और अहं बुद्धि दोनों जाग्रत रहती हैं। इनके रहते सम्यक् प्रकारेण आत्मार्पण नहीं होता—तन्मयता नहीं आती। बिना आत्मविस्मृति के प्रभुप्राप्ति कहाँ! जब उपास्य का आनन्द ही जीव का अपना आनन्द बन जाता है, लीला का रस तभी मिलता है। वह तो तदर्पित चेतन के स्वानंद का ही आस्वादन है। "लीला तु स्वानन्दरसास्वादनम्"।

लीला में व्यक्तिगौरव

लीला के समष्टि रूप में विश्व की प्रत्येक वस्तु का स्थान नियत है। सब की अपनी उपयोगिता है। गुणागार से उद्भूत होने के कारण सब में उसके किसी न किसी गुण का एक ऐसा कण विद्यमान है, एक ऐसी विशिष्टता सन्निहित है, जो लीला में उसकी उपस्थिति अनिवार्य बना देती है। उसके बिना लीला पूरी ही नहीं हो सकती। अतएव जब तक संसार का एक एक अणु लीला में भाग लेने के योग्य नहीं बन जाता, तब तक 'काल' में पूर्णरास अथवा महारास का अवतार नहीं होता। अवतारलीला में, खंड रास ही चलता है। जिसके अधिकारी इने गिने नित्यमुक्त जीव होते हैं। किन्तु यह निश्चित है कि चित् के अंश होने के कारण

१–दोउ विभूति, भू अवधिकी, दिव्य रु लीला जान।
जीवन के उद्धार हित, लीला तन अनुमान॥
—अनन्य तरंगिणी, पृ० २

२–पाय वशिष्ठ सुनाम गुर, तिनके परिकर मध्य।
राम सखे आनन्द भयो, लख्यो स्वरूप अवध्य॥
षोडश वर्ष किशोर मृदु, तुरिया जिय घनस्याम।
पीताम्बर कटि पर धरे, तड़ित वरन अभिराम॥
लखि निजरूप जीव मद छाक्यो। पुनि साकेत केलिरस ताक्यो॥
—नृ रा मि, पृ० ४५

शनैः शनैः जीव मात्र पर उसकी कृपा होगी और उसे सन्निहित अवस्था में लीला-विहार का सेवासुख प्राप्त होगा।

लीला के विशिष्ट धर्म

लीला के मुख्य धर्म दो हैं—संकोच-प्रसार की स्वतंत्रता और देशकाल की व्यवधानहीनता। ये दोनों लीलापुरुष की इच्छा पर अवलम्बित हैं। विस्तार में लीला का प्रत्येक अंग अनन्त रूप धारण करता है और संकोच में वह सर्वकारणरूप बिन्दु में सीमित हो जाता है। सखियों-सखाओं के असंख्य यूथ, अनन्त लोकों की उसके अंतर्गतस्थिति, उसके आवरणों में समस्त अवतारों की पुरियों का अस्तित्व आदि तथ्य प्रसार में साकेत की अनन्तता के द्योतक हैं। इसी प्रकार शयन के समय नाद बिन्दु रूप युगल सरकार में उसका केन्द्रित हो जाना संकोच की पराकाष्ठा का परिचायक है।

दूसरी विशेषता है—देश काल के क्रम की बन्धनहीनता। प्राकृत सृष्टि में वस्तुओं की उपलब्धि कर्म से होती है और एक निश्चित समय के भीतर वे अपना स्वरूप खो देती हैं। इसमें काल का क्रम भी निश्चित है। यहाँ प्रत्येक क्षण परिवर्तनशील है। अष्ट प्रहर में आठ विभिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ, दिन रात, षड्ऋतु, जीव की दश अवस्थायें, तथा सृष्टि-प्रलय आदि, निरन्तर प्रवहमान कालचक्र के ही विभिन्न रूप हैं। इसके विपरीत लीलाराज्य की सृष्टि ही संकल्पात्मक और चिन्मय है। वहाँ किसी वस्तु की स्वरूपहानि नहीं होती, सभी नित्यावस्था में वर्तमान रहती हैं। परिकरों की नित्य वयस्, लीला में सर्ववस्तुओं की सर्वकाल उपस्थिति इसी गुण के प्रकाश में सम्भव होती है।

लीला-प्रवेश के अधिकारी

लीलाराज्य में प्रवेश का अधिकार भगवान के निरपेक्ष अनुग्रह से, आचार्य अथवा सद्गुरु की मध्यस्थता से प्राप्त होता है। वैष्णव शास्त्रों के अनुसार मंत्र और आचार्य के बिना लीलादर्शन नहीं होता।[1] इसका कारण

१—विना श्रीमंत्रराजेन श्रीचिन्तामणिसंज्ञिना।
विना द्वयानुसन्धानमनन्यशरणं विना॥
विनाऽऽचार्यप्रसादेन विना चर्तानिपेक्षया।
श्रीनारायणसंभोगलीला नैवावलोक्यते॥

—बृहद्ब्रह्मसंहिता, पृ० ६९-७०

यह है कि लीला, प्रपन्नों के सिद्ध देह के साथ होती है। प्रपत्ति सगुण भक्ति की अन्तिम दशा है। इसलिये सगुणमार्गी भक्त ही भगवत्सान्निध्य प्राप्त कर पाते हैं। ज्ञान और योग की साधना से साधकों की इच्छा निवृत्त हो जाती है। बिना इच्छा के लीलाप्राप्ति नहीं होती। अतएव उनके वहाँ तक पहुँचने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे साकेत के चतुर्दिक् व्याप्त ब्रह्म के सत्त्वमय प्रकाश में ही लीन हो जाते हैं।[1] रसिकों का आग्रह है कि केवल रसमार्ग से परात्परब्रह्म का परिशीलन करनेवाले भक्त ही निराकार ब्रह्मज्योति का भेदन कर नित्य साकार ब्रह्म श्रीसीताराम का साक्षात्कार करते हैं।[2]

लीला के भेद

श्री वैष्णव सम्प्रदाय के रसिक आचार्यों ने गुण, प्रकार और तत्त्व की दृष्टि से रखते हुए भगवान् की लीला के छ भेद माने हैं। उनकी व्याख्या नीचे की जाती है।

गुणों के विचार से उसके दो भेद हैं—निर्गुणलीला और सगुणलीला। निर्गुणलीला अनन्त और नित्य है। गोलोक, श्वेतद्वीप अथवा साकेत में वह नित्य सूक्ष्मरूप में चलती रहती है। रसमार्गी जीव नित्य मुक्तावस्था में उसे प्राप्त कर कृतार्थ होते हैं।[3] भगवान् भक्तों पर दया करके जब कभी पृथ्वी

१—चित मूरति भगवान जो रामा। ताकी प्रभा भई द्वै नामा।
परमातम घन ज्योति विराजहिं। फैल्यो तेज ब्रह्म सो छाजहिं॥
योगी सकल ज्ञानी छाजहिं। रसिक लखत रवि मूरति रामहिं।
योगी प्रणव सुमोऽह ज्ञानी। उचरत राम रसिक रसध्यानी॥
योगी विदुष ज्योति भरमाये। राम यथारथ रसिकन पाये।
—वृ० रा० मि०, पृ० १६

२—योगी योगसुनिष्पन्नो यज्ज्योतिषि निमज्जति।
परमानन्ददा सातर्मेब्रह्मज्योतिभिरावृता॥
तज्ज्योतिर्भेदने शक्ता रसिका रसवेदिनः।
रामप्रसादादन्येषां गमनं न भवेत्कदा।
तज्ज्योतिषा प्राणरूपो राजते सीतया सह॥
—हे० स०, पत्र ७

३—निर्गुणायास्तु लीलाया यद्यप्यन्तो न विद्यते।
आविर्भावस्तिरोभावो ह्यस्ति केनापि हेतुना॥

पर अवतरित होते हैं, तब उनकी सगुण लीला का प्राकट्य होता है। यद्यपि उनकी दोनों लीलाओं के स्वरूपों में भेद नहीं होता, फिर भी इस दूसरी सगुण लीला का आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है। यह लीला बद्ध और मुमुक्षु लोगों के उद्धार के लिये होती है।[1]

इसी प्रकार लीला के प्रकट और अप्रकट दो, प्रकाशगत भेद हैं।[2] प्रकटलीला सगुणलीला का ही दूसरा नाम है। इसे प्रपंचगोचरलीला की भी संज्ञा दी गई है। जब यह लीला सांसारिक लोगों की दृष्टि से अगोचर हो जाती है, तब अप्रकट कही जाती है। इन दोनों लीलाओं में स्वरूपत कोई भेद नहीं होता। रसिकों ने राम की लोकलीला में ही इन दोनों प्रकार की लीलाओं का अस्तित्व माना है। उनका मत है कि युगलसरकार का लीलाविहार, नित्यधाम की भाँति अवतारलीला में भी प्रकाशभेद से चलता रहा। चित्रकूटवास तक उसका रूप प्रपंच गोचर था किंतु उसके पश्चात् वह अप्रकट अथवा अदृश्य हो गई।

तत्व की दृष्टि से भी उसे दो भागों में विभक्त किया गया है—तात्विकी और अतात्विकी।[3] इनमें तात्विकी लीला 'नित्या और चैतन्य शक्तिरूपा' है। उसका क्षेत्र नित्यधाम गोलोक अथवा साकेत है। अतात्विकी लीला 'मायाशक्ति की कार्यरूपा है।' इसीके द्वारा भगवान् असुरों की बुद्धि भ्रमित करते हैं। साधारण संसारी लोग भी इसका रहस्य नहीं जान पाते। सीताहरण और राम रावणयुद्ध आदि लीलायें इसी श्रेणी में आती हैं। रसिकों के अनुसार वास्तव

गोलोकगोकुलोद्भूतश्वेतद्वीपादिकेलिवत्।
नित्या सा सूक्ष्मरूपेण कल्पान्ते चापि वर्तते।
ये जीवा कृपया विष्णोर्वीक्षिता सुरसत्तम।
वसन्ति रसमार्गीया नित्यलीलाभिकाङ्क्षिण॥

—वृ० प्र० स०, पृ० ६६-६७।

१-रसमार्गेण ये देवमीक्षन्ते परिशीलितुम्।
तेषां भूमावपि निजं स्थानमाविष्कृतं मया॥
एकेन त्रिगुणा माया तस्मान्निर्गमयन्बहि।
बद्धानां सुखभोगाय लीनानां प्रकृतौ पुरा॥

—वही, पृ० ६७।

२-रामतत्व प्रकाश (मधुराचार्य), पृ० १८६, १९९।

३- वही, पृ० २७१

म न तो सीता का हरण हुआ था और न स्वयंब्रह्म राम ने एक तुच्छ राक्षस के वध के लिये धनुष बाण ही धारण किया था। यह जगत को दिखाने के लिये एक नाट्य मात्र था।

लीला के उपर्युक्त छ भेद वास्तव म भगवान् की प्राकृत और अप्राकृत लीला के ही विभिन्न नाम हैं। इनम रसिकों की ध्येय, अप्राकृत—निर्गुण, अप्रकट अथवा तात्त्विकी लीला होती है अतएव रसिक साहित्य में विशद विवेचना इसी की मिलती है। प्राकृत लीला पर इन सतों का ध्यान कम गया है। आराध्य की दिव्य लीला के रस, काल, वय और स्थान के अनुसार निम्नांकित चार मुख्य भेद माने गये हैं।

क रसगत भेद—

भगवान की प्राकृत और अप्राकृत लीलाओं म जिन रसों की अभिव्यक्ति होती है वे सभी ऐश्वर्य और माधुर्य इन दो पक्षों के भीतर आ जाते हैं। भक्ति क पचरस इन्हीं के अन्तर्गत हैं। माधुर्यलीला अंतरगलीला है, अतएव उसकी सहायिकाये मुख्य रूप से सखियाँ और किंकरियाँ होती हैं। ऐश्वर्य लील, बहिरग क्रीडा है। उसका प्रकाशन सखा, दास, स्नेही और प्रजा की सहायता से होता है। अष्टयामलीला में ऐश्वय और माधुर्य का मिश्रण रहता है। उसमें सप्तयाम के कृत्य माधुर्यप्रधान होते हैं, और एक याम क ऐश्वर्य प्रधान। रस भेद की दृष्टि से पचरस लीला का विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) माधुर्य-लीला

इसक दो भेद हैं—ऐश्वर्यमिश्रित माधुर्य और शुद्ध माधुर्य। प्रथम, अष्टयाम लीला के विविध अगों में व्याप्त पाया जाता है और दूसरे का विकास रासलीला में दिखाई देता है। यद्यपि रास भी अष्टयाम लीला के अतर्गत ही है तथापि रसपरिपाक की दृष्टि से वह अन्य लीलाओं से अधिक उत्कृष्ट कहा गया है। सखियों और किंकरियों के साथ मधुरसखा और नमसखा भी इस लीला के रसभोक्ता माने जाते हैं।

(२) सख्य-लीला

यह लीला सखाओं के साथ होती है। उनके भाव और वय की विभिन्नता क अनुसार इसक चार भेद हैं। मधुर और नम सखाओं का शृंगार करना उनक साथ अयोध्या की गलियों में खेलना, प्रिय-सखाओं के साथ चौगान और शिकार खेलना, बाज लड़ाना, होलीवसतादि खेलना, सुहृद् सखाओं क साथ

दरबार म बैठ कर राज्य-व्यवस्था करना तथा सब को साथ लेकर भोजन करना आदि सख्य-सुलभ कृत्य इसी लीला के अंतर्गत हैं।

(३) दास्य-लीला

इस लीला म दासों का एकाधिकार होता है। अंत पुर क बाहर सभी प्रकार की सेवायें इन्हीं से ली जाती हैं। प्रति दिन सखाओं और भाइयों सहित राम उनक कार्यों का निरीक्षण करते हैं और मालियों, सिपाहियों, पशुओं और पक्षियों क पालन क लिए नियुक्त सेवकों तथा अन्य किंकरों का पुरस्कार देते हैं।

(४) वात्सल्य-लीला

वात्सल्यलीला के आश्रय गुरुजन हैं। प्रात भाइयों सहित राम पिता माता का चरणवंदन करते हैं। माता पिता की गोद म बैठकर उन्हें सुख देते हैं, पिता के साथ भोजन करते हैं। गुरु के यहाँ पढ़ने जाते हैं। रघुवंशी सरदारों के घर जाकर अपने काका काकी तथा अन्य वृद्ध गोत्रबंधुओं को आनन्द देते हैं। रामप्रियाशरण जी ने 'सीतायन' में जानकी जी की बाल-लीलाओं का भी वर्णन इसी आदर्श पर किया है।

(५) शात-लीला

इसके भोक्ता, प्रजारूप म, अवध क नागरिक हैं। नित्य संध्या को राजसी ठाट-बाट से सखाओं और बन्धुओं सहित राम की सवारी निकलती है। उनका दर्शन पाकर पुरवासी कृतार्थ होते हैं। शिकार क लिए जब वे सैनिकों, सखाओं और बन्धुओं के सहित बाहर निकलते हैं तो जनपद के सभी स्त्री पुरुष उनका राजमाधुर्य देखकर मुग्ध हो जाते हैं। शासक के रूप में नित्य दरबार लगने पर वे प्रजा की फरियाद सुनते हैं और उचित न्यायव्यवस्था के द्वारा उनक हितों की रक्षा करते हैं।

ख वयगतभेद

वयक्रम से लीला के चार भेद हैं—

१ बाललीला—५ वर्ष तक

२ पौगंडलीला—६ स १० वर्ष तक

३ किशोरलीला—१० स १५ वर्ष तक

४ यौवनलीला—१६ वर्ष

लीला में ये चारों वय नित्य हैं। बाल से आरंभ होकर यौवन तक लीला का सम्यक् विकास होता है। सोलह वर्ष षोडश कलाओं के पूर्ण प्रकाश का

द्योतक है। चित् देह, अपने भाव और आयु के अनुसार आराध्य की एक रसात्मिका लीला का ध्यान, भोग अथवा साक्षात्कार करता है।

रामसखे जी ने वय के साथ क्रमश राम की छ लीलाओं का विकास दिखाया है—[१]

१. बाललीला	४ वनलीला
२. व्याहलीला	५. रणलीला
३ रासलीला	६ राजलीला

ग कालगत भेद

दपति की दैनिकचर्या के अनुसार उनकी अष्टप्रहर की लीलायें आठ भागों में विभाजित की गई हैं। इनमें मानव-जीवन के समस्त दैनिक कृत्यों का समावेश हुआ है। अष्टकाललीला का क्रम प्रात उत्थापनकाल से लेकर अर्धरात्रि के पश्चात् शयनलीला तक चलता है। उनका ब्योरा इस प्रकार है—

(१) अष्टकाल लीला

१. उत्थापन—नित्यक्रम स्नान।
२ शृङ्गार
३ भोजन—(दिन का) कनक भवन में सीता जी के साथ।
४. शयन—(दिन में)।
५. सभा—दरबार में बैठकर मंत्रियों के साथ न्याय और राज्यप्रबंध विषयक कार्य।
६ केलि—सखाओं, भाइयों के साथ बालसुलभ खेल, वनविहार, आखेट, वाटिका हयशाला-अश्वशालादि का निरीक्षण, रघुवंशी सरदारों के घर जाना, सन्ध्या में सवारी पर चढ़कर सखाओं सहित अयोध्या के राजमार्गों में घूमना, प्रमोदवन में सखियों तथा सीता के साथ रास।
७ भोजन—(रात का) सीता जी, भाइयों और भ्रातृ वधुओं सहित श्रीरामचन्द्र का मातृसदन में भोजन करना।
८. शयन—कनकभवन (अंत पुर) में।

१— रामहिं की षट लीला सोहहिं। एक एक अति छबि मनमोहहिं।
बाल, ब्याह अरु रास प्रधाना। वन, रन, राज, बीच अरु नाना॥
—नृ० रा० मि०, पृ० २१

(२) षड्ऋतुलीला

जिस प्रकार दैनिक लीला, काल की गति के अनुसार आठ भागों में विभक्त है उसी भाँति ऋतुपरिवर्तन को ध्यान में रखते हुए षड्ऋतु लीला को भी राम के विहार में स्थान दिया गया है। भेद केवल इतना है कि प्रकृति राज्य में ये ऋतुयें कालक्रम के अनुसार वर्ष भर में एक चक्र पूरा करती हैं किन्तु लीलाराज्य में ये प्रतिक्षण सेवा के लिये प्रस्तुत रहती हैं। इनका आविर्भाव और तिरोभाव लीलाविहारी की इच्छा पर निर्भर रहता है।

रसिकों ने षड्ऋतु के अनुकूल महलों और दम्पति के वस्त्रों के अलग अलग रंगों की कल्पना की है।

ऋतु	महल का रंग	वस्त्र का रंग
शरद	नील मेघ	सूती श्वेत, किमखाब, बादला छींट
हेमन्त	लाल	ऊनी तथा रेशमी लाल
शिशिर	पीत	ऊनी तथा रेशमी पीत
वसन्त	गुलाबी	रेशमी गुलाबी
ग्रीष्म	श्वेत	रेशमी सूती श्वेत
वर्षा	हरित	,, ,, हरित

इन लीलाओं का निरंतर आवर्तन होता रहता है। काल का बंधन न होने से ये समय के छोटे से छोटे अंश में वर्तमान रहती हैं। इसीलिये भावना सिद्ध होने पर साधक जिस समय भी, जिस लीला में चाहे, प्रविष्ट होकर उसका आनंदलाभ कर सकता है।

५. स्थानगत-भेद

राम की लौकिक-अलौकिक दोनों लीलाओं में प्राकृत लीला के समस्त अवयव क्रमशः साधारण तथा दिव्य रूप में विद्यमान रहते हैं।[1] वन, उपवन, पर्वत, नदी, सरोवर, सभी उसके क्रीडाक्षेत्र हैं। वह केवल कनकभवन के मणिमय कुंजों में ही सीमित नहीं रहती। अंतरंग और बहिरंग लीला में जल, थल, सभी कुछ आ जाते हैं। क्रीडाक्षेत्रों के विचार से लीला दो भागों में विभाजित है—जल क्रीडा और थल क्रीडा। अंतरिक्ष लोक तो वह है ही। इसलिये तत्सम्बन्धी क्रीडा की व्यवस्था नहीं की गई है।

१—उ० ग्र० सि०, पृ० ९१

क—जल क्रीडा के स्थान

(१) कनक भवन के भीतर, स्नान कुंज में स्थित सरोवर
(२) सरयू

ख—थल क्रीड़ा के स्थान

(१) कनक भवन के अष्ट कुंज।
(२) सरयू तट पर स्थित बारह वन—
श्रृंगारवन, तमालवन, रसालवन, चम्पकवन, चन्दनवन, पारिजातकवन, अशोकवन, विचित्रवन, कदम्बवन, अनंगवन, नागकेशरवन और विहारवन।[1]
(३) द्वादश उपवन—
वृन्दा (तुलसी) वन, जूहीवन, लवंगवन, कुन्दनवन, कदलीवन, दमर्तीवन, चम्पावन, केदारवन, सेवतीवन, नेवारीवन, गुलाबवन और माधवीवन।
(४) प्रमोदवन—मुख्य रासस्थली।
(५) सन्तानक वन
(६) मिथिला—साकेत के पूर्व द्वार पर।
(७) चित्रकूट— " दक्षिण द्वार पर।
(८) वृन्दावन— " पश्चिम द्वार पर।
(९) रत्नगिरि—साकेत की प्रकाशपूर्ण पर्वतीय क्रीडा भूमि।[2]

लीलापुरुष

साकेतलीला के नायक श्रीरामचन्द्र परब्रह्म के स्वयं साकार रूप हैं।[3] निराकार ब्रह्म उनकी छाया मात्र है। वे द्विभुज हैं, लीला का रूप यही है।[4] चतुर्भुज नारायण और अष्टभुज भूमा भगवान उनके ऐश्वर्यांश से उत्पन्न हैं। उनमें शांतरस की प्रधानता रहती है अतएव माधुर्यलीला के वे सर्वथा अनुपयुक्त हैं।[5] भगवान् राम के व्यक्तित्व में ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों की पराकाष्ठा है। इस अंश पर दोनों लीलाओं में उनका ऐश्वर्यमिश्रित माधुर्य एक समान रहता है। रास के समय वे अनन्त रूप धारण कर सीता की *अङ्गजा सखियों के साथ क्रीडा करते हैं—उनके ये रूप भी स्वस्वरूप अथवा* तदेकात्मरूप होते हैं, अंशावतार नहीं।[6]

१—वृ० स० प०, पृ० ५९
२— वही, पृ० ५९
३—अनन्य तरंगिनी, पृ० ४
४—वृ० रा० मि०, पृ० ६
५—सि० त० दी०, पत्र ३१
६—वृ० उ० र०, पृ० ८१

राम—अनुकूल नायक (भानुदत्त की रसमंजरी के आधार पर १८वीं शतीमे निर्मित बसोहली शैली का चित्र) भारतकलाभवन काशी के सौजन्य से।

(पृ० २८७)

राम का नायक रूप

वे दक्षिण नायक हैं।[1] रसिकों के अनुसार उनका एकपत्नीव्रत विवादास्पद है। वाल्मीकि जी ने सहस्रों मुनिकन्याओं, राजकन्याओं, नागकन्याओं तथा गंधर्व कन्याओं को उनकी पाणिग्रहीता भार्या माना है।[2] मधुराचार्य ने 'सुन्दरमणि सदर्भ' और 'रामपरत्व प्रकाश' में 'वाल्मीकिरामायण'[3] तथा अन्य रामकथाओं[4] से अनेक प्रमाण देकर इसकी पुष्टि की है कि सीता जी के अतिरिक्त उनकी अन्य स्त्रियाँ भी थीं। रामसखे जी ने उनकी आठ पटरानियों का उल्लेख किया है।[5] किन्तु उनमें सर्वप्रधान सीता ही थीं, इसे सभी रसिक एक स्वर से स्वीकार करते हैं क्योंकि सीता जी पराशक्ति हैं, राम की सभी स्त्रियाँ उन्हीं की अंश अथवा अङ्ग से उत्पन्न हुई हैं, स्वकीया होते हुए भी पति से उनका मिलन

१—कहुँ दक्षिण नायक रस लीला। करहिं राम सुन्दर मृदु शीला॥
—नृ० रा० मि०, पृ० ४१

भानुदत्त ने रसमंजरी में राम का वर्णन अनुकूल नायक के रूप में किया है।

२—सि० त० दी०, पद्य २१

३—यः सुखेषूपधानेषु शेते चन्दनरूषित.।
सेव्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः॥
दृष्टा. खलु भविष्यन्ति रामस्य परमा स्त्रियः।
—सुन्दरमणिसंदर्भ (मधुराचार्य) में वाल्मीकि रामायण से उद्धृत, पृ० १८४

४— सहस्रैर्ऋषिकन्याना रतये श्री हरेर्यतम्।
कृत वर्षसहस्रैस्तु सम्यगाराधितो हरः॥
संतुतोष ततस्ताभ्यः श्रीशंभुर्भक्तवत्सलः।
वैदेह्यास्तु सखीर्भूत्वा प्राप्स्यथ स्वमनोरथम्॥
कुले जातास्ततस्तेषां विदेहानामनारमनाम्।
चन्द्राद्या श्री हरेर्देव्याः सीताया अतिवल्लभा॥
नित्यानन्दस्वरूपेण श्रीरामेण तथा पुनः।
रमन्ते सह नित्यास्ता रूपयौवनशालिनीः॥
—सुंदरमणिसंदर्भ (अगस्त्य संहिता से उद्धृत), पृ० ४१७

५—एक रात आठहु पटरानी। मिलन चहति प्रभु सों रति सानी॥
—नृ० रा० मि०, पृ० ४२

सीता जी के माध्यम से ही होता है, अतः वे सीता जी से अभिन्न हैं।[1] इस तर्कप्रणाली से असख्य नायिकाओं के भर्ता होते हुए भी राम का एक पत्नी-व्रत अक्षुण्ण सिद्ध किया गया है।

स्वकीया प्रेम का महत्त्व

बालअली जी ने स्वकीया प्रेम को परकीया रति से अधिक प्रगाढ़ और मर्यादाबद्ध माना है। कृष्णावतार के परकीयाप्रेम से रामावतार की स्वकीया रति की तुलना करते हुए उन्होंने प्रथम में मर्यादाहीनताजनित भय और सकोच की प्रबलता को रसपरिपाक में बाधक बताया है। इसके विपरीत रामावतार में स्वकीया नायिकाओं के साथ महलों में स्वच्छन्द विहार का वातावरण रसनिष्पत्ति के अधिक उपयुक्त कहा गया है। उनका मत है—

इहाँ हजारन भूप कुमारी। सिया संग आई सुकुमारी।
पुनि बहु सहस सुरन की कन्या। विधि करि कृपा दई जग धन्या।
शंभु कृपा पुनि केतिक आई। अगनित गोप सुता पुनि पाई।
भिन्न भिन्न मणि महलन रासी। रमहिं राम तिनके मृदु भासी।
पर नारिन में नेह खुवारी। पर डर सदा बसै उर भारी।
वेद धर्म कर छेद बहोरी। दोप नहीं तौ निंदा कोरी॥[2]

महात्मा अवधशरण भी परकीयासम्बन्ध में वास्तविक प्रेम का निवास नहीं मानते, किन्तु वे यह भी नहीं स्वीकार करते कि सीता के अतिरिक्त राम की कुछ अन्य भार्यायें भी थीं।[3] 'वाल्मीकिरामायण' से ही कुछ श्लोक उन्होंने राम के एकपत्नीव्रत के समर्थन में उद्धृत किये हैं।[4]

१–किंच-यथा नारदपंचरात्रीयलक्ष्मीसंहितायाम्—

"चतुर्दिशं तु तस्यैव श्रीः कीर्तिश्च जया तथा।
मयैव कृत्वा रूपाणि भुज्येहं तेन विष्णुना॥

इत्यादिना श्रियैवोक्तं मयैव। श्रियादिरूपाणि कृत्वा विष्णुना भोगः क्रियते······तथा सीतैव तानि तानि रूपाणि कृत्वा रामेण भोगं करोति। अतो न ताः परनार्यः अपि तु तत्पत्न्यः श्रीसीताया एवांशभूताः।"

रामतत्त्वप्रकाश (मधुराचार्य), पृ० १५९

२–सि० त० दी०, पत्र ३१ ३–स. सि. चं०, पृ० ७०

४–कच्चित्सपरदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते।
कस्मात्स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः॥

लीला नायिका

साकेतलीला की नायिका सीता जी हैं। वे राम की परा आह्लादिनी शक्ति हैं।[1] श्री, भू, लीला आदि की वे अधिष्ठातृदेवी हैं।[2] इच्छा, ज्ञान और क्रिया[3] इन तीन शक्तियों से समन्वित मूलप्रकृति रूप में वे परम पुरुष श्रीरामचन्द्र की नित्यभोग्या हैं। उनका आविर्भाव ही ब्रह्म की रमणेच्छा से हुआ है। लीला में एक ही परमतत्त्व पतिपत्नी तन धारण करके आत्मविहार करता है।[4] सीता जी की अग्रजा ३३ शक्तियाँ उनकी नित्य सखियाँ अथवा लीलासहायिकायें हैं।[5] इनके अतिरिक्त रास में अपने अंगों से वे सहस्रों उपशक्तियाँ उत्पन्न कर प्रियतम को सन्तुष्ट करती हैं।[6]

'न रामो परदारान् स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ।
'न सीताया परां भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः ॥
श्रीमद्भागवतेऽपि—
एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः ।
स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरन् ॥
—स० सि० चं० में उद्धृत, पृ० ७०

१–आह्लादिनी शक्तिरूपा, जानकी यस्य वामतः ।
तं रामं सच्चिदानन्दं, नित्य रामेश्वरं भजे ॥
—हु० सं०, पत्र २१

२–भूः श्रीर्लीलेश्वरी देवी, लक्ष्मी लक्षसमर्थिता ।
ब्रह्माण्डकोटिभाण्डस्थसर्ववस्तु महेश्वरी ॥
—उपासनात्रयसिद्धान्त, पृ० १०

३–इच्छाज्ञानक्रियाशक्तित्रय यद्भावसाधनम् ।
तद्ब्रह्म सत्ता सामान्य सीतातत्त्वमुपास्महे ॥
—सीतोपनिषद्, पृ० २

४–एकाकी नहिं रमन होइ, चहत सहायहि सोइ ।
रमत एक ही ब्रह्म तहँ, पति पत्नी तन होइ ॥
—नेहप्रकाश, पृ० २

५–उ० म० सि०, पृ० ९०

६–रामस्य हृद्गतिं ज्ञात्वा, जानकी स्वांगतो सृजन् ।
नार्यष्टादश सहस्रोत्तर ह्यैर्युतमशेषतम् ॥
—हु० सं०, पृ० १०

सीता जी स्वाधीनपतिका नायिका हैं। उनके अलौकिक सौन्दर्य, अनुकूल आचरण और सुशीलता से राम सदैव वशीभूत होकर रहते हैं।[1] जीव उन्हीं के पुरुषकारत्व से धामलीला में प्रवेश पाते हैं।

लीला परिकर

लीला में परिकर तत्त्व की स्थिति नायक और नायिका के मध्यस्थ रूप में है। यहाँ उसकी त्रिविध उपयोगिता—नायक नायिका के संयोग, लीला की व्यवस्था और कैंकर्य में, है। लीला के अन्य अंगों की तरह परिकर तत्त्व भी बहुत व्यापक है। जड-चेतन, जगत के जितने जीवों और पदार्थों से मनुष्य का नित्य जीवन में प्रयोजन पडता है, वे सभी साकेत में कैंकर्य के लिये एकत्र रहते हैं। परिकर पद नित्यमुक्त जीवों को ही प्राप्त होता है अतएव उनकी सेवायें दिव्य दम्पति की अनन्तलीला के साथ अनन्तकाल तक चलती रहती हैं। लीला में परिकरों का कार्य उनके भावानुसार निश्चित रहता है और उनके पद के साथ इसका स्वरूप भी नित्य होता है।

परिकरों के तीन वर्ग हैं—सामान्य, सम्बन्धमूलक और प्रसाधनमूलक।

(अ) सामान्यपरिकर

लीला के सामान्य परिकर देश, काल और पंचतत्त्व हैं। ये अपने चिन्मय रूप में नित्य उपस्थित रहते हैं और लीलापुरुषोत्तम की इच्छानुसार, क्षण-क्षण में विविध परिस्थितियों तथा वस्तुओं का रूप धारण कर, लीलाविस्तार तथा रसोत्कर्ष में सहायक होते हैं।

(आ) सम्बन्धमूलक परिकर

परिकरों के इस वर्ग के अंतर्गत वे सभी स्त्री पुरुष आ जाते हैं, जिनका किसी न किसी रूप में, राम और सीता की अवतारलीला से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है। सम्बन्ध की विविधता के अनुसार उनकी पाँच श्रेणियाँ हैं—सखी, सखा, दास, गुरुजन, और प्रजा। भक्ति रसों का विकास इन्हीं पंचसम्बन्धों को लेकर हुआ है।

१—जनक सुता सम देवता, कहो कौन जग और।
जाके बस रघुवीर पिय, ब्रह्म रुद्र सिर मौर॥
—टीका नेहप्रकाश, पद्य ४५
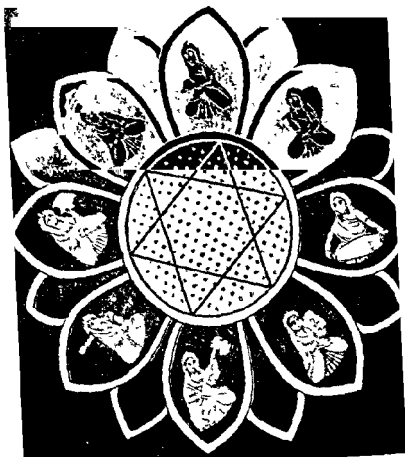
अष्ट सखियों का सेवा स्वरूप—

नीचे से बायें वृत्ताकार—

१. चारुशीला—वीणा
२. हेमा—मुर्छल
३. क्षेमा—व्यजन
४ वरारोहा—छत्र
५ पद्म गधा सुगध
६. सुभगा—चमर
७ चन्द्रकला—मृदग
८. लक्ष्मणा—दर्पण

मध्य में कर्णिका पर युगलासन

(पृ० २६१)

१. सखी

सीता जी और श्रीरामचन्द्र जी की मुख्य सखियों की संख्या १६ है। इनमें ८ सीताजी की हैं, आठ रामचन्द्र जी की।

(क) सीता जी की अष्टसखियाँ (ये कैंकर्य से मुक्त रहती हैं) श्रीप्रसादसखी, चन्द्रकला, विमला, मदनकला, विश्वमोहिनी, उर्मिला, चंपकला और रूपलता।[1]

सीता जी की सखियों का एक दूसरा वर्ग नित्य सखियों का है। ये उनकी अग्रजा हैं। रासलीला में प्रियतम की भोग्या रूप में भाग लेने का अधिकार इन्हीं को है। इनकी संख्या ३३ है—[2]

१. श्री
२. भू
३. लीला
४. उत्कृष्टा
५. क्रिया
६. उन्नति
७. पर्वी
८. सत्या
९. अनुग्रहा
१०. ईशाना
११. शाना
१२. कीर्ति
१३. विद्या
१४. कान्ता
१५. इला
१६. विलम्बिनी
१७. चन्द्रिका
१८. कान्ता
१९. क्रूरा
२०. भीषणी
२१. क्षमा
२२. कलावती
२३. योगा
२४. ज्ञाता
२५. नन्दिनी
२६. शोना
२७. विमला
२८. पुण्या
२९. शुभदा
३०. शोभना
३१. महोदया
३२. आह्लादिनी
३३. मालिनी

(ख) श्रीरामचन्द्र जी की अष्टसखियाँ (ये कैंकर्य करती हैं)

चारुशीला	(वीणा सेवा)	पद्मगंधा	(सुगन्ध सेवा)
हेमा	(मुरली ")	सुभगा	(चमर ")
क्षेमा	(व्यजन ")	चन्द्रकला	(मृदंग ")
वरारोहा	(छत्र ")	लक्ष्मणा	(दर्पण ")

१–भावना पचीसी, पृ० ३, ४

२–रामचरितमानस सटीक (रामचरणदास), पृ० २५८

आचार्यों में इनके नामों के विषय में मतभेद है।[1]

इन षोडश सखियों के अतिरिक्त दंपति की १६ मंजरी सेविकाओं का विवरण कामदेन्द्रमणि जी ने इस प्रकार दिया है[2]—

१. रसमंजरी	९. द्युतिमंजरी
२. ललितमंजरी	१०. क्रियामंजरी
३. रंगमंजरी	११. पुष्पमंजरी
४. गुणमंजरी	१२. वेलिमंजरी
५. रतिमंजरी	१३. प्रभामंजरी
६. मोदमंजरी	१४. विरदमंजरी
७. रूपमंजरी	१५. पद्ममंजरी
८. अलंकारमंजरी	१६. कृपामंजरी

सेविकाओं के वर्ग में ही किंकरियों की भी गणना की जाती है। इनकी भी संख्या १६ है—आठ श्रीसीता जी की ओर आठ श्रीरामचन्द्र जी की।[3]

(क) श्रीसीता जी की किंकरियाँ—

१. भद्रा	२. कोमला	३. कीर्तिप्रभा	४. मुकुन्ददा
५. विशदा	६. माधवी	७. विरजा	८. शुभदा

(ख) श्रीरामचन्द्र जी की किंकरियाँ—

१. शुभगा	२. शान्ता	३. श्यामा	४. गौरी
५. सौरमुखी	६. इन्दिरा	७. चन्द्रप्रभा	८. पद्मा

रसिकविहारी जी ने सीता जी की बहनों के साथ जनकपुर से आने वाली

१—रामचरणदास जी ने, सुशीला, लक्ष्मणा, हेमा, अतिशीला और चारुशीला इन पाँच सखियों को प्रधान माना है। इसके अतिरिक्त 'प्रिया-प्रीतम' की सोलह सखियों की जो नामावली उन्होंने दी है, वह कृपानिवास जी द्वारा निर्दिष्ट षोडश सखियों से नहीं मिलती। इनके अनुसार राम की आठ सखियों के नाम—वागीशा, माधवी, प्रिया, नित्या, विद्या, पूर्णरूपा, हरिमना और जीवा हैं तथा जानकी जी की अष्टसखियाँ—विमला, उत्कर्षिणी, क्रियायोगा, ईशाना, शान्ता, सत्या, सेवा और प्रवीना हैं।

—अष्टयाम पूजाविधि, पृ० २२

२—श्री सी० भ० के० का०, पृ० ४१।

३— वही, पृ० ३६।

निम्नांकित सखियों का उल्लेख किया है। इन्हें महाराज जनक ने दहेज में दिया था—[1]

१—उर्मिला जी की सखियाँ

चम्पावती, नन्दिनी, मुदिता, और कुंडली।

२—श्रुतिकीर्ति जी की सखियाँ

सयमा, श्यामा, मादिनी और वामा।

३—माडवी जी की सखियाँ

भामा, रुक्मवती, सुमति और चन्द्रिका।

इन सखियों के साथ सहस्रों किंकरियाँ भी विदेहराज ने पुत्रियों की सेवा के लिये प्रदान की थीं।

अयोध्या आने पर सासुओं की ओर से भी परिचर्या और मनोरंजन के लिये उन्हें इतनी ही सखियाँ और किंकरियाँ मिली थीं—

१—उर्मिला जी को सुमित्रा जी द्वारा दी गई सखियाँ—

गोकुला, योवना, दीपावली और वृन्दा

२—श्रुतिकीर्ति जी को सुमित्रा जी द्वारा दी गई सखियाँ—

शाला, ज्वाला, गर्विता और कदम्बा

३—माडवी जी को कैकेयी जी द्वारा दी गई सखियाँ—

सुन्दरी, सारिका, नेहमनरी और बाला।

मिथिला से आने वाली दासियाँ कुटुम्बसहित आई थीं। उनके पति, भाई, पिता आदि दास रूप में चारों भाइयों की परिचर्या करते थे।[2]

सीता जी की तीनों बहनें अपनी सखियों और अनुचरियों के सहित उनकी सेवा करती हैं।[3]

१—ये सब जनक दहेज में, दीनी पुत्रिन संग।
आईं अवध समाज जुत, प्रमुदित भरी उमंग॥
—राम रसायन, पृ० १५१

२—आईं मिथिला ते तिया, ते सब सहित कुटुंब।
सो प्यारे पुनि इतर हैं, दासा दास कदंब॥
निज निज स्वामिन को सबै, सेवैं सहित सुरीति।
रहैं सकल सानंद नित, गोति प्रीति युत नीति॥
—रामरसायन, पृ० १५२

३—तिहुँ भगिनी निज सखिनयुत, सादर प्रीति बढ़ाय।
रीति-नीति-मय सीयकी, सेवा करें सदाय॥
—वही, पृ० १५२

२. सखा

राम और उनके भाइयों के सखाओं की संख्या अपरिमित है। वे विभिन्न वय और भाव के हैं। इनमें से प्रमुख सखाओं का विवरण नीचे दिया जाता है—

(क) श्री रामचन्द्र जी के सखा[1]

१. सुन्दर	१०. मनोहर
२. शेखर	११. गुणाकर
३. वीरसेन	१२. मानद
४. मणिभद्र	१३. पत्रीस
५. तेजरूप	१४. धनपाल
६. रसिकेश	१५. गदाधर
७. कलाधर	१६. रमनेस
८. प्राणरूप	१७. पद्माकर
९. रसरास	१८. शीलनिधि

(ख) लक्ष्मण जी के सखा[2]

१. वज्रसाल	३. वातप	
२. रसमत्त	४. मदन	५. बिहारी

(ग) भरत जी के सखा[3]

१. रसिकरसाल	४. श्रुतिजात	
२. सुभद्र	५. कुशल	
३. कमलाकर	६. जटाधर	७. वीरमणि

(घ) शत्रुघ्न जी के सखा[4]

१. संतानक	३. राजरजन
२. दमन	४. चामीकर

लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र जी की अपने सखाओं सहित अहर्निश सेवा करते हैं।[5]

१—रामरसायन, पृ० ४८ ३—वही, पृ० ५०

२— वही, पृ० ४८ ४—वही, पृ० ४८

५—सखा दास सयुत सकल, तीनिहु बन्धु ललाम।
प्रीति सहित रघुचन्द को, सेवत हैं वसु याम॥
—वही, पृ० ४८

दास

साम्प्रदायिक ग्रन्थों में दासों के केवल वर्ग और प्रकारों का उल्लेख मिलता है। इन के दो वर्ग हैं—एक अयोध्या के और दूसरे मिथिला के दास कहलाते हैं। दूसरे वर्ग के दासों को कुछ आचार्यों ने मधुर दास का नाम दिया है। इनकी नामावली नहीं दी गई है। कनकभवन के चार द्वारों के रक्षक रूप में हनुमान, विभीषण, सुग्रीव और अङ्गद का नाम आया है। शृंगारीसाधना में इस वर्ग के साधकों का कोई विशेष कैंकर्य न होने के कारण ही सम्भवतः उनका विवरण देने की ओर रसिकों ने ध्यान नहीं दिया है।

गुरुजन

इस श्रेणी में श्रीसीताराम में स्नेहभाव रखने वाले वयोवृद्ध एवं पूज्य जन आते हैं। महाराज दशरथ, उनकी रानियाँ, महाराज जनक और उनकी स्त्रियाँ, इनमें मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त रघुवंशी और निमिवंशी सरदारों, उनकी स्त्रियाँ, गुरु वशिष्ठ, शतानन्द, विश्वामित्र आदि ऋषियों तथा गुरुपत्नियों से भी 'युगलसरकार' का वात्सल्य सम्बन्ध है।

प्रजा

अयोध्या के नागरिकों तथा कोशल राज्य के अन्य निवासियों से श्रीरामचन्द्र का राजा प्रजा का सम्बन्ध है। उनकी रक्षा, न्याय, भरण-पोषण इत्यादि का प्रबन्ध कर वे उनके प्रति अपने राजनीतिक उत्तरदायित्व का पालन करते हैं।

(इ) प्रसाधनमूलक परिकर

साकेतलीला की समस्त विभूतियाँ, नित्यमुक्त परिकरों के ही विविध रूप होती हैं।[1] शृंगारियों का सिद्धान्त है कि दंपति की सेवा में संलग्न सखियाँ उनकी इच्छानुसार समय समय पर अनेक लीलासाधनों का रूप धारण करती रहती हैं।[2] इसी लिये पशु, पक्षी, भूषण, वस्त्र, आसन, घोड़े, हाथी, रथ, भवन, चमर, छत्र, धातु, रत्न, सर, सरिता, वन, वाटिका, ऋतु, पर्व आदि प्रसाधनों के रूप

१—लीला केरि विभूति जो, सब नितपरिकर रूप।
सत चेतन आनदमय त्रिगुनातीत अनूप॥
—वृ० उ० र०, पृ० ७५

२—भूषन वसन सेज सुखधामा। सब चेतन अलिरूप ललामा।
विविध रूप धरि श्रीसिय आली। सेवहिं प्रभुहिं प्रेम प्रतिपाली॥
—वही, पृ० ७५

में दिव्य दंपति की सेवा करने की कामना, साधकों की सञ्जीवनी कही जाती है।[1] दिव्यधाम में सभी वस्तुयें अप्राकृत चैतन्य रूप में रहती हैं अतएव किसी भी वेश में प्रियतम के कैंकर्य का सुखलाभ करना ही मुक्त जीव का एक मात्र उद्देश्य होता है।[2] रसिक संतों को प्रभु की वीणा, वंशी आदि के अवतार मानने की परम्परा इसी सिद्धान्त के आधार पर चली है।

लीला में सम्बन्ध-तत्त्व

लीला के तीन प्रधान अंगों—नायक, नायिका और परिकर का परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब देखना यह है कि उनमें परस्पर सम्बन्ध की दार्शनिक पृष्ठभूमि क्या है? जिस प्रकार अस्तित्व की दृष्टि से ये तीनों नित्य हैं उसी प्रकार इनका पारस्परिक सम्बन्ध भी शाश्वत है। आराध्य-युगल से जीव के भावानुसार स्थापित विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों में रसपरिपाक एक सा ही होता है। रस भेद अथवा सम्बन्धवैचित्र्य का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये सभी सम्बन्ध अपने स्थान पर समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

उपर्युक्त तीनों अंगों में पारस्परिक सम्बन्ध के तीन रूप दिखाई देते हैं—

(१) लीलानायक श्री रामचन्द्र और लीला की नायिका श्री सीता जी का सम्बन्ध

(२) सीता जी और परिकर का सम्बन्ध

(३) परिकर और श्री रामचन्द्र जी का सम्बन्ध।

इस प्रकार परिकरपद प्राप्त होने के पूर्व मायासक्त स्थिति से लेकर नित्य मुक्ति प्राप्त करने की अवस्था तक इस सम्बन्ध के विकास की एक पूर्णशृंखला प्रस्तुत हो जाती है।

इन सम्बन्धों की व्यक्तिगत विशेषताओं की व्याख्या नीचे की जाती है।

१—है विधि जौ करिये खग वृक्ष मृगादि तौ औध विपिन मझार को।
द्वै जल्जंतु नियैं पै पियैं वर वारि सुखी सरयू सरि धार को॥
वाहन श्वान बनाइय जौं तो सवारी सिकारी श्री राजकुमार को।
जो नर तो 'रसरंगमणी' करौ प्यार सदा रघुनन्दन यार को॥
—श्रीरामरसरंगविलास, पृ० २४

२—निवासशय्यासनपादुकांशुकोपधानवर्षातपवारणादिभिः।
शरीरभेदैस्तवशेषतां गतैर्यथोचितं शेष इतीरितो जनैः॥
—श्रीआलवन्दारस्तोत्रम्, पृ० १६

(१) राम और सीता का सम्बन्ध

राम और सीता में वही सम्बन्ध है जो पुरुष और प्रकृति मे है। सीता मूलप्रकृति हैं और राम आदिपुरुष। उनकी साकेतलीला प्रकृति के साथ पुरुष की नित्यक्रीडा का प्रतिरूप है।[१] उनका सम्बन्ध नित्य है। सीता के बिना राम और राम के बिना सीता के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती।[२] वे सूर्यप्रभावत् अभिन्न हैं।[३] रसिक-दिव्य और प्राकृत दोनो प्रकार की लीलाओं में राम और सीता का सयोग नित्य मानते हैं। उनका कहना है कि लोकप्रसिद्ध रामचरित में सीताहरण से दम्पति में जो विच्छेद दिखाया गया है, वह राम की लोकलीला का एक रहस्यमय तथ्य है। वनयात्रा के समय राम, लक्ष्मण और सीता सहित, चित्रकूट से आगे नहीं गये। वे स्वयं ब्रह्म रूप में अपनी आह्लादिनी शक्ति सीता जी के साथ चित्रकूट मे विहार करते रहे।[४] इस विहारलीला में कैंकर्य और व्यवस्था लक्ष्मण जी करते थे, जो जीव तत्त्व के प्रतिनिधि थे।[५] चित्रकूट से आगे लक्ष्मी, नारायण और शेष उनके वेश में गये थे और परात्पर ब्रह्म की आज्ञा से उन्होंने ही रावण का वध कर सीतारूप लक्ष्मी का उद्धार किया था। चित्रकूट में राम का यह विलास तबतक चलता रहा जबतक विभीषण को राज्य देकर नारायण, लक्ष्मी और शेष सहित पुनः चित्रकूट नहीं लौट आये। कृपानिवास जी ने स्वरचित रामायण में यह कथा विस्तारपूर्वक लिखी है। मधुराचार्य जी ने राज्याभिषेक के अनन्तर सीतावनवास की घटना को भी इसी प्रकार, राम की 'प्रकाशलीला' माना है।

१-याते सीताराम तत्व यक रूप हुइ।
मूल प्रकृति है अन्य तनक नहिं सकल सुइ॥
—रा० र० र०, पृ० ९

२-सीता राम विना नैव रामः सीतां विना नहि।
श्री सीतारामयोरेव सम्बन्धः शाश्वतो मतः॥
—रा० त० प्र० में जानकी विलास से उद्धृत, पृ० २०६

३-"अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा"
—रामतत्त्वप्रकाश में (वा० यु० स० ११८-१२० से) उद्धृत, पृ० २०४

४-श्रीविश्वंभरोपनिषद् सटीक (पं० सरयूदास)

५-परा शक्ति माया सिया, लखन लाड़िले जीव।
तिन्हिके संग विहरहिं सदा, राम परात्पर सींव।
—वृ० उ० र०, पृ० ९८

रामभक्ति की योगपरक शाखाओं में राम और सीता में नाद-बिन्दु का सम्बन्ध बताया गया है।[१]

२. सीता और परिकर का सम्बन्ध

परिकर जीवात्मा के रूप में सीता जी का अंश है,[२] जो ब्रह्म की पराशक्ति है। विश्व में जहाँ भी चेतनता अथवा जीवत्व के दर्शन होते हैं, वहाँ उन्हीं की शक्ति का अंशरूपेण प्रकाश रहता है। अनन्त शक्ति रखते हुए भी, संसार में आकर देहबुद्धि धारण कर लेने पर, जीव अपना मूलरूप भूल जाता है।[३] सीता जी की अहैतुकी कृपा से जब सद्गुरु द्वारा उसे आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है तो उसे अपने वास्तविक शक्ति अथवा नारी रूप का बोध हो जाता है।[४] दंपति का कैंकर्य उसे तभी मिलता है। इस सम्प्रदाय के भक्तों का मत है कि जीव चाहे जिस भाव से प्रभु की उपासना करना चाहता हो, उनका सान्निध्य प्राप्त करने के पूर्व उसे स्त्रीभाव धारण करना पड़ता है।[५]

(३) परिकर और राम का सम्बन्ध

पहले कहा गया है कि परिकर को राम की सेवा का सुख प्राप्त करने में सीता के पुरुषकारत्व का आश्रय लेना पड़ता है।[६] इससे यह प्रकट है कि उसका प्रभु से सीधा सम्बन्ध किसी भी परिस्थिति में स्थापित नहीं हो

१—शारदातिलक तंत्र, पृ० ६२६—६२७

२—श्री सिय अंश सुसखी सरूपा। नाम सु जीवातमा अनूपा ॥
—वृ० उ० र०, पृ० १११

३—सर्वशक्ति जीवातम बीचा। देह बुद्धि उर धरि भइ नीचा ॥
—वही, पृ० ११०

४—आत्म ज्ञान बिन भामिनि भाऊ। पावहिं जीव न कोटि उपाऊ ॥
—वही, पृ० १११

५—मालिन्ये निवृत्ते सर्वेषामपि (जीवानां) नारीणामुत्तमा या अवस्थाऽऽगच्छेद् ॥
—श्रीवचनभूषण (लोकाचार्य), पृ० १९७

६—अपराधैकसक्तानामनर्हाणां चिर नृणाम्।
भर्तुराश्रयणे पूर्वं स्वयं पुरुषकारताम् ॥
वात्सल्येनानुतिष्ठन्तीं वात्सल्याद्युपबृंहिणीम्।
उपायसमये भर्तुर्ज्ञानदाक्ष्यादिवर्धिनीम् ॥
मुक्तानां भोगवृद्ध्यर्थं सौन्दर्यादि विवर्धिनीम्।
आकारत्रयसम्पन्नामरविन्दनिवासिनीम् ॥
—प्रपन्नपारिजात, पृ० २२

सकता।' रसिक साधना मे सीता जी की मध्यस्थता एक अनिवार्य तत्त्व मानी जाती है। इसलिए सेवानन्द का भोग भी परिकर स्वतंत्र रूप से नहीं, तदर्पितभाव अथवा जानकीभावापन्न होकर करता है। प्रत्येक दशा में उसका सखीत्व, साक्षीभाव लिये रहता है, प्रत्यक्ष भोक्ता का भाव उसमें स्फुरित ही नहीं हो सकता। कारण यह है कि बिन्दु रूप में स्थित ब्रह्मतत्त्व अथवा राम मूलप्रकृतिस्वरूपा सीता की ज्योति से सदैव आवृत अथवा आलिंगित रहता है। अतएव उसके समीप पहुँचने के लिये यह आवश्यक है कि उस प्रकृति तत्त्व से जीव अपना तादात्म्य स्थापित कर चिन्मय प्रकृति का रूप धारण कर ले। अपनी शरण मे आने पर जीव को सीता जी स्वयं अपनालेती हैं, उनका इस प्रकार अपनाना ही सखीत्व प्रदान करना है। इसके अनन्तर वे उपयुक्त अवसर पाकर प्रभु के समक्ष उसे उपस्थित करती हैं और कैंकर्य स्वीकृत करवा कर उसे नित्य-साकेत-लीला में प्रवेश की स्वरूपयोग्यता प्रदान करती हैं।

सेवाधिकार में क्रम

परिकरों के सेवाधिकार में तारतम्य होता है। इसका निर्णय 'युगलसरकार' से उनकी तादात्म्यभावना के उत्कर्ष के आधार पर किया जाता है। सेवाओं का वितरण भी इसी के अनुसार होता है। जिस परिकर की युगलनिष्ठा जितनी ऊँची स्थिति की होती है उसे उतना ही अधिक सान्निध्य प्राप्त होता है। अब तक रामभक्त रसिकों का जितना साहित्य प्रकाश मे आ सका है उससे इसका पता नहीं चलता कि भावना के क्रमशः विकास से सेवाधिकार में भी वृद्धि होती है अथवा नहीं। अतएव सम्प्रति यही मानना उचित होगा कि सब की सेवायें आरम्भ में ही निश्चित कर दी जाती हैं। वे अनादि काल तक उसी रूप में चलती रहती हैं और उन्हीं में परिकरों को पूर्ण रस की उपलब्धि हो जाती है। अतः अधिकारवृद्धि की स्पृहा का उदय ही नहीं होता।

१—श्रीमिथिलेश नन्दिनी देवी। आप नाम बिनु जो मम सेवी।
ताको निज अपराधी जानौं। प्रणति प्रपत्ति तासु नहिं मानौं॥
प्रथम करै प्रिय रौरी सेवा। तब मम सेवन पाव अछेवा।
जाको आप तनक आदर किय। ताको हम आपन सर्वस दिय॥
प्रथम आपको आत्म समर्पण। करि पाछे हमको रस अर्पण।
—मा० के० का०, पृ० ३१

पहले भक्ति के पंच रसों के अनुसार परिकरों की दिव्यधाम में स्थिति पर विचार हो चुका है। उनके सेवाधिकार भी उसी क्रम से माने गये हैं अर्थात् समीपता के विचार से कैंकर्य के प्रथम अधिकारी शृंगारी अर्थात् सखीभाव के परिकर होते हैं। सखा, दास, स्नेही और प्रजा क्रमशः उनके बाद आते हैं। इन वर्गों में भी वय और भाव के अनुसार जिन्हें जितनी ही अंतरंग सेवा का अधिकार दिया जाता है, वे उतने ही अधिक भाग्यशाली समझे जाते हैं।

नीचे सेवाधिकार के क्रम से उनका परिचय दिया जाता है—

(क) सखीवर्ग

१. सर्वेश्वरी—सखीवर्ग के परिकरों में सर्वोच्च स्थान 'सर्वेश्वरी' का है।[१] ये शृङ्गार रस की आचार्या मानी जाती हैं।[२] लीला की सम्पूर्ण व्यवस्था येही करती हैं। साकेत लीला में इनका स्थान वही है जो वृन्दावन अथवा गोलोकलीला में योगमाया का।[३] दोनों में भेद केवल इतना ही है कि योगमाया लीला का आयोजन ही करती हैं किन्तु सर्वेश्वरी उसके अतिरिक्त अन्य परिकरों की भाँति कैंकर्य भी करती हैं। दंपति की रहस्यतम स्थिति में प्रवेश का इन्हें अधिकार होता है।[४] उस दशा में माननिवारण, दंपति का समागम,

---

१–सर्वेषामपि यूथानां ईश्वरीयं भविष्यति।
अतः सर्वेश्वरी ख्याता सखीनां भुवनत्रये॥
—लोमशसंहिता, पृ० ४९

२–श्रीशृङ्गाररसाचार्या चारुशीला शुचिव्रता।
आज्ञामस्या समीहन्ते षोडशाष्टौ च नायिका॥
—श्रीचारुशीलास्तोत्रम्, पृ० २०

३–अहं हि तस्याः सुखदा सहाया मुख्या सखी चन्द्रकलेति नाम्नी।
इयं मदीयास्ति समस्तमाया योगानुयोगैरमिता जगत्त्रये॥
—लोमश सं०, पृ० १५३

४–पर्यङ्के मणिमंडिते मणिगृहे सर्वर्तुसंशोभने।
रत्नद्योतितदीपके युवतिभिर्द्वारेषु संरक्षिते॥
कामोल्लासविलासविह्वलमना रामो यदा राजते।
जानक्यांशभुजो मनोहरतरो रक्ताम्बुजाक्षो वशी॥
तत्रादौ परिचारिकागणमुखं यस्या विधानेन वै।
नानावस्तुविलाससंचितकरं संवर्तते सर्वदा॥

व्यजनसेवा और उनके मनोरंजनार्थ संगीतसेवा ये ही करती हैं।[1] अन्य परिकरों का वहाँ प्रवेश निषिद्ध होता है।

रसिकों के दो वर्गों में युगलसरकार की षोडश सखियों में, 'श्रीचारुशीला जी' तथा 'श्रीचन्द्रकला' जी पृथक् रूप से सर्वेश्वरी मानी जाती हैं।[2] प्रथम हनुमान जी का महलीसेवा का रूप है और दूसरा भरत जी का।[3] संतों का विश्वास है कि इनकी कृपा से ही दिव्य दंपति की सेवा प्राप्त होती है।[4] परिकरों के सेवावितरण का उत्तरदायित्व इन्हीं पर रहता है।

आनन्दोत्करशालिनीं जनकजां प्राणेश्वरायेप्टदां।
चातुर्याचितलोचनामद्दरद श्रीचारुशीलां भजे॥
—श्रीचारुशीलास्तोत्रम्, पृ० २१–२२
(बृहद्ब्रह्म रामचरण से उद्धृत)

१–रामे कामशरादृते क्वचिदिय सीता मनोमानिनी।
रक्ताम्भोजकलाकुलायसदृशा मौनं गृहीत्वा स्थिता॥
तस्या माननिवर्तने च वचसा सन्दर्भसगुफनं।
कुर्वाणा वरवर्णिनीम् प्रियसखीं श्री चारुशीलां भजे॥
—वही, पृ० १७

२–यद्यापि सखी मुख्या आनश्याः करुणानिधे।
एतासामपि सर्वासां चारुशीला महत्तमा॥
—सर्वेश्वरीमीमांसा, पृ० ५५

या च चन्द्रकला नाम्नी सर्वविद्याविशारदा।
सुदक्षा सर्वकार्येषु दम्पत्यो रसवर्धिका॥
चातुर्यैश्वर्य सौन्दर्यं गुणै कान्तमनोरमै।
लीला वैदग्ध्यभावेन सर्वाभ्यो ह्यतिरिच्यते॥
—लोमशसंहिता, पृ० २०

३–बाह्यकार्येषु प्राधान्य भरतस्य यथामतम्।
तथान्तरङ्गलीलासु श्रैष्ठ्यमस्या मनोरमे॥
—लोमश सं०, पृ० २१

४–दया दृष्टि सर्वेश्वरी, दई जो सेवा जाहि।
भरी प्रेम आनन्दरस, सखी करत सो ताहि॥
—नेहप्रकाश, पृ० ५

२. केलि प्रवर्तिका—[1] केलि प्रवर्तिका सखियाँ चार होती हैं जिनमें एक सर्वेश्वरी भी होती है। इनके नाम हैं—चन्द्रकला, चारुशीला, मदनकला और सुभगा।

३. मुख्य सखी—इनकी संख्या आठ है। इनका विवरण दम्पति की सखियों के प्रसंग में पहले दिया जा चुका है।

४. सखी—मुख्यसखी के बाद सखी का स्थान है। दम्पति की षोडश सखियों में शेष इसी श्रेणी में आती हैं। इनकी नामावली पहले दी जा चुकी है।

५. यूथेश्वरी—प्रत्येक सखी के नीचे सात यूथेश्वरियाँ होती हैं।[2]

६. अनुचरी—प्रत्येक यूथेश्वरी १००० अनुचरियों की स्वामिनी होती है। इसी वर्ग में मंजरी सेविकायें भी आती हैं, जो कैंकर्य में युगलसरकार के अत्यन्त निकट रहती हैं।[3]

मंजरियों के पश्चात् क्रमशः ललना, सहचरी और किंकरी संज्ञक अनुचरियों को सेवाधिकार दिया गया है।

इसी क्रम से कनकभवन में इनके आवासों की भी स्थिति मानी जाती है।

(ख) सखा वर्ग

१. यूथेश्वर—सखाओं में सर्वप्रमुख चारुशीलमणि हैं। इन्हें यूथेश्वर की संज्ञा दी गई है। ये हनुमान जी से अभिन्न, उनके सखारूप हैं। सखाओं की सेवाओं का निश्चय यही करते हैं। सख्यभावोपासकों में यूथेश्वर का पद 'सर्वेश्वरी' के समानान्तर माना जाता है।[4] इनकी सेवा पखा झलने और

१—सखीवृन्दसहस्रेषु मुख्या षोडश कीर्तिता।
षोडशेषु पुनश्चाष्टौ यूथेश्वर्यः प्रकीर्तिताः॥
अष्टास्वपि चतस्रस्तु श्रेष्ठा. केलिप्रवर्तिका।
तासामपि पुनश्चैका मुख्या यूथेश्वरेश्वरी॥
—लोमशसंहिता, पृ० १९

२—रामरसायन, पृ० १५१

३— वही, पृ० १५१

४—चारुशीलमणि लाल, आज्ञा सब सिर पर धरी।
हनुमत वपुष विशाल, चारुशिला यूथेश्वरी॥
—ना० के० का०, पृ० २२

ताम्बूल अर्पित करने की है।[1]

२. सखा—यूथेश्वर के बाद श्रीरामचन्द्र के मुख्य सखाओं का स्थान है। इनकी संख्या और नामावली अन्यत्र दी जा चुकी है।

३. यूथपाल—सखा के अनुवर्ती यूथपाल कहलाते हैं। इनकी संख्या आठ है। यूथपालों के नाम इस प्रकार हैं[2]—

१—सुमद	४—सुबाहु	७—पौरिपाल
२—सुभद्र	५—चपहास	८—वीरमणि
३—सुमुख	६—चन्द्रहास	

इस प्रकार के १०८ यूथपाल प्रत्येक सखा के वशवर्ती होते हैं।

यूथपालों के आदेश में सखाओं के पंचवर्ग कार्य करते हैं। सखाओं के बीच सेवाधिकार में प्राथमिकता का मानदंड वय है। इस विचार से अंतरंग कैंकर्य में मधुर तथा नर्म सखाओं को स्थान दिया जाता है, और बहिरंग सेवा में प्रिय तथा सुहृद सखाओं को। सभामंडप अथवा सर्वतोभवन में सभी एक साथ बैठते हैं।

(ग) दासवर्ग

दासों में भी हनुमान जी ही अग्रगण्य हैं। यहाँ वे अपने प्रकृत किंपुरुष-रूप में आराध्य युगल की सेवा करते हैं। इस वर्ग में अधिकारक्रम से श्रेणी-विभाजन नहीं किया गया है। और न दासों की नामावली ही दी गई है।

स्नेही (वात्सल्य) और प्रज्ञा (शांत) भाव के उपासक किंकरवर्ग में नहीं आते, अतएव साम्प्रदायिक आचार्यों ने उनकी सेवाओं का विधान नहीं किया है।

सेवा-विधि

दार्शनिक दृष्टिकोण से सेवाविधि में जीवात्मा की दो स्थितियाँ होती हैं—सक्रिय और निष्क्रिय। एक में चेतन सजग और सचेष्ट रहता है, दूसरी में निश्चेष्ट। साकेत की अष्टकालीन लीला में ये दोनों दशायें पाई जाती हैं। प्रातः उत्थापन से लेकर शयन के पूर्व तक प्रथम दशा की व्याप्ति रहती है और शयन के समय

१—मधुर बिजन ताम्बूल कृत, बीरी विविध प्रकार।
लिए परस्पर दोउ करन, अमित राज उपचार॥
—मा० के० का०, पृ० १२

२—राम रसायन, पृ० ४८।

सेज सदन मनि सेज रचि, समय सरिस सुख साज।
हँसि जनाय पधराय दोउ, सुमिरहु सुरति समाज॥
पिय प्यारी सुख रस रसैं, बसैं सखी चहुँ ओर।
दृग भोगी तत्सुख लहैं, 'कृपा' रहसि मति बौर॥[1]

यहाँ तत्सुख से अभिप्राय उस परमानन्द से है जिसका भोग अथवा अनुभव, सखियाँ अपने को जानकी जी के रूप में अवस्थित करके करती हैं। इसके पीछे रसिक संप्रदाय का एक गूढ़ सिद्धान्त छिपा हुआ है। अतएव उसकी जानकारी के बिना तत्सुख का वास्तविक अर्थ समझना कठिन होगा।

यह पहले कहा जा चुका है कि रामभक्ति की इस शाखा में ब्रह्म (राम) की पराशक्ति सीता जी की समस्त सखियाँ, उन्हीं की शक्ति अथवा अंश से उत्पन्न मानी जाती हैं। इसी से उनको स्वकीया की संज्ञा मिलती है और सीता का सुख उन्हें अपना सुख प्रतीत होता है। स्वतन्त्र अस्तित्व न होने से सखियों को प्रिय-विहार का सुख, सीता जी के माध्यम से ही प्राप्त होता है। शास्त्रीय दृष्टि से वे सीता जी के द्वारा अनुभूत रसकेलि के परमानन्द अथवा तत्सुख की अधिकारिणी मानी गई हैं, स्वसुख की नहीं। इन दोनों सुखों के दिव्य-दंपति ही अधिकारी हैं। रसिकसाधना के इस गुप्त भेद की व्याख्या करते हुए कामदेन्द्रमणि जी कहते हैं—

तत्सुख स्वसुख द्वै रति प्यारी। तिनके प्रभु दंपति अधिकारी॥
यह अति गुप्त भेद रसरासी। रहैं कछुक रसराज उपासी॥
नित्य अभीष्ट युगल तत्सुख, शुचि। त्यागि अनर्थ मूल स्वसुख रुचि॥[2]

इतना ही नहीं स्वसुख को वे झूठी कल्पना और उसके भोगाकांक्षियों को अधम उपासक कहते हैं—

स्वसुख मतिकृत झूठ कल्पना। उलटि होत तत्सुख सुख अपना॥
उज्ज्वल रस स्वसुख वश होई। है प्रभु अधम उपासक सोई॥[3]

यदि कोई सखी अथवा जीव, जानकी जी की अवहेलना कर स्वतंत्ररूप से श्रीरामचन्द्रजी से शृंगार कर एकान्त सुखभोग की इच्छा से उनके समीप जाये, तो प्रभु उसे अङ्गीकार नहीं करते क्योंकि इससे उनका एकपत्नीव्रत भंग होता है। स्वसुख की अभिलाषिणी सखी निराश होकर लौट आती है।

१—भावनापचीसी, पृ० १२
२—माधुर्यकेलिकादम्बिनी, पृ० ९९ ३—वही, पृ० ९८

स्वसुख चाह चतुर जिनके मन। पुनि नव सप्र साजि गौरवतन ॥
प्रीतम मिलन चाह स्वसुख हित। मिलत न दयत दाह प्रगटी चित।
स्वसुख चाह अपार सोई दुख। लही न सुख प्रिय चात नाहसुख ॥[१]

युगलानन्यशरण जी भी तत्सुख को ही रसिकों का साध्य-तत्त्व बताते हैं और स्वसुख को प्रियतम के प्रति प्रेमभावरहित एक स्वार्थ भावना मात्र मानते हैं—

स्वसुख समेत सनेह खेह सम, स्वाद नेह नहि ता में।
स्वारथ लिये रहत केवल नित, प्रीतम प्यार न जा मे ॥
युगल केलि कमनीय मधुरतर, रचक उदय न पाये।
युगलानन्यशरण तत्सुख सुख, उज्ज्वल ललित ललाये ॥[२]

इनके अतिरिक्त श्रीजानकीवरशरण, श्रीरामरसरगमणि ऐसे अनेक प्रमुख रसिक सत तत्सुखभावना के ही समर्थक हैं।

ख—स्वसुख भावना

इसका प्रवर्तन महात्मा श्रीजनकराजकिशोरीशरण 'रसिकअली' ने किया। ये रसिकाचार्य रामचरणदास जी के साधकशिष्य थे। रसिकअलीजी तत्सुख भावना के समर्थक रसिकों की यह दलील स्वीकार नहीं करते कि चेतन जीवात्मा का जितना स्वसुख है, सब प्रतिकूल और त्याज्य है। उनका कहना है कि 'पूर्वाचार्य शठकोपस्वामी प्रभृति तथा और भी दिव्य सूरियों म माधुर्यभाव जन्य तत्सुख प्रधान होते हुए भी स्वसुख पाया जाता है। क्योंकि श्रृङ्गार रस में पति पत्नीभावना प्रधान है।'

स्वसुख दो प्रकार का होता है। आश्रयजन्य और दिव्य विषयजन्य। आश्रयजन्य-स्वसुख अविद्यामूलक होने से त्याज्य है। श्रीयुगलसरकार की सेवा निष्काम और अनन्यभाव से करनी चाहिये। अर्थ, धर्म, काम, मोक्षादि की प्रातिभावना रखना अथवा श्रीरामचन्द्र जी को छोड़कर अन्य किसी देवता को अपना रक्षक मानना आश्रयजन्य दोष कहा जाता है। दिव्य विषय जन्य स्वसुख अनुकूल है, अतएव त्याज्य नहीं है। यह विषय प्राकृत नहीं है, अप्राकृत एव दिव्य है तथा श्रीयुगलसरकार की कृपा द्वारा ही साध्य है। यदि 'सरकार' अपनी अहैतुकी कृपा से स्वयं साधक अथवा जीव को प्राप्त हो जायँ और वह उस सुख को स्वीकार न करे, तब तो कृपा का ही निरादर हुआ क्योंकि आचार्यों का यह परम सिद्धात है कि पुरुषार्थ तत्सुखरूप और तत्सुख

१—माधुर्यकेलि कादम्बिनी, पृ० ९८

२—मधुर मजुमाला, पृ० २२

तत्कृपोपलब्ध है, इसलिए निर्दोष है, क्योंकि प्रियतम की वह कृपा श्री स्वामिनी जी की कृपाकटाक्ष का ही फल है।'[1]

श्रीरसिकअली जी अन्य प्रकार से भी स्वसुख भावना की समीचीनता की पुष्टि करते हैं। उनका मत है कि 'सर्वशक्तिमान होने से ईश्वर अनेक रूप धारण कर एक साथ ही अनेक आत्माओं अथवा पत्नियों से 'प्रकाश-रूप' में विहार कर सकता है। वह एकदेशीय नहीं है, जो केवल एक बार एक ही पत्नी में रम सके और 'फिर स्वामिनी' जी के रहते हुए भी वे साकेत लोक में अपने नित्य परिकरों के साथ विहार करते ही हैं। तो फिर जानकी जी के ही अंश सही, अन्य सखियों को भी वे केलिसुख उसी प्रकार प्रदान कर सकते हैं, ऐसा मानना असंगत नहीं कहा जायगा। इसके अतिरिक्त भगवान का तो समस्त विग्रह ही आनन्दमय है। जो उनकी सेवा, भजन अथवा स्मरण करता है, वह स्वयं आनन्दमय हो जाता है। यह भी उसका स्वसुख ही है।'

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए वे अन्यत्र लिखते हैं—'प्रियतम के दिव्य मंगलमय विग्रह का दर्शन होने पर यदि उपासक चाहे कि हम सरकार के साथ अंगस्पर्शादि संभोग न करें, तो भी निश्चय करके नहीं रुक सकता। उस दिव्य मंगलमय विग्रह में ही इतनी आकर्षण शक्ति है कि वह अपनी तरफ खींच ही लेता है। यह युगल सरकार की कृपा से साध्य है। गीता में इसी अवस्था का वर्णन करते हुए भगवान ने कहा है—

'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते।'

ब्रह्म-संस्पर्श अथवा प्रिय-केलि का, जीवात्मा अथवा सखी द्वारा अनुभूत यह आनन्द ही, उसका स्वसुख है।'[2]

श्रीरसिकअली जी के उपर्युक्त मत के समर्थक रसिक संत केवल उनकी शिष्यपरम्परा में ही मिलते हैं। अन्य सभी शृङ्गारी आचार्यों ने तत्सुख को ही प्रधान माना है। सख्यभावना के संतों में कोई स्वसुख का प्रतिपादक नहीं है। कामदेन्द्रमणि तथा श्री रामसखे, दोनों की शिष्यपरम्पराओं के सख्यभक्त, तत्सुखप्राप्ति को ही साध्य मानते हैं।

इन दोनों भावनाओं के साहित्य का परिशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि वास्तव में इनमें कोई तात्विक अंतर नहीं है।[3] बाहर से जो भेद दिखाई

१—आत्म सम्बन्ध दर्पण, पृ० ३४ २—वही, पृ० ३८

३—तत्सुख कहत प्रधान बुध, निज सुख भूरि समान।
सो कुर पै प्रभु रूप करि, होत आन की आन॥

देता है, उसका कारण अवस्थाभेद मात्र है। जब तत्सुख का स्वारस्य साधक की सर्वेन्द्रियों में व्याप्त हो जाता है तो वही स्वसुख में परिणत हो जाता है। रासक्रीडा तथा होलिकोत्सव में तत्सुख की नायिका सखियों को प्रियाप्रियतम की परिचर्या करते समय चुम्बन, आलिंगनादि का जो सुख प्राप्त होता है, युगलप्रिया जी के अनुसार, वह उनका स्वसुख ही है।

तत्सुख रास करत सँग प्यारी। लही स्वसुख सम्बन्ध विचारी।
जहँ थल है तहँ जल चलि जावै। सेवा सुख में स्वसुख लखावै॥
होरी में धरि ल्याई सँग में। स्वसुख रह्यो कहुँ दूसर अँग में।[1]

इस प्रकार स्वसुख तत्सुख का ही सिद्धतत्त्व है। रसिकअली जी का तात्पर्य स्वसुख की इसी स्थिति से है। किंतु यह स्वसुख तत्सुखोपलब्ध है, साधक को स्वतंत्र रीति से प्राप्त नहीं। अतएव तत्सुखभोग की अवस्था में जो स्वसुख का अनुसंधान करते हैं उनकी साधना पंकिल हो जाती है। तत्सुख के समर्थक आचार्यों ने स्वसुख के इसी स्वरूप की निंदा की है और उसे त्याज्य बताया है। सारांश यह कि, आत्मस्वरूप का सम्यक् बोध प्राप्त किये बिना जो स्वसुखप्राप्ति की बातें करते हैं, वे भौतिक वासनाओं की तृप्ति को ही भ्रम से ब्रह्मरसभोग मान बैठे हैं। उनकी उस आनन्दसम्मोहावस्था में पैठ नहीं, जो आत्मदर्शी रसिक साधकों का एकमात्र इष्ट तत्त्व है।

लीला में काम

लीला की मूल प्रेरणा ब्रह्म में काम अथवा इच्छा के उदय से होती है। श्रुतियों के अनुसार वही सृष्टिरचना का मुख्य उपादान कारण है।[2] पुरुष और प्रकृति की यह लीला अनादि-अनन्त होने के साथ ही अगम और

सिय जू कृपा स्वसुख अलि भोगहिं। परिहरि कर्म धर्म जप जोगहिं॥
आत्म निवेदन करि सिय हाथा। भई सकल सिय रूप सनाथा॥
सिय आलिंगि महँ नहिं कछु भेदा। यह प्रसंग अति गूढ़ अखेदा॥
—बृहद् उपासना रहस्य, पृ० १६४

१—शृङ्गाररसरहस्य दीपिका, पृ० ११.

२—स वै नैव रेमे। तस्माद् एकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्। ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्। ततो मनुष्या अजायन्त।
—शतपथब्राह्मण, चौ० सू० २०

अगोचर भी है। उसका ज्ञान तत्त्वज्ञानी ही प्राप्त कर सकता है। अतएव, परमतत्त्व को सर्वसुलभ बनाने के लिए, सगुणमार्गी भक्तों ने, जिस प्रकार उसके साकार रूप की कल्पना की है, उसी भाँति उसकी रहस्यमयी क्रीडा को भी उन्होंने मूर्त रूप में देखा है और साकेत, वैकुण्ठ अथवा गोलोक लीला के रूप में उसका चित्रण किया है। पराशक्तिसमन्वित परब्रह्म की वह भोग भूमि मानी गई है। कामतत्त्व का पूर्णतम प्रकाश उसी लोक में दिखाया गया है। किन्तु उस काम में प्राकृत काम की मलिनता और क्षणिकता नहीं है। उसकी पूर्ति अथवा क्षय कभी नहीं होता। उसकी उत्पत्ति और ख्याति लीलाविहारी के संकल्प पर निर्भर रहती है।[1] साकेत का अन्य लीलाविभूतियों की तरह काम भी शुद्ध सत्त्वमय है।[2] वह प्राकृत स्त्री पुरुष के मिलन से उद्भूत संभोगानन्द से सर्वदा विलक्षण और दिव्य है।[3] क्योंकि साधक उसका आस्वादन, भोक्ता के रूप में न करके, भोग्या शक्ति के भावापन्न होकर करते हैं। राम और सीता शृंगार के नायक और नायिका हैं। वे जितेन्द्रिय और सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। उनका संयोग भी नित्य है।[4] अतएव उनके मिलन में वासनातृप्ति का उद्देश्य नहीं रहता। उनकी कामभावना नित्य और शृंगार सिद्धरूप है। उनकी समस्त क्रियायें, चेष्टायें, गुण और लीलाविभूति भक्तों के भावोत्कर्ष के लिये हैं, अपनी इच्छापूर्ति के लिये नहीं। वे तो स्वयं आप्तकाम हैं। रसिक भक्त उनकी विविध क्रीडाओं का ध्यान कर आनन्दमग्न होते हैं। हनुमान, शिव, अगस्त्यादि

१—पर्याप्तास्तव कामस्य कथं स्यामाश्रयस्य यत्।
सङ्कल्पप्रभवं सोऽयं तेनासावुपशाम्यति॥
—शि० सं०, पृ० १८०

२—यावत्कामो बलीयांस्ते तावन्नार्यो न सन्ति ते।
न ते कामो रजोजन्यः शुद्धसत्त्वमयो ह्यसौ॥
—शिवसंहिता, पृ० १८०

३—स्यातां दारपती योमौ तुल्या तावजितेन्द्रियौ।
न च देहद्वयेनास्य शृङ्गारस्य जनिर्मता॥
—वही, पृ० २१५

४—नित्यामृतभुनित्यानभोगोपकरणाकृति।
स्त्रीप्रधानोऽवताराऽयं शृङ्गारोत्कर्षहर्षणं॥
—वही, पृ० २१४

२०. मानस का नवाह्न पाठ	आश्विन एवं चैत्र के नवरात्र में।
२१. रामलीला	आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से पूर्णिमा तक
२२. शरद्रास	आश्विन पूर्णिमा
२३. विजया दशमी	आश्विन शुक्ला दशमी
२४. रासलीला	शरद् पूर्णिमा
२५. हनुमज्जयन्ती	कार्तिक चतुर्दशी (बधाई प्रतिपदा से चतुर्दशी तक)
२६. दीपावली	कार्तिक कृष्ण अमावास्या
२७. अन्नकूट	कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा
२८. अयोध्या की परिक्रमा	अक्षय नवमी
२९. कल्पवास	कार्तिक मास भर
३०. कार्तिकी पूर्णिमा	

दार्शनिक मत

रसिक साधना में सख्य तथा शृङ्गार दोनों भावों के अधिकांश आचार्यों ने स्पष्ट रूप से अपनी उपासनापद्धति को द्वैतपरक माना है। अयोध्या में रसिक सम्प्रदाय के आदिप्रचारक महात्मा रामप्रसाद के शिष्य रघुनाथप्रसाद जी ने अन्य मतों पर श्रद्धा रखते हुए भी अपने को द्वैतमतानुयायी कहा है :—

यक अद्वैत अरु द्वैत मत, पुनि विशिष्ट अद्वैत।
यद्दपि तिहूँ मत स्वामि सो, पै राखत मत द्वैत॥[1]

सख्यभक्ति के प्रवर्तक रामसखे जी, उडुपी की माध्व गद्दी के आचार्य वशिष्ठ तीर्थ के शिष्य थे, अतएव उनको द्वैतवाद गुरु परंपरा से ही मिला था—

माध्व भाष्य निज द्वैतमत, मिलन द्वार हनुमान।
रामसखे विधि सम्प्रदा, उडुपी गुरु अस्थान॥[2]

रसिकाचार्य श्रीरामचरणदास ने 'रामनवरत्नसारसंग्रह' नामक ग्रन्थ में साम्प्रदायिक मत की पुष्टि के लिये 'महाशम्भुसंहिता' से जो उद्धरण दिये हैं वे भी द्वैत दर्शन का समर्थन करते हैं:—

शुद्धं द्वैतमतं विद्धि सेव्यसेवकभावदम्
सामीप्यं च सुमुक्तिं च नित्यं गोलोकधामकम्॥[3]

१—श्रीमहाराजचरित्र, पृ० १००
२—नृत्यराघवमिलन दोहावली, पृ० ६०
३—रामनवरत्नसार संग्रह, पृ० ५५ (महाशंभु संहिता से उद्धृत)

स्वयं रामचरणदास जी की निम्नांकित पंक्तियाँ द्वैतसिद्धान्तपरक प्रतीत होती हैं:—

सुनहु चित्त बुधि मते जीव नहिं मिलत ईस पंह।
दास रूप नहिं मिलत दास होइ रहत ईस पंह॥
यथा बज्रमनि कनी फूटि तेहि मिले न भाई।
मनि समीप जड़ि जाइ परम शोभा अधिकाई॥[1]

इधर कुछ अर्वाचीन रसिक सन्त, जिनमें श्री प्रेमलता जी मुख्य हैं, अपने को विशिष्टाद्वैतमतानुयायी मानने लगे हैं। उसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

विमल आतमा सखी सरूपा, सेवत रुचि लखि दोउ सुर भूपा।[2]
अगणित रूप धारि परधामहिं। सेवत नित सप्रेम सिय रामहिं॥
ब्रह्म जीव मैं ये तिहुँ रूपा। एक अनादि अखण्ड अनूपा॥[3]
यह सु विशिष्टाद्वैत मत, मोर संप्रदा केर।
सत्य सनातन जान जिय, आराधहिं जन ढेर॥[4]

इसी प्रकार 'द्वैताद्वैत' को माननेवाले आचार्य भी इनमें पाये जाते हैं। इस मत के अनुयायियों में महात्मा बनादास का नाम उल्लेखनीय है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

द्वैत माहिं अद्वैत हैं, गुह्य गोपि अतिसार।
ताते द्वैताद्वैत मत, करहिं संत विचार॥[5]

अपने सद्गुरु श्रीसियावल्लभशरण को भी उन्होंने इसी सिद्धान्त का समर्थक बताया है—

द्वैताद्वैत हमार मत, इमि भाखे मो पाहिं।
सोई तुलसी कृत चिपे, भासत मो मन माहिं॥[6]

जिससे यह सिद्ध ही है कि पूर्वोक्त द्वैत और विशिष्टाद्वैत मतों के साथ ही रसिक सम्प्रदाय में द्वैताद्वैत की साधना भी परंपरा से चली आ रही है।

१—रसमालिका, पृ० ४१
२—बृहद् उपासना रहस्य, पृ० ९८
३—वही, पृ० १०३
४—वही, पृ० १०४
५—आत्मबोध, छं० २२२
६—गुरु माहात्म्य, छं० २९४

चौथा अध्याय

परम्परा और तिलक

सगुणोपासना में आचार्य परंपरा तथा तिलक का बड़ा महत्त्व है। साम्प्रदायिक आचार के ये मुख्य अङ्ग माने जाते हैं।[1] संतों की दैनिकचर्या में इनका विधिवत् व्यवहार होता है। पारमार्थिक ज्ञान के आनुपूर्वी क्रमानुसार प्रसारक आचार्यों का कृतज्ञतापूर्ण भाव से स्मरण करना तथा उनके द्वारा प्रदत्त वैष्णवी चिह्नों का धारण करना; रामभक्त भी अपना पवित्र कर्तव्य समझते हैं। रामावत संप्रदाय की विभिन्न शाखाओं के अनुयायी अपने सम्प्रदायविशेष के अन्तरंग सिद्धान्तों का मर्म अन्य शाखाओं में दीक्षित साधकों को तब तक नहीं बताते, जब तक वे उनका तिलक स्वीकार नहीं कर लेते। क्योंकि यही एक ऐसा चिह्न है जिसके द्वारा भक्तों की साम्प्रदायिक विचारधारा की जानकारी उनके स्वरूपदर्शन से हो जाती है। इससे प्रवंचना की गुंजाइश नहीं रह जाती। अन्यथा विचार तो मनुष्य की ऐसी गूढ़तम सम्पत्ति है जिसके अस्तित्व, परिवर्तन और लोप पर, देश-काल का कोई बंधन लागू ही नहीं हो सकता। सांप्रदायिक इतिहास के ज्ञान की कमी, दुराग्रह अथवा पारस्परिक विद्वेष के कारण जब कभी किसी संप्रदायविशेष के लोग इनमें थोड़ा भी परिवर्तन करने का प्रयास करते हैं तो उसके भीतर ही इन प्रश्नों को लेकर घोर विवाद छिड़ जाते हैं और वे संघर्ष तक का रूप धारण कर लेते हैं। रामभक्ति के सांप्रदायिक इतिहास में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

रामानन्दीय संप्रदाय की अन्य शाखाओं की अपेक्षा रसिकों में तिलक की एकान्तनिष्ठा पर अधिक जोर दिया जाता है। इसका कारण है साधना की

१—"ततो द्विराचम्य शरीरशुद्धये स्नानं प्रोक्षणादिकं वा यथाशक्ति विधाय (प्राचीन) गुरुपरम्परानुसंधानपूर्वकं तत्तन्मंत्रानुचार्योर्ध्वपुण्ड्रान्धृत्वा पुनः स्वाचार्यं ध्यात्वा गुरुपरम्परानुसंधानपूर्वकं रहस्यत्रयं चानुसंधाय पश्चात्संध्यावन्दनादि नित्यकर्म वर्णयोर्गाविभिना भगवदाज्ञया भगवत्कैंकर्यत्वेन च कुर्यात्।"

—रामार्चनपद्धति (स्वामी रामानन्द), पृ० ३७

गोपनीयता। सम्प्रदाय के किसी सतविशेष की कृपा से उसकी बाहरग बातों का आभास मिल सकता है किन्तु उसके आधारभूत तत्त्वों का रहस्य 'विजातीय' लोगों पर नहीं प्रकट किया जा सकता। उसके अधिकारी 'सजातीय' साधक ही माने जाते हैं। इसके निर्णय का एकमात्र आधार 'तिलक' है। रसिक संतों में प्रचलित निम्नलिखित जनश्रुति से, सम्प्रदाय के अंतर्गत उसकी प्रतिष्ठा पर, महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है।

रसिकाचार्य रामचरणदास जी ने महात्मा रामप्रसाद जी के शिष्य रघुनाथप्रसाद जी से मंत्रदीक्षा लेकर उनका 'बडगल बेंदी' तिलक धारण किया था। कुछ समय के बाद उनकी इच्छा शृङ्गारी साधना के ग्रन्थों का अध्ययन करने की हुई। ज्ञात हुआ कि रैवासा में स्वामी अग्रदास द्वारा विरचित शृङ्गारी उपासना का एक अपूर्व ग्रथ 'अग्रसागर' सुरक्षित है। उसे देखने के लिए वे वहाँ गये[1] और आचार्य पीठ में रहने लगे। गद्दी के कर्मचारियों से किसी प्रकार उन्होंने 'अग्रसागर' की प्रति निकलवाई और यथावकाश उसका अध्ययन करने लगे। एक दिन उन्हें उक्त ग्रन्थ को पढते हुए उस पीठ के आचार्य ने देखा। उन्होंने तत्काल ही रामचरणदास जी को उसे पढने से रोक दिया और कहा कि परपरा से हमारी गद्दी का तिलक धारण करने वाले को ही इसे देखने की अनुमति दी जाती रही है। अतएव यदि तुम इसके सिद्धान्तों को जानना चाहते हो तो हमारा होना पड़ेगा और वह तभी सम्भव है जब तुम हमारी गद्दी का तिलक धारण कर लो। रामचरणदास जी बडे असमजस में पडे, किन्तु अंत में अपनी उत्कट जिज्ञासा की शाति के लिये वे तिलक परिवर्तन के लिए राजी हो गये। आचार्य ने उनके पूर्व तिलक में से केवल सिंहासन हटाने को कहा। इसके बाद अग्रसागर पढने की आज्ञा उन्हें मिल गई। इस शर्त के साथ कि न तो वे उसकी प्रतिलिपि करेंगे और न उसके तथ्यों को किसी रूप में प्रकाशित ही करेंगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि तिलकपरिवर्तन का उद्देश्य रैवासा गद्दी की मान्यता के अनुसार, ऐश्वर्यद्योतक सिंहासन को हटाना था। रामचरणदास जी के पुराने तिलक में वही एक ऐसा तत्त्व था जिसका इस आचार्यपीठ के तिलक से सैद्धातिक विरोध पडता था।

रसिक रामभक्ति की मूल परंपरायें

रामभक्ति के विकास का ऐतिहासिक विवेचन करते हुए पहले यह दिखाया जा चुका है कि वैष्णवों के चार सम्प्रदायों में रामभक्ति के सूत्र

1—र० प्र० म०, पृ० ४१

श्रीसंप्रदाय तथा ब्रह्मसंप्रदाय अथवा माध्वमत में ही मिलते हैं।[1] अतः उसकी परपरायें भी इन्हीं दो के भीतर स्थापित हुई हैं। इनमें माध्वसंप्रदाय से केवल सख्यभावोपासक रामसखे जी की परंपरा का सम्बन्ध है। इसकी गद्दियाँ रीवाँ, मैहर और अयोध्या में स्थापित हैं। माध्वसंप्रदाय की किसी अन्य रसिक गद्दी के स्थापित होने का पता अब तक नहीं चला है। इसके विपरीत श्रीवैष्णवसंप्रदाय से सम्बन्ध रखनेवाली अगणित रसिक गद्दियाँ देश के कोने कोने में स्थापित हैं। उनके संस्थापक आचार्यों ने उद्देश्यों और साधनों की एकता स्वीकार करते हुए भी व्यक्तिविचार से पृथक् पृथक् परंपराओं का प्रवर्तन किया और अपनी शाखा को अन्य शाखाओं से अलग प्रदर्शित करने के लिए साधारण परिवर्तनों के साथ अपना तिलक भी अलग कर लिया। इतना होते हुए भी वे सभी स्वामी रामानन्द से अपना सम्बन्ध जोड़ने में एक मत हैं और अपनी परंपरा के स्थापक उन्हीं के शिष्यों-प्रशिष्यों में से किसी न किसी को बताते हैं। किन्तु रामानन्द के आगे की परम्परा विवादास्पद हो जाती है। कुछ गद्दियाँ उनका रामानुजाचार्य की परम्परा से सीधा

१–रामचरणदास जी ने रामनवरत्न सारसंग्रह में मंत्रराज परंपरा विषयक एक उद्धरण 'सदाशिव संहिता' से दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि श्री तथा मध्व संप्रदाय में रामभक्ति की परंपरा का प्रवर्तन एक ही स्रोत से माना जाता है। सीता जी ने पहले राममंत्र महाशिव को दिया, उसके पश्चात् हनुमान को। कालान्तर में इन्हीं दो महानुभावों के द्वारा दो संप्रदायों में रामभक्ति का प्रचार हुआ। स्वामी रामानन्द ने उसका प्रचार श्रीसंप्रदाय में और मध्वाचार्य ने ब्रह्म संप्रदाय में किया।

> सीतांकितो धनुर्बाणात् प्रथमं च महाशिवः।
> सीतया चांकितः पश्चाद्धनूमांश्च हरिप्रियः॥
> महाशम्भुः शिवं प्राह स शिवो नारदं तथा।
> नारदश्चाह वाल्मीकिं वाल्मीकिश्च कुशीलवौ॥
> हनूमांस्तु अगस्त्याय अगस्त्यश्च सुतीक्ष्णकम्।
> सुतीक्ष्णेन महाभागा चांकिता बहवो मुने!॥
> भविष्यन्ति कलौ घोरे जीवा हरिबहिर्मुखाः।
> तेषामुद्धरणार्थाय स्वरूपज्ञानहेतवे॥
> रामाज्ञया हनूमांश्च माध्वाचार्यं प्रभाकरं।
> रामानन्दः स्वयं रामो प्रादुर्भूतो महीतले॥
>
> —रा० न० सा० सं०, पृ० ६०

सम्बन्ध मानती हैं। अन्य, उन्हें आचारी वैष्णवों से एक पृथक् परम्परा में आविर्भूत बताते हैं। इस विवाद का एक इतिहास है।[१]

सं० १९७७ के लगभग अयोध्या के कुछ साधुओं की ओर से यह प्रचारित किया गया कि अग्रदास द्वारा लिखित एक ऐसी आचार्यपरम्परा प्राप्त हुई है,[२] जिससे स्वामी रामानन्द का सम्बन्ध, पुरुषोत्तमाचार्य अथवा बोधायन नामक किसी प्राचीन वैष्णवाचार्य से प्रमाणित होता है। रामानुजस्वामी अथवा उनकी परम्परा के किसी अन्य वैष्णवाचार्य का उसमें कोई उल्लेख ही नहीं है। अतएव रामानन्दीय वैष्णवों का रामानुजीय आचार्यों से किसी प्रकार का सम्बन्ध मानना एक भ्रम मात्र है। इसके विरोध में रामटहलदास (प्रयाग) तथा

१—श्री बलभद्रदास, रामानुजीय सम्प्रदाय से सम्बन्धविच्छेद करने वाली इस नई परम्परा के आविर्भाव का कारण रामानुजीय और रामानन्दीय सम्प्रदाय के दो अनुयायियों के बीच व्यक्तिगत विरोध होना मानते हैं। इसको स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं "जब पं० रघुवरदास जी वेदान्ती, वेदान्त पाठशाला अयोध्या में देवशिखामणि रामानुजाचार्य मीमांसक से पढ़ रहे थे, उस समय आपस में रागद्वेष बढ़ जाने के कारण किसी रामानन्दीय श्रीवैष्णव विद्यार्थी ने आपकी जातिपाँति के सम्बन्ध में मीमांसकजी से शिकायत की कि यह द्विजेतर हैं। इस पर मीमांसक पढ़ाने-लिखाने में हिचकिचाने लगे। एक दिन इन्होंने कह दिया कि "तुम लोग रामानुजीय क्यों बनते हो, तुम लोगों के पास रामानुजीयों के अनुष्ठान नहीं हैं। अतः तुम सब अपने समाज को पृथक् क्यों नहीं कर लेते हो।" यह बात रघुवरदास जी के हृदय में बैठ गई, झट अपने साथियों के साथ सलाह विचार कर सम्प्रदाय पृथक् करने की कार्रवाई शुरू कर दी।"

—श्रीस्वामीजी की सेवा, पृ० १०

२—यह परम्परा उज्जैन-कुंभ के अवसर पर रामानंदीय साधुओं की एक सभा में स्वीकृत होकर सं० १९७८ में निम्नलिखित रूप में प्रकाशित हुई थी—

शुभासने समासीनमनन्तानन्दमच्युतम् ।
कृष्णदासो नमस्कृत्य पप्रच्छ गुरुसन्ततिम् ॥ १ ॥

श्रीकृष्णदास उवाच

भगवन् यमिनां श्रेष्ठ प्रपन्नोऽस्मि दयां कुरु ।
ज्ञातुमिच्छाम्यहं सर्वां पूर्वेषां सत्परम्पराम् ॥ २ ॥

बलभद्रदास (काशी) ने कई ग्रन्थ प्रकाशित किये। रामटहलदास ने देश के विभिन्न प्रदेशों में स्थित, प्राचीन रामानुजीय और रामानन्दीय मठों में घूम-घूम कर काफी सामग्री एकत्र की और प्रतिष्ठित पीठों से प्रमाणपत्र भी प्राप्त किये। यह सारी सामग्री स्वसंपादित 'वैष्णवमताब्जभास्कर' के परिशिष्ट में देकर उन्होंने इसका प्रतिपादन किया है कि स्वामी रामानन्द का आविर्भाव रामानुजीय परम्परा में ही हुआ था। उक्त परिशिष्ट में उन्होंने अयोध्या के

मंत्रराजश्च केनादौ प्रोक्तः कस्मै पुरा विभो।
कथं च भुवि विख्यातो मंत्रोऽयं मोक्षदायकः॥ ३॥
कृष्णदासवचः श्रुत्वाऽनन्तानन्दो दयानिधिः।
उवाच श्रूयतां सौम्य वक्ष्यामि तद् यथाकथम्॥ ४॥
परधाम्नि स्थितो रामः पुंडरीकायतेक्षणः।
सेवया परया तुष्टो जानक्यै तारकं ददौ॥ ५॥
श्रियः श्रीरपि लोकानां दुःखोद्धरणहेतवे।
हनूमते ददौ मंत्रं सदा रामाङ्घ्रिसेविने॥ ६॥
ततस्तु ब्रह्मणा प्राप्तो मुह्यमानेन मायया।
कल्पान्तरे तु रामो वै ब्रह्मणे दत्तवानिमम्॥ ७॥
मंत्रराजजपं कृत्वा धाता निर्मोनृतां गतः।
त्रयीसारमिमं धातुर्वशिष्ठो लब्धवान्परम्॥ ८॥
पराशरो वशिष्ठाच्च मुद्रासंस्कारसंयुतम्।
मंत्रराजं पदं लब्ध्वा कृतकृत्यो बभूव ह॥ ९॥
पराशरस्य सत्पुत्रो व्यासः सत्यवतीसुतः।
पितुः षडक्षरं लब्ध्वा चक्रे वेदोपबृंहणम्॥१०॥
व्यासोपि बहुशिष्येषु मन्वानः शुभयोग्यताम्।
परमहंसवर्याय शुकदेवाय दत्तवान्॥११॥
शुकदेवकृपापात्रो ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः।
नरोत्तमस्तु तच्छिष्यो निर्वाणपदवीं गतः॥१२॥
स चापि परमाचार्यो गंगाधराय सूरये।
मन्त्राणां परमं तत्त्वं राममन्त्रं प्रदत्तवान्॥१३॥
गंगाधरात्सदाचार्यस्ततो रामेश्वरो यतिः।
द्वारानन्दस्ततो लब्ध्वा परमब्रह्मरतोऽभवत्॥१४॥
देवानन्दस्तु तच्छिष्यः श्यामानन्दस्ततोऽग्रहीत्।
तत्सेवया श्रुतानन्दश्चिदानन्दस्ततोऽभवत्॥१५॥

इस प्रकार दी हैं—[1]

१ श्री रामचन्द्र	९ श्री महापूर्णाचार्य	१७ श्री रामेश्वर
२ ,, सीता जी	१० ,, रामानुज	१८ ,, द्वारानंद
३ ,, विश्वक्सेन	११ ,, कूरेश	१९ ,, देवानन्द
४ ,, शठकोप (आलवार)	१२ ,, माधवाचार्य	२० ,, श्रियानन्द
५ ,, नाथमुनि	१३ ,, वोपदेवाचार्य	२१ ,, हरियानन्द
६ ,, पुण्डरीकाक्ष	१४ ,, देवाचार्य	२२ ,, राघवानन्द
७ ,, राममिश्र	१५ ,, पुरुषोत्तम	२३ ,, रामानन्द
८ ,, यामुनाचार्य	१६ ,, गंगाधर	

१—रामार्चनपद्धति श्लोक, ३ ५

रामार्चनपद्धति के एक अन्य संस्करण में दिये गये उक्त गुरुपरम्परा सम्बन्धी श्लोकों के अनुसार रामानन्द स्वामी का नाम, श्री रामानुजाचार्य की २१ वीं पीढ़ी में आता है—

> श्री रामचन्द्र सीतां च सेनेशं शठद्विषम् ।
> नाथं च पुण्डरीकाक्षं राममिश्रं च यामुनम् ॥
> पूर्णं रामानुजं चैव कूरेशं च पराशरम् ।
> लोकं देवाधिपं चैव श्री शैलेशं वरवरम् ॥
> नरोत्तमं गंगाधरं सदं रामेश्वरन्तथा ।
> द्वारानन्दञ्च देवं च श्यामानन्दं श्रुतं तथा ॥
> चिदानन्दं च पूर्णं च श्रियानन्दं च हर्यकम् ।
> राघवानन्दशिष्यं श्रीरामानन्दं च सश्रये ॥

—रामार्चनपद्धति सटीक (टीकाकार पं० रामनारायणदास शृङ्गारभवन अयोध्या, प्रकाशक सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचन्द अयोध्या १९१४ ई०)

इसके द्वारा उक्त परम्परा का निम्नांकित रूप सामने आता है—

१. श्री रामचन्द्र	११ श्री कूरेश	२१ श्री द्वारानन्द
२ ,, सीताजी	१२ ,, पराशरभट्टार्य	२२ ,, देवानन्द
३ ,, विश्वक्सेन	१३ ,, लोकाचार्य	२३ ,, श्यामानन्द
४ ,, शठकोप	१४ ,, देवराजाचार्य	२४ ,, श्रुतानन्द
५ ,, नाथमुनि	१५ ,, शैलेश	२५ ,, चिदानन्द
६ ,, पुंडरीकाक्ष	१६ ,, वरवरमुनि	२६ ,, पूर्णानन्द
७ ,, राममिश्र	१७ ,, नरोत्तम	२७ ,, श्रियानन्द
८ ,, यामुनाचार्य	१८ ,, गंगाधर	२८ ,, हर्यानन्द
९ ,, महापूर्णाचार्य	१९ ,, सदाचार्य	२९ ,, राघवानन्द
१० ,, रामानुजाचार्य	२० ,, रामेश्वराचार्य	३० ,, रामानन्द

इसके अनुसार रामानन्द जी का आविर्भाव रामानुज स्वामी की १४ वीं पीढ़ी में होना सिद्ध होता है।

नाभादास जी ने भक्त वैष्णव श्रीआचार्यों का परिचय देते हुए स्वामी रामानन्द को 'रामानुजपद्धति' का अनुयायी और प्रचारक बताया है। 'भक्तमाल' में उनके पूर्ववर्ती आचार्यों का जो वर्णन उपलब्ध है उससे रामानुजस्वामी के बाद रामानन्द जी की गद्दी पाँचवीं ठहरती है—

> श्री रामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वै अनुसर्यो।
> देवाचारज द्वितिय महामहिमा हरिया नंद।
> तस्य राघवानन्द भये भक्तन को मानद ॥
> पत्रावलम्ब पृथिवी करी वसि काशी स्थाई।
> चारि वरन आश्रम सवही को भक्ति दृढाई ॥
> तिनके रामानन्द प्रगट, विश्व मंगल जिन वपु धरयो।
> श्री रामानुज पद्धति प्रताप, अवनि अमृत ह्वै अनुसर्यो ॥[1]

नाभादास द्वारा दी गई उपर्युक्त परम्परा में स्वामी रामानन्द से देवाचार्य[2] तक का विवरण 'रामार्चनपद्धति' से मिलता है, किंतु देवाचार्य से रामानुज स्वामी तक के बीच की आठ पीढ़ियाँ छूट गई हैं। फिर भी इससे उनकी इस स्थापना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि स्वामी रामानन्द, रामानुजाचार्य जी की ही परंपरा के विस्तारक थे।

अन्यत्र उन्होंने स्वामी रामानुज के पूर्ववर्ती श्रीसंप्रदाय के आचार्यों की भी नामावली गिनाई है—

> सम्प्रदाय शिरोमणि सिन्धुजा रच्यो भक्ति वित्तान।
> विष्वक्सेन मुनिवर्य सुपुनि शठकोप पुनीता।
> बोपदेव भागवत लुप्त उधरयो नवनीता ॥
> मंगल मुनि श्रीनाथ पुण्डरीकाक्ष परम जस।
> राममिश्र रसरासि प्रगट परताप परांकुस ॥
> यामुन मुनि रामानुज, तिमिर हरन उदय भान।
> सम्प्रदाय शिरोमणि सिन्धुजा, रच्यो भक्ति वित्तान ॥[3]

१–भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० २८७

२–देवाचार्य श्रीवरवर मुनि के शिष्य थे। इनके बनाये 'वरवर-मुनि शतक' में उनकी रामभक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

३–भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० २६७

आचार्यों के ये नाम 'रामार्चनपद्धति' में दी हुई परंपरा में भी थोड़े हेर फेर के साथ मिल जाते हैं। इससे एक और महत्त्वपूर्ण बात यह ज्ञात होती है कि रामानंदीय परंपरा में श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक लक्ष्मीनारायण और सीता राम दोनों अभेदभाव से पूज्य माने जाते थे। 'रामार्चनपद्धति' में परंपराप्रवर्तक के रूप में जहाँ सीताराम का उल्लेख है वहीं भक्तमाल में 'लक्ष्मी' का नाम दिया गया है। परवर्ती रामभक्तों में इन दोनों परंपराओं का उल्लेख पाया जाता है। किन्तु अब राम को प्रधानता देने के कारण अधिकांश रामानंदीय गद्दियों का सीताराम से ही आरम्भ माना जाने लगा है।

रामानन्दीय सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख भक्तचरितों में भी रामानन्द को रामानुजीय श्रीवैष्णवों की परम्परा में ही स्थान दिया गया है।

महाराज रघुराजसिंह ने 'रामरसिकावली' में रामभक्ति परंपरा के भक्तों का परिचय देते हुए स्वामी रामानन्द की गणना 'अचारी' वैष्णवों में की है[1] और स्वामी रामानुज तथा उनके शिष्य प्रशिष्यों की रामभक्ति का विस्तारपूर्वक परिचय दिया है।

'रसिकप्रकाश भक्तमाल' में दो स्थलों पर प्रसंगवश सांप्रदायिक आचार्यों के कुछ नाम दे दिये गये हैं। एक स्थान पर श्री हरियानन्द के शिष्य राघवानन्द और प्रशिष्य रामानन्द कहे गये हैं[2] और उनके संप्रदाय का नाम 'लक्ष्मी संप्रदाय' बताया गया है अन्यत्र शठकोप रामानुज और रामानन्द को एक ही भक्तिपरंपरा का प्रचारक माना गया है।[3]

इन भक्तगाथाओं के अतिरिक्त, रामभक्तों द्वारा विरचित सामान्य साहित्य में भी सांप्रदायिक आचार्यों की वंदना के प्रसंग में श्रीसंप्रदाय के आचार्यों का सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है। रसिकाचार्य युगलानन्यशरण द्वारा 'सन्त विनय शतक' में क्रम से दिये गये निम्नांकित दोहे प्रकारान्तर से रामानुज स्वामी से रामानंद जी का सम्बन्ध सिद्ध करते हैं—

> श्री श्रीरामानुज सुभग, स्वामी सुपद प्रणाम।
> करौं भरौं आनन्द उर, पावौं नाम ललाम॥

१–शिष्य होन जबते रैदासा। रामानंद कह्यो सहुलासा॥
धर्मकार की जाति तिहारी। शिष्य करैं किमि अहैं अचारी॥
—रामरसिकावली, पृ० ५६६

२–र० प्र० भ०, पृ० १०

३– वही „ १२

जेते श्री मारग निपुण, आचारज गुण ऐन।
नमो निरन्तर दीजिये, राम नाम चित चैन॥
श्री श्रीरामानंद प्रभु, तारक राम स्वरूप।
तिन सरसीरुह चरण नित, नमो नमनतमरूप॥
श्री श्रीअमित प्रकाश मय, अमल अनन्तानंद।
वन्दौं युगल सरोज पद, दीजै नाम अनन्द॥[1]

रूपकला जी ने 'भक्तमाल' की टीका में यह स्वीकार किया है कि नाभादास ने अपनी गुरु-परंपरा स्वामी रामानुजाचार्य से स्थापित की है। उनका कथन है—

"श्री १०८ स्वामी नाभादास जी ने पहिले चारों भागवत संप्रदायों के चारों आचार्यों का वर्णन किया, फिर अपने निज संप्रदाय श्रीसंप्रदाय की वार्ता उठाई; पुनः श्रीगुरु परंपरा का वर्णन स्वामी अनन्त श्रीरामानुज जी से लेके श्रीअनंतानन्द द्वारा अपने गुरु भगवान तक "अर्थात् १०८ श्रीअग्रस्वामी जी पर्यंत गान किया।"[2]

ये तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि रामावत सम्प्रदाय का उद्भव ही श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय से नहीं हुआ है, उसके आचार्यों का सीधा सम्बन्ध भी वैष्णवाचार्यों की उस परंपरा से है जिसमें स्वामी रामानुज अवतरित हुए थे।

रामानंदीय तिलक का परंपरागत स्वरूप

जिस प्रकार रामावत सम्प्रदाय के सिद्धान्त श्रीवैष्णवदर्शन पर आधारित हैं, उसी प्रकार रामानंदीय संतों के पंचसंस्कार भी वैष्णव शास्त्रानुमोदित हैं। तिलक पंचसंस्कार का ही एक अंग है।

स्वामी रामानुज की परलोक यात्रा के कुछ ही दिनों बाद श्रीवैष्णव सम्प्रदाय दो शाखाओं में बँट गया था। एक जो तमिल वेद को प्रधानता देता था—तेङ्कलै कहलाया और दूसरा जिसके अंतर्गत संस्कृत भाषा के शास्त्रों को अधिक आदर की दृष्टि से देखा जाता था—वड्कलै, के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तेङ्कलै के प्रतिष्ठापक लोकाचार्य (१३ वीं शती) थे और वड्कलै के संवर्धक वेदांत-देशिक। सैद्धांतिक मतभेदों के साथ ही इनके तिलक भी दो प्रकार के हो गये।

रामानन्दीय परम्परा में उपर्युक्त दोनों प्रकार के तिलक प्रचलित हुए—एक तिंगल (तेङ्कलै से) कहलाया और दूसरा वडगल (वड्कलै से)। वड्गल

१—सन्तविनयशतक, पृ० ७—८

२—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ३२२

तिलक सिंहासनरहित होता है और तिङ्गल सिंहासनसहित।[1] आगे चल कर संप्रदाय की वृद्धि के साथ तिलकों के विभिन्न प्रकार प्रचलित हो गये, जिनमें तीन विशेष उल्लेखनीय हैं—लश्करी, वेंदीवाले और चतुर्भुजी। रसिक सप्रदाय में प्रथम दो का प्रचार अधिक हुआ।

तिलक के विभिन्न अंग और उनका महत्त्व

रामावत संप्रदाय में तिलक के तीन अग माने गये हैं—सिंहासन—वह भाग जो भ्रुकुटि के सन्धिस्थल के नीचे और नासिकामूल पर रहता है, ऊर्ध्वपुण्ड्र—दो रेखायें जो सिंहासन से मिली हुई मस्तक के दाहिनी और बांई ओर बीच में थोड़ा अवकाश छोड़कर लगायी जाती हैं, और श्रीबिन्दु या श्री रेखा—जो ऊर्ध्वपुण्ड्र की दोनों रेखाओं के बीच मे मस्तक पर धारण की जाती है। ये तीन अग तिंगल तिलक मे तो अनिवार्य रूप से रहते हैं, किन्तु बडगल तिलक मे सिंहासन न रहने से दो ही अंग रह जाते हैं। विभिन्न सप्रदायों में इनके वर्ण बदलते गये हैं। ऊर्ध्वपुण्ड्र श्वेत गोपीचन्दन अथवा रामरज के लगाये जाते हैं। इसी प्रकार उसने मध्य की रेखा अथवा बिन्दु भी श्री (रक्तवर्ण) श्वेत (गोपीचन्दन) अथवा पीत (रामरज या हरिद्रा) की होती है। तिंगल तिलक का आकार अंग्रेजी के y और बडगल का U अक्षर की भाँति होता है।

तिलक के उपर्युक्त तीनों अंगों का आध्यात्मिक महत्त्व है। उनमे सिंहासन—हनुमान जी का प्रतीक है, (कारण यह है कि वे रामलक्ष्मण के दास और मन्त्रदाता होने के साथ ही उनके वाहन अथवा आसन भी हैं) ऊर्ध्वपुण्ड्र की दो रेखाये, रामलक्ष्मण का प्रतिनिधित्व करती हैं और उनके बीच में श्रीबिन्दु अथवा श्रीरेखा सीता जी की उपस्थिति का चिह्न माना जाता है। इस प्रकार तिलक के अन्तर्गत रामभक्ति का पूर्ण स्वरूप आ जाता है। लक्ष्मण, सीता और हनुमान सहित राम में अनन्य निष्ठा स्थापित करने के लिये ही उसको सन्तजीवन के नित्यकर्म में विशेष स्थान दिया गया है। कुछ आचार्यों ने उसकी दार्शनिक व्याख्या भी की है। उनका मत है कि ऊर्ध्वपुण्ड्र की दो रेखायें ज्ञान-विराग की प्रतीक हैं और उनके बीच में स्थित बिन्दु अथवा श्री-रेखा रसात्मिका भक्ति की प्रतिनिधि है[2] अथवा ऊर्ध्वपुण्ड्र की युगलरेखायें ब्रह्म

1—दुइ संख्या सब तिलकनि माहीं। बड्गल यक तिंगल सु कहाहीं।
सिंहासन युत तिंगल राजै। बड्गल बिनु सिंहासन वाजै॥
—वृ० उ० र०, पृ० १४५

2—वृ० उ० र०, पृ० १४५

और जीव स्वरूप हैं और उनके मध्य में स्थित श्रीबिन्दु माया का प्रतीक है।[1] इस प्रकार तिलक के विभिन्न अंगों की योजना में, रामभक्ति शाखा के आचार्यों ने, युगल उपासना का सिद्धान्त सामने रखा है।

रसिक तिलकों की विशेषतायें

रसिक सम्प्रदाय का उत्कर्ष होने पर पूर्वोक्त तीन अंगों के अतिरिक्त तिलक में चार नये अंग और जुड़ गये। ये हैं—चन्द्रिका, मुद्रिका, अर्धचन्द्र और युगलनाम। तिलक के क्षेत्र में इनका आविर्भाव सन्तों में रसिकता की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रवृत्ति का द्योतक है। चन्द्रिका, सीता जी का सौभाग्यसूचक प्रधान अलङ्कार है, इसी प्रकार 'रामनामाङ्कित' मुद्रिका युगलस्नेह की परिचायिका है, अर्धचन्द्र उनके अप्रतिम सौन्दर्य का प्रतीक है और युगलनाम, साधक की युगलनिष्ठा प्रकट करता है। रसिक रामभक्ति की कुछ शाखाओं में ऐश्वर्य सूचक, सिंहासन को हटाकर आन्तरिक विश्वासों की तरह सन्तों के बाहरी बाने में भी माधुर्य का एकाधिकार स्थापित कर दिया गया है। तिलकों की रचना में इस विकास का मूल कारण अलङ्करणप्रियता तथा शृंगारी भावना की वृद्धि थी।

रामानन्दीय संप्रदाय की द्वारा-गादियाँ

स्वामी रामानन्द के बारह शिष्यों में से रसिक गद्दियों की स्थापना का श्रेय विशेष रूप से अनन्तानन्द, सुरसुरानन्द, रामकबीर, भावानन्द तथा इनके शिष्य प्रशिष्यों को है। आगे चलकर इन्हीं की परम्परा में श्रीकृष्णदास पयहारी, कील्हदास, अग्रदास और बालानन्द ऐसी विभूतियों का आविर्भाव हुआ जिनकी साधनाभूमियाँ गलता, रैवासा और जयपुर प्रधान द्वारपीठों के रूप में प्रतिष्ठित हुईं। यह द्रष्टव्य है कि आरम्भ में इन सभी रसिकगद्दियों के प्रवर्तक, मुसलमानी आतंक से सुरक्षित भूमि, राजस्थान में ही आविर्भूत हुए थे। पीछे राजनीतिक परिस्थिति ज्यों-ज्यों हिन्दुओं के पक्ष में परिवर्तित होती गई, उनके अनुयायी उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में फैलकर अपना मत फैलाते गये और चार सौ वर्षों के भीतर ही राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, बंगाल और पंजाब में उनके अखाड़ों की सैकड़ों गद्दियाँ स्थापित हो गईं। धीरे धीरे उनका विस्तार इतना बढ़ गया कि वैष्णवों के ५२ द्वारों में ३६ द्वारे अकेले रामानन्दीय सम्प्रदाय के ही हो गये। इन द्वारा गादियों का नामकरण स्वामी रामानन्द की शिष्यपरम्परा की मूल गद्दियों के चेताने वाले महापुरुषों के नाम पर हुआ है। नीचे इनका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है—

---

[1]—वृ० उ० र०, पृ० १४५

क्र० सं०	द्वारा के प्रवर्तक	गादी का नाम और उसकी स्थिति	परिचय
१.	श्री अनन्तानन्द जी	अनन्त गुफा (मथुरा)	स्वामी रामानन्द के शिष्य थे।
२	श्री सुरसुरानन्द जी	सौरूजी, गंगाघाट तथा सिद्धबाबा का स्थान (आबू)	वही
३.	श्री नरहर्यानन्द जी	गढ़ लाला (राज स्थान)	वही
४.	श्री सुखानन्द जी	धौरातपा (शेखावाटी-जयपुर)	वही
५.	श्री राम कबीर जी	कदमखंडी (गोवर्धन)	ये प्रसिद्ध कबीर से भिन्न, स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा के कोई महात्मा थे।
६	श्री भावानन्द जी	फतहपुर (चूरू रामगढ़ जयपुर)	स्वामी रामानन्द के शिष्य थे।
७.	श्री पीपा जी	रामडा (द्वारका) तथा गागरोन गढ़ (काठियावाड़)	वही
८.	श्री योगानन्द जी	रामकोट (जैसलमेर राजस्थान)	अनन्तानन्द जी के शिष्य थे।
९.	श्री अनभयानन्द जी	चाँदपोल (जयपुर)	रामावत सम्प्रदाय में अखाड़ों के स्थापक महात्मा बालानन्द इसी गद्दी के आचार्य थे।
१०.	श्री कील्हदास जी	गलता (जयपुर)	ये श्रीकृष्णदास जी पयहारी के शिष्य थे। रसिकों का सर्वप्रधान आचार्य पीठ यही माना जाता है।
११.	श्री अग्रदास जी	रैवासा (जयपुर)	ये भी श्रीकृष्णदास जी पयहारी के शिष्य थे। रसिक संप्रदाय के प्रवर्तक की मूल गादी रैवासा ही है।

क्र० सं०	द्वारा के प्रवर्तक	गादी का नाम और उसकी स्थिति	परिचय
१२.	श्री टीला जी	अतेला (जयपुर)	श्रीकृष्णदास पयहारी के शिष्य थे।
१३.	श्री भगवन्नारायण जी	पिण्डोरी धाम (पंजाब)	अग्रदास के शिष्य थे।
१४.	श्री कूबा जी	झीथड़ा (मारवाड़-राजस्थान)	श्री सुरसुरानंद की शिष्य परंपरा में हुए थे।
१५.	श्री दामोदरदास'दुंदराम' जी	रामतीर्थ (पंजाब)	श्री अनभयानंद के शिष्य थे।
१६.	श्री तनतुलसीदास जी	मुड़ियारामपुर (बाराबंकी-उत्तरप्रदेश)	श्री अग्रदास के प्रशिष्य थे।
१७.	श्री देवमुरारी जी	दारागंज बड़ास्थान (प्रयाग)	श्री तनतुलसीदास के शिष्य थे।
१८.	श्री मलूकदास जी	कड़ा मानिकपुर (प्रयाग)	श्री देवमुरारि के शिष्य थे।
१९.	श्री देवमड़गी जी	आगर (इटावा-उत्तरप्रदेश)	श्री तनतुलसीदास के शिष्य थे।
२०.	श्री हटीनारायण जी	आल्हूपुर निवारण (शेखावाटी-जयपुर)	श्री कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे।
२१.	श्री दिवाकर जी	जामलस्थान घोसा (जयपुर) तथा छाला कठोटा (जोधपुर)	श्री अग्रदास के शिष्य थे।
२२.	श्री गोजी जी	पालड़ीग्राम (लोहागढ़-जयपुर)	श्री अनन्तानद के प्रशिष्य थे।
२३.	श्री पूरणवैराठी जी	गरव्या (ग्वालियर)	श्री अग्रदास के शिष्य थे।
२४.	श्री लालतुरंगी जी	हरियाग्राम (महदावल-पंजाब) तथा ध्यानपुर (गुरदासपुर-पंजाब)	श्री तनतुलसीदास के शिष्य थे।
२५.	श्री रामधमन जी	दादुर गाँ का पिंड (पंजाब)	श्री कृष्णदास पयहारी के प्रशिष्य थे।
२६.	श्री रामरावल जी	गोट स्थान (जोधपुर)	श्री अनन्तानन्द के प्रशिष्य थे।

क्र० सं०	द्वारा के प्रवर्तक	गादी का नाम और उसकी स्थिति	द्वाराचार्य का परिचय
२७.	श्री राघोचेतन जी	भाडारेज (जोधपुर)	श्री रामरावल के शिष्य थे।
२८.	श्री नाभा जी	अनासागर (अजमेर) तथा रेवाल सर (रैवासा-जयपुर)	श्री अग्रदास के शिष्य थे। नाभा जी स्वय गुरुसेवा में रहते थे। ये दोनों गद्दियाँ इनके शिष्यों की चेताई हुई हैं।
२९.	श्री गोविन्ददास जी	लोहागर (जयपुर)	श्री नाभा जी के शिष्य थे।
३०.	श्री कर्मचंद जी	देवासा ग्राम (जयपुर)	श्री अनन्तानन्द के शिष्य थे।
३१.	श्री काल्हनयना जी	मेडगोमका ग्राम (जोधपुर)	श्री पूर्णवैराठी के शिष्य थे।
३२	श्री लाहाराम जी	खाडुखडेला (करौलीराज्य-राजस्थान)	श्री टीला जी के शिष्य थे।
३३	श्री हनुमान हठीले जी	महदीपुर (अलवर राजस्थान)	श्री अग्रदास के शिष्य थे।
३४	श्री जंगी जी	पटियाला (पजाब) और झूसी (प्रयाग) में स्थापित इनकी दो गद्दियाँ कही जाती हैं।	श्री अग्रदास के शिष्य थे।
३५	श्री अलखराम जी	अलखगुफा (कामरूप बगाल)	श्री अनन्तानन्द के शिष्य थे।
*३६	श्री रामरमानी जी	मेड़ता (जोधपुर राजस्थान)	श्री अग्रदास के प्रशिष्य थे। कुछ सन्तों का मत है कि जोधपुर जिले के काछु आनन्दपुर नामक गाँव की निवासिनी कर्माबाई इन्हीं की शिष्या थीं।

*अयोध्या से प्रकाशित द्वारागादियों की एक सूची में उनकी संख्या ३७ बताई गई है। उसमें दी गई नामावली से उपर्युक्त विवरण में कुछ भेद है। सर्वश्री हठानारायण, गोविंददास, कर्मचन्द, लाहाराम और जगी जी के स्थान पर श्री रामरगी, माधो, चतुर्भुज, चेतनस्वामी और भगवन्नारायण के नाम दिये गये हैं। धीरम जी इनके अतिरिक्त हैं। —द्रष्टव्य, ध्यानमंजरी, परि०-

रसिक परंपराओं की स्थापना

रामावत सम्प्रदाय की द्वारा गादियों की जो सूची यहाँ दी गई है उससे यह प्रकट होता है कि रामभक्तों के ३६ द्वारपीठों में से १५ केवल अग्रदास की तथा उनकी शिष्यपरम्परा के महात्माओं द्वारा स्थापित हैं। इनके अतिरिक्त श्री कील्हस्वामी, श्री टीलाचार्य, कूबाजी, श्री अनुभवानन्द, श्रीरामकबीर, श्री हेमानन्द (श्री कृष्णदास पयहारी के शिष्य) तथा श्री बलिरामनन्द (श्री सुरसुरानन्द के शिष्य) के 'द्वारों' में भी रसिक साधकों की परम्परायें मिलती हैं। श्री कील्हस्वामी की गलतागादी तो सबकी मूल ही मानी जाती है। इस प्रकार २० से अधिक द्वारपीठ रसिकों के हो जाते हैं। इनकी अनेक शाखा प्रशाखायें भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रसृत हैं। उनमें से यहाँ केवल उन्हीं गद्दियों की परम्पराओं का परिचय दिया जा रहा है जिनमें रसिकसाहित्य तथा साधना के प्रवर्तक, संवर्द्धक और प्रचारक महात्माओं का आविर्भाव हुआ है। ये परम्परायें उसी रूप में दी गई हैं जिस रूप में गद्दियों में वे प्रचलित हैं। इस विषय में साम्प्रदायिक विश्वासों को ही प्रमाण माना गया है। ये चाहे रामानुज स्वामी की परम्परा से अपना सम्बन्ध स्वीकार करते हों या नहीं, इसकी आलोचना जानबूझ कर यहाँ नहीं की गई है।

रसिकों में परंपरानिर्णय के नियम

इसके पूर्व कि प्रधान रसिक गद्दियों की परम्पराओं और तिलकों का विवरण प्रस्तुत किया जाय, यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि साधना के क्षेत्र में रसिकसम्प्रदाय के अन्तर्गत दीक्षागुरु के अतिरिक्त सिद्धगुरु अथवा सद्गुरु का भी महत्त्व है। किन्तु जहाँ तक परम्परा का सम्बन्ध है, दीक्षागुरु को ही मान्यता दी गई है। सद्गुरु तथा साधकशिष्य का सम्बन्ध व्यक्तिगत माना जाता है और साधक के साथ ही उसका अन्त हो जाता है। इतना ही नहीं, साम्प्रदायिक आचार्यों ने दीक्षासम्बन्ध को अधिक स्थायी सिद्ध करने के लिए अपना परिचय देते समय साधकों को पहले दीक्षागुरु का नाम बताकर उसके पीछे सिद्धगुरु का नाम प्रकट करने का निर्देश दिया है। ऐसी व्यवस्था इसलिये की गई है कि मन्त्रदीक्षा एवं पंचसंस्कार साधक के जीवन में केवल एक बार होता है। इसके द्वारा वह वैष्णवसाधना का अधिकारी हो जाता है। तदनन्तर अपनी निष्ठानुकूल वह जिस रस की चाहे, उसके तत्त्वज्ञ आचार्य से, सम्बन्ध-दीक्षा ले सकता है और यदि फिर उसके अतिरिक्त किसी अन्य रस के उपदेश की लालसा जागरित हो तो उसकी भी पूर्ति कर सकता है।

तात्पर्य यह कि मन्त्रदीक्षा के बाद सम्बन्धदीक्षा साधक की व्यक्तिगत रुचि पर आधारित है जिसकी परिवर्तनशीलता सर्वविदित है। अतएव अस्थायित्व के कारण उसकी कोई परम्परा नहीं चलाई जा सकती। इसीलिये विशेष (रस) सम्बन्ध को अल्पस्थायी मानकर सामान्य सम्बन्ध (मन्त्रदीक्षा) को ही शिष्यानुगत होने की व्यवस्था दी गई है।

रसिक गद्दियों की परंपरायें और तिलक

१. गलतागद्दी (जयपुर) की परपरा—

इस गद्दी की स्थापना स्वामी रामानद के प्रशिष्य श्रीकृष्णदास जी पयहारी ने की थी। उनके बड़े शिष्य महात्मा कील्हदास से इसकी परपरा चली। इसके आचार्यपद को 'मधुराचार्य' ओर 'हरियाचार्य' ऐसे प्रसिद्ध रसिक महात्मा अलकृत कर चुके हैं।

तिलक—

सिंहासनरहित श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य म श्रीरेखा।

परंपरा—

१. श्री मन्नारायण
२ " लक्ष्मी जी
३. " विष्वक्सेन
४. " शठकोप
५ " नाथमुनि
६. " पुण्डरीकाक्ष
७. " राममिश्र
८. " यामुनाचार्य
९. " महापूर्णाचार्य
१० " रामानुजाचार्य
११. " गोविन्दाचार्य
१२. " भट्टार्क स्वामी
१३. " वेदान्ताचार्य स्वामी
१४. " कलिजित स्वामी
१५ " कृष्णाचार्य
१६ श्री लोकाचार्य
१७ " शैलेश
१८. " वरवर मुनि
१९. " देवाचार्य
२०. " पुरुषोत्तमाचार्य
२१. " हृयाचार्य
२२. " राघवाचार्य
२३ " रामानंदस्वामी
२४ " अनन्तानद
२५. " कृष्णदास पयहारी
२६. " कील्हस्वामी
२७. " छोटे कृष्णदास
२८. " विष्णुदास
२९ " नारायनदास
३०. " हरिदेवाचार्य
३१ " रामप्रपन्नाचार्य (मधुराचार्य)

३२. श्री हरियाचार्य	३६. श्री सीतारामाचार्य
३३. " प्रियाचार्य	३७. " हरिप्रसादाचार्य
३४. " जानकीदास	३८. " हरिवल्लभाचार्य
३५. " रामाचार्य	३९. " हरिदारणाचार्य

२–रैवासा (शेखावाटी-जयपुर) गद्दी की परम्परा

इस गद्दी के संस्थापक रसिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक अग्रदास जी थे। भक्त-माल के रचयिता नाभाजी इसी गद्दी के शिष्य और 'नेह प्रकाश', 'सिद्धान्त-तत्वदीपिका' आदि साधनात्मक रसिक ग्रन्थों के विख्यात प्रणेता बालअली जी यहीं के आचार्य थे। रसिकों का यह प्रधान पीठ माना जाता है।

तिलक[1]—सिंहासनरहित श्वेत या पीत ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में श्री रेखा, ऊर्ध्वपुण्ड्र की दोनों ओर चन्द्रिका।

परम्परा—

श्रीलक्ष्मीनारायण से लेकर श्रीकृष्णदास जी पयहारी तक इस परम्परा के आचार्यों की नामावली गलता गादी से अभिन्न है। अतएव इसके बाद की परम्परा नीचे दी जाती है—

१. श्री अग्रदास	८. श्री केशवदास
२. ,, विनोदी जी	९. ,, जानकीदास
३. ,, ध्यानदास	१०. ,, सहज रामदास
४. ,, रामचरणदास	११. ,, भागीरथदास
५. ,, बालकृष्णदास 'बालअली'	१२. ,, रामानुजदास
६. ,, सुखरामदास	१३. ,, चतुर्भुजदास
७. ,, रामसेवकदास	१४. ,, जगन्नाथदास

१–अग्रदास जी की गद्दी के विश्रुत आचार्य 'बालअली' तिलकरचना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

> भाल तिलक कर सुनहु विधान। जेहि विधि होइ रचन को ज्ञान।
> नासा मूल आदि सों रचै। केशनि लौं रचि सोभा सचै॥
> तेहि के दक्षिणवाम बनाय। सिय चन्द्रिका छाप प्रगटाय।
> सोहत हरदी की रँगलाल। तिलक मादि रचि रसिक रसाल॥
>
> —सि० त० दी०, पत्र ३८

तिलक-परिचय

तिलक का स्वरूप — **तिलक का विवरण**

१ स्वामी रामानन्दजी का तिलक—
सिंहासन सहित श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में श्री की विल्व-पत्राकार पतली रेखा।

२. श्रीकृष्णदासजी पयहारी (गलता गद्दी) का तिलक—
सिंहासन रहित श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में श्री रेखा।

३. अग्रदासजी (रैवासा गद्दी) का तिलक—
सिंहासन रहित श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में श्री रेखा, ऊर्ध्व पुण्ड्र की दोनों ओर पीत चन्द्रिका।

४. स्वामी बालानन्द जी का लश्करी तिलक—
सिंहासन सहित श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र मध्य में श्वेतरेखा।

३ श्री बालानन्द की गद्दी (जयपुर) की परम्परा—

इस गद्दी की स्थापना तो स्वामी अनभयानन्द ने की थी किन्तु इसकी प्रसिद्धि स्वामी बालानन्द के समय से हुई। ये वही बालानन्द जी हैं जिन्होंने स्वतु संप्रदाय के वैष्णवों को सगठित कर रामभक्तों को, दशनामी शैवों का सामना करने के लिये, अखाड़ों में विभक्त कर सैनिक शिक्षा देने की परिपाटी चलाई थी। सम्प्रदाय के प्रति की गई अमूल्य सेवाओं से इनकी सर्वाधिक ख्याति हुई है। इस गद्दी की शाखायें चारों ओर फैली हुई हैं। इनमें हाथीराम जी का स्थान तिरुपति (दक्षिण भारत), सुरसुरानन्द जी का स्थान सोरोंजीघाट (आबू), भीष्मदास जी का स्थान, गया (बिहार), तथा रघुनाथदास जी की (बड़ी) छावनी अयोध्या, विशेष उल्लेखनीय हैं।

तिलक—सिंहासन सहित श्वेत ऊर्ध्व पुण्ड्र मध्य में श्वेत श्री की रेखा।

बालानन्द जी की परम्परा का तिलक 'लश्करी तिलक' कहलाता है। इसका एक इतिहास है। कहते हैं पहले उनकी परम्परा में ऊर्ध्वपुण्ड्र के बीच में श्रीरेखा धारण करने की प्रथा थी। किन्तु एकबार जब स्वामी बालानन्द जी स्नान कर तिलक लगाने बैठे ही थे, कि दशनामियों के आक्रमण का उन्हें समाचार मिला। ऊर्ध्वपुण्ड्र के बीच में श्रीरेखा धारण करने में देर लगती थी अतएव उसके स्थान पर शुक्ल रेखा ही खींच दी। तब से उनके यहाँ सर्व शुक्ल ऊर्ध्वपुण्ड्र के साथ शुक्ल श्री धारण करने की प्रथा चल गई। तिलक के स्वरूप में यह परिवर्तन सैनिक परिस्थितियों की प्रेरणा से स्वतः हो गया था, अतएव इस का नाम ही 'लश्करी' अथवा 'सैनिक' तिलक पड़ गया।

परम्परा—

श्रीलक्ष्मीनारायण से लेकर स्वामी रामानन्द तक इसके आचार्यों की परम्परा गलता और रैवासा गादियों की परम्परा से मिलती है। स्वामी रामानन्द के शिष्य श्री सुरसुरानन्द की पाँचवी पीढ़ी में अनभयानन्द जी हुए। वे ही इस गद्दी के स्थापक थे।

श्री अनभयानन्द के पूर्व की आचार्यपरम्परा इस प्रकार है—

१ श्री रामानंद	४ श्री विमलानन्द
२ ” सुरसुरानन्द	५. ” सुधीरानन्द
३ ” केवलानन्द	६. ” मानानन्द
	७ ” अनभयानन्द

श्री अनभयानन्द के परवर्ती आचार्यों की नामावली नीचे दी जाती है—

१. श्री अनभयानन्द	८. ,, गमीरानन्द
२. ,, विचित्रानन्द	९. ,, सेवानन्द
३. ,, विमलानन्द	१०. ,, रामानन्द
४. ,, ब्रह्मानन्द	११ ,, ज्ञानानन्द
५. ,, विरजानन्द	१२ ,, माधवानन्द
६. ,, बालानन्द	१३. ,, रामकृष्णानन्द
७. ,, गोविन्दानन्द	

४. श्री टीलाद्वार-पीठ (खेलना भोल्हास-जयपुर) की परम्परा

यह स्थान रामानन्दीय सम्प्रदाय के द्वारपीठों में प्रमुख माना जाता है। इसकी शिष्यपरम्परा में आविर्भूत महात्माओं ने मध्यप्रदेश में अनेक विशाल मठों की स्थापना की है। रतलाम और इन्दौर में इस सम्प्रदाय के संतों का विशेष प्रभाव है। ये संत खाकी अथवा 'मूजिया' कहलाते हैं। डाकोर का खाक चौक इसी परम्परा के महात्मा मंगलदास ने स्थापित किया था। टील जी पयहारी श्री कृष्णदास जी के शिष्य और रसिकाचार्य श्री अग्रदास जी के गुरु भाई थे।

तिलक—सिंहासनसहित श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में श्रीरेखा।

परम्परा

१. श्री कृष्णदास जी पयहारी
२. ,, टीलाचार्य (साकेतनिवासाचार्य)

३. ,, लाहाराम	११. श्री जानकीदास
४. ,, अगद परमानन्द	१२. ,, सहजरामदास
५. ,, गोदावरी दास	१३. ,, मंगलदास
६. ,, भागीरथदास	१४. ,, भरतदास
७. ,, क्षेमदास	१५. ,, मथुरादास
८. ,, रामदास	१६. ,, दामोदरदास
९. ,, छबीलेदास	१७. ,, गोकुलदास
१०. ,, गोवर्द्धनदास	१८. ,, श्रीनारायणदास

५—श्री सूर किशोर जी (श्री जानकी मन्दिर-मिथिला) की परंपरा

श्री सूरकिशोर जी वात्सल्य निष्ठा के भक्त थे। राजपूताने से आकर इन्होंने मिथिला में अपनी गद्दी स्थापित की थी। इनकी परम्परा में प्रचलित तिलक

का विवरण नहीं प्राप्त हो सका। मामा प्रयागदास इन्हीं के शिष्य थे। इनकी परम्परा नीचे दी जाती है।[1]

१. श्री स्वामी रामानन्द	११. श्री रामदास
२. " अनन्तानन्द	१२. " हरिनारायण दास
३. " श्रीकृष्णदास पयहारी	१३. " बलिरामदास
४. " कील्हदास	१४. " सुमिरनदास
५. " परमानन्ददास	१५. " विश्वम्भरदास
६. " माधवदास	१६. " रामगुलेलादास
७. " खेमदास	१७. " नरहरिदास
८. " सूरकिशोर	१८. " हरिभजनदास
९. " मामा प्रयागदास	१९. श्रीरामकृष्णदास
१०. " जनकविदेही	२०. " नवलकिशोरीदास

६. बिन्दुकाचार्य महात्मा रामप्रसाद की परंपरा (बड़ा स्थान-अयोध्या)

अयोध्या में रसिक गद्दियों की स्थापना का श्रेय इन्हीं महाराज को है। ये छंडीले के प्रसिद्ध रामभक्त स्वामी नन्दलाल की गद्दी के शिष्य थे। रसिकाचार्य रामचरणदास इनके प्रशिष्य थे। उन्हें शृङ्गारी साधना का उपदेश इन्हीं से मिला था। उत्तर प्रदेश में इनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा स्थापित अनेक गद्दियाँ पाई जाती हैं। उनमें से कुछ प्रमुख पीठों की परम्परा और तिलक का परिचय नीचे दिया जाता है।

तिलक—सिंहासन सहित श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में श्वेत बिन्दु।

रामप्रसाद जी का सन्तकुल 'बेंदी वाले' के नाम से प्रसिद्ध है। इस 'बेंदी' के विषय में अनुश्रुति है कि एक बार पूजा के समय में कुछ विलम्ब हो जाने के कारण शीघ्रता में तिलक करते समय रामप्रसाद जी, ऊर्ध्वपुण्ड्र के साथ 'श्री बिन्दु' लगाना भूल गये। मन्दिर में श्रीविग्रह की आरती करते समय इनका तिलक अधूरा देखकर जानकी जी ने स्वयं अपने हाथ से इनके मस्तक पर बिन्दु लगा दिया। तब से ये बिन्दुकाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हो गये और

१—श्रीमिथिलाविलास, पृ० २३-२६.

इनके अनुयायी 'बेंदी वाले' कहलाने लगे।[१] इनके सम्प्रदाय में बेंदी अथवा 'शुक्र श्रीबिन्दु' तीन विभिन्न आकारों में धारण किये जाते हैं। इसी आधार पर उसकी निम्नलिखित तीन शाखायें हो गई हैं—

(१) चवन्नी के आकार की बेंदी धारण करने वाले
(२) अठन्नी के आकार की बेंदी धारण करने वाले
(३) रुपया के आकार की बेंदी धारण करने वाले

क महात्मा रामप्रसाद जी की मूल गद्दी की परपरा[२] (बडा स्थान—अयोध्या)

१. श्री रामानद	११. श्री हरीदास
२. ” अनन्तानद	१२. ” रामप्रसाद
३. ” पयहारी श्रीकृष्णदास	१३ ” रघुनाथप्रसाद
४. ” अग्रदास	१४. ” जानकीप्रसाद
५ ” रामभगवान	१५. ” अयोध्याप्रसाद (अवधप्रसाद)
६. ” लक्ष्मणदास	१६. ” उद्धवप्रसाद
७. ” मस्तराम	१७. ” सरयूप्रसाद
८. ” लक्ष्मीराम	१८. ” राघवप्रसाद
९. ” नदलाल (सडीला)	१९. ” गोपालप्रसाद
१०. ” चरणदास (योधाराम)	२०. ” राममनोहरप्रसाद
	२१. श्री रघुवरप्रसाद (वर्तमान)

ख. अयोध्या की प्रसिद्ध मनीराम जी की छावनी के सस्थापक महात्मा मनीराम श्रीरामप्रसाद जी की चौथी पीढी में हुये थे। उस गद्दी पर इस समय[३] महात्मा श्रीरामशोभादास विराजमान हैं। उनकी परपरा इस प्रकार है—

१—तुम जो तिलक किये हैं संकित। पुण्ड्रमध्य श्री बिन्दु न अंकित।
सासें लेहु अमल अनुरागी। मम सौभाग्य चिन्ह बड़भागी॥
अस कहि बिन्दु भाल में दीन्हा। रामप्रसादहि आपन कीन्हा।
बेंदी वैष्णव वृन्द के, भये प्रवर्तक सोय।
मधुरभक्ति रस बेलिको, सींच फुलायो जोय॥
—श्रीमहाराजचरित्र, पृ० ५६—५७

२—श्रीमहाराजचरित्र, परिशिष्ट, पृ० ४

३—अर्थपचक तथा तत्वत्रय (श्री गुरुपरम्परा), पृ० ४०

१. श्री रामप्रसाद	४. श्री मणिरामदास
२. " रघुनाथप्रसाद	५. " वैष्णवदास
३ " हनुमानदास	६. " रामचरणदास (द्वितीय)
	७ " रामशोभादास (वर्तमान)

ग श्रीरामचरणदास महात्मा रामप्रसाद के प्रशिष्य थे, किन्तु जब रैवासा जाकर उन्होंने अपना 'गुरुप्रदत्त' तिलक बदलकर उस गद्दी का तिलक धारण कर लिया, तो गुरुपरंपरा से उनका सम्बन्ध विच्छेद हो गया और उनकी एक अलग परंपरा चली। इसकी गद्दी अयोध्या में जानकी घाट पर स्थापित हुई जिसके तिलक और परंपरा का विवरण नीचे दिया जाता है —

तिलक—रामचरणदास का तिलक श्रीरामप्रसाद की परंपरा के तिलक सा ही है। भेद केवल इतना है कि इसमें सिंहासन नहीं है जिसे उन्हें अपनी 'रसिकता की जिज्ञासा' के मूल्य रूप में रैवासा की गद्दी को भेंट करना पड़ा था। इसमें ऊर्ध्वपुण्ड्र और बिन्दु दोनों पीत होते हैं।

परंपरा—रामानन्द जी से लेकर महात्मा रघुनाथप्रसाद तक इस गद्दी की परंपरा श्रीरामप्रसाद जी की परंपरा से अभिन्न है। श्रीरामचरणदास से नई शाखा चलती है।

(१) श्रीरामचरणदास
(२) श्रीसियारामशरण
(३) श्रीजानकीशरण
(४) श्रीलक्ष्मणशरण (वर्तमान)

घ देवरिया जिले की प्रसिद्ध 'पवहारी' गद्दी (वैकौली) के स्थापक महात्मा लक्ष्मीनारायणदास 'पवहारी' रामप्रसाद जी की गद्दी पर चौथी पीढ़ी में विराजमान अवधप्रसाद जी के शिष्य थे। उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में रामानंदीय सम्प्रदाय की यह एक प्रसिद्ध गद्दी है। वैष्णवाचार तथा नैतिक आदर्शों के निर्वाह के लिये यह पीठ आज भी विख्यात है।

तिलक—सिंहासनसहित श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में पीत बिन्दु।

परम्परा—

१. श्री लक्ष्मीनारायणदास पवहारी	४. श्री मनीरामदास
२. " सियारामदास	५. " उपेन्द्रदास (वर्तमान)
३. " अवधकिशोरदास	

ख जीवाराम जी के शिष्य महात्मा युगलानन्यशरण की लक्ष्मणकिला (अयोध्या) वाली गद्दी की परंपरा एक नई शाखा के रूप में अलग चली। श्री युगलानन्यशरण ही इसके प्रवर्तक थे।

१ श्री जीवाराम 'युगलप्रिया' ४ श्री रामवैजनाथशरण
२ " युगलानन्यशरण ५ " लखनलालशरण
३ " रामोदारशरण ६ " रामदेवशरण
७ श्री सीतारामशरण (वर्तमान)

ग श्रीयुगलानन्यशरण के प्रशिष्य तथा श्रीजानकीवरशरण के शिष्य महात्मा रामवल्लभाशरण से गोलाघाट के 'सद्गुरुसदन' नामक स्थान की परंपरा चली। अब तक उस गद्दी पर श्रीरामकृपालुशरण वर्तमान थे।[1] किन्तु इधर उसका अधिकार विवादग्रस्त हो गया है।

घ श्री युगलानन्यशरण की ही परंपरा में रसिकप्रवर श्रीरामकिशोरशरण भी आते हैं।

१ श्री युगलानन्यशरण ३ श्री रामविहारीशरण
२ " जानकीजीवनशरण ४ " रामकिशोरशरण (वर्तमान)

८. श्रीजनकराजकिशोरीशरण 'रसिकअली' की परम्परा (रसिक निवास—मिथिला तथा अयोध्या)

रसिकअली जी शृङ्गारी साधना के विशिष्ट आचार्यों में गिने जाते हैं। इनके दीक्षागुरु महात्मा राघवदास थे। इनकी अनुमति से उन्होंने शृङ्गारी भावना का सम्बन्ध महात्मा रामचरणदास जी से लिया था। कुछ समय तक अवधवास करने के पश्चात् ये मिथिला चले गये थे और वहीं 'रसिक निवास' स्थापित कर अंत तक रहे। इनकी गद्दियाँ अयोध्या और मिथिला दोनों स्थानों पर पाई जाती हैं।

तिलक—मस्तक पर भृकुटी से केशमूल तक श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में अर्धचन्द्रबिन्दु-सहित श्री की बिंदी, उसके ऊपर पीत चन्द्रिका।[2]

परम्परा—

क. 'रसिक निवास' मिथिला की परम्परा—

१ श्री जनकराजकिशोरीशरण 'रसिकअली' ३ श्री जनककुमारी शरण
२ ,, लाडिलीशरण जी ४ ,, राजीवलोचनशरण

१—श्रीगुरुपरंपरा, पृ० ८ २—सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० ४

ख. श्रीरसिकअली के एक दूसरे शिष्य श्रीरामसेवकशरण से अयोध्या में स्वर्गद्वार पर बावन जी की गद्दी की परम्परा चली।

१. श्रीरसिकअली
२. ,, रामसेवकशरण
३. ,, मिथिलाधिपनंदिनीवल्लभशरण
४. ,, युगलशरण
५. श्री जनकदुलारीशरण
६. ,, जानकीवल्लभशरण
७. ,, सियाशरण (वर्तमान)

९. महात्मा रामदास 'तपसी' की परंपरा (तपसी छावनी—अयोध्या)

इस गद्दी की स्थापना महात्मा रामदास तपसी ने की थी। वे काश्मीर के निवासी थे किन्तु संतवेष धारण करने के पश्चात् उनके जीवन का अधिकांश अयोध्या में ही बीता और यहीं उन्होंने अपनी ऐहिकलीला संवरण की। उनका स्थान अयोध्या के प्राचीन वैष्णव पीठों में प्रतिष्ठित माना जाता है। इस परंपरा में अनेक विरक्त भजनानन्दी महात्मा हुए हैं। संतसेवा इस गद्दी की विशेषता है।

रामदास जी अग्रस्वामी की परंपरा में आते हैं।

परंपरा

१. श्री अग्रदास
२. ,, नारायणदास वेदान्ती
३. ,, तीर्थदास
४. ,, मनोहरदास
५. ,, पूर्णदास
६. ,, सेवादास
७. ,, हरिदास
८. श्री संतदास (प्रथम)
९. ,, रामदास तपसी
१०. ,, सरयूदास
११. ,, लालदास
१२. ,, सीतारामदास
१३. ,, जनार्दनदास
१४. ,, संतदास (वर्तमान)

१०. श्री गोमनोदास जी (हनुमन्निवास-अयोध्या) की गद्दी की परम्परा

महात्मा गोमतीदास जी पंजाब से अयोध्या आये थे। उनके गुरु सरयूदासजी, अमृतसर के निकट दुर्याना मठ के महंत तुलसीदास के शिष्य थे। उनकी गुरुगद्दी तो शृङ्गारी परम्परा की नहीं थी, किंतु वृन्दावन, चित्रकूट और अयोध्या में संतों का सत्संग करने से गोमतीदास जी की रुझान इधर हो गई थी। महात्मा जानकीवरशरण से इन्हें इस ओर आने की विशेष प्रेरणा मिली। इसके फलस्वरूप अयोध्या में 'हनुमन्निवास' नाम की जिस गद्दी की स्थापना इन्होंने की वह आज शृङ्गारीपरंपरा की गद्दी के रूप में ही प्रतिष्ठित है।

तिलक—सिंहासन समेत पीत ऊर्ध्वपुण्ड्र मध्य में श्री की लम्बी रेखा मूल म मोटी ऊपर पतली।[1]

परम्परा—गोमतीदास जी की गुरुपरम्परा के प्रवर्तक श्री रामानन्द जी क शिष्य कोई 'रामकबीर' कहे जाते हैं। नाभादास ने 'भक्तमाल' में रामानन्द जी के १२ शिष्यों की जो नामावली दी है, उसमें 'रामकबीर' नाम नहीं मिलता और यह भी संगत प्रतीत नहीं होता कि ये 'रामकबीर', 'कबीर' ही हों। क्योंकि पंजाब में न तो कबीर ने स्वयं किसी गद्दी की स्थापना की और न दुर्ग्याना की गद्दी कबीरपंथियों से अपना कोई सम्बन्ध ही मानती है। यह सगुणोपासक वैष्णवों का स्थान है। गोमतीदास जी के गुरु स्वयं हनुमान जी के उपासक थे। हनुमन्निष्ठा का भाव इनमें उन्हीं की कृपा से उत्पन्न हुआ। अतएव ये रामकबीर श्री रामानन्द जी की परम्परा में कोई अन्य महात्मा रहे होंगे। नीचे उनकी परंपरा दी जाती है[2] —

१. श्री रामानन्द	९. श्री कृष्णदास
२. " रामकबीर	१०. " रामदास कपाली
३. " श्री नीर	११. " मंगलदास
४. " खीर	१२. " हरिजयदास
५. " जनत्रिलोकी	१३. " तुलसीदास
६. " पीताम्बरदास	१४. " सरयूदास
७. " रामदास	१५. " गोमतीदास
८. " दयानन्द	१६. " रघुनन्दनशरण (वर्तमान)

११. श्री रूपकला जी की गद्दी की परम्परा (रूपकला कुंज अयोध्या)

श्री सीतारामशरण भगवान प्रसाद 'रूपकला' का आविर्भाव १९वीं शती के उत्तरार्ध में हुआ। रसिक साधना का शिक्षितवर्ग में प्रचार बहुत कुछ उन्हीं के प्रयत्न का फल था। बिहार में विशेष रूप से आज भी उनकी परम्परा के हजारों शिष्य मिलते हैं। अयोध्या में उनकी गद्दी नए घाट पर स्थापित हुई। उनकी गुरुपरम्परा छपरा में परसा नामक स्थान की वैष्णव गद्दी से चलती है। वहाँ के महन्त रामचरणदास, इनके गुरु थे।

तिलक—पीत सिंहासन सहित ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में नीचे श्री की बिन्दी,

---

१—महात्मागोमतीदास, पृ० ४२९

२—वही, पृ० ४२५।

ऊपर बिल्वपत्राकार पतली श्रीरेखा, ऊर्ध्वपुण्ड्र के दोनों ओर राम नामांकित मुद्रिका और ऊपर चन्द्रिका की छाप।

परंपरा—परसा की जिस गद्दी से रूपकला जी ने दीक्षा ली थी उसके प्रवर्तक सुरसुरानन्द जी के शिष्य श्री बलियानंद थे।[1]

क. रूपकला कुंज (नयाघाट—अयोध्या) की परंपरा

१. श्री रामानन्द जी	९. श्री करुणानिधान
२. " सुरसुरानंद जी	१०. " केवलराम
३. " बलियानन्द जी	११. " रामप्रसादीदास
४. " सेउरियास्वामी जी	१२. " रामसेवकदास (परसा)
५. " विहारीदास जी	१३. " रामचरणदास
६. " रामदास जी	१४. " सीतारामशरण भगवान प्रसाद 'रूपकला'
७. " विनोदानन्द जी	
८. " धरनीदास जी	१५. " श्रीरघुवंशभूषणशरण (वर्तमान)

ख. रूपकला जी के एक दूसरे शिष्य श्री रामपूजाशरण ने रूपकला मंदिर के पास ही अपना 'दिव्य-कलाकुंज' नामक स्थान स्थापित कर रखा है। इन दिनों अयोध्या के रसिक पीठों में यह विशेष उत्कर्षपर है।

१२. जयपुर मन्दिर (अयोध्या) की परंपरा

अयोध्या के जयपुर मन्दिर की आचार्य परंपरा का सम्बन्ध गलता गादी की उस शाखा से है जिसमें १८ वीं शताब्दी में जयपुर के महात्मा सियासखी का आविर्भाव हुआ था और जिसकी गद्दी आज भी जयपुर नगर में चाँदपोल दरवाजे के निकट सीताराम मन्दिर में स्थापित है। इस गद्दी के प्रवर्तक अग्रदास जी के शिष्य छीतूदास थे। इस परंपरा में सियासखी, चन्द्रअली और रूपसरस ऐसे उत्कृष्ट साहित्यिक महात्मा हुए हैं।

तिलक—सिंहासन सहित श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में नीचे श्री का अर्धचन्द्र, ऊपर बिन्दु, उसके ऊपर पत्राकार पतली श्रीरेखा। ऊपर पीत चन्द्रिका की छाप।[3]

१—श्रीरघुवंशभूषण द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर।

२—श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद जी की सचित्र जीवनी पृ० १०।

३—श्री राजकिशोरीवरशरण द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर।

राजपूताना तथा बुन्देलखण्ड में इस गद्दी ने रसिकभक्ति के प्रसार में स्तुत्य कार्य किया है। इसकी परंपरा इस प्रकार है—[१]

१. श्री रामानंद	११. श्री शिवरामदास
२. ,, अनन्तानंद	१२. ,, सीतारामदास
३. ,, कृष्णदास पयहारी	१३. ,, रामकृष्णदास
४. ,, हेमानंद	१४. ,, लक्ष्मणदास
५. ,, झाँझूदास	१५. ,, गोपालदास 'सियासखी'
६. ,, रामदत्त	१६. ,, बलदेवदास 'चन्द्रअली'
७. ,, रामऋषि	१७. ,, रामानुजदास 'रूपसरस'
८. ,, लक्ष्मीदास	१८. ,, सीतारामशरण 'शुभशीला'
९. ,, दयाराम	१९. ,, सियारामशरण 'सुशीला'
१०. ,, अनंतनारायण	२०. ,, राजकिशोरीवरशरण 'कृपाशीला' (वर्तमान)

३. शीलमणि जी की परंपरा (दरबार लालसाहेब-अयोध्या)

श्री शीलमणि निवासी तो गढवाल के थे, किंतु विरक्त होने के बाद देशाटन करते हुए अयोध्या चले आये थे और यहाँ स्थायी रूप से रहने लगे थे। यहीं उन्होंने पयहारीदास जी से गुरुदीक्षा ली थी। अयोध्या में कनकभवन से संलग्न उसके द्वार पर ही उत्तर ओर 'दरबार श्री लालसाहेब' नाम से उनकी गद्दी अद्यतन स्थापित है। रामसखे जी के बाद सख्यभाव की सांप्रदायिक साधना और प्रचार में इस परंपरा के सन्तों ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

तिलक—श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र-मध्य में श्री की पद्माकार पतली रेखा।

परंपरा—श्री शीलमणि जी की परंपरा का सम्बन्ध अग्रदास जी से है।[२]

१. श्री रामानंद	१०. श्री क्षेमदास
२. ,, अनन्तानंद	११. ,, विष्णुदास
३. ,, कृष्णदास पयहारी	१२. ,, बालकराम
४. ,, अग्रदास	१३. ,, पयहारीदास
५. ,, वैष्णवदास	१४. ,, शीलमणि
६. ,, नारायणदास	१५. ,, सीताशरण
७. ,, सतदास	१६. ,, परमहंस रामदास
८. ,, बालकदास	१७. ,, जानकीजीवनशरण (वर्तमान)
९. ,, प्रेमदास	

१—श्रीविनयचालीसी, पृ० २३ २—श्रीगुरुरामचरितम्, पृ० ५१

१७. श्री वरवर मुनि	२८. श्री दयालदास
१८. " देवाचार्य	२९. " हरिदास
१९. " हर्याचार्य	३०. " द्वारकादास
२०. " राघवाचार्य	३१. " पुरुषोत्तमदास
२१. " रामानन्द	३२ " नरोत्तमदास
२२ " अनन्तानंद	३३. " भगवानदास
२३ " कृष्णदास पयहारी	३४ " रामदास
२४. " कील्ह	३५. " रामप्रियाशरण
२५. " विदेही विष्णुदास	३६. " कामदेन्द्रमणि
२६. " श्यामदास	३७ " रघुनाथ दुलारे
२७. " दामोदरदास	३८. " रघुवरशरण
	३९. " रामराजेन्द्रप्रिय (वर्तमान)

ख. श्रीरामरसरंगमणि की परंपरा

१. श्री कामदेन्द्रमणि	३. श्री लक्ष्मणशरण
२. " रामरसरंगमणि	४. " रसलालमणि (वर्तमान)

१५, पं० उमापति त्रिपाठी 'कोविद' की परम्परा (नयाघाट-अयोध्या)

पं० उमापति जी वात्सल्यनिष्ठा (गुरुभाव) के रामभक्त थे। इस भाव के थे अकेले ऐसे महात्मा थे जिनकी परम्परा अबतक चली आ रही है।

अयोध्या में स्मार्त-वैष्णवों का यह एक मुख्य आचार्य पीठ है। पं० उमापति जी के कोई पुत्र न था अतएव उनके पश्चात् उनके भाई पं० विद्यापति जी त्रिपाठी के वंशजों का ही उस गद्दी पर स्वत्व स्थापित हुआ। कालान्तर में यह गद्दी चार पृथक् पट्टियों में विभाजित हो गई। नीचे उनमें से प्रत्येक की परम्परा दी जाती है।

क १. श्री पं० उमापति त्रिपाठी

२. " " शिवरतनपति त्रिपाठी	४ श्री पं० रामेश्वरपति त्रिपाठी
३. " " निरीक्षणपति "	५. " " चन्द्रेश्वरपति " (वर्तमान)

ख श्री पं० निरीक्षणपति त्रिपाठी के देहावसान के अनन्तर उनके द्वितीय पुत्र श्री शिवेक्षणपति त्रिपाठी ने एक अलग गद्दी स्थापित कर ली। अब उसके अधिकारी उनके पुत्र श्री पं० शिवानन्दपति त्रिपाठी हैं।

ग.

१. श्री पं० उमापति त्रिपाठी	३. श्री पं० बच्चनपति त्रिपाठी
२. " " रंगराजपति त्रिपाठी	४. " " राजारामपति त्रिपाठी

५. श्री प० शीतलपति त्रिपाठी ६. श्री प० बन्धुपति त्रिपाठी
७. श्री पं० सत्यदेवपति त्रिपाठी (वर्तमान)

श्री प० राजारामपति त्रिपाठी की एक नई गद्दी स्थापित हुई जिसपर अब
घ. श्री अम्बिकेश्वरपति त्रिपाठी आसीन हैं।

१६. बाबारघुनाथदास—बड़ी छावनी अयोध्या की परपरा

दास्यनिष्ठा के उन भक्तों में जिनकी गणना रसिकाचार्यों ने रसिक संतो मे की हैं, अयोध्या की बडी छावनी के संस्थापक महात्मा रघुनाथदास जी प्रमुख हैं। उनकी गुरुपरपरा जयपुर की बालानन्द जी की प्राचीन गद्दी से सम्बद्ध है। ये वही 'बालानन्द' हैं जिन्होंने चतुःसंप्रदायी वैष्णवों का संगटन कर दशनामी गोसाइयों के अत्याचारों से सम्प्रदाय की रक्षा की थी। अयोध्या में, राजपूताना से आकर विद्याकुंड नामक स्थान पर इस परपरा का प्रवर्तन महात्मा ब्रह्मानंद ने किया था। कालातर में इसकी दो पृथक् गद्दियाँ स्थापित हो गईं। एक विद्याकुंड और दूसरी बडी छावनी के नाम से प्रसिद्ध है।

तिलक—सर्वेश्वर श्री (लश्करी)

क. विद्याकुंड की परंपरा

१. श्री स्वामीरामानंद	९. श्री मनसारामदास
२. ” भावानंद	१०. ” रामरघुनाथदास
३. ” अनुभवानंद	११. ” धर्मदास
४. ” विरजानंद	१२. ” प्रह्लाददास
५. ” बालानंद	१३. ” जानकीदास
६. ” विट्ठलानंद	१४. ” कान्हरदास
७. ” ब्रह्मानद	१५. ” रामदास
८. ” मानदास	१६. ” जगमोहनदास
	१७. ” रामलखनदास

ख. बडी छावनी की परपरा श्रीधर्मदास (ऊपर की परपरा में स० ११) के एक दूसरे शिष्य श्री प० रामचरणदास से चली। बाबा रघुनाथदास जी के गुरु श्री बलदेवदास इन्हीं के शिष्य थे। मानस के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता रामायणी रामबालकदास इसी गद्दी के कथावाचक थे।

परम्परा—

१. श्री धर्मदास	४. श्री जगन्नाथदास
२. ” बलदेवदास	५. ” ईश्वरदास
३. ” रघुनाथदास	६. ” कौशलकिशोरदास (वर्तमान)

१७. श्री पं० रामवल्लभाशरण जी की परम्परा (जानकी घाट-अयोध्या)

पं० रामवल्लभाशरण जी की गद्दी अयोध्या में जानकीघाट पर स्थापित है। रसिक साधना के सैद्धांतिक साहित्य के प्रणयन और प्रकाशन में इनका विशेष हाथ रहा है। अपने समय के ये अच्छे विद्वान् और रसज्ञ साधक माने जाते थे। इनका सम्बन्ध स्वामी रामानन्द के शिष्य योगानन्द जी के द्वारा, बडी मठिया-आरा (बिहार) से है।

तिलक—श्वेत सिंहासन सहित ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में श्री रेखा

परम्परा—

१. श्री स्वामी रामानन्द	११. श्री लक्ष्मणदास
२. ” योगानन्द	१२. ” देवादास
३. ” मयानन्द	१३. ” भगवानदास
४. ” तुलसीदास	१४. ” बालकृष्णदास
५. ” भागवती	१५. ” वेणीदास
६. ” नयनराम	१६. ” श्रवणदास
७. ” खाम चौगानी	१७. ” रामवचनदास
८. ” ऊधौ मैदानी	१८. ” पं० रामवल्लभाशरण
९. ” खेमदास	१९. ” रामपदार्थदास वेदान्ती
१०. ” रामदास	(वर्तमान)

१८. महात्मा रघुनाथदास 'रामसनेही' की परंपरा (रामघाट-अयोध्या)

'विश्राम सागर' के रचयिता रघुनाथदास 'राम सनेही' की गद्दी अयोध्या में स्थापित है। इन्होंने अपनी गुरु परंपरा का आरम्भ स्वामी रामानुजाचार्य से माना है और अपना द्वाराचार्य अग्रदास जी को बताया है। 'विश्राम सागर' में पूर्वाचार्यों का जो परिचय दिया गया है[1] उसके आधार पर इनकी आचार्य परंपरा नीचे दी जाती है।

१. श्री गोविन्दराम (ये अग्रदास जी की परंपरा में हुए थे)

२. ” संतदास	६. श्री कान्हरदास
३. ” कृपाराम	७. ” हरीरामदास
४. ” रामचरणदास	८. ” देवादास
५. ” रामजनदास	९. ” रघुनाथदास रामसनेही

१—विश्रामसागर, पृ० ६०६

१९ नरघोघी गादी (मिथिला) की परंपरा

इसकी स्थापना महात्मा रामलला[1] ने की थी। ये अनभयानन्द (बालानद की गद्दी जयपुर के प्रवर्तक) की शिष्यपरंपरा में हुए थे। मिथिला की अधिकांश गद्दियाँ इन्हीं महाराज के द्वारा चेताई हुई हैं। उनमें नरघोघी, मटियानी, मिर्जापुर, रामपट्टी, बघनगरी और बसहिया के स्थान विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके पूर्वाचार्यों की परंपरा इस प्रकार है—

१ श्री अनभयानंद (श्री रामानंद जी की सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए)
२. श्री विश्वभरानंद ३ श्री चतुरानद ४ श्री रामलला

इनके द्वारा स्थापित विभिन्न गद्दियों की परंपरा निम्नांकित है—

क नरघोघी गद्दी (मिथिला) की परंपरा।

१. श्री रामलला	६ श्री रघुनाथदास
२. ,, हरिकृष्णदास	७. ,, भगवानदास
३. ,, ब्रजनंदनदास	८ ,, रामप्रकाशदास
४. ,, अलखरामदास	९. ,, अमरदास
५ ,, जयकरणदास	१०. ,, रामलोचनदास

ख मटियानी स्थान (मिथिला) की परम्परा—

१. श्री रामलला	५. श्री रामरक्षादास
२. ,, भक्तराम	६. ,, ललितदास
३. ,, जयकृष्णदास	७ ,, देवादास
४. ,, बनवारीदास	८. ,, लखननारायन दास

बराही, बिडरक, सिमरदेही, बिसनपुर, निपनिया और पुरसैनी की गद्दियाँ इसी से सम्बन्धित हैं।

ग मिर्जापुर स्थान (मिथिला) की परम्परा

१. श्री रामलला	७ श्री लक्ष्मणदास
२. ,, लक्ष्मीरामदास	८. ,, गोपालदास
३. ,, नन्दरामदास	९. ,, रामचरणदास
४. ,, भगवानदास	१०. ,, देवादास
५. ,, रामप्रसाददास	११. ,, आनन्ददास
६. ,, अयोध्यादास	

१–रसिक प्रकाश भक्तमाल में ये जयपुर के प्रसिद्ध महात्मा बालानद जी के बड़े गुरभाई कहे गये हैं। —र० प्र० भ० मा०, पृ० १५

घ. रामपट्टी स्थान (मिथिला) की परम्परा

१. श्री रामलला	७. श्री बलदेवदास
२. ,, पूर्णदास (प्रथम)	८. ,, नरसिंहदास
३. ,, रामचरणदास	९. ,, टीकमदास
४. ,, दयालदास	१०. ,, सत्यदेवदास
५. ,, तिलकदास	११. ,, मनमोहनदास
६. ,, जगन्नाथदास	

२०. बराही गद्दी (मिथिला) की परंपरा

इसके संस्थापक रामललाजी के शिष्य महात्मा भक्तराम थे। इसके अतिरिक्त बिडरक (मिथिला) की गद्दी भी इन्हीं महाराज की स्थापित की हुई है। इनकी परंपरा इस प्रकार है—

क. बराही गद्दी की परंपरा

१. श्री भक्तराम	५. श्री दामोदरदास
२. ,, रामदास	६. ,, दयारामदास
३. ,, घनीरामदास	७. ,, रामलालदास
४. ,, तोतारामदास	८. ,, हरिनारायणदास
	९. ,, रामसुन्दरदास

ख. बिडरक गद्दी (मिथिला) की परंपरा

१. श्री भक्तराम	६. श्री बलभद्रदास
२. ,, ध्रुवदास	७. ,, सीतारामदास
३. ,, बलरामदास	८. ,, रामदीनदास
४. ,, लालदास	९. ,, शुकदेवदास
५. ,, श्यामदास	१०. ,, मधुसूदनदास
	११. ,, नन्दकिशोरदास

२१. पिपरा स्थान (मिथिला) परंपरा

इसे महात्मा रामदास ने चेताया था। वे बराही स्थान की शिष्य परंपरा में हुए थे। इस गद्दी की परंपरा इस प्रकार है—

१. श्री रामदास	४. श्री तुलसीदास
२. ,, सूरदास	५. ,, गोवर्द्धनदास
३. ,, लक्ष्मणदास	६. ,, भगवानदास
७. ,, वृन्दावनदास	

२२. कुडियाघाट स्थान (लखनऊ) की परंपरा

इस गद्दी की प्रतिष्ठा महात्मा मनसारामदास द्वारा हुई थी। ये अग्रदास जी की पाँचवीं पीढ़ी में थे।

१. श्री अग्रदास ३. श्री ध्यानदास
२ " विनोदी ४. " टीकमदास
५. मनसारामदास

मनसारामदास बालअली जी के समकालीन थे। इनके परवर्ती आचार्यों की परंपरा इस प्रकार है—

१. श्री मनोहरदास ५. श्री जगन्नाथदास
२. " रघुनाथदास ६. " कौशल्यादास
३. " प्रहलाददास ७. " बलभद्रदास
४. " मनीरामदास ८. " रामदास
९. श्री रामशोभादास

२३. परमहंस जी का स्थान (गोकुल-व्रजप्रदेश) की परंपरा

परमहंस भगवानदास अग्रदास जी की ग्यारहवीं पीढ़ी में हुए थे, यह स्थान उन्हीं का चेताया हुआ है। इसकी परंपरा नीचे दी जाती है।

१. श्री अग्रदास ८. श्री मस्तरामदास
२. " नारायणदास ९. " आशारामदास
३. " श्यामदास १०. " प्रेमदास
४. " प्रेमदास ११. " परमहंस भगवानदास
५. " प्रहलाददास १२. " सियारामदास
६. " रघुनाथदास १३. " जगन्नाथदास
७. " भगवानदास

२४. रामसखे जी की परम्परा (नृत्यराघवकुंज—अयोध्या तथा मैहर राज्य—विंध्यप्रदेश)

रामसखे जी रामभक्ति में सख्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं। इनकी चार गद्दियाँ अयोध्या में और दो विंध्यप्रदेश में स्थापित हैं। विंध्यप्रदेश की उक्त दो गद्दियों में एक रीवाँ में है, दूसरी मैहर में। गोस्वामी तुलसीदास की हस्तलिखित 'बालकांड' की प्रति अयोध्या में 'श्रावण कुंज' नामक जिस स्थान में है, वह इन्हीं की शिष्यपरम्परा के अधिकार में है। रामसखे जी माध्व-सम्प्रदाय की गद्दी उडुपी (दक्षिण भारत) के शिष्य थे।

तिलक—पीत ऊर्ध्वपुण्ड्र के बीच में पीत बिन्दु।[1]

परम्परा—रामसखे जी की गुरु परम्परा इस प्रकार है—[2]

१. श्री मध्वाचार्य	१३. श्री रघुवर्य मुनि
२. " पद्मनाभ	१४. " रघूत्तम
३. " नरहरमुनि	१५. " वेदव्यासमुनि
४. " माधव	१६. " विद्याधीश
५. " अक्षोमितीर्थ	१७. " वेदनिधि
६. " टीकाचार	१८. " सत्यव्रत
७. " विद्याधिराज	१९. " सत्यनिधि
८. " कवीन्द्रतीर्थ	२०. " सत्यनाथ
९. " वागीशतीर्थ	२१. " अभिनव मुनि
१०. " रामचन्द्र	२२. " सत्यपूर्ण
११. " विद्यानिधि	२३. " वशिष्ठतीर्थ
१२. " रघुनाथाचार्य	२४. " रामसखे

नीचे रामसखे जी तथा इनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा स्थापित छः गद्दियों की परंपरायें पृथक् रूप से दी जाती हैं।

(१) नृत्यराघवकुंज (अयोध्या) की मूल गद्दी की परंपरा

१. श्री रामसखे	६. श्री कामताशरण[3]
२. " सुशीलानिधि	७. " रघुवीरशरण
३. " जानकीशरण	८. " रघूत्तमशरण
४. " रामप्रसादशरण	९. " सीतारामशरण
५. " रामशरण	१०. " सरयूशरण (वर्तमान)

१—भाले च रम्यतिलकं विविरेखदीहं, रामांघ्रिबिन्दुसहितं स च पीलमध्ये।
—श्रीसम्प्रदायभास्कर, पृ० १७

देहिं पीत निरमायल चंदन। हरदीबिन्दु पीत जगवन्दन॥
—नृत्यराघवमिलन दोहा०, पृ० ४८

२—संप्रदायभास्कर, पृ० ५

३—इनके समय तक नृत्यराघव कुंज (अयोध्या) और मैहर की गद्दी का एक ही महंत होता था। इनके पश्चात् दोनों स्थानों पर दो महंत अलग अलग नियुक्त किये जाने लगे।

(२) मैहर (विंध्यप्रदेश) में स्थापित रामसखे जी की गद्दी की परंपरा श्री धामताशरण तक एक ही रही। उनके पश्चात् उस गद्दी पर उनके शिष्य श्री रामसुन्दरशरण बैठे।

१. श्रीरामसुन्दरशरण २. श्रीरामरँगीलेशरण

३. श्री प्रमोदवनविहारीशरण (वर्तमान)

(३) रामसखे जी की बगिया (अयोध्या) की परंपरा के प्रशिष्य श्री जानकीशरण नृत्यराघवकुंज के महन्त थे। उनके शिष्य महात्मा अवधशरण ने 'रामसखे जी की बगिया' में एक पृथक् गद्दी स्थापित कर ली थी। उसकी परंपरा इस प्रकार है—

१. श्रीअवधशरण ३. श्री धामताशरण

२. ,, राम भवनशरण ४. ,, रामेश्वरशरण (वर्तमान)

(४) श्रावण कुंज (अयोध्या) में रामसखे जी के शिष्य श्रीशीलनिधि की गद्दी स्थापित है। उसकी परम्परा नीचे दी जाती है—

१. श्रीशीलनिधि ५. श्रीरामकिशोरशरण

२. श्रीचिननिधि ६. श्रीरामप्रियाशरण

३. श्रीरघुवरसखा ७. श्रीजनककिशोरीशरण[1]

४. श्रीहनुमानशरण 'मधुरअली' ८. सरयूशरण (वर्तमान)

(५) रीवाँ नगर में स्थापित रामसखे जी की गद्दी की पृथक् परम्परा श्रीरघुवरसखा के शिष्य श्री नृत्यराघवशरण से चली।

१. श्री रघुवरसखा ४. श्री अवधविहारीशरण

२. ,, नृत्यराघव शरण ५. ,, गंगाशरण (वर्तमान)

३. ,, साकेतविहारीशरण

(६) सरयू-मन्दिर (अयोध्या) की परम्परा श्रीअवधशरण के एक दूसरे शिष्य श्री भरतशरण से चली।

१. श्री अवधशरण ४. श्री रामअधारशरण

२. ,, भरतशरण ५. ,, सिद्धमुनि शरण (वर्तमान)

३. ,, रामभद्रशरण

१—इनके पश्चात् इस गद्दी की परम्परा का अन्त हो गया अतएव नृत्यराघव कुंज के महन्त श्री सरयूशरण ही उसके अधिकारी हो गये।

आचार्यों का 'सखी' रूप—

साम्प्रदायिक परंपरा में आचार्यों के तीन रूप[1] माने जाते हैं—आचार्य, दास और सखी। इनमें प्रथम रूप से वे विश्व में जीवोद्धार के लिए साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का प्रवर्तन और प्रचार करते हैं, दूसरे रूप से आराध्य का बहिरंग कैंकर्य करते हैं और तीसरे रूप से अंतःपुर में 'युगलसरकार' की सेवा करते हैं। आचार्यों के इन तीनों रूपों के नाम भी पृथक्-पृथक् हैं। प्रथम दो नाम लोकव्यवहार के लिए होते हैं। इनसे प्रायः लोग परिचित हैं, अतएव यहाँ रसिक सम्प्रदाय में प्रचलित उनके तीसरे 'सखी' भावपरक अथवा 'महली' नामों की सूची दी जाती है—[2]

स्थूल शरीर सम्बन्धी नाम	आत्मसम्बन्धी (महली) नाम
१. श्री हनुमान जी	श्री चारुशीला जी
२. " ब्रह्मा जी	" विश्वमोहिनी जी
३. " वशिष्ठ जी	" ब्रह्मचारिणी जी
४. " पराशर जी	" पापमोचना जी
५. " व्यासदेव जी	" व्यासेश्वरी जी
६. " शुकदेव जी	" सुनीता जी
७. " पुरुषोत्तमाचार्य जी	" पुनीता जी
८. " गंगाधराचार्य जी	" गाधवी जी
९. " सदाचार्य जी	" सुदर्शना जी
१०. " रामेश्वराचार्य जी	" रामअली जी
११. " द्वारानन्द जी	" द्वारावती जी
१२. " देवानन्द जी	" देवअली जी
१३. " श्यामानन्द जी	" श्यामाअली जी
१४. " श्रुतानन्द जी	" श्रुताअली जी
१५. " चिदानन्द जी	" चिदाअली जी
१६. " पूर्णानन्द जी	" पूर्णाअली जी

१—त्रिधारूपेण वर्तन्ते महतां धर्मशालिनाम्।
आचार्यत्वेन ब्रह्माण्डे दासरूपेण सन्निधौ॥
रामस्यान्तः पुरे ते वै सखीरूपाः प्रियानुगाः।

—रहस्यरामायण से

२—श्री प्रेमलता जी का बृहद् जीवनचरित्र, पृ० ९-१०

स्थूल शरीर सम्बन्धी नाम	आत्मसम्बन्धी (महली) नाम
१७. श्री श्रियानंद जी	श्री श्रियाअली जी
१८. ” हरियानद जी	” हरिसहचरी जी
१९. ” राघवानंद जी	” राघवअली जी
२०. ” रामानन्द जी	” रामानन्ददायिनी जी
२१. ” सुरसुरानद जी	” सुरेश्वरी जी
२२. ” माधवानन्द जी	” माधवाअली जी
२३. ” गरीबानन्द जी	” गर्वहारिणी जी
२४. ” लक्ष्मीदास जी	” सुलक्षणा जी
२५. ” गोपालदास जी	” गोपाअली जी
२६. ” नरहरिदास जी	” नारायणी जी
२७. ” अग्रदास जी	” अग्रअली जी
२८. ” तुलसीदास जी	” तुलसीसहचरी जी
२९. ” बालानन्द जी	” बालअली जी
३०. ” केवलकूबाराम जी	” कृपाअली जी
३१. ” चिंतामणिदास जी	” चिंतामणि जी
३२. ” दामोदरदास जी	” मोददायिका जी
३३. ” हृदयराम जी	” उल्लासिनी जी
३४. ” मौजीराम जी	” हरिमना जी
३५. ” हरिभजनदास जी	” हरितल्ता जी
३६. ” कृपाराम जी	” करुणाअली जी
३७. ” रतनदास जी	” रत्नावली जी
३८. ” नृपतिदास जी	” नीतिल्ता जी
३९. ” शंकरदास जी	” सुशीला जी
४०. ” जीवाराम जी	” युगलप्रिया जी
४१. ” युगलानन्यशरण जी	” हेमलता जी
४२. ” जानकीशरण जी	” प्रीतिल्ता जी
४३. ” रामवल्लभाशरण जी	” युगलविहारिणी जी
४४. ” सियालालशरण जी	” प्रेमल्ता जी

पाँचवाँ अध्याय

रसिक साहित्य और उसके निर्माता

(क) रसिक साहित्य

रसिक धारा के कवियों की साहित्यरचना का मुख्य उद्देश्य, साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का विवेचन, श्रीसीताराम की विहार लीलाओं में रुचि उत्पन्न करना तथा साधना के विविध अंगों को हृदयंगम कराना है। ऐसी दशा में इसके अंतर्गत शुद्ध साहित्यिक प्रवृत्तियों का अनुसन्धान करना और फिर तदनुकूल मानदण्ड से इस महान् एवं विविधभावसमन्वित वाङ्मय का मूल्यांकन करना न्यायसंगत न होगा। यह साहित्य देशव्यापी राजनीतिक कलह एवं सामाजिक अधःपतन के दिनों में ही विकसित हुआ। ऐसी दशा में यही क्या कम हुआ कि, उसने विषयग्रस्त वातावरण में भी रामभक्ति की मर्यादा से पुष्ट मधुर उपासना के प्रति जनसाधारण की भावना उद्बुद्ध की और उसकी शृंगारी प्रवृत्ति को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख कर, परिष्कृत किया। इसके प्रभाव से तत्कालीन विषम परिस्थितियों में भी जनजीवन उल्लासपूर्ण बना रहा। अतएव रसिक साहित्य का वास्तविक महत्त्व एक उत्कृष्ट साधनापद्धति के चित्रण में है और इस दृष्टि से रसिक संतों की भावात्मक एवं सैद्धान्तिक कृतियों में उच्च कोटि का साहित्य पाया जाता है।

रसिक सिद्धान्त और साहित्य

रसिक सिद्धान्तों का प्रभाव साम्प्रदायिक तथा सामान्य दोनों प्रकार के साहित्य पर पड़ा है। साम्प्रदायिक क्षेत्र में विषय के साथ शैली भी प्रभावित हुई है, किन्तु सामान्य साहित्य के क्षेत्र में वह विषय तक ही सीमित रह गया है। साम्प्रदायिक साहित्य का विषयतत्त्व सिद्धान्तों से कितना ओतप्रोत है, इसका परिचय साधना के प्रसंग में पहले दे दिया गया है। यहाँ केवल शैलीगत प्रभाव का विवेचन किया जायगा। इसके साथ ही सामान्य काव्य में लक्षित होनेवाली रामकाव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला जायगा।

रसिक सिद्धांतों का साम्प्रदायिक साहित्य पर प्रभाव

रसिक साधना में सीताराम के केवल मधुर चरितों के ही वर्णन एवं कीर्तन का विधान है। वनयात्रा तथा उससे सम्बद्ध दुःखकथाओं का चित्रण निषिद्ध

माना गया है। महाराज रघुराजसिंह ने 'रामस्वयंवर' के आरंभ में इसका उल्लेख करते हुए कहा है—

> बहुरि स्वामिनी हरन महादुख, बरनि जाइ कहु कैसे।
> पुनि वियोग जगजननि नाथ को, लागत कथन अनैस ॥
> ताते मम हरि गुरु निदेसदिय, बालकांड भरि पाठा।
> करहु तजहु दुख कथा जथा लै, घृत बुध त्यागत माठा ॥
> ताते राम स्वयम्बर गाथा, रचन आस उर लाई।
> रघुपति बाल चरित्र विवाह, उछाह देहुँ मैं गाई ॥[1]

यहाँ इस तथ्य का भी संकेत मिलता है कि महाराज रघुराजसिंह को राम चरित में 'दुखकथा' वर्णन न करने का आदेश अपने गुरु द्वारा प्राप्त हुआ था। इससे रसिकों में उक्त सिद्धान्त की व्यापकता का पता चलता है। मामा प्रयाग दास, रामवनगमन की कथा सुनकर कितने विह्वल हो गये थे, इसका उल्लेख उनकी जीवनी में किया जायगा।

उपर्युक्त प्रतिबन्ध के कारण रसिक सम्प्रदाय में प्रबन्धकाव्यों की रचना को प्रोत्साहन नहीं मिला। जिन कवियों ने इसका प्रयास भी किया, वे सफल न हो सके। उदाहरण के लिये 'रसिक विहारी' का 'रामरसायन' लिया जा सकता है। इसमें पूरी रामकथा दी गई है। किन्तु रामस्वयम्बर की तरह विस्तार पूर्वक वर्णन मुख्यकथाओं का ही किया गया है। अन्य कथायें चलते ढङ्ग से अत्यन्त संक्षिप्त रूप में कह दी गई हैं। कथा के भीतर कहीं-कहीं ऐसी घटनायें समाविष्ट हैं जिनसे रामचरित की मर्यादा के साथ प्रबन्ध की गरिमा भी कुंठित हो गई है। 'सप्तम विधान' के अन्तर्गत 'गोरागकथा वर्णन' शीर्षक, एक प्रसंग की कल्पना की गई है।[2] वानरयूथपति नल, राम रावण युद्ध की समाप्ति के पश्चात् लंका जाते हैं, वहाँ एक राक्षसी से उनका प्रेमव्यापार होता है, राम इसकी सूचना हनुमान द्वारा पाते हैं, किन्तु नील को क्षमा कर देते हैं। चलते समय उस राक्षसी को विमान पर बैठाकर समुद्रतट तक लाते हैं और वहाँ यह वरदान देकर उसे छोड़ देते हैं कि कलियुग में तुम्हारी संतानें भूमण्डल का राज्य करेंगी।', उसी राक्षसी के वंशज अंग्रेज हैं', रसिक विहारी जी की धारणा है कि नल की संतान होने से ही वे शिल्प कर्म में अद्वितीय हैं। इसी प्रकार वीरमणियुद्ध[3], विद्युन्मालीयुद्ध[4], हिंडोल

1—रामस्वयम्वर (संक्षिप्त), पृ० २
2—रामरसायन, पृ० ४९८
3— वही, पृ० ५६५
4— वही, पृ० ५९४

विहार[1], अष्टयाम लीला[2] आदि प्रसंगों में भी कवि ने रसिकसाधना के सिद्धान्तों को महाकाव्य के ढाँचे के अन्दर पकड़-पकड़कर भरा है। रामचरित में वियोग शृंगार की पूर्ति के लिए भी उन्होंने एक मौलिक कथानक जोड़ा है। राम अपने साले लक्ष्मीनिधि के अनुरोध से भाइयों और सखाओं सहित 'पहुनई' करने जनकपुर जाते हैं।[3] वहाँ एक वर्ष तक साली-सरहजों के बीच सारी मंडली हास परिहास में मग्न रहती है। इस लम्बी अवधि में सीता, उनकी बहनों और सखाओं की स्त्रियों को विरहनिवेदन का अच्छा अवसर मिल जाता है। रसिकविहारी ने षड्ऋतुओं के अनुसार इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[4] यह योजना कृत्रिम सी लगती है, वस्तुस्थिति की प्रेरणा का प्रकृत प्रसंग में सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार 'रामस्वयंवर' के रचयिता रघुराजसिंह और 'सुसिद्धान्तोत्तम' के निर्माता रुद्रप्रतापसिंह प्रसंगयोजना तथा सम्बन्ध निर्वाह में बहुत अंश तक असफल रहे हैं। इसका मुख्य कारण रामभक्ति का शृंगारी प्रवृत्तियों को लेकर इस काल के कवियों का प्रबन्धरचना के क्षेत्र में उतर पड़ना था। इसलिये वर्णनात्मकता, विस्तारप्रियता, वस्तुगणना की प्रवृत्ति और शृंगारी प्रसंगों का प्राचुर्य अधिकांश रसिक प्रबन्धों के सामान्य दोष हैं। कुछ प्रबन्धकार ऐसे भी हैं जो शृङ्गारी भावों को महाकाव्यों के भीतर यथावकाश योजना करते हुए भी सजग एवं संयमित रहे हैं। महात्मा बनादास एक ऐसे ही संत कवि हैं। उनके 'उभय प्रबोधक रामायण' में रामचरित को जो उज्ज्वलता प्रदान की गई है, वह तुलसी के परवर्ती अन्य प्रबन्धकाव्यों में दुर्लभ है। किंतु ऐसे ग्रंथों की संख्या बहुत कम है। वास्तव में उत्कृष्ट महाकाव्यों के लिये जैसे वातावरण की आवश्यकता होती है, उसका रसिक साहित्य के उत्थानकाल में सर्वथा अभाव था।

रसिक आस्था, मुक्तक शैली के अधिक अनुकूल पड़ती है, अतएव रसिक साहित्य में उसका सर्वाधिक विकास हुआ। समकालीन एवं पूर्ववर्ती साहित्य में इस शैली के जितने रूप प्रचलित थे, रसिक कवियों ने प्रायः उन सब पर कलम आजमाई। कवित्त, सवैया, कुंडलिया, दोहा, बरवै और पद की तो बात ही क्या, निर्गुण धारा के अरिल्ल, सूफियों के रेखते और उर्दू कवियों के गजल भी नहीं छूटने पाये। कुछ भावुक संतों ने सोहर, कजरी, चैता, झूमर, बारहमासा, आल्हा और अन्य लोकगीतों के ढंग की भी रचनायें की हैं। रामचरणदास

1—रामरसायन पृ० ५०९ 2—वही, पृ० ५०२
3—वही, पृ० ५२८–५४४ 4—पृ०, ५३८–३०

और सीताप्रसाद ऐसे प्रतिभासम्पन्न कवियों ने सुगधा, अनरदोखर, चचरीक, मनोरम, शौरिणी, शिखरिणी इत्यादि अप्रचलित छंदों का भी सफलतापूर्वक प्रयोग करके अपने पिंगलज्ञान का परिचय दिया है। किन्तु उनमें सबसे अधिक प्रयोग पद अथवा भजन-शैली का हुआ है। रसिक साधना में सखी भाव के उपासक संगीत-सेवा को बड़ा महत्त्व देते हैं। युगल सरकार की मुख्य सखियों में श्री चारुशील जी की वीणासेवा और चन्द्रकला जी की मृदंगसेवा प्रसिद्ध है। उनके उपासक इसीलिये संगीत के प्रेमी होते हैं। महात्मा रामप्रसाद अपनी सेवा वीणा की ही मानते थे। सख्यभावोपासकों में रामसखे तथा श्याम सखे संगीत के प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इनकी पदावलियाँ राग रागिनियों की अद्भुत कोष हैं। इन संतों की संगीतप्रियता से रामकाव्य में गेय पदों की रचना में अभूतपूर्व विकास हुआ।

रसिक साधना में भक्ति तथा काव्य के सभी रसों को उचित स्थान मिला है, यद्यपि उनमें प्रधानता शृङ्गाररस की ही है। शृङ्गार के बाद, निर्वेद के कारण, शांतरस की रचनाएँ सबसे अधिक संख्या में पाई जाती हैं। वीररस की कृतियाँ बहुधा सख्य भाव के उपासकों की हैं। वे अपने को रघुवंशी राजकुमार मानते हैं। उनकी सेवा शस्त्रशिक्षा, आखेट, युद्ध-यात्रा इत्यादि क्रीडाओं में अपने प्रिय सखा राम के साथ रहने की है। अतः वीरभाव उनकी आराध्यनिष्ठा का प्रधान अंग है। शीलमणि जी की 'सियावर मुद्रिका' के मंजु छन्द में और सीताप्रसाद जी के 'दूलह विनोद' में शारिणी छन्द में वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है। महाकाव्यों में यत्रतत्र भयानक, रौद्र और वीभत्स रसों की भी अभिव्यक्ति हुई है। सारांश यह कि शृङ्गार को प्रमुख स्थान देते हुए भी रसिक संतों ने अन्य रसों की उपेक्षा नहीं की है। इससे रामकाव्य का भावक्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है।

रसिक सिद्धान्तों का सामान्य साहित्य पर प्रभाव

रसिक साधना का देश के विभिन्न प्रदेशों में ज्यों ज्यों प्रचार बढ़ता गया, त्यों त्यों लोग उसकी ओर अधिक आकृष्ट होते गये। यद्यपि साम्प्रदायिक आग्रह के कारण उसका साहित्य जन सामान्य के सम्पर्क में न आ सका तो भी उसका जो अंश प्रकाश में आया उसके अनुशीलन से भावुक, साधक और कवि प्रभावित हुए बिना न रह सके। सजातीय कृष्णभक्त ही नहीं, 'विजातीय' कहे जाने वाले निर्गुणमार्गी संतों को भी राम की माधुर्यलीला में रस मिला और सामान्य शृंगारी कवियों ने उनकी अंगराति से अपने को अनुरंजित किया।

१. निर्गुण काव्य पर प्रभाव

गुलाल साहब अपने ढंग से राम के साथ होली खेलते हैं और 'अष्टयाम-केलि' में रस लेते हैं। रसिकों से उनकी माधुर्यभावना में भेद इतना ही है कि रसिकों के राम अपने रंगभवन में रहते हैं। वहीं उनकी माधुर्यलीलायें होती रहती हैं। किंतु गुलालसाहब के राम, उनके यहाँ अष्टयामकेलि के हेतु स्वयं पधारते हैं अथवा उनके हृदय को ही अपना केलिगृह बनाते हैं—

घर आये मेरे राम हलि, ले मन होरी आई।
दृष्टिन ते प्रभु चरन प्रछालो, देव दमामा नाम॥
फगुआ दान दियो प्रभु रुचि सों, सुफल भयो मनकाम।
फागु परो गलि आनद आयो, केलि करो अष्टयाम॥
पायो प्रेम परम तत्व लागो, बिसरि गयो सुधि धाम।
कहै गुलाल मेरो ऐसो साहब, साथ मिलायो श्याम॥[1]

अन्यत्र वे स्पष्ट रूप से सखी रूप में होरी खेलने की आकांक्षा प्रकट करते हैं—

मैं राम से होरिया खेलौंगी।
सहज समैया अति बड़ सुन्दर निशदिन आनंद भूलौंगी।
रोम रोम पिय के रंग राते निश दिन आनंद फूलौंगी॥
कहै गुलाल हम भये सोहागिन अपने सैयाँ संग झूलौंगी॥

इसे निर्गुनिया होली कहा जा सकता है—फिर भी 'सैयाँ' रूप में यहाँ राम ही हैं।

गुलालसाहब की होरी में निर्गुण की कुछ गंध थी किन्तु उनके सहधर्मा पलटूदास के द्वारा प्रस्तुत, रामविवाह की झाँकी में, शुद्ध सगुणलीला का माधुर्य है। राम ही नहीं दशरथ भी उनके स्वजन हैं—

आरति होत जनक जी के द्वारे। दशरथ ब्याहन आये हैं हमारे॥
सहित समाज गगन सुर निरखैं। भयो है उछाह सुमन झरि बरषैं॥
जनक बधू सब यूथ बनाई। ठाढ़ि परस्पर गारी गाई॥
ब्रह्मा वेद पढ़न को आये। मरकत मणि सो माड़व छाये॥
सिय मुख शशि रघुबर भये भाना। रैन दिवस नाहीं अलगाना।
राम ब्याहि अवधपुर आये। पलटूदास बहुत सुख पाये॥[3]

१—महात्माओं की वाणी, पृ० ४०८
२— वही, पृ० ४२२
३—श्री पलटूदास की शब्दावली, पृ० ११०

एक स्थान पर उन्होंने रसिकों की अष्टयाम पूजा की 'मंगला आरती' का भी वर्णन किया है—

आरती श्रीराम राय मंगला उतारी।
माता कौसिल्या लीन्हे कनक हाथ थारी॥
राम लच्छिमन भरत शत्रुहन बैठे भाई चारी।
जनक सुता वाम लीन्हे सोभा बलिहारी॥
किरीट मुकुट शीस सोहै कुंडल छविभारी।
चीर चटक लटक मोती अंजन सँवारी॥
नैन हैं विशाल लाल भौंहैं धटाकारी।
नूपुर धुनि ठुमकि चाल पीत वसन धारी॥
पूरण ब्रह्म धन्य भाग अवध में पधारी।
पलटू दास तीनों लोक अवध के भिखारी॥[1]

ऐश्वर्यमिश्रितमाधुर्य की यह छटा राजवर्ग की आरती की सुधि दिलाती है और भक्तपलटू उसी की छवि में लीन हो जाते हैं।

२. कृष्णकाव्य पर प्रभाव

वाग्देवता के अन्यतम उपासक और प्रसिद्ध कृष्णभक्त भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के 'सीतावल्लभस्तोत्र' से ऐसा विदित होता है कि, रामभक्ति की शृङ्गारी भावना में उनकी अगाध श्रद्धा और गति थी। इस स्तोत्र में उनके 'सीतापरत्व' की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। स्वामिनी सीता के नाते ही उन्होंने उनकी बहनों की वंदना की है, चारुशीला, हेमा, क्षेमा, सुशीला आदि मुख्य सखियों तथा सखीरूप में युगलसेवा में प्रस्तुत कमला-विमलादि मिथिला की नदियों का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है और उनकी सहायता से जानकी जी की चरणरति प्राप्ति की कामना की है।[2]

१—श्री पलटूदास की शब्दावली, पृ० १२०

२— सर्वे ददन्तां कृपया नहीं श्रीजानकीपदम्।
भक्तिदानम्प्रकुर्वन्तु यतस्ते स्वामिनोप्रियाः॥
आह्लादिनीं चारुशीलामतिशीलां सुशीलकाम्।
हेमां वन्दे सदा भक्त्या सख. सेवाविधौ हरेः॥
शाता सुभद्रा सतोषा शोभना शुभदा धरा।
चार्वंगी लोचना क्षेमा सुधात्री चापि सुस्मिता॥

३ रीति काव्य पर प्रभाव

रीतिकालीन परम्परा के पिछले खेवे के कवियों ने राम के नख शिख और सीता के चरणों के वर्णन में विशेष रुचि दिखाई है। प्रताप कवि का 'रामचन्द्र जी का नखशिख' और लछिराम का 'सियाराम चरण चन्द्रिका', इस शैली की उत्कृष्ट रचनायें हैं।

प्रताप कवि राम के नेत्रों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

डोरे रतनारे बीच कारे और सारे सेत,
जिनको निहारत कुरंग गन भूले हैं।
आनँद उमाहन सों कैधौं विधु मण्डल में,
सरद के सजन सुभाय अनुकूले हैं॥
जनक सुता के मुखचन्द्र के चकोर किधौं,
बरने न जात उर उपमा अतूले हैं।
राजै रामलोचन मनोज अति ओज भरे,
सोभा के सरोवर सरोज जुग फूले हैं॥[1]

कविवर लछिराम युगलचरण के उपासक थे—उनका एक छन्द देखिये—

देव वधूटी लवा बरसैं परी किन्नरी मौज से मंगल गावैं।
त्यों लछिराम सची सुभ सारदा भाल विसाल पराग लगावैं॥
नाग लली, नरी, देव दिगंगना नेक प्रणाम अभै वर पावैं।
मैथिली श्री रघुनन्दन के पदकंज प्रभा भरे पूजने आवैं॥[2]

यह एक स्मरणीय तथ्य है कि शृङ्गारी कवियों ने सीताराम के नखशिख वर्णन में मर्यादा का कहीं उल्लंघन नहीं किया है। इस प्रकार की रचनाओं में कोई ऐसा छन्द नहीं मिलता जिसे अश्लील की संज्ञा दी जा सके। रीतिबद्ध

क्षेमदाम्री सत्यवती धारा हेमांगिनी तथा।
वन्दे एतापि श्रीमज्जानक्या प्रियकारिणीः॥
वयस्यां माधवीं विद्या वार्गीशां च हरिप्रियां।
मनोजवां सुविद्या च नित्यां नित्य नमाम्यहम्॥
कमला विमलाद्याश्च नद्य सख्याम्बिकास्तु या।
नमोनम सदा ताभ्य सर्वास्ता कृपयान्तु माम्॥

—भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, पृ० ७६८–७९

१–रामचन्द्र जी का नखशिख, छं० ७

२–सियारामचरणचन्द्रिका, पृ० १६

ग्रन्थों में कहीं राम की विहारलीला का वर्णन नहीं प्राप्त होता। इससे एक ओर जहाँ वे सामान्य नायक-नायिका के प्रतीक बनने के गौरव से वञ्चित रह गये हैं, वहीं दूसरी ओर उस कलङ्क से भी सर्वथा मुक्त रहे हैं, जो राधाकृष्ण के लीलावर्णनों में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। साराश यह कि रसिक सिद्धान्तों का जो थोडा बहुत प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर पडा है। वह प्राय भक्तिकाव्यों तक ही सीमित है। सामान्य साहित्य म उसक उसी अश की व्यजना हुई है जो सर्वप्रसिद्ध है और जिसको आलम्बन क रूप में सभी सामाजिक ग्रहण कर सकते हैं।

रसिक साहित्य और देशकाल

रसिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन जिस समय हुआ उसके शताब्दियों पहले भारत म मुसल्मानी राज्य स्थापित हो चुका था। इसके साथ ही देश क विभिन्न प्रदेशो म बाहर से आने वाले अमीरों तथा सैनिकों के यत्र-तत्र बस जाने से उनकी रहन-सहन का भी प्रभाव हिन्दू समाज पर पड रहा था। किन्तु इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात थी शासन द्वारा इस्लामी सस्कृति का प्रोत्साहन और प्रचार। इसक फलस्वरूप शासकों क आचार-व्यवहार का अनुकरण ही हिन्दू कर्मचारियों और अधीनस्थ राजाओं म शिष्टता का परिचायक समझा जान लगा था। सम सामयिक जनजीवन भी इससे अछूता न रह सका। इस प्रकार एक ओर जहाँ भीतर ही भीतर इस्लामी आचार विचार देश क परम्परागत एव सास्कृतिक आदर्शों को निर्बल बना रहे थे वहीं दूसरी ओर इस्लामी शासन राजनीतिक अत्याचारों क द्वारा हिन्दुओं को शासकों की रीति नीति और धार्मिक आस्था अपनाने क लिए विवश कर रहा था। दिल्ली के सुलतानों क समय से ही अयोध्या, अवध सूबे का शासन केन्द्र बनकर पूर्णरूपण इस्लामीप्रभाव में आ चुकी थी, इसका दिग्दर्शन पहले कराया जा चुका है। वहाँ क साधु-सत हताश होकर किस प्रकार निर्जन तीर्थों की शरण लेने को विवश हुए थे, इसका भी वर्णन उसी प्रसग में हो गया है।

आरम्भिक रसिकसतों का भौतिक जीवन इन्हीं परिस्थितियों म बीता। मुगलवैभव से आतकित, उनक सामाजिक जीवन से प्रभावित और राजनीतिक प्रभुत्व से त्रस्त हिन्दूसमाज का उद्धार करने के लिए इन दीर्घदर्शी महात्माओं ने राममक्ति का आश्रय लिया और उसकी इस नई शाखा को तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाया।

हिन्दूजीवन में व्याप्त निराशा और हीन भावना को दूर करने क उद्देश्य से उन्होंने एक नये राज्य की कल्पना की। ऐसा राज्य, जो विस्तार में अनन्त

है और वैभव में किसी भी प्राकृत राज्य से करोड़ों गुना बढ़ा-चढ़ा है। लौकिक राज्यों की तरह क्षणिक न होकर वह स्थायी और नित्य है। उसका शासक इतना प्रतापी है कि पंचतत्त्व और काल उसके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते हैं, ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसकी आज्ञा से सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं। वह स्वयं निरन्तर असंख्य सखियों के सहित अपनी प्रियतमा के साथ 'कनकभवन' में विलासमग्न रहता है। उसकी खवासों और नौकर चाकरों की संख्या का लेखा नहीं हो सकता। इतना वैभवशाली होते हुए भी उसमें शान-गुमान का नाम तक नहीं। जो जिस रूप में जब भी चाहे उससे मिल सकता है। मित्र माननेवालों का वह सबसे बड़ा सखा है, स्वामी समझकर सेवा करनेवालों के लिए वह सबसे बड़ा रक्षक है, पुत्रभाव से लाड़प्यार करनेवालों का वह सर्वोत्तम अंकनिधि है और पतिरूप में वरण करनेवालों का तो वह सर्वस्व है ही।

उसके मिलने का रास्ता भी बड़ा सीधा है। उसमें धन दौलत, पूजा पाठ, शंख घड़ियाल अनिवार्य नहीं। जिसपर कोई दुराग्रही शासक बंदिशें लगा सके उन धर्माचरणों की वहाँ आवश्यकता ही नहीं। जो मंदिर और तीर्थ क्षणभर में धर्मान्धता की अग्नि में भस्म हो सकते हैं, उनमें वह बँधा नहीं रहता। उसकी लीला का आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है। उसका वास्तविक निवास उस अलौकिक देश में है जहाँ तक इस जगत के क्षुद्र शासक पहुँच ही नहीं सकते, उसे हानि पहुँचाने की बात तो दूर ही रही। कहने की आवश्यकता नहीं कि रसिकों का यह कल्पनाराज्य साकेत लोक है, उसके शासक 'युगल सरकार' श्रीसीताराम हैं और उनसे मिलने की सुगम रीति ध्यान प्रधान रसिकसाधना है।

इन सिद्धान्तों के द्वारा रसिक संतों ने हिंदू जीवन में एक नई आध्यात्मिक शक्ति पैदा कर दी जिससे तत्कालीन शासन के अत्याचारों को झेलते हुए वे अपनी संस्कृति की रक्षा में आश्वस्त रह सके। रसिकों के द्वारा सृष्ट 'राम राज्य' अथवा 'स्व राज्य' में मनसा निवास करते हुए रामोपासकों को भौतिक परा धीनता का अनुभव ही नहीं हुआ।

इस अलौकिक राज्य की उद्भावना करते हुए भी समसामयिक शाक्ति शासन की उपेक्षा न हो सकी। प्रत्युत उसके विशाल ढाँचे, वेशभूषा और सज्जा के उपकरण वहां से लिए गये। साकेत की विलाससामग्री, सखाओं, और दासों के वस्त्राभूषण, कनकभवन की रचना, सखियों दासियों का प्राचुर्य, उनकी सेवा विधि, अष्टयाम लीला के कृत्य, रामदरबार का वैभव, सखियों, किंकरियों

तथा दासों के पृथक् प्रासाद, विहार और शिकार की लीलायें, हाथी घोड़ों की सजावट, राजमार्ग पर राम की सवारी का जुलूस निकलना, नृत्य-संगीत, इत्यादि की योजना में समकालीन मुगल दरबार[1] और 'हरम' व्यवस्था[2] की पूरी छाप दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त कनकभवन को 'महल', दिव्य-दंपति की सेवा को 'महली सेवा' सेवकों को 'महली परिकर' और साकेतलीला प्रवेश को 'महल-प्रवेश'[3] की संज्ञा देना भी इसी तथ्य का समर्थक है।

रसिक साहित्य में सामयिक जीवन

दिव्य साकेत की विहारलीला के चित्रण में मग्न रहते हुए भी रसिक भक्तों ने अपनी समकालीन परिस्थितियों की अवहेलना नहीं की है। अठारहवीं शती तक की राजनीतिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक स्थितियों की अभिव्यक्ति उसमें किस प्रकार हुई है इसका निदर्शन साधना के विकासक्रम का परिचय देते हुए हम पहले कर चुके हैं। अतएव यहाँ केवल उन्नीसवीं शती के साहित्य में प्रतिबिम्बित लोकजीवन का दिग्दर्शन कराया जायगा।

१. किस्तानी प्रचार

उन्नीसवीं शती के आरम्भ से ही सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजी राज्य की धाक जम चली थी किंतु रसिक साधना के मुख्य-क्षेत्र पर उसका पूर्ण रूप उसके उत्तरार्ध

१—यहि बिधु कछु दरबार करि, दंपति परम कृपाल।
पुनि सुख पाल सुदृष्टि प्रभु, गमने सुखद मराल॥
नाक नटी अरु नर्तकी, अमित विदूषक वाम।
चोरदार सीमंतिनी, संग चली अभिराम॥
—मा० के० का०, पृ० ७४

२—अग्रदास जी के निम्नांकित पद में महली वातावरण का एक चित्र देखिए—
महल में सोर करो जनि कोय।
नूपुर दाबि चलो मेरी सजनी तनक झनक नहिं होय॥
पहरेवाली सजग होइ रहियो आवागवन न होय।
'अग्रअली' प्रिय छैलछबीले प्रिया सहित गये सोय॥
(फुटकर पद)

३—निज सुख तजि सेवै सदा, सद्गुरु चरण सुदेश।
तब पावै आनन्द निधि, दम्पति महल प्रवेश॥
—मा० के० का०, पृ० १

में स्थापित हुआ। अंग्रेजों के साथ यहाँ ईसाई प्रचारक भी आये और अपने धर्म का निर्बाध रूप से प्रचार करने लगे। जो ईसाई हो जाते थे, उन्हीं से वे हेलमेल रखते थे, अन्यों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। पतितदास जी ने उनके इस भेदभरे व्यवहार की तुलना कट्टर सम्प्रदायवादी वैरागियों से की है और जिज्ञासुओं को इन दोनों मार्गों का त्याग कर स्वतंत्र रूप से अध्यात्मचिंतन की सलाह दी है—

अब गई फकीरी भारे में।

तप जप जोग सपन ह्वै गैलो बेद विचार विवेक किनारे में।
किरिस्तान के होय गयो लेखा सोइ हितू जो आवै हमारे में॥
छलबल नखरा बहुत पुजावैं के जुलुवा पूर अखारे में।
बेंचइ धरम सरम नहिं आवै तान ध्यान गुन जारे में।
आठों पहर सुख स्वाद के धंधे गिरे अथाह खोह के नारे में॥
'दास पतित' तजु दोनों मारग गहि सुमरण साँचु अधारे में।[1]

महात्मा बनादास ने इसाइयों को 'एकांगी भक्ति' का समर्थक, 'अभक्ष्य भोगी' और हिन्दू मुसलमान दोनों को भ्रष्ट करनेवाला बताया है—

पहिले हिंदू बीच मुसल्ला पीछे भया फिरंगी।
ईसा ईसा के गोहरावैं पालैं भक्ति यकंगी॥
हिन्दू तुरुक दोउ मे बरतैं सबही से सरभंगी।
'दासबना' चुहड़ौ ना छाड़ै याको सब से नंगी॥

इससे यह सिद्ध होता है कि ईसाइयों के आचार विचारों को ये भक्त घृणा की दृष्टि से देखते थे और उनके धार्मिक प्रचार को भारतीयों के लिये अहित कर समझते थे। उनकी भक्ति की एकांगिता इनकी दृष्टि में बराबर खटकता रहती थी। उनकी संकीर्णता और स्वार्थपरता से भी इन्हें चिढ़ थी। अतएव ये समय समय पर जनता को उनसे दूर रहने की चेतावनी देते रहते थे।

२. साधु-समाज

शताब्दियों की राजनीतिक दासता से, यों तो सारा समाज ही दूषित प्रवृत्तियों का शिकार हो रहा था, परन्तु साधुओं की दशा सबसे अधिक शोचनीय थी। रसिक संतों ने अपने सहधर्मियों की पतनोन्मुख नैतिकता के जो वर्णन प्रस्तुत किये हैं उनसे विदित होता है कि इन्हें बाहरी प्रचारकों से राष्ट्र और

१—भजनमर्यसंग्रह, पृ० १९२ २—खड्‌न खड्‌ग, छं० ५५

धर्म के अहित की उतनी आशंका नहीं थी जितनी अपने यहाँ के अधिकांश वेशधारी साधुओं के आचार-व्यवहार से।

इस प्रकार के बने हुए साधुओं की जीवन-चर्या का वर्णन करते हुए बनादास जी कहते हैं—

> सोहदा गुंडा भाँड़ पतुरिया राँड़ साधु धन खाहीं।
> हँसी मसखरी संत सभा में भजन कि चरचा नाहीं॥

जिन दिनों उपर्युक्त अवाञ्छनीय स्रोतों से अयोध्या के साधुओं का धन पानी की तरह बह रहा था, उन्हीं दिनों यहाँ के भजनानंदी रामभक्त भूखों मर रहे थे। बनादास जी ने इस ओर भी लक्ष्य किया है—

> विरक्त भजनानद तपस्वी अन्न बिना मरि जाहीं।
> बनादास यह रीति अवध की है गै कलिजुग माहीं॥[1]

महात्मा पतितदास, इन सन्तों के आदर्श से गिरे हुए और 'महाराज' कहलानेवाले, साधुओं का अस्तित्व ही देश-धर्म के लिये अहितकर मानते हैं—

> ऐसे साधु तुमसे अकाज है।
> पेट कारण भेष धारे बिना विचारु बड़ी लाज है।
> जिन सतसंग रीति प्रीति के सभी विपयिन क्रूर समाज है।
> यही तो पशु, पक्षी सब करते जो नर तन के काज है।
> 'दास पतित' प्रभु बिना पद सेये झूँठही सो महाराज है।[2]

अन्यत्र दुर्वृत्त साधुओं के बीच सात्विकवृत्ति के तपस्वी सन्तों की दशा का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं—

> ह्रियवाँ की रीति बुरी है यार।
> सनमुख कहैं मम स्वामी हो दाता पीछे कहि बड़ चोर छिनार।
> परस्वारथ न अपयशी मतलबी मूरख ऐसे गँवार।
> बहुत पुजाये पूजैं न जानैं विष घोरैं कहैं अमृत है सार।
> बचन माधुरी रचि-रचि बोलैं नखशिख से भरे विकार।
> 'दासपतित' दसनन बिच रसना पार करत करतार॥[3]

एक ओर विरक्त कहलाने वाले साधु 'पुजापा' और मन्दिरों में लगी हुई भू-सम्पत्ति से वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे तो दूसरी ओर, पेट के लिये पसीना बहानेवाले कृषक-मजदूर, दाने-दाने को तरस रहे थे।

१—खण्डन खड्ग, छ० २७ २—भजन सर्वसंग्रह, पृ० ७०
३— वही, पृ० १२०

समाज की इस विषम स्थिति से खिन्न होकर ही बनादास जी के मुँह से ये शब्द निकले थे—

> दुनिया अन्न बिना मरि जावै धनी भये मठधारी।
> खायँ पेट भरि करैं न चर्चा सोवै टॉग पसारी॥[1]

यह थी उन्नीसवीं शती में समाज की आर्थिक दशा। उसकी सामाजिक स्थिति और भी गिरी हुई थी। बनादास जी ने जनता में बढते हुए धार्मिक अंधविश्वास,[2] ब्राह्मण क्षत्रियों का जातीय दंभ और कर्तव्यहीनता,[3] निम्नवर्गों की उन्नति,[4] मुसलमानों की सूदखोरी और उसे पचाने के लिये फकीरों की सेवा,[5] ग्रामीणों में प्रपंची लोगों का सम्मान आदि तथ्यों का उल्लेख किया है।[6] इनकी रचनाओं में कन्यावध[7] और ठगों की वृद्धि का भी दो एक स्थानों पर संकेत पाया जाता है।

३. सन सत्तावन की क्रांति

भारत का प्रथम स्वतंत्रतासंग्राम स० १९१४ में हुआ था, जिसे सन् (अठारह सौ) सत्तावन का गदर अथवा सिपाहीविद्रोह के नाम से ख्यात किया गया है। अवध में इसका सबसे अधिक ज़ोर था। अंग्रेजों ने इसे दबाने में जिस नीति से काम लिया था उसके द्वारा किये गये 'जुल्म' का उल्लेख प्रत्यक्ष द्रष्टा बनादास ने इन शब्दों में किया है।

> हाकिम आवत देस पर, करत जुलुम अतिजोर।
> दहल बैठिगो मुलुक मे, पुनि कोउ करत न सोर॥[8]

बनादास जी ने संग्राम मे विजयी अंग्रेजों के अत्याचारों से त्रस्त भारतीय जनता की किंकर्तव्यविमूढता की ओर संकेत ही किया है किन्तु उनके समकालीन रामभक्त पतितदास जी ने विजेताओं द्वारा किये गये भीषण नरसंहार की संख्या भी दी है। उनके अनुसार इस 'गदर' मे स्वतंत्रता की बलिवेदी पर सवापाँच लाख मनुष्यों को अपना सिर चढाना पडा था। इस लोमहर्षक घटना से मर्माहत हो, वे कहते हैं—

१–विस्मरण सम्हार, चालक अंग, छं० ४
२–ऊढनखड्ग, छं० ३२ ४–वही, छं० ३८
३–वही, छं०३६ ५–वही, छं० ३९
६–७ वही, छं० ३४
८–विस्मरण सम्हार, विचार अंग, छं० ४०

सवत् उनइस से चौदह के आदि, जग बड़ उतपात परै।
सवा पाच लाख मनुष्य की हानी, प्रभु तिन को धीरज धरै॥[1]

इसी प्रसग में स० १९१५ के फागुन महीने में शिवरात्रि के दिन किसी (गदर के) नेता की देश में दुहाई फिरने और उसके दक्षिण में जाकर प्राण त्यागने का भी उल्लेख किया गया है। उन्होंने इस स्वातन्त्र्य युद्ध में पराजित भारतीय जनता में छाई हुई घोर निराशा का भी सकेत किया है—

फाल्गुन शिव तिथि गुरै मध्याह्न संवत पंचदस परै।
ताहि दुहाई चहुँ दिसि घूमे सो दक्षिण जाय मरै॥
संवत सोरह से सत्रह लै हृदय हसत सोच भारे परै।[2]

अयोध्या के महात्मा युगलानन्यशरण तो इसकी लपेट में भी आ गये थे। गदर के समय वे फैजाबाद में गोलाघाट के पास, सरयूतट पर कुटी बनाकर भजन करते थे। पास ही गोरी पल्टन की छावनी थी। गदर में लोगों ने छावनी का सामान लूटकर, उसका कुछ भाग इनकी कुटी के पास फेंक दिया था। जब अंग्रेजों का फैजाबाद पर पुनः अधिकार हो गया तो, इनके शिष्यों ने यह समझकर कि, लूट का सामान कुटी के पास पाकर अंग्रेज सैनिक इन्हें दंड देंगे, यह स्थान छोड देने का आग्रह किया। युगलानन्यशरण जी ने कुटी छोडना कायरता का चिह्न मानकर स्थिति का दृढतापूर्वक सामना करने की इच्छा व्यक्त की। भगवत्कृपा में अटल आस्था रखते हुए वे कितनी निर्भीकता से कहते हैं—

दृढ़ विश्वासी जीव को, कौन करैया खेद।
ध्रुव प्रहलाद सुकंठ सुचि, अङ्गद कथा अखेद॥
अङ्गद कथा अखेद, वेद सहिता बखानी।
अज तज्ञ मथि ख्याति, बात नाहिन यह छानी॥

१–भजन सर्वसग्रह, पृ० १८६

महात्मा पतितदास के इस उल्लेख को Reginald Reynolds के निम्नांकित वक्तव्य से मिलाकर देखिये—

'Kave and Malleson estimate that about six thousand Indian were summarily executed during a period of six months, in addition to those killed without the formality of a trial of whose deaths no statistics are available''

—White Sahibs in India, page 55

२–भजन सर्वसग्रह, पृ० १६८

श्री सीतावर शक्ति सबल ध्याइय सुखराशी।
श्री युगल अनन्य हमेश हूजिये दृढ विस्वासी॥

इसी सम्बन्ध में उन्होंने 'हिन्दुस्तानियों' की मंगलकामना करते हुए उन्हें 'काल के फाँस' में पड़े हुए अंग्रेजों द्वारा ढाई गई इस आपत्ति को 'बहता पानी' समझ कर, हँसते हुए झेलने की सलाह दी थी—

हिन्दुस्तानी मोटिया, रूसी अरबी लोग।
चीनी रूमी काबुली, पंजाबी सह सोग॥
पंजाबी सह सोग, फिरंगी कौन बिचारा।
पड़े कालके फाँस, सहै संकट संसारा॥
इनसे डरे बलाय, समुझ के बहता पानी।
श्रीयुगलअनन्यहमेश, खुशी रहो हिन्दुस्तानी॥

प्रतीत होता है कि यह शुभकामना सत्य होने के लिये ही उनके हृदय से फूट पड़ी थी। 'बहता पानी' अंग्रेज एक शती के भीतर चला गया और 'हिन्दुस्तानी खुशी' होकर ही रहे।

इसमें रसिक संतों का चरित्रबल और पुरुषार्थ प्रकट होता है। अतएव जो लोग इन साधकों को व्यवहार में भी 'अबला' समझते हैं उन्हें ऐसी घटनाओं में व्यक्त 'पुरुषत्व' से शिक्षा लेनी चाहिये। उनका 'सखीरूप' जगत्पति का आश्रय प्राप्त करने के लिये होता है, समाज में 'क्लीवत्व' के प्रचार के लिये नहीं।

सारांश यह कि रसिक साहित्य का निर्माण यद्यपि साम्प्रदायिक और साधनात्मक प्रेरणाओं से हुआ तथापि उसके स्रष्टा जीवन और जगत की सामयिक परिस्थितियों से आँख बचाकर नहीं चले। फलतः एकांतिक साधना होते हुए भी उनकी रचनाओं में देश, काल और समाज का यथार्थरूप प्रतिबिम्बित हुआ है।

रसिक साहित्य की भाषा

रसिक साहित्य की रचना तीन भाषाओं में मिलती है—हिन्दी, संस्कृत और रेखता। उसका संस्कृत साहित्य प्रधानतया सैद्धांतिक है। यद्यपि जानकी गीत, माधुर्यकेलिकादंबिनी और जानकीचरणचामर ऐसी भावप्रधान कृतियाँ भी इस भाषा में उपलब्ध हैं तथापि इस प्रकार की रचनाओं की संख्या बहुत थोड़ी है। रेखता भाषा में लिखे गये स्वतंत्र ग्रंथ कम मिलते हैं। उसका प्रयोग या तो हिन्दी के मंजु छन्द में पाया जाता है या उर्दू के रेखता छंद में।

हिन्दी, अपने विविध रूपों में रसिक सन्तों के भावाभिव्यंजन की मुख्य माध्यम रही है। रसिक साहित्य की रचना शताब्दियों तक एक बहुत बड़े

भू भाग पर हुई है, अतएव उसकी अभिव्यंजनाप्रणाली और भाषाशैली में विविधता का पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं, स्वाभाविक है। साधारणतया जहाँ जो भाषा बोली जाती है उसकी छाप उन प्रदेशों में विरचित रसिकग्रंथों में मिलती है। उदाहरणार्थ—राजपूताने में लिखे गये ग्रंथों में राजस्थानी, मैहर, पन्ना, रीवाँ और चित्रकूट में बुन्देली बघेली, उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिले तथा बिहार में की गई रचनाओं में भोजपुरी और दरभंगा के आस पास तिरहुतप्रदेश में निर्मित कृतियों में मैथिली का पुट मिलता है। किंतु मुख्यतया अवधी तथा ब्रज भाषा का ही प्रयोग हुआ है। जिसका कारण है उपर्युक्त दोनों भाषाओं का साहित्यिकभाषा के रूप में हिन्दी प्रदेश में व्यवहृत होना। इन दोनों में भी अवधी को रसिक सन्तों ने विशेष महत्त्व दिया है, क्योंकि यही 'राम पुरी' अयोध्या की भाषा है। अवधनिवासी भक्त तो उसका प्रयोग करते ही थे, अन्य प्रदेशों के रहने वाले भी अपनी कृतियों में उसे उचित स्थान देते थे। अयोध्या से उनका निरन्तर सम्बन्ध बना रहने के कारण इस भाषा का ज्ञान प्राप्त करने में उन्हें कठिनाई नहीं होती थी। महात्मा शङ्करदास जी चिरान छपरा (बिहार) के निवासी थे। उनकी 'ठेठ अवधी' का एक नमूना देखिये—

राम भजन यह प्रेम नेम से, निश्चय करि भजिलेव।
रामभक्ति में बीच परै, तब दोष हमारी देव॥[1]

मिथिलावासी मोदलता ने भी अवधी को प्रकृत रूप में ही अपनाया है—

मिथिला सोभा लखन की, लखन चलन अति चाह।
लै आज्ञा पद वन्दि दोउ, चले सहित उत्साह॥[2]

अन्य प्रदेशों के जो महात्मा अयोध्या आकर रहने लगे थे उन्होंने तो इस भाषा को अपना ही लिया था। अवधी उनकी मातृभाषा सी हो गई थी। रसिकअली जी गुजरात के, शीलमणि जी कुमायूँ के और गोमतीदास जी पंजाब के रहने वाले थे, किन्तु उनकी कृतियों में उन प्रदेशों की भाषा की छाया तक नहीं दिखाई देती।

सीता जी की जन्मभूमि होने से मिथिला से भी रामभक्तों का सम्पर्क बराबर बना रहता था। इससे वहाँ की भाषा में भी अन्य प्रदेशवासी कुछ रसिकभक्तों की रचनायें मिलती हैं। रीवाँनरेश महाराज विश्वनाथसिंह का मैथिलीभाषा में लिखा गया एक पद है—

१—रामनाममाला, पृ० २१ २—मोदलतापदावली, पृ० १४

मुनि के संग दुइ नैना ऐलछि ।
सुंदर रूप जादूगर छथि से पथरा की पुतरी कमाउगि बनोलछि ॥
हौं पड़ाय कहुँ एलै ऐलहुँ से विरतांत अहाँ के सुनवलछि ।[1]
अब 'भूपति' विशुनाथ होइ जै जै कछु करैं क करू मन भवलछि ॥

इस प्रकार तीर्थाटन और पर्यटन के फलस्वरूप भक्तों की भाषा खरी न रह सकी। जो ठेठ अवध के ही निवासी थे किंतु अन्य प्रदेशों में कुछ दिन रह गये थे, उनकी भाषा में वहाँ के शब्दों का प्रवेश स्वभावत हो गया था। महात्मा रघुनाथदास पैंतेपुर (जिला सीतापुर-अवध) के रहने वाले थे। फिर भी उन्हें ठेठ अवधी का आग्रह न था। उनकी रचनाओं में 'व्रज', भोजपुरी और बघेली के शब्द बराबर मिलते हैं। उनकी भाषा शैली का एक नमूना देखिये—

सखीरी मोको साँवरो सलोनो लोनो लागल ।
बिहरत वृन्दावन कुंज पुंज जहँ तहँ सोहैं,
संग ग्वालबाल आसपास बागल ॥[2]

यहाँ व्रजराज के लीलावर्णन म मोको, साँवरो, सलोनो, लोनो में जहाँ 'व्रज' की छटा दिखाइ देती है वहाँ 'लागल' में भोजपुरी और 'बागल' में बघेली (बागना—घूमना, फिरना) का रंग स्पष्ट हो जाता है । इससे यह विदित होता है कि इन भक्तों का ध्यान भावव्यंजना पर रहता था, भाषा की शुद्धता पर नहीं ।

कुछ महात्माओं ने हिन्दी के साथ अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी काव्य रचना की है, इनमें प्रमुख हैं कृपानिवास । ये दक्षिण के निवासी थे किन्तु इन्होंने अपने जीवन का अधिकांश, उत्तर भारत में ही बिताया था। तीर्थाटन की दशा में इनका पंजाबी और राजस्थानी भाषाओं से कुछ परिचय हो गया था।

हिन्दीमिश्रित राजस्थानी और पंजाबी में लिखे गये इनके दो छंद नीचे दिये जाते हैं—

राजस्थानी

दरस दिखाजोजी राघोजी म्हारा नैणा तरसैं ।
म्हारा बगर मैं राय चवेली भँवराहै उड आजो जी ॥
'कृपा निवासी' सदा रूप उपासी प्यासा को रस प्याजो जी ॥[3]

१—सीतारामविवाह संग्रह, पृ० ६५ २—हरिनामसुमिरनी, पृ० ५७
३—रासपद्धति, पृ० २८

पजाबी

> नेडे नाल नेह् डाल गया कित जादां वो।
> मैंडा दिल चंचल वैंडे बस पाया ओतू वे परवाहीयाँ ॥
> करदा आठ पहर मैनु ध्यान तुसाडावो।
> 'कृपा निवास' उपास दिवानी क्यों नहिं दरस बतादावो ॥[१]

रेखता

रेखता भाषा का व्यवहार केवल अवधप्रदेश के रसिकभक्तों ने किया है। खड़ी बोली के साथ फारसी शब्दों के मेल से निर्मित इस भाषा का प्रयोग निर्गुणसाहित्य में बहुतायत से पाया जाता है। अवध में नवाबीशासन की स्थापना हो जाने के बाद, उनकी उर्दूप्रियता के कारण रेखता और गजल का काफी प्रचार हो चला था, जिससे अवधवासी इन रामभक्तकवियों ने भी उस ढंग को अपनाया और रेखता में रचनाएँ कीं। किंतु इनके द्वारा व्यवहृत रेखता भाषा में वह शुद्धता और सफाई नहीं पाई जाती जिसका उर्दू के लोग बहुत ध्यान रखते थे।

महात्मा युगलानन्यशरण ने मंजु छंद में लिखी गई रचनाओं में इसका प्रयोग किया है। उनका एक छंद है।

> आशय अमल अजूब खूब आशक रस रूप रंगीलों की।
> अखिलगगन के पार यार पद प्यार रहस्य रसीलों की ॥
> कीमत कठिन कषाय काय कलरहित स्वाद समसीलों की।
> युगलानन्य शरन प्रीतम छविछाके छैल छबीलों की ॥[२]

इन्हीं के समकालीन महात्मा बनादास ने रेखता भाषा का व्यवहार उर्दू के रेखता छन्द में ही किया है। भावात्मकता के साथ प्रवाह, उनकी 'रेखता' रचनाओं का विशेष गुण है—

> पिया जिन प्रेम का प्याला।
> छका वसु जाम मतवाला ॥
> चढ़ी चसमौ खुमारी है।
> नहीं मिलती सुमारी है ॥
> पहिरि खिरका सबूरी का।
> दिलासा है मजूरी का ॥

१—रासपद्धति, पृ० २५   २—मधुरमंजुमाला, पृ० ७

नई नित रोज रोजी है।
किसी ने द्वार खोजी है॥[1]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जिस प्रकार रसिककाव्य में भावों की विविधता है वैसे ही उनकी भाषा भी अनेकरूपात्मक है।

गद्य साहित्य

रसिकों का गद्यसाहित्य भी अत्यंत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। उसकी भाषा मुख्यतया अवधी है किन्तु काव्य की भाँति ही विभिन्न प्रदेशों के लेखकों के हाथ में पड़कर वह अपने मूलरूप की सर्वत्र रक्षा नहीं कर सकी है। उसके अंतर्गत गद्य का प्रयोग दो प्रकार की रचनाओं में मिलता है—प्राचीन एवं प्रसिद्ध रामकाव्यों की टीकाओं में तथा मौलिकरूप में लिखे गये उपदेशप्रधान ग्रंथों और पत्रों में। इनसे तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं के विविध रूपों का पता चलता है।

रसिक सम्प्रदाय के उत्कर्ष से राममक्तिधारा में जो नवीनस्फूर्ति दिखाई पड़ी उसके फलस्वरूप प्राचीन रामसाहित्य के पठनपाठन का व्यापक प्रसार हुआ। साधारण पढ़े लिखे लोगों में रामचरित और रामभक्ति के गूढ़तत्त्वों को समझने की जिज्ञासा जगी। इसके फलस्वरूप 'योगवाशिष्ठ', 'अध्यात्मरामायण' और 'वाल्मीकिरामायण' इत्यादि संस्कृतरामकाव्यों की तो हिन्दी में टीकाएँ हुईं ही, 'रामचरितमानस' ऐसे भाषाकाव्य की दार्शनिक तथा साहित्यिक विशेषताओं के उद्घाटन की ओर भी रामभक्तों का ध्यान गया। अयोध्या के रसिकाचार्य रामचरणदास ने सर्वप्रथम 'मानस' की एक बृहद् टीका तैयार की। फिर तो 'बिहारी सतसई' की भाँति उसकी टीकाओं की एक परम्परा ही चल निकली। काष्ठजिह्वास्वामी देव की 'मानस परिचर्या' (१८३८ ई०), सरदार कवि का 'मानस रहस्य' (१८४७ ई०), काशिराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह का 'मानसपरिचर्या परिशिष्ट' (१८५५ ई०), गुरसहाय लाल पटनानिवासी की 'सतमन उन्मनी टीका' (१८८९ ई०) तथा बैजनाथ कुर्मी की 'मानसभाषाटीका' (१८९० ई०) विशेष महत्त्व की हैं। संस्कृत रामकाव्यों में 'वाल्मीकिरामायण' का भाषानुवाद पटियाला निवासी संतोषसिंह सिख ने १८३३ ई० में तथा 'योगवाशिष्ठ' अथवा 'महारामायण' का अनुवाद भगवानदास खत्री ने १८७९ ई० में किया।

यहाँ मुख्य टीकाकारों के गद्य के कुछ नमूने दिये जाते हैं, जिनसे इस

1—उ० प्र० रा०, पृ० ५१२

परम्परा के विकासक्रम का बोध होगा और उनकी भाषा रुचि का भी पता चल जायगा—

'फिरि चितवा आगे प्रभु देखा। सहित बन्धु सिय सुन्दर वेषा।
जहँ देखहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना॥'

'पुनि पीछे देखती भई तहाँ श्री राम सीता लक्ष्मण जी तीनहू स्वरूप सुंदर वप श्रृङ्गार की रचना संयुक्त देखे ''तहाँ सती जी देखती भई श्री रघुनाथ जी अपनी परम दिव्य त्रिपादविभूति दिखावते हैं, सो परमदिव्य संधिनी संदीपनी आह्लादिनी। संधिनी जीव परमात्मा की संधि मिलावै हैं, सो·· ······ आह्लादिनी जीव के अंतर परमानन्द परमात्मा को आह्लाद करै हैं, ये तीनहूँ नवधा प्रेमा परा भक्ति हैं···अरु जानकी जी के निकट पंच अष्ट षोडश इत्यादिक सखी अनेक षोडशौ श्रृङ्गार बारहों आभूषण नित्य श्रृङ्गार आभूषण सदा सब मध्य किशोरी नित्य एकरस अनेक पदार्थ लिहे ठाढी हैं, आह्लादिनी द्वौ दिशि सहजानन्दिनी, मदनमंजरी, चन्द्रकला, चन्द्रावती, चन्द्रमुखी—इति पंच, विमला, उत्कर्षिणी, क्रिया, योगा, पार्वती, ईशाना, शान्ता, सत्या—इति अष्ट, उज्ज्वला, कांचनी, चित्रा, चित्ररेखा, शुभमुखी, हंसी, प्रहंसी, कमला, विशालाक्षी, सुदर्शना, चंद्रानना, चंद्रभद्रा, माधुर्या, शालिनी, कर्पूरांगी, वरारोहा—इति षोडश पुनि रघुनन्दन की सखी अष्ट आह्लादिनी द्वौ दिशि चारुशीला, अतिशीला, सुशीला, हेमा, क्षेमा, लक्ष्मणा—षष्ठ, पुनि अष्ट—वागीशा, माधवी, हरिप्रिया, मनजीवा, नित्या, विद्या, सुविद्या, कूटरूपा इति अष्ट, पुनि षोडश—शोभना, सुभदा, शान्ता, संतोषा, सुखदा, सत्यवती, चारुस्मिता, चारुरूपा, चार्वंगी, चारु-लोचना, हेमांगी, क्षेमा, क्षेम-दात्री, धात्री, धीरा, धरा—इति षोडश इत्यादिक अनन्त सखी श्री जानकी जी के निकट अनेक पदार्थ लिहे सब मंगल सेवा में तत्पर हैं।'

चलीं संग लै सखी सयानी। गावत गीत मनोहर बानी।
सोह नवल तन सुंदर सारी। जगत जननि अतुलित छवि भारी॥

"कैसी सखी हैं सयानी वाक्विलास वाद्यगानादि में चतुर ते मन को हरण हारी वाणी ते ब्याहू गीत गावत किसोरी जी को संग लै कै हंस गवन रंग भूमि को चलीं अब ऐश्वर्य दर्शाय माधुर्य कहत नवल नवीन तनु अर्थात् मुग्धावस्था रूपसिंधु से प्रत्यंग उमगत कुंदन वर्ण तनु में जरतारी रेशमी बैजनी सुन्दर सारी सोहत इति माधुर्य श्रृंगार रस में कहे यह रस सिंहिनी को दूध है केवल कुन्दन के पात्र में रहत अपर धातु पाषाणादि में धरे फोरि कै नाशि जात

1—श्रीमद्गोस्वामीकृत रामायण—श्रीरामचरणदासकृत टीका, तृतीय संस्करण (१९२४ ई०), पृ० १४५–१४७।

तथा शृंगार रसिकन के योग्य हैं अरु दास्य वात्सल्यादिकन के थौभने योग्य नहीं है"[1]

ये टीकाकार संस्कृत की टीकाप्रणाली पर चलते थे, अतएव इनके गद्य में प्रवाह एवं प्राञ्जलता का अभाव है। इसके विपरीत गद्य साहित्य के विकास में उन रचनाओं का विशेष योग है, जो स्वतंत्र रूप से लिखी गई हैं। पत्राचार के रूप में लिखने की आजकल जो परिपाटी चल पड़ी है, उसके मूलरूप का दर्शन रीवाँनरेश रघुराजसिंह के 'रामस्वयंवर' में महाराज जनक द्वारा दशरथ जी के पास लिखे गये निम्नलिखित गद्य-पत्र में होता है :—

"श्री श्री श्री श्री श्री सकलभूमंडलाखंडल, विविधमंडलनिरसरित सरितवत्, दिग्गजगंडमंडलकुंडलाकारसुयशधारक, धर्मधुरधर, धरा-धर्मप्रचारक, रणवीरवीरशिरोमणिहंसावतंश, रघुकुल-कमल-दिवामणि-प्रताप-ताप-तापित, दिगन्तदुरित दुअन......महाराजाधिराज राज-राजराजित अवधअवधेन्द्रदशरथजू चरनसमीप महीमंडलमौलि-मणि-मंडित-चरण, ज्ञान-विज्ञानानन्द-सन्दोह भरन वेदवेदान्तोचरन निमि-कुल कुमुद-कलानिधि महाराजाधिराज, नरेन्द्रशिरोमणि सीरध्वजकुल कमलकलितसानन्दन अभिनन्दन विलसै।"[2]

इसी प्रकार उपदेशात्मक गद्य का एक व्यवस्थित रूप महात्मा युगलानन्यशरण की 'संतवचनावली' में मिलता है—

"जैसे अन्न पानी बिना स्थूल शरीर नहीं रह सकता है, तैसे सतसंग, सतवचन बिना श्रवण किये परमेश्वर की प्रीति उपजती ठहरती नहीं। जब प्रीति नहीं तब मृतक है।

और श्री सीताराम सम्बन्धी कहावना, वेष, बनावना तो सुलभ है, लोका को पुजावना भी सहज है, श्रीराम का होना कठिन है। महाराज का साँचा फकीर वह है जो हर्ष शोक, हानि लाभ में सम्मति है, मान-अपमान, यश अप यश सब माने, तो प्रभु का है[3]।"

इतना होते हुए भी गद्य के विकास में इन रचनाओं का कोई विशेष योग नहीं है, क्योंकि इनमें पण्डिताऊपन और पद्यात्मकता अधिक है। केवल धार्मिक विषयों तक ही सीमित रहने और सन्तों तथा साधारण शिक्षित भक्तों के द्वारा ही प्रयुक्त होने के कारण इनकी गद्यशैली का परिष्कार नहीं हो सका।

१—रामायण तुलसीकृत सटीक—बैजनाथजी की टीका प्रथमभाग, नवलकिशोर प्रेस (१८९० ई०), पृ० ६०२।

२—रामस्वयंवर, पृ० ४४२ ३—श्रीसन्तवचनावली, पृ० ७

इन भक्तकवियों ने शब्दचयन में अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्ति का परिचय दिया है, जहाँ जो शब्द उपयुक्त लगा, रख दिया चाहे वह जिस किसी भाषा का और जिस किसी रूप में रहा हो। यह आश्चर्य का विषय है कि जिस राम-साहित्य में रामप्रसाद निरंजनी ने १८वीं शताब्दी में 'योगवाशिष्ठ' के भाषानुवाद में परिष्कृत गद्य का परिचय दिया था, उसमें प्रांजलता और प्रवाह लाने की बात तो दूर रही, उसकी परम्परा भी परवर्ती राममक्तिसाहित्य में लिखे गये गद्यग्रन्थों में स्थिर न रह सकी।

रसिक-साहित्य की स्वतन्त्र रचनाओं एवं टीकाओं में प्रयुक्त गद्य के स्वरूप का निरीक्षण करने से पता चलता है कि धीरे-धीरे खड़ी बोली, काव्य की तरह गद्य के क्षेत्र में भी, अवधी और ब्रज का स्थान ले रही थी। सरकारी कार्यों में १९वीं शती के उत्तरार्ध से ही उसका प्रयोग अंग्रेजी सरकार ने आरम्भ कर दिया था। मुद्रण के प्रचार और अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से उसे इस कार्य में अद्भुत सफलता मिली। रसिकसम्प्रदाय के विद्वानों ने भी इसी परिष्कृत और परिमार्जित भाषा को अपना लिया। अब साम्प्रदायिक ग्रन्थों में अवधी और ब्रज की गद्यशैली का वह महत्त्व नहीं रहा। इधर पचास वर्षों के भीतर इस शाखा के विद्वानों द्वारा लिखी गई टीकाओं और स्वतन्त्र गद्यग्रन्थों में खड़ी बोली को ही प्रमुखता दी गई है।

रसिक साहित्य में गतानुगतिकता

कई शताब्दियों तक निरन्तर एक ही विषय पर साहित्यरचना होती रहने से, १९ वीं शती के अन्तिम चरण तक आते-आते रामकाव्य की इस भावप्रधानधारा में गतानुगतिकता की प्रवृत्ति स्पष्ट हो चली थी। इसका मुख्य कारण था—साम्प्रदायिक साधना की रूढ़िबद्धता। इससे कवियों की व्यक्तिगत रुचि और प्रतिभा के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया और उनकी कल्पना को सीमित क्षेत्र के भीतर ही चक्कर काटना पड़ा। इस दशा में अनुभव प्राण एवं साधनारहित कवियों के लिए कोई नई बात कहना आसान न था। फिर भी उन्हें परम्परापालन तथा अपना काव्यकौशल दिखाने के लिए कुछ लिखना ही पड़ा। ऐसी कृतियों में नीरसता, शैलीगत अस्पष्टता और कहीं-कहीं छिछली रसिकता इस मात्रा में मिलती है कि परम्परा से अनभिज्ञ पाठक उन्हें किसी रसाभिक भक्ति पद्धति के अवशेष मानने को कदाचित् ही तैयार हों। इस प्रकार का साहित्य उस महानधारा का तलछट कहा जा सकता है, जिसने रामचरित के एक उपेक्षित पक्ष की ओर भावुक भक्तों का ध्यान आकृष्ट कर हिन्दी साहित्य में एक नई चेतना उत्पन्न की।

(ख) रसिक साहित्य के निर्माता

१. अग्रदास "अग्रअली"

अग्रदास जी का आविर्भाव राजस्थान के किसी गाँव में १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। बाल्यावस्था में ही ये श्रीकृष्णदास जी पयहारी के शरणागत हुए[1] और उनके सान्निध्य में साधनापूर्ण जीवन व्यतीत करते रहे। पयहारी जी के साकेतवास के अनन्तर जयपुर के पास रैवासा नामक स्थान में इन्होंने अपनी गद्दी स्थापित करली[2] और रसिकोपासना का प्रचार करने लगे। इनके शिष्य प्रशिष्य बड़ी बड़ी द्वारागादियों के प्रवर्तक हुए, जिनमें नाभादास, देवमुरारि, पूर्ण-वैराठी, दिवाकर और भगवन्नारायण प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। धीरे धीरे इनकी परम्परा का इतना विस्तार हुआ कि वैष्णवों के ५२ द्वारों में ११ द्वारे इन्हीं महाराज के स्थापित हो गये।

परवर्ती रामभक्तिसाहित्य में इनके व्यक्तित्व की अलौकिकता अनेक भाँति से प्रतिपादित की जाने लगी। युगलप्रिया जी ने इन्हें सीता की 'प्रियसखी'[3] चन्द्रकला का अवतार बताया और रसिकअली जी ने इसका समर्थन किया।

१–र० प्र० म०, पृ० १६   २–वही,   पृ० १६

३–देखिए "चली अग्रकरि प्रिय सखी सोई"–मानस बा. का., पृ० १३४

> अग्रस्वामि श्री अग्र सहचरी जनक लली की।
> पुष्पवाटिका मिलन हेतु प्रिय भाँति भली की॥
> चन्द्रकला प्रिय नाम श्यामसिय बसि करि राखी।
> प्रगटि स्वामि पद अही ध्यान रस मन मन चाखी॥
>
> —र० प्र० म० पृ० १५

रसिकअली जी के निम्नलिखित छंद से इसका समर्थन होता है।

> सच्चिदानन्द ब्रह्म दाशरथी रामचन्द,
> सागर में सेत बाँध्यो कीन्हो सुर काज है।
> सोई अवतार कलिकाल रामानन्द स्वामी,
> कीन्हीं भव सागर में सेतु भक्ति आज है॥
> तिनही के वंश सीताराम रस प्रकट हित,
> चन्द्रकला जू को अवतार अग्रराज है।
> अग्र जू के वंस अवतंस रसिकावतार,
> गायो रस ललित सिंगार सिरताज है॥
>
> —(सी० र० चं० से)

इसीलिये रसिक सम्प्रदाय में ये अग्रअली के नाम से विख्यात हुए। शृङ्गारी रामभक्तों के अंतरसाधनासम्बन्धी नामों में 'अली' की छाप सबसे पुरानी है। 'अग्रअली' के अतिरिक्त नाभाअली और बालअली आदि प्राचीन आचार्यों के नाम इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। अली के पर्याय 'सखी', 'सहचरी', 'कला', 'मंजरी', 'लता' आदि छापों का प्रचार बाद को हुआ। सम्प्रदायेतर विश्वसनीय स्रोतों—'संगीत रागकल्पद्रुम' और 'शिवसिंहसरोज' ऐसे प्रतिष्ठित ग्रंथों में भी अग्रदास के नाम से उद्धृत छंदों में 'अग्रअली' की छाप मिलती है। अतएव इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि 'अग्रअली' और अग्रदास एक ही व्यक्ति थे।[1] अग्रदास उनका शरणागतिसूचक नाम था और 'अग्रअली' उनके महली परिकरस्वरूप की संज्ञा थी।

अग्रदास जी को वाटिका से बड़ा प्रेम था। प्रियतम की विहारस्थली समझ कर उसका सारा कृत्य ये स्वयं अपने हाथों से करते थे। नाभादास जी ने इन्हें 'बाग-बगीचों का प्रेमी' कहा है।[2] प्रियादास जी ने अपनी टीका में महाराज-मानसिंह से इनकी भेंट वाटिका में ही होने का वर्णन किया है।[3] इसी आदर्श

१—क—'अग्रदास' आप शृङ्गाररस के आचार्य 'श्रीअग्रअली' के नाम से प्रसिद्ध हैं। आपके 'अष्टयाम', आपकी 'ध्यानमंजरी', आपकी 'कुंडलिया' इत्यादि प्रख्यात ही हैं।"

—भक्तमाल सटीक (रूपकला) पृ० ३२१

ख—'श्रीअग्रजी' अग्रअली करिकै ख्यात हैं।

—वृ० उ० र० (प्रेमलता), पृ० १२०।

२— सदाचार ज्यों सत, प्राप्ति जैसे करिआये।
सेवा सुमिरण सावधान, चरण राघव चित लाये।
प्रसिद्ध बाग सो प्रीति सुहथकृत करत निरन्तर।
रसना निर्मल नाम मनहुँ वर्षत धाराधर।
(श्री) कृष्णदास कृपाकरि भक्तिदत्त, मन बच क्रम करि अटल दयो।
(श्री) अग्रदास हरिभजन बिन, काल वृथा नहिं वित्तयो॥

"......और जो आपके स्थान के समीप पुष्पफलादि युक्त वाटिका थी उसको 'श्री सीताराम विहारस्थल, अशोक वन और प्रमोदवन की भावना से मानकर उसमें प्रीति करते थे, सो प्रीति आपकी लोकप्रसिद्ध हो गई, क्योंकि आप निज करकमलों से ही उसका सब कृत्य—निरन्तर किया करते थे।"

—'भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ३१८-१९

३—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ३२०

पर रसिक सम्प्रदाय के सन्त अबतक राममन्दिरों में अपनी सुविधानुसार छोटी या बड़ी फुलवारी अवश्य लगाते हैं और उनके नामों के साथ 'कुञ्ज', 'निकुंज', 'वाटिका', 'वन', 'बाग' इत्यादि जोड़ते हैं जैसे–'श्रावणकुंज', 'विदेहजा-दूलह निकुंज', 'हनुमानवाटिका', 'प्रमोदवन' और 'चारुशीलाबाग'।

अग्रदास जी की हिन्दी में दो रचनायें मिलती हैं—'ध्यान मंजरी' और 'कुंड लिया।' इनमें प्रथम की 'रामध्यानमंजरी' और द्वितीय की 'हितोपदेश उपखाणा बावनी' नाम से भी कतिपय पाण्डुलिपियाँ खोज में प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त 'शृंगार रस सागर' अथवा 'अग्रसागर' नामक एक विशाल 'रसिकग्रंथ' भी इनके द्वारा विरचित बताया जाता है। जनश्रुति है कि इसी तीसरे ग्रंथ (अग्रसागर) को पढ़ने के लिये मानस के प्रथम टीकाकार, महात्मा रामचरणदास ने रैवासा जाकर अपना तिलक बदल डाला था। खेद है कि आज तक इसका कहीं पता न चल सका। इधर संस्कृत भाषा में अग्रदास जी का एक 'अष्टयाम' भी प्रकाशित हुआ है।

इनकी रचनाओं में 'अग्र', 'अग्रदास', 'अग्रस्वामी' और 'अग्रअली' ये चार छापें मिलती हैं। 'अग्रअली' छाप विशेष रूप से पदों में दी गई है।

उनकी रचनाशैली के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

षोड़श बरस किशोर राम नित सुंदर राजैं।
रामरूप को निरखि विभाकरकोटिक लाजैं॥
अस राजत रघुवीर धीर आसन सुखकारी।
रूप सच्चिदानन्द वामदिशि जनककुमारी॥
नगन जरे छवि भरे विविध भूषण अस सोहैं।
सुंदर अंग उदार विदित चामीकर कोहैं॥[1]

सहज चलौंगी आपनी, अनखि मरैंगे लोग।
अनखि मरैंगे लोग, वेद कुलकानि न करिहौं॥
भली बुरी सिरधारि, अनन मारग अनुसरिहौं।
देव पितर विधि अविधि, लोक परलोक न सूसो॥
सरवसु सीताराम कोऊ, रूसो कोउ तूसो।
'अग्र' सुमतिपथहरि बरौं, करिहौं दृढ़ संयोग॥
सहज चलौंगी आपनी अनखिमरैंगे लोग।[2]

१–ध्यानमंजरी, पृ० ११
२–अग्रदास कृत कुं०, पृ० १६

देखो झूलत राघो डोल।
जनक सुता लीने सँग सोभित गौर स्याम तन लोल।
हीरा पन्ना लाल पिरोजा रतन खचित वेमोल।
क्रीडत राम जानकी दोऊ बजै दुन्दभी ढोल॥
हँसत परसपर प्रीतम प्यारी आनंद बढ्यो सचोल।
श्री 'अग्रअली' सुनि सुनि सुख पावति बोलहिं मीठे बोल॥[1]

बैठे सुरतपाल लाल आवत महल में।
आगे आगे भीर भारी पीछे असवारी सारी,
बीच बीच में रघुवर चलत चहल में॥
चुन चुन कलियाँ मैं सेज बिछाऊँ,
चोवा चदन चारचे चहक में॥
पोढ़ीय श्री दशरथ राज कुवर वर,
'अग्रदास' जन दासी टहल में॥[2]

जगत जपत रघुनाथ नाम सब,
राम परत सीता को सुमिरन।
रामचन्द्र को ध्यान धरत मुनि,
बसति जानकी रामचन्द्र मन॥
सिव बिरंचि के धनुपधरन धन,
रघुवर के मैथिली महाधन,
परमहंस कुछ राम भजन भर,
अमस्वामि यक पतनी को पन॥[3]

२. नाभादास (नारायणदास) 'नाभाअली'

नाभादास का जन्म दक्षिण में हुआ था।[4] प्रियादास का मत है कि वे जन्मांध थे।[5] छोटी अवस्था में ही पिता का देहावसान हो गया।[6] जब ये पाँच वर्ष के हुए उस देश में भीषण अकाल पड़ा। माता इन्हें लेकर उत्तर भारत चली आईं। किसी प्रकार जयपुर पहुँचीं।[7] प्राणसंकट देखकर वे बालक को

१–अग्रदास पदावली, पत्र २०
३–अग्रदास पदावली, पत्र ९
२–राग कल्पद्रुम भाग १, पृ० ३२८
४–भाषाकाव्य संग्रह, पृ० १२५
५–भक्तमालसटीक (प्रियादास) छं०, सं० १६
६–मैडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० ७७
७–भाषाकाव्य संग्रह, पृ० १२५

जयपुर के निकटस्थ किसी जंगल में छोड़कर चली गईं। दैवयोग से उसी समय उस मार्ग से होकर महात्मा कील्हदास और अग्रदास निकले। अनाथ बालक को निर्जन स्थान में पड़ा देख उन्हें दया आई। कील्हदास ने अपने कमंडल से जल लेकर उसकी आँखों पर छींटा मारा। उनकी सिद्धि के बल से नाभादास की आँखें खुल गईं। अनाथ बालक को लेकर वे गलता गये और वहीं उसका पालन-पोषण अग्रदास जी ने किया।[1]

नाभादास की जाति के विषय में मतभेद है। संतपरंपरा में उनका आविर्भाव डोमवंश में माना जाता है।[2] किंतु 'डोम' कौन सी जाति थी? यह निश्चय करना कठिन है। भक्तों में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार यह 'डोम' वर्तमान 'डोम' से कोई भिन्न जाति थी। भक्तमाल के टीकाकार रूपकला जी के अनुसार पश्चिमी मारवाड़ में डोम, कलावत, ढाढी, भाट, कथिक, आदि संगीतजीवी एक ही वर्ग के हैं।[3] प्रियादास इन्हें लांगूली अथवा हनुमान-वंशी मानते हैं।[4] किन्तु 'काव्यसंग्रह' के रचयिता महेशदत्त ने इन्हें दक्षिणी ब्राह्मण कहा है।[5]

जब ये बड़े हुए तो अग्रदास जी ने गलतागद्दी के आचार्य, तथा अपने बड़े गुरुभाई कील्हदास जी से आज्ञा लेकर इनको मन्त्र-दीक्षा दे दी। इनका नारायणदास[6] नाम तभी रखा गया। हो सकता है इसी अवसर पर रसिक

१–लोचन उघारिकै निहारि कह्यो 'बोल्यौकौन' ?

'वही जौन पाल्यौ सीथ दै दै सुकुमार सों।

—भक्तमाल सटीक (प्रियादास) छं०, सं० १६

२–मेडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० ७७ ३–भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ४७

४–भक्तमाल सटीक (प्रियादास), छ० सं० १६

५–भाषाकाव्य संग्रह, पृ० १३५

भक्तमाला 'रामरसिकावली' के रचयिता महाराज रघुराजसिंह ने भी नाभादास को ब्राह्मण वंश में उत्पन्न बताया है—

अग्रदास अरु कील्हदास दोउ, एक समै तीन्हों न सन्त कोउ ॥

मज्जन करि गवने घरमाहीं। लख्यो अन्ध यक बालक काहीं ॥

सो शिशु लांगूली द्विज केरो। कबहूँ पर्यो अकाल घनेरो ॥

ताकर माता तेहि थल त्यागी। गई परात अस अनुरागी

—रामरसिकावली, पृ० ५७६

६– काहू केवल जोग जग, कुल करनी की आस।

भक्तनाम माला अगर, उर (वसो नारायण दास ॥

—भक्तभाव सटीक (रूपकला), पृ० १२९

परम्परानुसार इनका आत्मसम्बन्धी नाम 'नाभाअली' रख दिया गया हो।

अग्रदास जी जब गलता छोड़कर रैवासा आने लगे तो नाभादास भी उनके साथ चले आये और अपना सारा जीवन गुरुसेवा में बिताया। अग्रदास जी की ही कृपा से इन्हें रसिकसाधना की प्रक्रिया का बोध हुआ और उन्हीं की आज्ञा से ये भक्तमाल की रचना में प्रवृत्त हुए[1]। गुरु की साकेतयात्रा के पश्चात् ये रैवासा गद्दी के आचार्य बनाये गये।

नाभादास, तुलसी के समकालीन थे। इनका 'भक्तमाल' सं० १६४२ (१५८५ ई०) में लिखा गया। शुक्लजी ने इन्हें स० १६५७ (१६०० ई०) के आस-पास वर्तमान माना है।[2]

नाभादास जी की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—'भक्तमाल' और रामचन्द्र जी के दो 'अष्टयाम' (ब्रजभाषा पद्य तथा ब्रजभाषा गद्य में)। 'रामचरित संग्रह' नामक एक चौथे ग्रन्थ का भी उल्लेख विद्वानों ने किया है। किन्तु परीक्षा करने पर वह ब्रजभाषा पद्य में रचित अष्टयाम के कतिपय छंदों का एक संकलन मात्र ठहरता है। नाभादास जी की उपर्युक्त कृतियों में केवल 'भक्तमाल' ही प्रसिद्ध हुई। उनकी अन्य रचनायें अभी तक प्रकाश में नहीं आईं जिससे उनकी साधनापद्धति तथा भक्ति का स्वरूप स्पष्ट रूप में हिन्दी संसार के समक्ष प्रस्तुत न हो सका।

नीचे नमूने के रूप में इनके कुछ छंद दिये जाते हैं—

> कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट् दरसनी।
> भक्ति विमुख जो धर्म, सो अधरम करि गायो।
> जोग जाप व्रतदान, भजन बिनु तुच्छ दिखायो॥
> हिन्दू तुरक प्रमान 'रमैनी शब्दी साखी'।
> पक्षपात नहीं बचन, सबही के हित भाषी॥
> आरुढ़ दसा ह्वै जगत पर, मुख देखी नाहिन भनी।
> कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट् दरसनी॥[3]

१– अग्रदेव आज्ञा दई, भक्तन कौ यश गाउ।
भवसागर के तरन कौ, नाहिन और उपाउ॥
—भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ४४

२–हिं० सा० इति०, पृ० १७७

३–भक्तमाल (रूपकला टीका), पृ० ३८५।

अंतः पुरकी गली सुहाई। तेहि मग बहु ललना चलि आईं।
प्रभु रुख लखि सिय बैठी संगही। निज निज परिकर युत सुख रंगही॥
अग्रभाग सुभगा अति सोहैं। सहजा हास-विलासनि मोहैं।
श्री सरयू झारी लिये ठाढ़ी। पानदान सुख तुलसी बाढ़ी॥
कमला विमला चंवर दुरावैं। चन्द्रकला कछु गान सुनावैं।
और सबै निज टहल सुधारैं। ठाढ़ी दम्पति निकर संवारैं॥[1]

जा दिन सीता जन्म भयो।
तादिन ते सबही लोगनि को, मन को शूल गयो॥
अध्वर आदि अवनि ते उपजी, दिवि दुन्दुभी बजाये।
बरखत कुसुम अपार शब्द जै, व्योम बिमानन छाये॥
जनक सुता दीपक कुलमंडन, सकल सिरोमनि नारी।
रावन मृत्यु कुमति अमरन गण, अभयदान भय हारी॥
सुन्दर शील सुहाग भाग की, महिमा कहत न आवै।
परम उदार राम की प्यारी, पदरज 'नाभो' पावै॥[2]

३. बालकृष्ण 'बालअली'

इनकी गणना रसिक सम्प्रदाय के विशिष्ट आचार्यों में होती है। 'ध्यानमञ्जरी' की पुष्पिका में अपनी गुरुपरम्परा का परिचय देते हुए ये लिखते हैं—

श्री विनोद श्री ध्यानदास, जगजीव उधारक।
श्रीचरणदास जग तोष करन, जग जस विस्तारक॥
तिनके अनुग विचारि रचो, यह सन्त जनन हित।
या करि होहुँ प्रसन्न नवल, नागर नागरि नित॥[3]

इससे यह प्रकट है कि बालअली चरणदास के शिष्य और ध्यानदास के प्रशिष्य थे। ध्यानदास के गुरु विनोदस्वामी अथवा विनोदी जी थे। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में विनोदी जी अग्रदास जी के शिष्य बताये गये हैं।[4] इस प्रकार बालअली अग्रदास की पाँचवीं पीढ़ी में आविर्भूत ठहरते हैं। 'ध्यानमंजरी' और 'नेहप्रकाश' के रचनाकाल के आधार पर इनका काव्यकाल सं० १७२६[5]

१–अष्टयाम, पृ० ३७–३८ ३–रामध्यानमंजरी की पुष्पिका, पृ० ५५
२–फुटकर पद ४–र० प्र० भ०, पृ० २७
५–सत्रह से षड्विंश बरस मास सुनि फाल्गुनि।
शुक्लपक्ष पंचमी अमल सुभवार लग्न दिन॥

रूप सो छपायो उर विरह सतायो,
तब प्रगट लड़ैती छवि हेरी कृपा भई है।
भयो मन भायो 'बालअली' नाम पायो,
उर अति सुख छायो सब स्वामी रीति लई है ॥[1]

चरणदास जी के बाद ये अग्रदास जी की गद्दी (रैवासा) के आचार्य हुए।

बालअली जी की आठ रचनाओं का पता चला है—

१. ध्यानमंजरी,	५. ग्वालपहेली,
२. नेहप्रकास,	६. प्रेमपहेली,
३. सिद्धान्ततत्वदीपिका,	७. प्रेम परीक्षा
४. दयालमंजरी,	८. परतीत परीक्षा।

इनमें सिद्धान्तविवेचन तथा काव्यसौष्ठव के विचार से 'नेहप्रकास' और 'सिद्धान्ततत्त्वदीपिका,' महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

बालअली जी की रचनाओं में 'बालअली' छाप प्रायः पदों में ही मिलती है, अन्य छन्दों में नहीं।

उनकी कृतियों से कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

यद्यपि अली अपार, मुख्य गनी गननायका।
द्वैव हजार हजार, इक इक के सपि किंकरी ॥
तुल्य वेष गुन रूप सिय, न्यून किंकरी जानि।
जीवनधन सुख सयन को, एक मैथिली मानि ॥
केसप्रसाधन करहिं कोउ, सुरभित तेल चढ़ाय।
पहिरावहिं धूपित वसन, कोउ उबटि अन्हवाय ॥
कोउ अलि विविधि सुगंध जुत, रचहिं वेप सिंगार।
उष्ण असन बहु रसन दे, वारि सुरभि हिमसार ॥[2]

दुलहिया दूलह बने दिलदार।
श्री जनक लली ये फली भाग बस भली देव तरु डार ॥
निमि कुल वंश चन्द्रिका प्रगटी अवध कियो उजियार।
श्री 'बालअली' रसिकेन्द्र राज की जीवन प्राण अधार ॥[3]

१—रा० प्र० भ० मा०, पृ० २९   ३—फुटकर पद
२—नेहप्रकाश, पत्र ३-४

> अति अद्भुत माधुरी धरी विधि नागरि के तन।
> जेहि देखत न अघाहिं लाल के अमल नैन मन ॥
> चितै चरित है रहत पलक नहिं लगी सुहावत।
> धन्य अपनपौ गनत मोद मन मैं नहिं मावत ॥
> अति सुकुमार शरीर बरनि कहि कविकुल नसकै।
> पुहुप पाबुरी पगन चलत कंटक सम कसकै ॥
> तन सुगंध सौं मत्त परतु हैं अति उर राने।
> देखत सिय पर अवै अलिन पै अलिन उड़ाने ॥
> तब हँसि कुँवर सुजान पानि निज तिनहिं उड़ावत।
> भूषन अलक सँवारि मोद छिन छिन उपजावत ॥[1]

सुनि सिय चरित सुमुखि मन हरष्यो। उर आनन्द जलद ज्यों बरष्यौ ॥
सिय पदप्रेम बढ़ै नित वाकें। और न सुधि आवै उर वाकें ॥
निज स्वीकरि स्वामिनि सुखदानी। जानकि जान रु जानकि जानी ॥
किंकरि रूप अपनपौ फुरै। जग सम्बन्ध हियन संचरै ॥
निसि दिन तिनहिं मिलन की घरै। अंतर लखि हिय विनती करै ॥
अहो अवधपति होहु कृपाल। निज किंकरि जानि रु बेहाल ॥
यद्यपि हैं बहु दोषनि भरी। तबै कहैं तुमरी किंकरी ॥[2]

४. बालानंद

रामानंदीय संप्रदाय के अनुयायियों में शक्ति और शौर्य की स्थापना का श्रेय इन्हीं महाराज को है। १८ वीं शती में दशनामी शैवों के आक्रमण से वैष्णवों की रक्षा के लिये इन्होंने चतुःसंप्रदायवैष्णवों को संगठित कर अनी और अखाड़ों की स्थापना तथा वैरागियों के लिए सैनिकशिक्षा की व्यवस्था की थी, इसका वर्णन पहले हो चुका है। वास्तव में साम्प्रदायिक मर्यादा की रक्षा और रामभक्ति का देश के सुदूर प्रान्तों में प्रचार, बहुत कुछ इन्हीं के प्रयत्नों से सम्भव हुआ। इनकी 'लश्करी शाखा'[3] रामभक्तों का एक प्रमुख समुदाय माना जाता है।

१–ध्यानमंजरी, पृ० ४८–४९

२–सिद्धान्ततत्त्वदीपिका, पत्र १६१

३–सम्प्रदाय चारौं जुरी, रहो जु लश्कर संग।
  परी छाप जब लश्करी, बहु विधि जीते जंग ॥
  —वै० म० भा० परि०, पृ० १०१

महात्मा बालानन्द

(पृ० ३८८)

महाराज छत्रसाल

(पृ० ३६०)

साम्प्रदायिक ग्रंथों के अनुसार इनका जन्म सं० १७१० में[1] राजपूताना के किसी गाँव में हुआ था। बाल्यावस्था में ही ये विरक्त वेष में आ गये थे। इनके गुरु महात्मा विरजानन्द थे।[2] कहा जाता है १९ वर्ष की अवस्था से इन्होंने 'रामादल' का सगठन करके दसनामी शैवों से लोहा लेना आरंभ कर दिया था। आगे चलकर 'द्वारों और अखाड़ों' की स्थापना करके उन्होंने वैष्णवों को पूर्णतया संगठित कर लिया और चतु सम्प्रदाय मात्र के आचार्य माने जाने लगे।[3]

इनकी उपासना 'राम' के बालरूप की थी।[4] किंतु इनकी जो फुटकर रचनायें प्राप्त हुई हैं उनसे विदित होता है कि आराध्य के ऐश्वर्य और माधुर्य सम्बन्धी चरित में भी ये श्रद्धा रखते थे। अब तक इनका कोई स्वतंत्र काव्यग्रंथ उपलब्ध नहीं हो सका है। रामभक्तों के पदसंग्रहों में ही इनकी कुछ कवितायें मिलती हैं।

इनकी काव्य शैली के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

सुमिरौ मन जय जय जय रघुवीर।
अवध सोहावन अति मन भावन, तले बहै सरज्यू नीर॥
रघुवर लक्ष्मण भरत शत्रुहन, संग सखान की भीर॥
क्रीट मुकुट मकराकृत कुंडल, गले बिच मुक्ता हीर॥
शारंग धनुषबान कर सोहै, पहिरे पीतांबर चार॥
शंख चक्र गदा पद्म विराजै, सोहत स्याम शरीर॥
संग सखा सरज्यू तट बिहरैं, राम लक्ष्मण दोउ वीर॥
बामे अंग जानकी बिराजैं, दहिने श्री लक्ष्मण वीर॥
रूप निहारि चकित भये रतिपति, शारद शेष मति धीर॥
नाम प्रताप तरे जल थल में, गीद्ध व्याध कपि कीर॥
'बालानंद' रघुवर के सरणै, गावत गुण गंभीर॥[5]

१—रामदल की विजय श्री, पृ० ७
२— वही, पृ० ८
३—द्वारा अखाड़ा बाँधिया, स्वामी बालानंद।
दक्षिण देस के धर्म को, उत्तर प्रगट मुकुन्द॥
—वै० म० भा० परि०, पृ० १०१
४—ब्रजानन्द महराज के, शिष्य श्री बालानंद।
बालक राम उपासना, सन्त जनन सुख कंद॥ —वही, पृ० १०१
५—भजनरत्नावली, पृ० ९२

सुमिरौ मन राम सच्चिदानद ॥
जो सुमिरे त्रयतापहरतु है परत न जम के फन्द ॥
ऋषिमख राखि निशाचर मारे अभय किये मुनि वृंद ॥
पद रज परसि सिला भई सुन्दरी धाय उबारे गयन्द ॥
जनक स्वयवर पावन कीन्हो तोड़ो धनुष प्रचण्ड ॥
सिया जी विवाहि अवध हरि आये घर घर भयो है अनंद ॥
मात कौशल्या करत आरती निरखत सुख के कन्द ॥
जयजयकार भयो सुरपुर में गावत 'बालानद' ॥[1]

भवनगवन प्रभु कीजै सेज बिछी, भवनगवन प्रभु कीजै ।
परिश्रम भये सभा सब बैठे, सब को आयसु दीजै ।
रामदूत हनुमान पवनसुत, सग चौकि को लीजै ।
कमलमुखी कमला मुख हेरे, प्रेम प्रीति रस भीजै ।
मन क्रम वचन तुम्हें प्रभु सेवै, चपला अचल करीजै ।
मंद मंद मुसकात छबीले, बोलत वचन रसीले ।
'बालानद' को देहु किंकरी, श्रीपति ऐसे सुसीले ।[2]

५. छत्रसाल

महाराज छत्रसाल पन्ना के प्रसिद्ध बुन्देलराजा चम्पतराय के पुत्र थे । इनका जन्म ज्येष्ठ शुक्ला ३, सं० १७०६ में हुआ था । जब ये १५ वर्ष के ही थे, पिता का स्वर्गवास हो गया । इसके पश्चात् अपने बडे भाई अङ्गदराय की अनुमति लेकर इन्होंने मुगल बादशाह औरङ्गजेब के यहाँ नौकरी कर ली । उन दिनों शिवाजी से युद्ध चल रहा था । जयपुरनरेश महाराज जयसिंह के साथ ये भी उसमें भाग लेने के लिए भेजे गये । इन्होंने इस सग्राम में अपूर्व शौर्य का परिचय दिया और उसके फलस्वरूप देवगढ के किले पर शाही सेना का अधिकार हो गया । किन्तु युद्ध समाप्त होने पर शासन की ओर से विजय का सेहरा सेनापति बहादुरखाँ के ही सर पर बाँधा गया, इन्हें किसी ने पूछा तक नहीं । मुगलशासन के इस कृतघ्नतापूर्ण व्यवहार से इन्हें बडी ग्लानि हुई । उसी समय इनका विचार पलट गया और इन्होंने हिन्दूसस्कृति के एक मात्र रक्षक शिवाजी से मिलने की ठान ली । दुर्गम पर्वतीयप्रदेश को पार करते हुए ये सिंहगढ पहुँचे । वहाँ शिवाजी से मिलकर गदगद हो गये ।

इसके पश्चात् इनका शेष जीवन औरङ्गजेब और उसके उत्तराधिकारियों से युद्ध करते बीता । सं० १७२८ में इन्होंने गढाकोटा का किला जीत

१– भजन रत्नावली, पृ० ९३　　२– वही, पृ० २३१

लिया और उसके बाद सं० १७३७ में मुगल सेनापति तहव्वर खाँ को तथा सं० १७४६ में अब्दुलसमद खाँ को बुरी तरह हराया। इनकी विजयों का क्रम जारी रहा। सं० १७५८ में मुरादखाँ और दलेलखाँ को, सं० १७५९ में सैयद अफगान को और सं० १७६१ में शाहकुली को परास्त कर इन्होंने अपनी कीर्ति फैलाई। इन विजयों से प्रायः पूरे बुन्देलखंड पर इनका स्वत्व स्थापित हो गया। इसी बीच औरंगजेब का देहान्त हो गया। उसके उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने सं० १७६५ में उक्त भूभाग पर इनका अधिकार मान लिया।

महाराज छत्रसाल के हाथों से तलवार की मूठ मरते दम तक नहीं छूटने पाई। सं० १७८६ में फर्रुखाबाद के नवाब मुहम्मद खाँ बंगश ने एक विशाल सेना लेकर बुन्देलखंड पर चढ़ाई कर दी। इस समय इनकी आयु अस्सी वर्ष की थी। अपनी स्थिति संतोषजनक न देखकर इन्होंने बाजीराव पेशवा के पास सहायता के लिए एक पत्र भेजा। उसमें लिखे गये निम्नांकित दोहे में इन्होंने अपनी दशा का एक मर्मभेदी चित्र उपस्थित किया है—

जो बीती गजराज पर, सो बीती अब आय।
बाजी जात बुंदेल की, राखो बाजीराय॥

पत्र पाते ही 'हिंदूपद पादशाही' के पुराने हितैषी एवं रक्षक—छत्रसाल की सहायतार्थ, बाजीराव एक लाख सवार ले आ धमके। बंगश पराजित हुआ। महाराज छत्रसाल की यह अन्तिम विजय थी। इसके कुछ ही दिनों बाद उनका परलोकवास हो गया।

छत्रसाल के जीवन के इस राजनीतिक पक्ष से प्रायः लोग परिचित हैं, 'भूषण' के आश्रयदाता के रूप में भी उनकी प्रसिद्धि है, किंतु इनकी रचनाओं का प्रचार व्यापक रूप में नहीं हुआ है। इससे इनके व्यक्तित्व के भावपक्ष पर अभी तक कम लोगों की दृष्टि जा सकी है। वियोगी हरिजी ने 'छत्रसाल ग्रंथावली' में इनकी कृतियों का जो परिचय दिया है उससे ज्ञात होता है कि इन्होंने आठ ग्रंथों की रचना की थी—

१. रामावतार के कवित्त
२. रामध्वजाष्टक
३. हनुमानपचीसी
४. श्री राधाकृष्ण पचीसी
५. कृष्णावतार के कवित्त
६. महाराज छत्रसाल प्रति अक्षर अनन्य के प्रश्न
७. दृष्टान्ती और फुटकर कवित्त
८. दृष्टान्ती तथा राजनैतिक दोहासमूह

ग्रंथों की उपर्युक्त सूची से यह विदित होता है कि उनकी राम और कृष्ण दोनों अवतारों में आस्था थी। उनके ये भाव निम्नांकित कवित्त में अधिक स्पष्ट हो जाते हैं।

सीतानाथ, सेतुनाथ, सत्यनाथ, समुनाथ,
नाथ-नाथ, देव नाथ, दीन नाथ दीनगति।
रघुदेव, जदुदेव, जच्छदेव, देवदेव,
विश्वदेव, वासुदेव, व्यासदेव, देवरति॥
रनबीर, रघुबीर, जदुबीर, ब्रजबीर,
बलबीर, धीरबीर, व्रतबीर, चारुमति।
रागपति, रंग पति, रमापति, छतापति,
राधापति, रसपति, रसापति, रासपति॥

'श्रीरामयशचन्द्रिका' के एक छन्द से ऐसा ध्वनित होता है कि, अपने संघर्षमय जीवन में, स्वातन्त्र्य संग्राम के इस अमर सेनानी को 'रामभक्ति' से अपार शक्ति और प्रेरणा मिली थी। छन्द यह है—

प्रलय-पयोनिधि लौं पहरा लगन लाग्यौ,
लहरा लगन लाग्यौ पौन पुरवैया कौ।
भारी बहु झांझरी भरी है भूरि भारनि सों,
धीर न धरात छत्रसाल से खिवैया कौ॥
महा पारावार परी अलख अगार माँझ,
कीजिये सम्हार आय आसु यहि नैया कौ।
घहन न पैहै घेरि घाटहिं लगै है फेरि,
अमित भरोसो मोहिं राम रघुरैया कौ॥[1]

राम के साथ उनके 'दूत' हनुमान में भी छत्रसाल की अगाध निष्ठा थी। अपने 'मलेच्छ' शत्रुओं का संहार करने के लिये इन्होंने उनसे प्रत्यक्ष सहायता की याचना की है—

असन अघाय पाय तृप्त होय भूखो जब,
अगद—मुमूरि भूरि तबहीं परा करै।
बसन विहीन वस्त्र पायकै सिहावै जब,
छत्रसाल तबै सीत आतप लखा करै॥

1—छत्रसाल ग्रंथावली, पृ० ३७

बालब्रह्मचारी ! तू ही धर्म धुर धारी धीर,
गहन मलेच्छ कारि क्यों न दो फका करै।
जगत दिखाय कहै, "सूर को प्रकास भयौ,"
सूरत वै जानै, जब आँखनि दिखा परै ॥[1]

छत्रसाल की रामभक्तिविषयक कुछ रचनाओं से ज्ञात पड़ता है कि, वे रसिक शाखा के सिद्धान्तों में श्रद्धा रखते थे। सीताराम की विहारलीलाओं पर लिखे गये छन्द इसी वर्ग में आते हैं। यह स्मरणीय है कि उनके आविर्भाव के पहले से चित्रकूट, रसिक सन्तों की प्रधान साधनाभूमि बन चुका था। अतएव वहाँ के रामरसिकों के प्रभाव से छत्रसाल के हृदय में राम की माधुर्यलीला के प्रति आकर्षण उत्पन्न होना असम्भव नहीं कहा जा सकता। उनकी वंशपरम्परा में रसिक संतों के प्रति निष्ठा की अनेक कथायें प्रचलित हैं। *प्रसिद्ध है कि उनके वंशज हिन्दूपति 'रामसखे' जी का* दर्शन करने चित्रकूट गये थे और उन्हें कई गाँवों की माफ़ी देने की इच्छा व्यक्त की थी, किन्तु रामसखे जी ने उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। पन्ना और छतरपुर आज भी रसिक शाखा के गढ़ माने जाते हैं।

नीचे उनकी रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

मेरे नैन जुगल चकोर राम राकाससि,
काय मन बचन बिलोकि सुख पावैंगे ।
अंग अंग अमित अनंग छवि देखि देखि,
द्वन्द्व दुख भंजि भूरि आनँद बढ़ावैंगे ।
'छत्रसाल' मानस नदीस बीसबिसे आजु,
अमिय अमन्द चारु चखनि चखावैंगे ।
मोहभ्रम जनित बिदारि तम तोम अब,
सीतावर चन्द उर मन्दिर बसावैंगे ॥[2]

रचि पचिहारे कविकोविद बिचारे सब
संभु रहे ध्यान औ स्वयंभु रहे गानकरि ।
व्यालपति रहे देखि ख्याल खूब फागनिकौ,
गौरि रही गोद लै गनेसाँसर पानिधरि ॥
औध रही रंग पूरि महकि सुगंध रही,
सरजू हू रही लाल लाल रंग स्रोत सरि ।

१—छ० ग्रं०, पृ० ११   २—छ० ग्रं०, पृ० १४

एक ओर कुँवरि किसोरी रही छत्रसाल,
एक ओर कुंवर किसोर रहे रंग भरि ॥[1]

तीज पर्व पावनि सुहावनि है आई आजु,
पूजन को सोमबट गोठि बनितान की।
मानो घनस्याम को रिझाइबे अनेक वेष,
आई चारु चन्द्रमुखी तुल्य तड़ितान की॥
कैधों कान्ति दीपमालिका की चन्द्रमालिका की,
एक ओर हैं करोर एक ओर जानकी।
जोरि जोरि पानि सीता कहैं राम 'छत्रसाल',
राम कहैं सीता लैके पोदर ललान की ॥[2]

संगलै सखान मणि अद्रि के समीप झूला,
झूलि रहे होड़ो होड़ा अवध भुवाल हैं।
सावन की तीज तजवीज करि जोरी जोरी,
स्याम स्याम गोरे गोरे जोरे राज बाल हैं॥
झूलै औ झुलावै कोऊ पैतानि बढ़ावैं गावैं,
देखि सुख पावैं सर्व लोक लोकपाल हैं।
दीसैं ईस मुदित असीस नग सीसैं देत,
लेत बिसे बीसैं महामोद छत्रसाल हैं॥[3]

६. रामपियाशरण 'प्रेमकली'

ये मिथिलावासी रसिक सन्त थे। युगलप्रियाजी ने इनकी कुटी माधौपुर (मिथिला) में होने का उल्लेख किया है।[4] इनके गुरु 'नेहकली' नामक कोई रसिक महात्मा थे, जो उसी प्रदेश के रहनेवाले जान पड़ते हैं। भाव से अपने को ये सीता जी की सहोदरा बहन मानते थे। इस सम्बन्ध से ये अयोध्या में जाकर कुछ दिनों तक रहे भी थे। इन्होंने रसिक सन्तों में रामायण के आदर्श पर 'सीतायन' नामक एक विशाल प्रबन्धकाव्य की रचना की है, यह सात काण्डों में विभक्त है, जिनके नाम हैं—बाल काण्ड, मधुमाल काण्ड, जयमाल काण्ड, रसमाल काण्ड, सुखमाल काण्ड, रसाल काण्ड और चन्द्रिका काण्ड। इसकी एक हस्तलिखित प्रति अयोध्या के जयपुर मन्दिर में सुरक्षित है। इस

1—छ० ग्रं०, पृ० ४१। 3—र० प्र० म०, पृ० १०७
2—वही, पृ० ४४।

ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७६० (१७०३ ई०) है। अतएव इसी के लगभग इनकी स्थिति माननी चाहिये।

सीतायन में रसिकों के सिद्धान्तानुसार जानकी जी की बाल एवं विहार लीलाओं का ही वर्णन है। उनके जीवन का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं किया गया है।

उनकी काव्यशैली के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

छबीली जनक ललिन की जोरी।
करि सिंगार निरखति नयनन भरि, जननि सकल गुण गोरी।
छम छम चलति अरति पुनि दौरति, मणि प्रतिबिंब गहोरी॥
पुनि तेहि ते बतरावति बात मृदु, भई जिमि चन्द चकोरी।
हँसति हँसावति अति मन भावति, कढ़ि छबि सिंधु हलोरी।
यहि विधि बालविनोद करति सब हँसति परस्पर टकन टकोरी।
'प्रियाशरण' अलवेलिन की छबि लखि रतरती लजोरी॥[1]

ताहि दिवस नारद बड़भागी। राम भक्त गण मे अनुरागी।
विमल सरूप बजावत बीना। गावत हरियश परम प्रवीना।
ब्रह्मलोक ते निमिपुर आये। निज तन-दुति रवि-दुतिहि लजाये।
महल द्वार पर आय विराजे। ब्रह्ममुहूर्त मोदमय भ्राजे।
महल निकुंज सुनयना जहवाँ। राजा जनक गये निज तहवाँ।
कुँवरिन को लखि विविध विनोदा। भोर उठे मन माँह प्रमोदा।
नित्य नेम करि बाहेर आये। देखि देवरिषि अति सुख पाये॥[2]

रसीले लालरघुराई, विराजे रास सुखदाई॥
मनोहर जानकी संगे, महासुख सिन्धु उमड़ाई॥
सोहावन काछनी राजे, रतन मय क्रीट सिर भ्राजे॥
हरत मन नाक की मोती, अधर अति अरुण पर छाजे॥
चिबुक बिच बिन्दु यक पीरा, लसत मुख पान को बीरा॥
हँसत मन लेत तानन में, गले मुकावली हीरा॥
सखी सब राजतीं संग में, बजातीं साज को रंग में॥
रसिक सब मस्त छवि पीवे, सिया पिय वदनलखि जीवे॥
बढ़यो आनन्द दस दिसिते, मगन 'प्रियासरन' होते॥[3]

१—सीतायन-मधुरमालकाण्ड, पृ० ४१
२— वही, पृ० ४६ ३—फुटकर पद

७. जानकीरसिकशरण 'रसमाला'

जानकीरसिकशरण की गणना अयोध्या के प्राचीन रसिक सन्तों में होती है। इनका आत्मसम्बन्धी नाम 'रसमाला' था। अयोध्या में प्रमोदवन नामक स्थान में रहकर इन्होंने 'अवधी सागर' की रचना की थी, जिसमें सीताराम की विहारक्रीडाओं का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ सं० १७६० (१७०३ ई०) में पूरा हुआ। इसके अतिरिक्त 'रसमाला' छाप से इनके कुछ फुटकर श्रृङ्गारी पद भी मिले हैं। इनका आविर्भावकाल सं० १७६० (१७०३ ई०) के लगभग माना जाता है।

इन्होंने अपने ग्रन्थों में 'रसमाला' के अतिरिक्त 'रसमालिनि' और 'रसमालिका' की भी छापें रखी हैं।

इनके कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं।

रामकृपा सिय की मया, अजहूँ यहि रस माहिं।
पगे रसिक जन देपियत, विना कृपा न दिखाहिं॥
यह रस पागे जे रसिक, तिनकी संगति पाय।
अली रूप लहि जुगलसुख, रसमाला दरसाय॥
जिनके उर सिय स्वामिनी, पियसह करति निवास।
रस रतनन की माल ते, पहिरहिंगे रस रास॥
जोग ग्यान वैराग व्रत, जप तप संजम ध्यान।
सबको फल सियपिय कृपा, गावहिं सन्त पुरान॥[1]

सिय राम रूप अपार पूरन, अवधि सागर यह महा।
रत मास जाम तरंग दम्पति केलि सुख सम्पति जहाँ॥
रसखानि रसिक—नरेस जानकिजानराय कृपाकली।
सिय स्वामिनी अनुगामिनी 'रसमालिका' फली-फली।[2]

झूलें सिय पिय रंग हिंडोरैं।
प्रीतम के संग रमक बढ़ावत रंगभरी सखियाँ चहुँ ओरैं॥
घन गरजत बिजुली अति चमकत बरसत रिमझिमपवन झकोरैं।
'रस मालिनि' प्रीतम मन मोहत बोलत खगरव मोर चकोरैं॥[3]

१—खोज रिपोर्ट (१९२०—२२), पृ० ४०८
२—अवधिसागर से उद्धृत।
३—रसिकबिहार संग्रहावली, पृ० ४५

८. रूपलाल 'रूपसखी'

ये बालअली जी के शिष्य थे।[1] इनका व्यावहारिक नाम रूपलाल था। 'रामरसिकावली' में इन्हें दिल्ली के दीवान का पुत्र[2] बताया गया है, किन्तु 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में ये स्वयं दिल्ली के दीवान कहे गये हैं।[3] प्रसिद्ध है कि दिल्ली के बादशाह के आग्रह से इन्होंने शाही महल में ही बड़े धूमधाम से होली मनाई थी और उसी उत्सव में रसोन्मत्तस्थिति में प्राण त्याग दिये थे।[4] दिल्ली के बादशाह के रूपलाल नामक किसी दीवान का पता नहीं चलता और न यह ही ज्ञात हो सका है कि किस बादशाह के समय में इन्होंने उक्त होलिकोत्सव मनाया था। औरंगजेब के पश्चात् अधिकांश मुगल बादशाहों को हिन्दू उत्सवों, विशेषकर होली से विशेष प्रेम था। अतएव आश्चर्य नहीं कि उन्हीं में से किसी एक के समय में इन्होंने उक्त 'होरी' का आयोजन किया हो। रूपसखी जी की 'होरी' नामक रचना प्राप्त हुई है।

इनके कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं—

फागुन आगम करि चढ्यो, अलिन बढ्यो अनुराग।
अब हिलिमिलि हम खेलिबो, लली लाल सँग फाग॥
लालन ललन की अरी, भरी रंग पिचकारि।
असि छोड़ी छबि सो बिहँसि, सिय उर आर निहारि॥
दुरि बिमला तब दौरि कै, पिय सिर केशरि ढोरि।
हो हो होरी कै उठी, हिलि मिलि नवल किशोरि॥[5]

कौशल राज लला मिथिलेश किशोरी हो।
खेलत हैं दोउ मोद भरे रंग होरी हो॥
लीन्हें सखा संग सोदर श्री रघुबीर हैं।
मैन महीपति साथ मनो भट भीर हैं॥
केशरि पेंच बिराजत है जर तारी के।
राजत हैं तिनपै सिर पंच किनारी के॥
एकन के शिर सोहत पाग मुकेश की।
छाजि रही झुकि कै कलँगी अति वेश की॥[6]

१–र० प्र० भ०, पृ० २९
२–रामरसिकावली, पृ० ९९८
३–र० प्र० भ०, पृ० २९
४–वही, पृ० ३०।
५–होरी, पृ० २
६–वही, पृ० ३

को बरनै छवि राज किशोर किशोरी की।
जोरी अनूप बनी रति नायक होरी की॥
नाचन लागीं आलिंगन बाजे मृदंग हैं।
कोई न बाचे जितने होरी रंग हैं॥
अंस भरे भुज देखत प्यारे औ प्यारी हैं।
'रूपसखी' तेहि औसर की बलिहारी हैं॥[१]

९. रामप्रपन्न (मधुराचार्य) "मधुरप्रिया"

ये रसिक भावना के तत्त्वज्ञ साधक और गलता गद्दी के आचार्य थे।[२] इनका शरणागतिसूचक नाम रामप्रपन्न था। कील्हस्वामी की पाँचवीं पीढ़ी में ये गलता गद्दी के आचार्य हुए थे।[३] रसिक भक्तों में सर्वप्रथम इन्होंने ही 'वेद, उपनिषद्, तन्त्र, वाल्मीकिरामायण' इत्यादि प्राचीन ग्रन्थों से रामचरित में शृङ्गारवर्णनपरम्परा की प्राचीनता सिद्ध की थी। 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' के अनुसार इन्होंने गलता में निरन्तर बारह वर्षों तक रासलीला का आयोजन किया था और रसिक रामभक्ति के विरोधियों को शास्त्रार्थों में पराजित कर सम्प्रदाय की मर्यादा बढ़ाई थी।[४] कहते हैं कि विपक्षियों ने इन्हें नीचा दिखाने के लिये और कोई मार्ग न देखकर जयपुर के तत्कालीन राजा रामसिंह से एक यज्ञ का अनुष्ठान कराया। राजगुरु के रूप में इस यज्ञ में पत्नीसहित सम्मिलित होने के लिये इनसे विवाह करने का आग्रह किया गया। इस प्रस्ताव को ठुकरा कर इन्होंने तत्काल ही गद्दी त्याग दी और चित्रकूट जाकर इष्टदेव की विहार लीला का ध्यान करते हुए रहने लगे।[५] इसके बाद इनका सारा जीवन रसिक सिद्धान्तों के प्रचार और तद्विषयक साहित्य के प्रणयन में बीता।

हिन्दी में कुछ फुटकर पदों के अतिरिक्त इनकी कोई रचना नहीं मिलती। किन्तु संस्कृत में लिखे चार ग्रन्थों का पता चला है—

१ भगवद्गुण दर्पण—यह छः सन्दर्भों में विभक्त है, सुन्दरमणिसन्दर्भ और वैदिक-मणि-सन्दर्भ इसी के अङ्ग हैं।

२—माधुर्यकेलिकादम्बिनी

३—वाल्मीकिरामायण की (शृंगार परक) टीका।

१—होरी, पृ० १९
२—सुन्दरमणिसंदर्भ, पृ० ५
३—वै० म० भा० (सपा०—रामटहलदास), पृ० ११०
४—र० प्र० भ०, पृ० ३१
५— वही, पृ० ३१

४—रामतत्त्वप्रकाश।

सुन्दरमणिसंदर्भ में वाल्मीकि रामायण के श्लोकों की जैसी व्याख्या की गई है, उससे अनुमान होता है कि इन्होंने उसका सम्यक् अनुशीलन किया था और अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये आदिकाव्य से पर्याप्त सहायता ली थी। ये अठारहवीं शती के उत्तरार्ध में विद्यमान थे।

इनकी रचनाओं से कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

वन्दे सखीसमाजं तं प्रेमरज्ज्वा वशीकृतम्।
बबन्ध क्रीडमानो यो श्रीरामरससागरम्॥[१]

सीताया कबरीं बबन्ध किमु वा देवांगना सा प्रिया।
श्रीरामं प्रमदासुलोचनमनो मन्ये रतिं प्रेयसि॥
स्नेहाक्रांतमना प्रियाधरगतं दन्तक्षतं पश्यति।
कान्तप्रीतिमहो विलोक्य मुमुहुः सीतास्वरूपे स्त्रिय॥[२]

सखि मैं आजु गई सिय कुंज।
देखि नृपति किसोर दौरे घेरि पिचका पुंज॥
तब कही मैं सुनहु लालन लाल कौसलचन्द।
फाग मिस का करहु चोरी चलहु हमरे संग॥
'मधुर प्रीतम' आजु तुमकों जीतिहौं रतिरंग॥[३]

लाडली मान न कीजै होरी के दिन कौन तिहारी बान।
बरस बरस को खेल छाँड़ि तुम बैठी हौ भौंहैं तान॥
मान सिखावन लेहु हमारो कहत जोरि जुग पान।
'मधुर प्रिया' प्रिय पास चलो उठि रुचिर केलि की दान॥[४]

१०. सूरकिशोर

ये अग्रदास जी के गुरुभ्राता, कील्हस्वामी के पौत्रशिष्य थे।[५] इनका जन्म जयपुर में सनाढ्य ब्राह्मणवंश में हुआ था। जयपुरनरेश रामसिंह के दुर्व्यवहार से जब मधुराचार्य गलता छोड़कर चित्रकूट चले गये तो इन्हें बहुत दुख हुआ। इन्होंने उसी समय गलता छोड़ दिया और अपने बड़े गुरुभाई के साथ लोहार्गल सीकर चले गये। वहाँ संतों की किसी जमात में रहने लगे। आरंभ से ही जानकी जी में इनकी वात्सल्यनिष्ठा थी। अतएव

१—माधुर्यकेलिकादंबिनी, पृ० ९
२—वही, पृ० ८९
३,४—षड्ऋतु पदावली, पृ० ११०
५—र० प्र० म०, पृ० २०

जब कभी बाहर घूमने जाते तो उनकी मूर्ति सदा साथ लिये रहते थे और बाजार में जाकर उनके लिये खिलौने, मिठाइयाँ आदि खरीदा करते थे।[१] इनके सहवासी साधुओं को जगन्माता में पुत्रीभाव रख कर उन्हें साथ लिये इनका घूमना अच्छा न लगा। एक दिन उन लोगों ने वह मूर्ति इनसे छीन ली। सूरकिशोर जी को इससे बड़ा दुःख हुआ। उसी व्यथा से उद्विग्न होकर वे मिथिला चले गये और वहाँ कुटी बनाकर 'पुत्री' के वियोग में साधनामय जीवन व्यतीत करने लगे। साम्प्रदायिक ग्रन्थों के अनुसार जानकी जी की वह मूर्ति मिथिला में पुनः प्रकट हुई।[२] उसकी स्थापना करके वे 'पुत्री' की सेवा में ही मग्न रहने लगे। इस घटना का संकेत उनके एक छंद में भी मिलता है, जिसकी आरंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> मिथिला कलि काल ग्रसी सिगरी,
> तब जानकी जू झट दै उघरीं।[३]

इसके पश्चात् मिथिला के तीर्थस्थलों का उद्धार कर उन्होंने उसकी मर्यादा पुनः स्थापित की।

जानकी जी के प्रति वात्सल्य भाव रखने के कारण सूरकिशोर जी अपने को महाराज जनक का भाई और राम को अपना दामाद मानते थे।[४] अतएव जब कभी वे अयोध्या जाते थे तो तत्कालीन सामाजिक मर्यादा के अनुसार नगर के भीतर अन्न-जल नहीं ग्रहण करते थे। वे सरयू तट पर लकड़मंडी के पास ठहरते थे। जनश्रुति है कि एक बार जब वे अयोध्या आये और कनकभवन में 'पुत्री' से भेंट करने गये तो श्री विग्रह को सादे एवं मैले वस्त्र धारण किये और आभूषणहीन देखकर बहुत दुखी हुए। तत्काल ही वहाँ से मिथिला के लिये लौट पड़े।[५] मार्ग में पुत्री की दशा से दुखी और चिन्तित होने से कई दिन तक बिना अन्न जल ग्रहण किये चलते रहे। एक रात को जब वे पेड़ के नीचे सोये थे तो, कहते हैं कि सीता जी दिव्य वस्त्राभूषण धारण किये प्रकट हुई और पिता के पैर पकड़ कर रोने लगीं। सूरकिशोर का निम्नलिखित छंद[६] इसी घटना पर कहा गया बताया जाता है—

> उभै कुलदीप सिखा मनि जानकी लोकरु वेद की मेड़ न मेटी।
> भरी सुख संपति औधपुरी रजधानि सबै लछना सो लपेटी॥

१—जनकपुर की झाँकी, पृ० ४७
२—वही, पृ० ४८
३—मिथिला विलास, पृ० २२
४—र० प्र० प्र०, पृ० २०
५—वही, पृ० २१
६—दि० स०, पृ० ४५

करैं मिथिला चित सूर किसोर सनेह की बात न जात समेटी।
कोटिन सुख्ख जो होइ ससुरारि तो बाप को भौन न भूलति वेटी ॥[1]

मिथिला लौटने पर उन्होंने अपना सारा जीवन 'दामाद' और 'पुत्री' की उपासना में बिताया। सूर किशोर जी ने अपने इस वात्सल्यभाव का आजन्म निर्वाह किया। दामाद के नाते, उन्होंने राम से परमपद तक की याचना नहीं की। इस विषय में रसिकों में उनका यह छन्द बहुत प्रसिद्ध है—

निबही तिहुँ लोक मे सूर किशोर विजै रन मे निमिके कुल की।
जस जाइ रह्यौ सत दीप छुकान, कथा कमनीय रसातल की।
मिथिला बसि राम सहाय चहै तो उपासक कौन कहै भलकी।
जिनके कुल बीच सपूत नहीं करैं आस दमादन के बल की।[2]

इनकी अधिकांश रचनायें फुटकर छन्दों के रूप में मिलती हैं, ग्रन्थ केवल मिथिला 'विलास' उपलब्ध है। इसके सरस छन्दो मे वात्सल्यभाव की सुन्दर व्यञ्जना के साथ तत्कालीन ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की भी झलक मिलती है। ग्रियर्सन महोदय ने इनका समय १७०३ ई० निर्धारित किया है।

सूर किशोर जी की कविता के नमूने नीचे दिये जाते हैं—

जनक लली मधुरे-सुर गावैं।
कोइ सखि रैनि दिवस सुधि भूलीं कोइ सखि व्याह की बात चलावैं।
कोइ सखि रीझि रीझि गुन गावैं कोइ सखि मुरज पर भँवर उड़ावैं॥
कोइ सखि मधुर मधुर सुर गावैं चन्द्रकला अलिबीन बजावैं।
'सूरकिशोर' बलैया लेहीं बिन सखिया कोउ जान न पावैं॥[3]

नृप के गृह बाल विहार करैं सिय की पदरेनु जहाँ लहिये।
मुनि वृन्द उपासक राम बिवाह सोई निजठौर हिये गहिये॥
कह 'सूरकिशोर' विचार यही हिम वो तप वो बरपो सहिये।
चिउरो चबिकै फलनो भरि कै मिथिला महँ बाँधि कुटी रहिये॥[4]

सचीसिर ढोरैं चौंर, उरवसी उड़ावैं भौंर,
सावित्री सेवैं चरन, महिषी महेश की।
बरुन धनेस राज राज उड़राज कन्या,
गांधर्वी किन्नरी कुमारी सेवैं सेस की॥

१–मिथिलाविलास, पृ० १९ २–मिथिलामाहात्म्य, छन्द ६
३–मिथिलाविलास, पृ० १७ ४–वही, पृ० १८

ललना नरेसन की दमकै सुदामिनी सी,
सौंज लिये आसपास खड़ी देस देस की।
कन्या तिहुँलोकन की तिन मे किसोर सूर,
अद्भुत किसोरी बेटी राज मिथिलेस की॥[1]

नमोनमो श्री जनक ललीजू।
जनमत भई विदेह नृपति गृह कीरति त्रिभुवन उमड़ि चली जू।
मिथिला आलवाल निमि कुलको सुकृत बेली सुफल फली जू॥
वीनत मुनिमाली ब्रह्मादिक बालचरित मृदु कुसुम कली जू।
षट्दल गुण सम्पति परिपूरण चितवत अनुपम रूप झली जू॥
कृपा विपस सौरभ प्रेमाभर सेवत अलि बड़ भाग भली जू।
'सूरकिशोर' निगम जल सींचत मायक गुण एकोन रली जू॥
अवलम्बन रघुवीर कल्पतरु भई भूप उपमा अतुली जू।[2]

१२. मामा प्रयागदास

ये महात्मा सूर किशोर के साधक शिष्य थे।[3] इसी नाते अपने को निमिवंशी और जानकी जी का छोटा भाई मानते थे। इस भावसम्बन्ध से राम इनके बहनोई होते थे। अपने इस नाते पर इन्हें गर्व था। अयोध्या के सखाओं को ये मधुर गालियाँ देते थे। वहाँ के दास्यभावना के भक्त तथा अन्य नागरिक इन्हें 'मामा' कहते थे, जिससे 'मामा प्रयागदास' के नाम से ही ये अधिक विख्यात हुए। इनकी जन्मभूमि का पता नहीं चलता। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के अनुसार लड़कपन में ही विरक्त होकर ये काशी तथा प्रयाग होते हुए मिथिला पहुँचे और महात्मा सूर किशोर के शरणागत हुए। बहुत दिनों तक नर्मसखा के रूप में मिथिला के गाँवों में बालकों के साथ खेलते रहे। बड़ बड़े हुए तो सूर किशोर जी ने 'करवा' लेकर अपनी 'पुत्री' का हाल-चाल लेने के लिए इन्हें अयोध्या भेजा। अयोध्या पहुँच कर ये कनक-भवन गये और 'चिउरा-मिठाई' भेंट कर अपनी 'बहन' से करवा माँग लिया। उसे लेकर एक नीम के पेड़ के नीचे रहने लगे। निमिवंशी होने से नीमवृक्ष से इन्हें सहज अनुराग था। अयोध्या में प्रयाग दास जी की तत्कालीन जीवन-चर्या के सम्बन्ध में आज भी उनकी ये पंक्तियाँ लोगों को स्मरण हैं—

१–मिथिलाविलास, पृ० १७ २–फुटकर पद
३–र० प्र० भ०, पृ० २२

नीम के नीचे खाट पड़ी है, खाट के नीचे करवा।
'पराग दास' अलबेला सोवैं, राम लला के सरवा॥

इनकी विरक्तिभावना अत्यन्त तीव्र थी। जब कभी अयोध्या में मेला लगता तो ये नगर छोड़कर रामघाट के पास खेतों में जा रहते थे। मेलों को ये वैरागियों का 'परपच' कहा करते थे—

मुड़ियों ने परपच रचा है हमें काम का मेलों मे।
'पराग दास' रघुबर को लेके, पड़े रहेंगे ढेलों मे॥

अयोध्या म कई वर्ष निवास कर गुरु का स्मरण करके प्रयागदास जी पुन मिथिला लौट गये। वहाँ से कुछ दिनों बाद प्रयाग चले आये और त्रिवेणी के तट पर रहने लगे। एक दिन कहीं कथा में उन्होंने रामवनगमन का प्रसंग सुना। यह समाचार सुनते ही वे व्याकुल हो गये। कथावाचक से बारम्बार पूछने पर उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि उनकी 'बहन' समेत दोनों राजकुमार नंगे पैर ही वन को गये हैं। उनकी कोमलता का ध्यान कर प्रयागदास जी विह्वल हो गये। इसी समय किसी श्रद्धालु ने उन्हें कुछ द्रव्य समर्पित किया, उससे तीन जोडे जूते और चारपाई बनवाकर, उन्हे शिर पर रख वनवासियों को ढूँढते हुए वे चित्रकूट पहुँचे। कई दिनों तक खोजने क बाद जब वहाँ कहीं भी उनका पता न चला, तो पचवटी गये। सन्तों का विश्वास है कि वहाँ दोनो वनवासी राजकुमारों तथा अपनी 'बहन' सीता जी को उन्होंने चारपाई समर्पित की और तीनों को अपने हाथों जूता पहनाया। इस प्रकार अपनी साध पूरी कर वे वहाँ से अयोध्या चले आये।

मामा प्रयागदास ने रसिक साधना म "जनकपुर क सरा" का एक नवीन भाव प्रवर्तित किया। इस दृष्टि से सख्य सम्प्रदाय में इनका विशिष्ट स्थान है। इनका रचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु ठेट भाषा में इनकी जो उक्तियाँ प्रचलित हैं उनमें इनके नैसर्गिक भाव की एक विचित्र मिठास पाई जाती है। जैसे—

परागदास जो पीपर होते, राघो होत मुनवारे।
आठ पहर छाती पर रहते, वे दसरथ के पुतवारे।
धुनि धुनि के सवा कहै महेसवा, पार न पावै सेसवा।
परागदास पहलदवा क कारन, रघवा होइगे बघवा।

१–र० प्र० भ०, पृ० २३।

१२. रामसखे

ये महानुभाव, सम्प्रदायरूप में आधुनिक सख्य परंपराओं के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका आविर्भाव १८वीं शती के प्रथम चरण में जयपुर के एक कुलीन ब्राह्मणकुटुम्ब में हुआ था।[1] बाल्यकाल से ही ये रामभजन में तन्मय रहा करते थे। कुछ बड़े होने पर घरबार छोड़कर तीर्थयात्रा को निकले। देशाटन करते हुए दक्षिण में माध्वसम्प्रदाय के प्रसिद्ध केन्द्र उडुपी पहुँचे और वहाँ के तत्कालीन आचार्य वरिष्ठतीर्थ से दीक्षा ले ली।[2] उडुपी से ये अयोध्या आये। कुछ दिनों तक वासुदेव घाट पर रसिक भाव से साधना की।[3] यहाँ इस समय इनके सम्प्रदाय का 'नृत्य राघव कुंज' नामक मंदिर स्थित है। अयोध्या से ये चित्रकूट गये और कामदवन में बारह वर्ष तक अनुष्ठानपूर्वक नामजप करते रहे।[4] कहा जाता है इन्हीं दिनों विरह में व्याकुल होकर रामसखे जी ने निम्न दोहा लिखा था—

अरे सिकारी निर्दई, करिया नृपति किसोर।
क्यों तरसावत दरस को, रामसखे चित चोर॥[5]

इसके कुछ ही दिनों बाद विरहाग्नि के प्रज्वलित होने पर आराध्य ने इन्हें दर्शन दिया, ऐसा इनके निम्नलिखित दोहे से पता चलता है।

अवधपुरी से आइके, चित्रकूट की ओर।
रामसखे मन हरि लियो, सुंदर जुगुल किसोर॥[6]

कहते हैं कि चित्रकूट में पन्नानरेश हिन्दूपति उनका दर्शन करने आये और कई गाँवों की माफी की सनद लिखकर पान के एक बीड़े में भेंट की, किन्तु भजन में बाधक समझ कर रामसखे जी ने उसे लेना अस्वीकार कर दिया।[7] ख्याति बढ़ने से चित्रकूट में जब भीड़ लगने लगी तो कुछ दिन ऊँचेहरे जाकर

१–रामरसिकावली, पृ० ९६२
२–नृत्यराघवमिलन दोहावली, पृ० ६०
३–रास ध्यान करिये सदा, सकल रसन गभीर।
रामसखे प्रण कुटी करि, बसि सरयू के तीर॥
—वही पृ० १०
४–र० प्र० भ०, पृ० ३३
५–सम्प्रदायभास्कर, पृ० ५
६–वही, पृ० ५
७–वही, पृ० ६

ठहरे, फिर १७७४ ई० में मैहर चले गये।[1] उनके प्रसिद्ध शिष्य चित्रनिधि जी यहीं दीक्षित हुए थे। मैहर में उनका मन रम गया, अतएव वहीं स्थायी रूप से अपनी गद्दी स्थापित कर रहने लगे। उस समय मैहर पर पेशवाओं का अधिकार था। उनकी ओर से रूपसिंह प्रबन्धक नियुक्त थे। वे रामसखे जी के शिष्य हो गये और इनकी प्रेरणा से उन्होंने मैहर खाली कर उसके पूर्वशासक को लौटा दिया। १७९२ से १७९५[2] ई० तक पेशवाओं ने पुन. मैहर को अपने अधिकार में रखा। रामसखे जी की कृपा से जिले की सेना का अवशिष्ट वेतन चुका देने पर पेशवाओं ने १७९६ ई० मे मैहर दुर्जनसिंह को वापस कर दिया।[3]

मैहरनरेश दुर्जनसिंह जयपुर के जोगावत कछवाह क्षत्रिय थे और राम सखे जी का भी जन्मस्थान जयपुर ही था, अतएव उनमें घनिष्ठता हो गई थी। रामसखे जी की स्मृति में मैहरराज्य की ओर से अयोध्या में नृत्यराघवकुंज का निर्माण हुआ था।

रामसखे जी का साकेतवास मैहर में ही हुआ। उनकी प्रधान कर्मभूमि होने से वह सख्य सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र माना जाने लगा। इसके अतिरिक्त अयोध्या में भी नृत्यराघवकुज में उनकी एक गद्दी स्थापित हुई। इन दोनों स्थानों की परम्परायें आजतक चली आती हैं।

रामसखे जी नर्मसख्य भाव के उपासक थे। उनके विषय म यह प्रसिद्ध है कि वे दिन भर तो सखारूप में इष्टदेव की आखेट, चौपड, जल-विहार, इत्यादि क्रीडाओं के चिंतन में मग्न रहते थे, किन्तु रात में वे सखीभाव से दंपति की रासलीला में कैंकर्य करते थे। उनकी रचनाओं में सखी और सखा दोनों भावों[4] का एक साथ वर्णन इस जनश्रुति का समर्थन करता है।

सखी सखा द्वै भाव जु राखै।
मधुरे चरित राम के भाखै॥[5]

रामसखे जी कवि होने के साथ ही संगीतशास्त्र के भी पंडित थे।[6] इनकी 'पदावली' विविध राग रागिनियों का एक सुन्दर कोष है। एक गवैये से इनका रचा हुआ पद सुनकर लखनऊ के नवाब के मुग्ध होने की घटना का उल्लेख पहले हो चुका है।

१—सम्प्रदाय भास्कर, पृ० ७
२—वही, पृ० ११
३—वही, पृ० १२
४—र० प्र० प्र०, पृ० ३४
५—नृत्यराघवमिलन, कवितावली, पृ० ११७
६—रामरसिकावली, पृ० ९६३

रामसखे जी की निम्नलिखित कृतियाँ उपलब्ध हैं—

१. द्वैतभूषण
२. पदावली
३. रूपरसामृतसिंधु
४. नृत्यराघवमिलन दोहावली
५. नृत्यराघवमिलन कवितावली
६. रास्य-पद्धति
७. दानलीला
८. बानी
९. मंगल शतक
१० राममाला

उनकी रचना के कुछ नमूने निम्नांकित हैं—

पगिया सिर लाल हरी कलँगी उर चन्दन केशर खौर दिये।
मन मोहन रामकुमार सखी अनुहारि नहीं जग जन्म लिये।।
पग नूपुर पीत कसे कछनी, बनमालति की वन माल हिये।
विहरैं सरजू तट कुंजन में, तहँ राम सखे चित चोरि लिये।।[1]

आजु की हाल सुनो सजनी मड़ये प्रगटे यक कौतुक भारी।
जेंवत नारि बराति सबै रघुनाथ लख्यो मिथिलेस अटारी।।
श्री रघुवीर को देखि सरूप भई मति विभ्रम गावनि हारी।
भूलि गईं अवधेस को नाम तो देन लगी मिथिलेस को गारी।।[2]

किते दिन ह्वै जु गये बिनु देखे।
मेचक कुटिल बदन जुलफन छवि राजमाधुरी वेषे।।
केसर तिलक कंजमुख श्रमजल ललित लसत दोउ रेखें।
दसरथ लाल लाल रघुवर बिनु बहुत जियब केहि लेखैं।।
डूबि डूबि उर स्याम सुरति कर प्रान रहे अवसेपै।
राम सखे विरहिनि दोउ अँखियाँ चाहत मिलन विशेपै।।[3]

विषय भोग जग स्वप्नवत, समुझि परै मन माँह।
रामसखे भजु राम को, बनप्रमोदद्रुम छाँह।।
जिनके हिय पिघले नहीं, देखि रूप सुनि तान।
रामसखे तजिये तुरत, वे नर महा पखान।।
काम क्रोध अरु लोभ हूँ, तजे होत कछु नाहिं।
रामसखे दृग राम के, लगे न जो दृग माहिं।।[4]

१–२–फुटकर छंद
३–रूपरसामृतसिंधु, छं० १०९
४–नृत्यराघवमिलन, पृ० ५५, ५७

१३. प्रेमसखी

इनका जन्म श्रृंगवेरपुर (सिंगरौर प्रयाग) के निकट एक ब्राह्मणकुल में हुआ था। बाल्यावस्था में ही विरक्त होकर ये चित्रकूट पहुँचे और वहाँ महात्मा रामदास गूदर के शिष्य हो गये। चित्रकूट में कुछ दिनों तक साधना करने के पश्चात् ये मिथिला गये। 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' के अनुसार वहाँ जानकी जी ने प्रकट होकर इन्हें अपनी 'सखी' रूप में अपनाया और रहस्यकेलि का पूरा ज्ञान प्राप्त कराया। मिथिला से ये अयोध्या चले आये। इसके पश्चात् आजीवन चित्रकूट में निवास कर 'दिव्य दम्पति' की 'विहारलीला' का वर्णन और ध्यान करते रहे। इनके तीन ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं—

१. होली

२. कवित्तादिप्रबन्ध

३. श्रीसीतारामनखशिख

अपने समय में ये एक पहुँचे हुए भक्त के रूप में ख्यात थे। अवध के नवाब ने महात्मा रामप्रसाद से इनकी प्रशंसा सुनकर सवा लाख की भेंट भेजी थी जिसे इन्होंने लौटा दिया था, इसकी चर्चा पहले हो चुकी है।

प्रेमसखी की रचना के नमूने नीचे दिये जाते हैं—

कागद तौ न रहै करते कर लेखनी कंपित कौन उठावै ॥
लालन दृष्टि परो जब ते प्रिय नाम सुने अँसुवा झरि लावै ॥
'प्रेम सखी' मधु की मखियों मन जाय फँस्यो अब हाथ न आवै ॥
मूरति श्री रघुनन्दन की लिखते न बनै लखते बनि आवै ॥[1]

नैन सैन तब दई सीस लीन्ही धरि अपने।
माथ नाइ तहँ चल्यो पुरुष देखत नहिं सपने ॥
सरजू पुलिन पुनीत मध्य इक बाग सुहाई।
जहँ बसन्त रति काम लता द्रुम वेष बनाई ॥[2]
मनि जटित भूमि सोभा अधिक, तहँ बसन्त सतत रहै।
रघुनाथ सिया कौ केलिथल, प्रेम सखी कलि मल दहै ॥

सेस महेस औ बानी विरंचि थके गुण गावत जेते प्रवीन हैं।
सेइ रहे पद की रज कों सनकादिक जा पद चाहैं नवीन हैं ॥

१—महात्मा हनुमानशरण जी के संग्रह से उद्धृत

२—होली, पृ० ३

प्रेमसखी मन बुद्धि मिलिन्द रहैं सिय के पदपंकज लीन हैं।
देखत पाँयन की महिमा सुख पाइ नितम्ब भये अतिपीन हैं॥[१]

१४. हर्याचार्य 'हरिसहचरी'

ये मधुराचार्य के शिष्य थे। गुरु के चित्रकूट चले जाने पर ये भी सब कुछ त्याग कर उनकी सेवा के लिए वहीं चले गये थे। परन्तु मधुराचार्य ने गद्दी का भार सँभालने के लिए समझा बुझा कर इन्हें लौटा दिया। गुरु आज्ञा शिरोधार्य करके ये गलता चले आये और गद्दी का आचार्य पद ग्रहण किया[२] प्रसिद्ध है कि अपने जीवन में रामविवाह के अवसर पर इन्होंने चार बार बड़ी धूम धाम से राम की रासलीला करवाई थी। इनके शिष्य प्रियाचार्य ने रास की यह परम्परा कायम रखी।

इनकी रचनायें हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषाओं में मिलती हैं। 'अष्टयाम' और कुछ स्फुट पद हिन्दी में तथा 'जानकीगीत' संस्कृत में लिखकर इन्होंने पूर्वाचार्यों की परम्परा का निर्वाह ही नहीं किया अपितु रसिक साहित्य को अनुपम प्रयरत्नों से समृद्ध भी किया। इनका जानकीगीत, गीतगोविन्द की शैली पर लिखा गया एक भावपूर्ण काव्य है। रसिक साहित्य में गीतशैली की प्राप्त संस्कृत रचनाओं में यह सर्वोत्तम है। अपनी कृतियों में इन्होंने 'हरिसहचरी',[३] 'जन हरिया', 'हरि' तथा 'हरि कवि' इन चार छापों का प्रयोग किया है। पहली और दूसरी प्राय हिन्दी के पदों और तीसरी तथा चौथी छाप संस्कृत के छंदों में पाई जाती है।

इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

साहित्यदीव्यदरविन्दमरन्दमत्त
चित्तद्विरेफपतिरम्बुजनेत्रसक्त।
श्रीजानकीरघुवरप्रथिता सुकेलिं,
माधुर्यमञ्जुलपदा 'हरि' रातनोति॥
शशिकरजाले पतति कराले,
विषयविशिखसशरकल्पे।
शिथिलितकेशा विलुलितवेशा,
लुठति धरणितलतल्पे॥

१—श्री सीताराम नखशिख, पृ० ६ २—रा० प्र० प्र०, पृ० ३२
३— वही, पृ० ३४

, रघुवर सीता तड़िदतिपीता
निवसति विपिनविताने।
विचलित मन्दे मरुतसुगन्धे
परितनुतेऽति विलासम्।'[1]

जनकलली को सोहिलो गाऊँ।
धन्य जनक धनि रानी सुनैना निरखि लली मुख नयन जुड़ाऊँ॥
या कन्या कुल प्रगट कियो है सुरनर मुनि जाको सुमिरत नाऊँ।
'हरि सहचरि' वारति तन मन धन भक्ति बधाई नित नई पाऊँ॥[2]

माईरी रास रच्यो सरजू तट सोम श्रवन बट छाहीं।
नाचत राम गोपाल कुंज मे दै सीता गरबाहीं॥
रागिनि में अनुराग रता छिनी बन प्रमोद के माहीं।
'हरि सहचरि' सुख चहल पहल में लोक वेद सुधि नाहीं॥[3]

१५ कृपानिवास

ये मधुराचार्य के समान ही रसिक सम्प्रदाय के प्रधान स्तंभ माने जाते हैं। आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें एक कल्पित व्यक्ति कहा है[4] किन्तु इनके विषय में जो सन्दर्भ प्राचीन भक्तचरितसंग्रहों में मिलते हैं उनसे इनकी वास्तविक सत्ता असंदिग्ध ठहरती है। इनके जीवन के सम्बन्ध में इधर कुछ सामग्री अयोध्या के रसिक महात्मा श्री रामकिशोरशरण जी से भी प्राप्त हुई है। उससे ज्ञात होता है कि इनका जन्म द्रविड देश (दक्षिण भारत) में हुआ था। इनके पिता का नाम सीतानिवास और माता का गुणशीला था। वे श्रीरंग जी के उपासक थे। नामसंस्कार के समय इनका नाम 'श्रीनिवास' रखा गया। छोटी आयु में ही आचारी वैष्णव आनन्दविलास से इन्हें दीक्षा दिला दी गई। विरक्ति भावना के प्रबल होने पर १० वर्ष की अवस्था में इन्होंने घरबार त्याग दिया। तीर्थों में विचरते हुए मिथिला पहुँचे और वहाँ रसिक सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये[5]। किसके द्वारा? इसका पता नहीं चलता। 'कृपानिवास' नाम सद्गुरु ने

१—जानकीगीत, पृ० ८ २,३—फुटकर पद ४—हि० सा० इ०, पृ० १८६

५—रसिक प्रकाश भक्तमाल के अनुसार सन्तों के साथ रैवासा जाकर इन्होंने वहाँ के तत्कालीन आचार्य से शृंगारी दीक्षा ली थी। इसी यात्रा में पुष्कर में इनकी भेंट वात्सल्यनिष्ठ भक्त मनभावन से हुई। उनके मुँह से गलता में होनेवाले रामरास का महत्त्व सुनकर ये उसका प्रत्यक्ष दर्शन

इसी अवसर पर रखा था। मिथिला में प्रसादसखी के रूप में हनुमान जी ने दर्शन देकर इन्हें वहाँ की विहारलीला की झाँकी दिखाई। इन्होंने तभी से हनुमान जी को अपना परम गुरु मान लिया और[1] वहाँ बारह वर्ष तक निवास करने के पश्चात् चारोंधाम की यात्रा के लिये प्रस्थान किया। बद्रीनाथ जाते हुए ये रैवासा गये, जहाँ मधुराचार्य जी के प्रशिष्य श्रियाचार्य से समागम हुआ। रैवासा से वृन्दावन, हरद्वार, होते हुए बद्रीनाथ पहुँचे। वहाँ से अयोध्या आये और एक वर्ष तक सीताकुंड पर निवास किया।[2] इसके अनन्तर कई वर्षों तक भारत के विभिन्न तीर्थों का पर्यटन कर चित्रकूट गये। वहाँ स्थायी रूप से निवास करते हुए रसिक साहित्य के प्रणयन और रसिकोपासना के प्रचार में व्यस्त रहे। बीच में यहाँ से कुछ काल के लिये ये उज्जैन भी जाकर रहे थे।[3] यहीं तोताद्रिमठ के आचार्य दामोदरप्रपन्न

करने (गलता) गये। वहाँ मधुराचार्य जी के प्रशिष्य श्रियाचार्य के साथ सत्संग करते तथा उनके द्वारा आयोजित रास की महारास का आनंद लेते हुए बहुत दिनों तक ठहरे रहे। मिथिला की यात्रा इन्होंने यहीं से की।

—र० प्र० भ०, पृ० ३४-३५

१—'रासपद्धति' के एक पद में कृपानिवास जी इसकी पुष्टि करते हैं—

भजमन पवन कुँवर सुखदानि।
सब सुख सागर नागर प्यारे रहसि भक्ति उरखानि॥
सदा सहायक सब गुन लायक बोलत अमृत बानि।
कृपानिवास परम गुरु मेरे धरे सीस पर पानि॥

—रासपद्धति, पृ० १

२—र० प्र० भ०, पृ० ३५ ३—र० प्र० भ०, पृ० ३६।

रसिक प्रकाश भक्तमाल में यहीं महादेव सिन्धिया नामक किसी राजा से इनका सत्संग होना बतलाया गया है।

कोई खल जाय भूमिपाल सो सुनाय कही,
नारीभाव नरतन कैसे के पतीजिये।
दियो सो बुलाय दुष्ट रहे हैं लजाय,
विनै कीनो परिपाय अपराध क्षमा कीजिये॥
गान को बुलायो महादेव नाम सेंधिया ने,
गये नहीं आयो गुस देखी मति भीजिये।

रामानुज जी से इनका सत्संग हुआ। उज्जैन से शिष्यमंडली सहित रंगनाथ जी का दर्शन करते हुए ये अपनी जन्मभूमि को गये और माता पिता का दर्शन कर फिर चित्रकूट चले आये। अन्तिम काल तक ये यहीं रहे। इस प्रकार सौ वर्ष से कुछ अधिक आयुभोग कर जानकीकुंड के समीप स्फटिक शिला पर कृपानिवास जी ने शरीर त्याग कर कुंज वास प्राप्त किया।

इनकी जीवनीविषयक कुछ प्रमाण अन्यत्र भी उपलब्ध हैं। 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' में जिन घटनाओं का उल्लेख मिलता है उनका संदर्भ पहले दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त 'रामरसिकावली' में महाराज रघुराजसिंह ने कृपा निवास जी की जीवनयात्रा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है।

ऐसे तिनके भाव न गुनहूँ। कृपानिवास चरित अब सुनहूँ।
दक्षिण के भूपति के भाई। प्रीति परस्पर अति सुखदाई॥
यक दिन गे भाभी के गेहू। तासों मानत रहे सनेहू।
सिद्धव्रत रहे भजन की रीती। राजहु आय कह्यो अस नीती॥
नारिन सों एकान्तहिं माहीं। कबहूँ वचन बोलिये नाहीं।
कृपानिवास कहीं तब बाता। नारि नारि ढिग दोष न भ्राता॥
भूप कोपि तब वचन सुनायो। नारि वेष इत प्रगटि देखायो।
तब राजा बोल्यो सिर नाई। तुव महिमा अब जान्यो भाई॥
कृपानिवास भजन जे गाये। रूपासक्त रीति दरसाये।
फैलि रहे जिन्ह भजन अपारे। रसिक जनन सुनि लागत प्यारे॥[1]

महाराज रघुराजसिंह द्वारा प्रस्तुत इस वृत्त से कृपानिवास के पूर्वोक्त जीवन चरित्र के जिन तथ्यों की पुष्टि होती है वे ये हैं—

(१) कृपानिवास दक्षिण के निवासी थे।

(२) उनकी उपासना माधुर्यभाव की थी।

(३) रसिकसंतों में उनकी रचनाओं का व्यापक प्रचार एवं सम्मान था।

इन तथ्यों के अतिरिक्त उनकी कृतियों के अनुशीलन से इसका भी निश्चयात्मक ज्ञान होता है कि ये रूपासक्त भक्त थे और १८ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे, क्योंकि इनके 'रससार' ग्रंथ का रचनाकाल सं० १८३०

देन लाग्यो पट्टा तीनि सहस को लीजे बोलै,
साधु हरि ज्यासी जो सुद्दैगी ताहि दीजिये॥
—र० प्र० भ०, पृ० ३६

1—रामरसिकावली, पृ० ९६८।

(१७७८ ई०) दिया हुआ है। मधुराचार्य के प्रशिष्य श्रियाचार्य का, जिनसे इनकी गलता में भेंट होने का उल्लेख जीवनचरित में मिलता है, इस काल में गलता गद्दी पर विद्यमान थे।

युगलप्रिया जी ने इनके द्वारा विरचित शृंगारी उपासना सम्बन्धी छंदों की संख्या एक लाख बताई है। परन्तु इस समय उनके १८ ग्रंथ ही प्राप्त हैं,[१] जिनकी छंद संख्या २५ हजार से अधिक न होगी। ये हैं—

१. गुरुमहिमा,	१०. नित्यसुख,
२. प्रार्थनाशतक,	११. रहस्योपास्य
३. लगनपचीसी	१२. वर्षोत्सवपदावली
४. युगलमाधुरीप्रकाश	१३. रूप-रसामृतसिंधु
५. भावनाशतक	१४. रससारग्रंथ
६. जानकीसहस्रनाम	१५. रहस्य-पदावली
७. रामसहस्रनाम	१६. सिद्धान्तपदावली
८. अनन्तचिंतामणि	१७. उत्कनी अष्टक
९. समयप्रबन्ध	१८. हनुमतपचीसी

कृपानिवास जी की रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

मंगल मूरति अवधविहारी सीतापति की मैं बलिहारी।
मंगल सरजू अवधपुरी शुभ मंगल सखी सबै नरनारी॥
मंगल नृप दशरथ सब नारी मंगल कौशल्या महतारी।
मंगल हनुमत आनंदकारी 'कृपानिवास' मंगल अधिकारी॥[२]

सुलखि पिया मोहैरी सिया की मुसकानि।
नैन खिले मुख विकस मनोहर रसभ्रकुटिन धरि आन।
अधरलसन छविहंस असन की रसिक राम के अटके प्रान॥
'कृपानिवास' सहज वस करनो प्यारी की यह बान॥[३]

बनि ठनि आज नागरि नव जोबन नवला रस छाये।
सावन तीज मनावन निकसी मनभावन पिय नैन सिराये॥

१—राज्यपुस्तकालय छत्रपुर में ग्रंथ सुरक्षित हैं। इनमें पदावली, भावना-पचीसी, लगनपचीसी तथा अष्टयाम प्रकाशित हो चुके हैं।

२—कृपानिवासपदावली, पृ० २५

३—रासपद्धति, पृ० ४३

महात्मा सियासखी (पृ० ४१३)
और चन्द्र अली (पृ० ४२७)

रसिकाचार्य रामचरणदास (पृ० ४१८)

चहुँदिसि लोचन चपल चलत जनु खंजन अंजन मद के प्याये।
'कृपानिवास' राम पटरानी रस दामिनि हँसि रस बरसाये ॥[1]

सजिसै सिंघासन सुभग, कोमल बसन बिछाय।
पधरावें तब लाडिले, तकिया गेंद लगाय॥
शुभ्र छत्र सूरज मुखी, चन्द्रमुखी बहुनारि।
रिझवत गाय बजाय कै, पिय प्यारी निज प्यारि॥
विविध भोग शृंगार के, पान करावै नीर।
पट परसावै हर्ष सो, दे मुखरंजन बीर॥
सकल सौंज करि आरती, गान तान भरि भाय।
परिक्रमा दै युगुल पुनि, चरन कमल सिरनाय॥[2]

१६. सियासखी

सियासखी जी का व्यावहारिक नाम गोपालदास था। 'सियासखी' अन्तरंग सेवासम्बन्धी नाम था। इनका आविर्भाव जयपुरराज्यान्तर्गत बड़ागाँव नामक स्थान में एक गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कुछ समय तक गृहस्थजीवन व्यतीत कर इन्होंने अग्रदास जी के प्रशिष्य झाँझूदास जी से दीक्षा लेली और शृङ्गारीभाव से साधना करने लगे। इसीसमय जयपुर नगर में चाँदपोल दरवाजे पर स्थित सीतारामममन्दिर की इन्हें गद्दी मिली, किन्तु वहाँ इनका मन न लगा और केवल १७ दिन तक महन्ती करके गद्दी का भार अपने छोटे भाई 'चन्द्र अली' को सौंप कर चित्रकूट चले गये। वहाँ कामदगिरि पर प्रिया प्रियतम की रासलीला का ध्यान करते हुए तपोमय जीवन व्यतीत करने लगे। कहा जाता है कि यहीं इन्हें दिव्यरास की झाँकी मिली। इसके बाद पुन जयपुर चले आये। कालान्तर मे इनकी मानसीभावना इतनी बढ गई कि महीनों तक ये केवल आराध्य का चरणामृत पान करके निराहार रह जाते थे। सियासखी जी का पूरा परिवार ही माधुर्यभाव से राम का उपासक था। इनके छोटे भाई चन्द्र अली और पुत्र रूपसरस उत्कृष्ट साधक और कवि थे। अयोध्या मे जयपुरमन्दिर (रहस्य प्रमोदवन) इन्हीं की शिष्यपरम्परा द्वारा स्थापित किया गया है।

इनका उदय १८ वीं शती के पूर्वार्द्ध मे हुआ किन्तु उस की कोई निश्चित तिथि अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी है और न इनकी कोई सम्पूर्ण रचना ही उपलब्ध हुई है। शृङ्गारीशाखा के प्राचीनसंग्रहों मे इनके कुछ पद मिलते है।

१–शुकरससग्रहावली, पृ० १८   २–भावनापचीसी, पृ० ९

इनकी भाषा में राजस्थानी का पुट है।

सियासखी जी के दो छंद नीचे दिये जाते हैं—

> सिया बाई जू सुनियो अरज हमारी।
> औरन के तो और भरोसो म्हारे आस तिहारी॥
> करनी की तुम ओर न देखो अपनो विरद सम्हारो।
> ऐसो होय नहीं या जग में लोग हँसैं दै तारो॥
> रंगमहल में आवन दीजो सुनो पिया अवध विहारी।
> सियासखी के सरवस तुम हो और लगै नहिं सारी॥[1]

> चलीं गज गामिनी सज के। नगारे नौबतें बज के॥
> दिये दधि दूब गोरोचन। सुमुखि राजीव नव लोचन॥
> करैं कल गान पिक बैनी। झरैं सुर सुमन की श्रेनी॥
> जन्म श्री चारुशीला को। हेत रसराज लीला को॥
> मुदित मन शत्रुजित महराज। देवैं मुकता मनी गज बाजि॥
> बधाई बज रही घनघोर। उमंग आनन्द महलन दौर॥
> श्री मिथिलेस जू आये। लली मुख जोहि सुख पाये॥
> लुटाये लाल अनमोले। बड़े बड़ मोल विन तोले॥
> 'सियासखि' हर्ष लखि पायो। सोई रसना सरस गायो॥[2]

१७. रामप्रसाद 'बिन्दुकाचार्य'

अयोध्या में रसिक सन्तों की परम्परा इन्हीं महाराज की प्रेरणा से स्थापित हुई। इनका जन्म लखनऊ के निकट, मलीहाबाद में, श्रावण शुक्ल ७, सं० १७६० (१७०३ ई०) को एक ब्राह्मणकुल में हुआ था। पिता का नाम हीरामनि था। इनके विद्यागुरु, किसी समीपस्थ गाँव के निवासी, बलावन नामक एक शैव महात्मा थे। पढ़ने-लिखने में इनका मन कम लगता था, इससे शिक्षा का व्यवस्थित क्रम न चल सका। कुलपरम्परानुसार लड़कपन में ही इनका विवाह कर दिया गया था, फिर भी गृहस्थी की झंझटों से ये विरत ही रहे। इनका सारा समय, लाल लड़ाने और बालकों के साथ घूमने में बीतता था। कुछ बड़े होने पर पिता की डाँट फटकार की डर से ये आदतें छूट गईं। इसके बाद इनकी प्रवृत्ति सन्तसेवा की ओर मुड़ी। गाँव में आयेदिन उपस्थित सन्त मंडलियों को गुप्त या प्रकट रूप में घर से सामान ले जाकर खिलाने लगे। जिसका परिणाम

1—युगलोत्कठाप्रकाशिका, पृ० २८

2—बधाई श्री हनुमान जी की, पृ० ८२

यह हुआ कि भाइयों ने, माता पिता के विरोध करने पर भी, इन्हें पृथक् कर दिया। इस घटना के बाद भी इनकी दानशीलता पूर्ववत् जारी रही। इसी बीच लक्ष्मीराम नामक वैष्णव महात्मा से इन्होंने मन्त्रदीक्षा ले ली और साधना करने लगे। थोड़े ही दिनों में गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही ये अपनी सिद्धि के लिये विख्यात हो गये। तब भाइयों ने प्रार्थना कर इन्हें पुनः सम्मिलित कर लिया। रामगुलाम नामक एक पुत्र और रामकुँवरि नामक एक पुत्री को जन्म देने के कुछ ही वर्षों बाद स्त्री का देहान्त हो गया। गाँव के बाहर उस का अन्तिम संस्कार कर इन्होंने उसी स्थान पर एक वाटिका लगाई जिसका नाम 'जानकीबाग' रखा। वहाँ राममन्दिर बनाकर ये तपोमय जीवन व्यतीत करने लगे।

एक बार रामनवमी के अवसर पर ये अयोध्या गये। उस समय वहाँ शैव सन्यासियों का उपद्रव चल रहा था। किसी प्रकार उनसे बचकर ये सोनखर कुण्ड पर कुटी बनाकर रहने लगे। सं० १७८७ को जानकी नवमी के दिन एक विशेष घटना घटी[1]—उस दिन पूजा के समय ये अपने मस्तक पर तिलक करना भूल गये। कहा जाता है कि दण्डवत करते समय इनका मस्तक बिन्दु से शून्य देखकर जानकी जी ने स्वयं अपने हाथों से इनके माथे में 'बिन्दु' लगा दिया। अन्य साधुओं ने इनके मस्तक पर अपने सम्प्रदाय की परंपरा के विरुद्ध 'बिन्दु' का तिलक देखकर बड़ी आपत्ति की। लाख कहने पर भी जब उन्हें 'बिन्दु' सम्बन्धी घटना की सत्यता पर विश्वास न हुआ तब सरयू तट पर इन्हें ले जाकर बार-बार तिलक को बालू से रगड़ कर धोया गया किन्तु उसकी छवि जैसी की तैसी बनी रही[2]। इस घटना के बाद साधुओं में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा हो गई और ये 'बिन्दुकाचार्य' की उपाधि से भूषित किये गये। इसके अनन्तर कई वर्षों तक ये मिथिला, चित्रकूट, नैमिषारण्य, विठूर और सन्डीला आदि स्थानों की यात्रा करते रहे। इसी यात्रा में अपने जन्मस्थान मलीहाबाद का जी गये और वृद्ध माता-पिता को, सेवा के लिये अपने साथ अयोध्या लिवा आये। लगभग इसी समय महात्मा रामचरणदास जी इनके सम्पर्क में आये। रामप्रसाद जी ने उन्हें शृङ्गार का सम्बन्ध देकर रसिक भक्ति के प्रचार की प्रेरणा दी। प्रसिद्ध है कि ये 'युगलसरकार' के समक्ष तम्बूरा लेकर और पैरों में घुँघरू बाँधकर कीर्तन करते थे। यह घुँघरू अब तक 'बड़ा स्थान' में सुरक्षित है। इनकी इस मुद्रा का एक चित्र भी उपलब्ध है जो अन्यत्र दिया जा रहा

१—श्री महाराज चरित्र, पृ० ५२ २—रामरसिकावली, पृ० ९१२

है। अन्त में १०१ वर्ष की दीर्घ आयु भोग कर श्रावण कृष्णा तृतीया शनिवार सं० १८६१ (१८०४ ई०) को इन्होंने दिव्य साकेतलीला में प्रवेश किया। यह उल्लेखनीय है कि इनके जन्म और शरीरान्त की तिथियाँ वही हैं जो गोस्वामी तुलसीदास जी की हैं। 'श्रीमहाराजचरित' के अनुसार एक बार अर्धसुप्तावस्था में इनके माता पिता को दर्शन देकर तुलसी ने उनके पुत्र रूप में अवतार लेने का वचन दिया था। कालान्तर में गर्भ धारण करने पर इनकी माता को पिता ने 'अध्यात्मरामायण' की कथा सुनाई थी। उसके उपरान्त इनका प्रादुर्भाव हुआ था।[1] इसी घटना के आधार पर आज तक इनके विषय में यह कहावत चली आती है—

'वाल्मीकि तुलसी भये, तुलसी रामप्रसाद'

रघुराजसिंह जी ने इनके हनुमान जी से रामायण पढ़ने और उसकी टीका करने का भी उल्लेख किया है, साथ ही सीता जी के द्वारा बिन्दी दिये जाने की पूर्वोक्त घटना की भी पुष्टि की है[2]। किन्तु अब तक इनकी लिखी कोई टीका प्राप्त नहीं हुई है। इधर इनके नाम से 'शिक्षा पत्री' और 'गीता तात्पर्य निर्णय', ये दो रचनायें प्रकाशित हुई हैं।

१८. रामदास 'तपसी जी'

इनका आविर्भाव १८ वीं शती के पूर्वार्ध में जम्मू (काश्मीर राज्य) से २५ कोस पर स्थित बड़ापिंड खत्तापाडा नामक ग्राम में हुआ। इनके पिता पंडित हरिनारायण सारस्वत ब्राह्मण थे। नौ वर्ष की अल्प आयु में उसी गाँव के रामानन्दीय वैष्णव महात्मा संतदास ने इन्हें दीक्षा दे दी और 'रामदास' नाम रखा। कुछ दिनों बाद गुरु का साकेतवास हो गया। इनके पाँच गुरु-भाइयों ने विभिन्न स्थानों पर अपनी गद्दियाँ स्थापित कर लीं। किन्तु रामदास ने मठधारी होना स्वीकार नहीं किया। कई वर्षों तक खतापाडा में साधनामय जीवन बिताने के बाद ये तीर्थाटन को निकले। हिमालय स्थित तीर्थों का दर्शन करके मथुरा, वृन्दावन, द्वारका, पंढरपुर, रामेश्वर, जगन्नाथपुरी, मिथिला, नैमिषारण्य आदि पुण्यस्थलों में विचरते हुए अयोध्या आये और वहाँ रामघाट पर कुटी बनाकर रहने लगे। कुछ दिन अवधनिवास करने के पश्चात् इनकी इच्छा पुनः देशाटन की हुई। अबकी बार इन्होंने अमरनाथ, कुन्द, मुक्तिनारायण, आबू, गिरनार आदि बीहड़ पर्वत प्रदेशीय तीर्थों की यात्रा की।

१–श्रीमहाराजचरित्र, पृ० १० २–रामरसिकावली, पृ० ९१२

पर्यटन समाप्त होने पर ये पुन: अयोध्या लौट आये और रामघाट वाली अपनी पुरानी कुटी में रहने लगे। इसके पश्चात् ये अयोध्या से फिर कभी बाहर नहीं गये। रामघाट पर इनकी एक विशाल छावनी बन गई जिसमें बहुत बडी संख्या में भजनानन्दी साधु निवास करने लगे। अयोध्यावास करते हुए इन्होंने आजन्म तीन नियमों का पालन किया–प्रात सरयूस्नान, सध्या को जन्मभूमिदर्शन और रात्रि में भंडार में झाडू लगा कर सोना।

इस प्रकार भजन और सतसेवा मे जीवन के ११५ वर्ष व्यतीत कर रामघाट पर तपसी जी ने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की। जनश्रुति है कि अयोध्या के प्रसिद्ध सतसेवी बाबा मनीरामदास पहले इन्हीं की छावनी मे 'अधिकारी' थे और इन्हें भजन के लिए तपसी जी ने एक माला प्रदान की थी। इन दोनों स्थानों पर पूर्वाचार्यों द्वारा स्थापित सतसेवा की परम्परा अब भी किसी न किसी रूप में चल रही है। इस गद्दी के शिष्यों ने देश के विभिन्न भागों में मठ स्थापित कर रामभक्ति के प्रचार में योग दिया है, जिनमे ये मुख्य हैं—

१. गोमती (द्वारका)	५. शेषगुफा (नारायण सरोवर)
२. खाकचौक (सुदामापुरी)	६. गोविन्ददास (बेतिया)
३. महालक्ष्मी (बंबई)	७. आनासरोवर (रायपुर)
४. पागनाथ (राजकोट)	८. नृसिंहटेकरी (ओंकार जी)

तपसी जी की किसी रचना का अब तक पता नहीं चल सका है।

१९. मनभावन

ये जयपुर राज्य मे दूधू नामक गाँव के निवासी थे। पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने इन्हें 'व्रजनिधि' (महाराज सवाई प्रतापसिंह १७६४-१८०३ ई०) का समकालीन बताया है। सूरकिशोर की तरह ये भी सीताजी की उपासना, पुत्रीभाव से करते थे। कहा जाता है इनकी भावना इतनी सिद्ध थी कि जानकी जी प्रत्यक्ष होकर इन्हे दर्शन देती थीं। अपनी 'लली' की आराधना ये घर पर ही करते थे। उन्हे छोडकर कहीं बाहर नहीं आते जाते थे। दूधू के ठाकुर पहाडसिंह, उनके परिवार की स्त्रियाँ तथा अन्य बहुत से लोग इनके शिष्य हो गये थे। भक्त होने के साथ ही अपने समय में एक उच्चकोटि के विद्वान् तथा काव्यमर्मज्ञ के रूप में भी ये प्रसिद्ध थे। एकबार किसी काव्यग्रथ के कठिन स्थलों का मर्म स्पष्ट करने में जब सभी दरबारी कवि तथा पण्डित असमर्थ रहे तो व्रजनिधिजी ने इन्हें बुलवाया। दरबार में पहुँचकर पहले इन्होंने महाराज के

आग्रह से अपनी सरस रचनायें सुनाईं, उसके बाद विवादग्रस्त छन्दों की व्याख्या इतने मनोहर ढंग से की कि सभी उपस्थित लोग मन्त्रमुग्ध से हो गये।[1] महाराज के बहुत आग्रह करने पर भी ये 'लली' के दर्शनों से वंचित होने के भय से वहाँ नहीं रुके। दरबार द्वारा यथोचित रीति से पुरस्कृत होकर विदा हुए।

मनभावन जी का कोई स्वतन्त्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं है किन्तु इनके जो फुटकर पद रसिक संतों में प्रचलित हैं, उनसे जानकी जी में इनकी गूढ़ वात्सल्य भक्ति व्यक्त होती है।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

सिया जू मोहिं भरोस तिहारो।
सुनु मिथिलेस कुमारि लड़ैती अपनो विरद संभारो।
नाता गाँव-गाँव मिथिला के और न कोऊ हमारो।
'मनभावन' की यही बीनती चरनन ते नहिं टारो॥[2]
सिया जू पै वार पानी पीवों।
जीवन जड़ी राम रघुवर की देखि देखि छवि जीवों॥
सुख की खान हान सब दुख को रूप सुधा रस सीवों।
'मनभावन' सिया जनक किशोरी मिली मुक्ति नहीं छीवों।[3]
सिया आँगन में खेलें नूपुर बाजै रुन झुन।
डगमगात पग धरति अवनि पर सखिकर सों कर झेलें।
विमलादिक सखि हाथ खिलौना तोतलि बानी बोलें।
'मनभावन' सखि लाड़ लड़ावैं रंभागति रस पेलें।[4]

२० रामचरणदास[5]

रसिक सम्प्रदाय के संगठन और प्रचार में रामचरणदास जी का मुख्य हाथ रहा है। इनका जन्म १७६० ई० के लगभग प्रतापगढ़ जिले में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर हुआ था। कहते हैं कि घर पर ही साधारण शिक्षा प्राप्त करके ये प्रतापगढ़ के राजा के यहाँ नौकर हो गये और वहाँ कई वर्ष तक रजाची या

१—प्रजनिधि ग्रन्थावली, पृ० ५४ २—फुटकर पद
३—प्रजनिधि ग्रंथावली, पृ० ५६ ४—फुटकर पद
५—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इन्हें रामभक्ति में शृंगारी भावना का प्रवर्तक मानते हैं, किन्तु नवीन उपलब्ध सामग्री के अनुसार, तुलसी के समकालीन, रसिकाचार्य अग्रदास जी उसके प्रवर्तक ठहरते हैं।

कार्य करते रहे। एक दिन भगवद्भजन में तन्मय हो जाने के कारण इन्हें काम पर जाने में देरी हो गई। कचहरी में पहुँचने पर जब इन्होंने राजा से अपनी त्रुटि पर ग्लानि प्रकट की तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि उसने इनके द्वारा प्रस्तुत कई राजकीय कागजों पर उसी दिन हस्ताक्षर किये थे। रामचरणदास जी को उसी समय भगवान की असीम कृपा का ज्ञान हो गया और त्यागपत्र देकर अयोध्या चले आये। यहाँ पहुँच कर ये सर्वप्रथम हनुमानगढ़ी का दर्शन करने गये। लौटते समय उसकी सीढ़ियों पर बिन्दुकाचार्य महात्मा रामप्रसाद के शिष्य रघुनाथप्रसाद से इनकी भेंट हो गई। उन्हीं के साथ इन्होंने 'बड़ा स्थान' पर जाकर रामप्रसाद जी का दर्शन किया और उनके आदेश से रघुनाथप्रसाद जी के शिष्य हो गये।[1] कुछ दिनों बाद कुटुम्बियों को जब इनके अयोध्या में रहने का पता लगा तो वे रामप्रसाद जी के पास आये और इनको घर लौटाने का अनुरोध करने लगे। रामप्रसाद जी ने इन्हें घर जाकर गृहस्थ जीवन व्यतीत करने की अनुमति दे दी। अब तो ये बड़े धर्म संकट में पड़े। इतने में इन्हें एक बात सूझ गई। लौटाने के लिये आये हुए लोगों से इन्होंने कहा कि कल चलेंगे। दूसरे दिन दोपहर को जब सन्त लोग भोजन करके उठे तो कुटुम्बियों के सामने ही ये उनकी पत्तलों से जूठन उठा कर खाने लगे। यह देखकर कुलाभिमानी परिजनों ने इन्हें धर्मभ्रष्ट मानकर छोड़ दिया और घर लौट गये। पीछे इस घटना को लक्ष्यकर रामचरणदास जी कहा करते थे कि सन्तों का एक दिन का जूठन जब सांसारिक सम्बन्धों से छुटकारा दिला देता है तो उनका नित्य का जूठन तो अवश्य ही भवबन्धन से मुक्त करा देगा। इसके अनन्तर ये जन्म भर सन्तों की सीतप्रसादी ग्रहण करते रहे। इनका यह नियम जानकीघाट पर गद्दी स्थापित करने के बाद भी नहीं छूटा।

अयोध्या में कुछ दिन निवास करने के बाद ये रामप्रसाद जी के साथ चित्रकूट गये। वहाँ उनसे शृंगारी उपासना के सिद्धान्तों और साधनापद्धति का ज्ञान प्राप्त किया। चित्रकूट से मिथिला जाने पर वहाँ के तत्कालीन माधुर्योपासक सन्तों का इन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। शृङ्गारी साहित्य के अध्ययन की जिज्ञासा इनके मन में यहीं जगी। अयोध्या लौटने पर गुरु की आज्ञा लेकर माधुर्य भक्ति के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से रैवासा गये। यहाँ 'अग्रसागर' का अध्ययन इन्होंने अपना तिलक परिवर्तित करके किया, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। रैवासा से अयोध्या लौटने के बाद इन्होंने जानकीघाट पर

१—रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० ४१

चारुशीलाभवन तथा चारुशीलाबाग निर्मित कराया और वहीं अपनी गद्दी स्थापित की। अयोध्यावास करते हुए सतों में जैसी निष्ठा इन्होंने दिखाई वह अद्वितीय है। अपने आश्रमवासी शिष्यों एव अन्य सतों से भी ये व्यक्तिगत सम्पर्क रखते थे और उनके ऊपर किसी प्रकार का भी दुख पड़ने पर स्वय जाकर उनकी सेवा-सुश्रूषा करते थे। इसीलिये आजतक अयोध्या में ये 'करुणा सिन्धु' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी सिद्धियों और सतसेवा से प्रभावित होकर नवाब आसफुद्दौला ने कई गाँव और जानकीघाट की सारी भूमि इन्हे भेंट कर दी थी।

रामचरणदास जी की मानस कथा जानकीघाट पर नित्य होती थी। जिसमें हजारों की सख्या में अयोध्या तथा अन्य प्रदेशों के विद्वान् सम्मिलित होते थे। उसकी प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर मिर्जापुर के प्रसिद्ध मानस-तत्त्वज्ञ प० राम गुलाम द्विवेदी भी अयोध्या गये और उनका सत्सगलाभ करते हुए कुछ दिन ठहरे। इस सहवास से इन दोनों मानसप्रेमियों में इतनी घनिष्ठता हो गई कि इन्होंने साथ ही साकेतयात्रा का व्रत ले लिया।

कहा जाता है कि एक बार रीवानरेश विश्वनाथसिंह ने रामचरणदास जी को सत्सग के लिए रीवा बुलाया। उनके कर्मचारी इन्हें ले जाने के लिए सवारी लेकर आये। इन्होंने उनको एक स्वरचित पद देकर लौटा दिया, जिसकी प्रारम्भिक पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

बात यह को नहिं सुनत हँसी।
तजि रघुनाथ जो जाँचत औरहिं तामुख भलो मसी॥

रामचरणदास की परलोकयात्रा के विषय में प्रसिद्ध है कि शरीरात के तीन दिन पूर्व सैकड़ों सन्तों को एकत्र करके वे रामघाट पर नामध्वनि करते हुए गए, तीन दिन तक वहाँ बराबर कीर्तन और सन्त भोज चला। तीसरे दिन सन्ध्या के समय प० रामगुलाम द्विवेदी का भेजा हुआ एक व्यक्ति पत्र लेकर आया जिसमें अपनी परलोकयात्रा के समय का सन्देश भेजते हुए उन्होंने रामचरणदास जी को भी साथ ही प्राणत्याग करने के व्रत का स्मरण दिलाया था। रामचरणदास जी को पहले से ही उसका आभास हो गया था, इसीलिये वे रामघाट पर आ गये थे। पत्र पाने के थोड़े ही समय बाद, माघ शु० ९ स० १८८८ को अपना शरीर छोड़ वे दिव्य लीला में प्रविष्ट हुये।

रामचरणदास जी के तीन शिष्यों ने रसिक भक्ति के प्रचार में विशेष सहयोग दिया। ये हैं—जीवारामजी "युगलप्रिया", जनकराजकिशोरीशरण, 'रसिक अली' और हरिदास। रामचरणदास तथा उनके उपर्युक्त शिष्यों ने सैद्धान्तिक तथा

सामान्य काव्यग्रंथो की रचना कर रसिक धारा के शास्त्रीयपक्ष की विविध प्राचीन संहिताओं तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त प्रमाणों से पुष्टि की। इनके शिष्य प्रशिष्यों ने पीछे इस कार्य को पूरा किया।

यद्यपि इन रचनाओं में साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की व्याख्या और साधना पद्धतियों के निरूपणविषयक प्रसगों की ही अधिकता है, तथापि उनमें इनकी काव्यप्रतिभा के परिचायक अनेक आकर्षक प्रसंगों की भी योजना हुई है। रसिक साधना सम्बन्धी मौलिक एव सग्रहग्रन्थों की रचना के साथ ही अपने जीवन का जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य इन्होंने किया, वह 'रामचरितमानस' की टीका थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि मानस का यह प्रथम तिलक, विद्वता एव सरसता में आज भी अपने ढंग का एक ही है। इसके द्वारा मानस के सिद्धांतों का भक्तों में व्यापक प्रचार हुआ।

रामचरणदास जी की कुल २५ रचनायें अबतक उपलब्ध हुई हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. अमृतखण्ड	१३. विरहशतक
२ शतपचासिका	१४. वैराग्यशतक
३. रसमालिका	१५. नामशतक
४. रामपदावली	१६ उपासनाशतक
५ सियारामरसमजरी	१७ विवेकशतक
६. सेवाविधि	१८. पिंगल
७ छप्पय रामायण	१९. अष्टयामसेवाविधि
८ जपमालसग्रह	२०. कवितावली
९. चरणचिह्न	२१ काव्यशृङ्गार
१०. कवितावली	२२. झूलन
११. दृष्टातबोधिक	२३. कौशलेन्द्ररहस्य
१२. तीर्थयात्रा	२४. रामचरितमानस की टीका
	२५. रामनवरत्नसारसग्रह

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

अवधक्षीरनिधि उदयचद श्री राम प्रसादस।
पूरण प्रेम पियूष नेम जम जुग कुरग बस॥

सुजस प्रकास मयूष वचन कुमुदन चकोर जन ।
संत गुरू भगवंत भाव यक समसीतल मन ॥
करि आपुसरिस सब विधि उभय श्री रघुनाथ प्रसाद गुर ।
प्रभु जुगल पदुम पद वंदि रज रामचरण जो कहँ फुर ॥[1]

सब तजि अवधपुरी रहिए
राम रूप हिय रामनाम मुख कर सेवा गहिए ।
मज्जन पान सदा सरयू को समदुख सुख सहिए ॥
जहँ तहँ रामचरित सुनिए नित सहज सुखहिं लहिए ।
श्री रामचरण रघुवीर कृपाते कछु फल नहिं चहिये ॥[2]

देखो सखि अति अनन्द रास रच्यो रामचन्द्र,
रजनी छवि छिटकि रही सरद चंदनी ।
बहु सखि मंडलाकार नृत्यगान स्वर सम्हार,
नृत्यत रघुनन्दन मिथिलेश नंदिनी ॥
कंचन मणि लसत भूमि नृत्यत पद चपल घूमि,
नूपुर छवि छम्म छनन छनक छंदनी ।
कमला बिमलादि तान रागानुगादि गान,
करहिं राग रागिनी कला कलंदनी ॥
चन्द्रकला बीना मुरचंग धुनि मृदंग मधुर,
अपर सखि सितार तार तर तरंगिनी ।
ता धिग धिग ता धिग धिग ता धिग धिग ता धिग धिग,
धिक धिक धिक धिक धिक धिक धिक प्रवधनी ॥
उघटत संगीत राग ताल मुर्छनादि जाग,
हाव भाव पानि मुरनि नयन खंजनी ।
'रामचरण' जुत समाज मेरे हिय में विराज,
यह विहार नित अखंड रसिक मंडनी ॥[3]

२२. शिवलाल पाठक

इनका आविर्भाव गोरखपुर जिले के सोनहुला नामक ग्राम में फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी सं० १८१३ (१७५६ ई०) में हुआ था । पिता का नाम देवीदत्त

१—अमृतखंड, पृ० १
२—रामनवरत्नसारसंग्रह, पृ० ८५ ३—स्फुटपद

पाठक और माता का सोल्ही देवी था। इनके जन्म के दस ही महीने बाद माता का देहान्त हो गया। पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। विमाता के दुर्व्यवहार से खिन्न होकर ये काशी चले गये और वहाँ गोरखपुर के ही एक हलवाई के साथ रहने लगे। इस समय इनकी आयु केवल ९ वर्ष की थी। पढ़ने की ओर विशेष रुचि थी। सौभाग्य से त्रिलोचन नामक एक षट्शास्त्री विद्वान् ने इनकी पढ़ाई का भार अपने ऊपर ले लिया। शास्त्री जी में पांडित्य के साथ उच्चकोटि की रामनिष्ठा भी थी, मानस को वे धर्मपुस्तकों में सर्वोच्चस्थान देते थे। उनकी छत्रछाया में शिवलाल जी शास्त्रों के पारगत विद्वान् हो गये। साथ ही रामचरित मानस में भी उनकी बड़ी प्रीति हो गई। इन्हीं दिनों रामचरितमानस के लब्ध प्रतिष्ठ वक्ता परमहंस रामप्रसाद संस्कृत पढ़ने की इच्छा से काशी आये। पाठक जी से उनकी भेंट हो गई। परमहंस रामप्रसाद इन्हीं के पास ठहर कर अध्ययन करने लगे। अनध्याय के दिनों में गुरु से छिपाकर परमहंस जी अपने सहपाठियों को मानस की कथा सुनाया करते थे। एकदिन संयोगवश पाठक जी ने उनकी अमृतवर्षिणी वाणी में प्रवाहित मानसकथा सुनी। उसपर वे इतने मुग्ध हो गये कि दूसरे ही दिन अपने शिष्य का शिष्यत्व ग्रहण करने में उन्हें हिचक नहीं हुई। गंगातट पर जाकर उन्होंने परमहंस रामप्रसाद जी से षडक्षर राममन्त्र की दीक्षा लेली। इसके बाद उन्होंने गुरु से मानस का भलीभाँति अध्ययन किया। प्रतिभा और अभ्यास के बल से शीघ्र ही वे मानस के अपूर्व व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हो गये। सुना जाता है काशी में जतनबर मुहल्ले में जब उनकी प्रथम सार्वजनिक मानस कथा हुई तो ७५ हजार रुपये चढ़ावे में आये थे। वह सारा द्रव्य उन्होंने गुरु चरणों में समर्पित कर दिया। पाठक जी की अद्भुत वाग्शक्ति और शास्त्रज्ञान से काशी के पण्डितों में मानस की धाक जम गई।

पाठक जी सख्यभाव के रामोपासक थे। उनकी निष्ठा वशिष्ठपुत्र, सुयज्ञ की थी और इस सम्बन्ध से वे अपने को रामका प्रिय सखा मानते थे। रसिक साहित्य में गुरु पुत्र भाव के उपासक ये अकेले भक्त ठहरते हैं। प्रियसखा होने से इष्टदेव की शृंगारी लीलाओं के ध्यान में ये निरन्तर मग्न रहा करते थे।

इनकी तीन कृतियाँ मिलती हैं—

१ मानसमयंक

२ मानसअभिप्रायदीपक

३ वाल्मीकिरामायण की भावप्रकाश टीका।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

जय जय जय सुख चन्द जू, रसिकन आनँद कंद।
यूहि लडैननो राज जू, गहि मुन्न हरिये फंद॥
जोरी लाड़िल लाड़िली, रँगि सिंगार रस गात।
रस बस मृदु बातैं करत, हौं कहि जय जय जात॥
सुनि मुसुकाइ बुलाइ ढिग, युग करुणा रस भेइ।
कहे चन्द्रिका रस रचन, जो मानस रस देइ॥
लखी भारती रुचि तकौ, सर रस रसिकन्ह चाह।
बीज देव गुन शक्ति ढिग, बैठि तड़ैतौ छाँह॥[1]

श्रीसीता रस रसिक अरु, असिय भक्त रसराज।
रची ससीय बिचारिकै, तुलसी रवि कुल राज॥
पाँति विराजत आजु लगि, श्री सरयू के पार।
पाठक श्री शिवलाल वर, लसत उपासन हार॥
क्षर-अक्षर अक्षर रहित, जानि निरक्षर पार।
पार निरक्षर बैठि ढिग, जनक लली उर धार॥[2]

२२. शंकरदास

महात्मा शंकरदास 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के रचयिता श्री जीवाराम 'युगलप्रिया' के पिता और गुरु थे। इनका जन्म छपरा जिले के एक कात्यायन-गोत्रीय कान्यकुब्ज परिवार में अठारहवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० शोभाराम चतुर्वेदी था। वे एक प्रतिष्ठित ज्योतिषी थे और उसी वृत्ति से परिवार का पालन-पोषण करते थे। अपने जन्मस्थान तथा वंश का परिचय देते हुए एक पद में इन्होंने स्वयं अपना नाम शंकरदास शर्मा तथा पिता का शोभाराम चतुर्वेदी बताया है—

प्रमा गोत्र कात्यायन पारायण नारायण
पद गाये श्रीराम सुयश शंकरदास शर्मा।[3]
इसुआपुर चतुर्वेदी सोभा द्विज ता के सुत,
शंकरदास राम आस गोत्र है कत्यायन॥[4]

इससे यह विदित होता है कि इनकी जन्मभूमि इसुआपुर नामक गाँव में थी। यह गाँव छपरा जिले में, मसरख लाइन पर, पूर्वोत्तर रेलवे के मढ़ौरा स्टेशन से वायव्य कोण में, चार मील की दूरी पर स्थित है। पिता का बाल्यावस्था में

१–मानसमयक, पृ० ११-५ ३–रामनाममाला, पृ० २८
२–मानसअभिप्रायदीपक, पृ० १ ४–वही, पृ० १७

ही देहान्त हो जाने से इनकी शिक्षा दीक्षा का भार माता पर पड़ा। घर की आर्थिक स्थिति शोचनीय थी, अतएव माता गायें पाल कर और खेती करके कुटुम्ब का निर्वाह करती थीं। गायों के चराने का कार्य, परिवार में अन्य कोई पुरुष न होने से, शंकरदास को ही करना पड़ता था। जन श्रुति है कि इन्हीं दिनों गाय चराते समय एक दिन शिकारी के वेष में इन्होंने राम को घोड़े पर जाते देखा और कई दिनों तक गायों को छोड़कर विरह में व्याकुल उसी वन में घूमते रहे। बहुत ढूँढ़ने के बाद माता इन्हें घर लिवा लाई। जब ये १८ वर्ष के थे, बिहार में भीषण अकाल पड़ा। माता के अतिरिक्त इनके परिवार में एक बहन भी थी। अतएव तीन मनुष्यों का भोजन जुटाना दुष्कर प्रतीत होने लगा। उस समय डुमरावपुर के समीपस्थ कोई देवसिंह नामक धर्मात्मा जमींदार प्रति व्यक्ति को एक आना भोजन के लिये देते थे। शंकरदास को भी इनकी माता ने वहाँ भेजा, उन्हें एक रुपया मिला। कुछ दिन उससे कटे। इसी समय इन्हें पता लगा कि अयोध्या की ओर सुकाल है, अतएव गाँव के कुछ साथियों के साथ माता और बहिन को लेकर ये अयोध्या चले आये और कल्पवास करने लगे। वहाँ पीताम्बरदास नामक किसी महात्मा से सत्संग हुआ, इससे उनकी विरक्त भावना बढ़ी। अयोध्या में कल्पवास करते ही माता का शरीर छूट गया। बहन को किसी निकट सम्बन्धी के यहाँ छोड़कर ये अयोध्या से बद्रीनाथ चले गये। वहाँ से शेष तीनों धामों की यात्रा करते हुए उज्जैन पहुँचे। कुछ दिन वहाँ वास कर नैमिषारण्य आये। वहाँ किसी रमनदुबे नामक पण्डित की कन्या से इनका विवाह हो गया और स्त्री सहित डुमरावपुर आकर रहने लगे। इनके चार पुत्र हुए, रामकिंकर, प्रयागदत्त, गङ्गागोविन्द, और जीवाराम। यही जीवाराम आगे चलकर 'युगलप्रिया' के नाम से प्रसिद्ध हुए। घर पर कुछ दिनों तक रहने के बाद शंकरदास सपरिवार आरा जिले के बोध-छपरा गाँव को गये और वहाँ किसी महात्मा से गुरुदीक्षा ली। ये महात्मा कौन थे? इसका पता नहीं। वहाँ से ये फिर जन्मभूमि को चले आये। कभी कभी पटना जिले में मड़ेरा स्टेशन के समीप कोठिया गाँव में भी आकर ये रहा करते थे। जब पुत्र वयस्क और घर का काम सँभालने योग्य हो गये तो ये घरबार छोड़कर सरयू गंगा संगम पर चिरान (छपरा) नामक स्थान में जाकर निवास करने लगे। कुछ दिनों बाद जीवाराम भी विरक्त होकर पिता के पास चले आये और उन्हीं से मन्त्रदीक्षा लेकर, साथ रहने लगे। गंगातट पर चिरानवाले अपने आश्रम का इन्होंने कई स्थलों पर उल्लेख किया है.—

शकरदास गगा सेवन करि ले चिरान्द रहि
लोग सन कहेला अगवथरी अरथानिक ॥[1]

यहाँ ये वृद्धावस्था में अतकाल तक रहे, ऐसा इनके निम्नांकित पद से सकेत मिलता है—

आइल विरधापा नियराइल हुँ अन्तकाल
शकरदास राम रटह गगा जल पीता ॥[2]

शंकरदास जी दास्यभाव के रामोपासक थे, उनके निम्नलिखित छद से इसकी अभिव्यक्ति होती है—

राम राम राम राम राम रघुनायक
अति बड़ दयाल दानहि के करें नेहाल,
रूप गुण सील निधि सब बिधि मन लायक
शकरदास सीतापति रामचन्द्र मेरे इष्ट
हेरे एक कोर मोहिं होयगा सहायक ॥[3]

इसीलिये जब जीवाराम जी ने शृङ्गारी भक्ति की जिज्ञासा की तो इन्होंने अयोध्या में तत्कालीन रसिकों में अग्रगण्य महात्मा रामचरणदास की शरणागति का उन्हें आदेश दिया।

शंकरदास जी का केवल एक ग्रन्थ 'रामनाममाला' मिलता है। उनका शिष्यपरम्परा में आविर्भूत महात्मा जानकीशरण ने इनके समय समय पर कहे गये पदों और कुछ दोहों को एकत्र कर उसे यह रूप दिया था। सर्वप्रथम १९०१ ई० में यह पुस्तक छपी थी। काव्यसौष्ठव के विचार से यह एक साधारण रचना है किन्तु भाषा के विचार से महत्त्वपूर्ण है।

'रामनाम माला' में इन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह मागधी मिश्रित भोजपुरी है। इस भाषा में रचित रामकाव्य बहुत कम मिलते हैं। शंकर दास जी बिहार के एक ग्रामीण क्षेत्र में रहते थे, उनकी शिक्षा-दीक्षा भी साधारण ही थी, अत अनुभव और सत्सग के द्वारा सचित विचारों की अभिव्यक्ति मातृभाषा में ही उन्हें सुलभ जान पड़ी। कहीं कहीं उन्होंने फारसी शब्दों का ही नहीं, वाक्यों तक का प्रयोग किया है। निम्नलिखित उद्धरणों से उनकी भाषा का रूप स्पष्ट हो जायगा—

१-रामनाममाला, पृ० २७
२-वही, पृ० २६ ३- वही, पृ० २१

धन्य सोई प्राणी जिन्ह राम नाम लेल।
वेद औ पुराण इतिहास ढूढ़ि ढूढ़ि हूँढ़ावह प्राणपान खोज खोजभइले जेल।[1]
होइ पवित्र वे पवित्र प्रेम अनप्रेम अनखाय अल्साय अकुलाय समझावे
शंकरदास सुख दुख वो हानी लाभ होइबे करे कोई न मिटाई ॥[2]

× × ×

जइसन तु कइलह ते पइबह फल आपन फल,
जल्द राम जपहू जते बाटह तु जिंदा।[3]

× × ×

वैबुल वोफा वय हिफाकत गोवाह शाद सदर कबहि
होय न एक मोहर बिना का री॥[4]

× × ×

नीचे 'रामनाममाला' से उनके दो पद दिये जाते हैं—

राम राम राम जपे सेई भला तपसी
सीता जी माता हैं, जगत सकल बालक हैं,
पालक श्रीरामचद्र सबन्हि के बसी।
राम एक आत्मा अनात्मा प्रमात्मा हैं,
कोई वेद विदख जाने केऊ एक जपसी।
सहज से न राम मिलहिं प्राक्तन सस्कार बिना
चार दिन सहि न जात माघ के एक झपसी॥
खोआ चीनी मिश्री कंद रामनाम भजि अनद
शंकरदास जगत सुख महुआ के लपसी॥

वेद पुरान शास्त्र सगत से सत करहिं जे जाप।
से अक्षर हम प्रगटे गावल, भजत छुटे त्रय ताप॥
सब साधुन मो जाय जाय हम, कही सुनी सब मत लीन्ह।
तब निरचै ठहराय गाय ये, राम भजन हम कीन्ह॥

२३. बलदेवदास 'चन्द्रअली'

इनका प्रसिद्ध नाम बलदेवदास था। ये सियासखी जी के छोटे भाई थे और उनके चित्रकूट चले जाने पर जयपुर के सीताराम मदिर की गद्दी पर बैठे थे। अपने अग्रज के समान ही ये इष्टदेव की मानसी सेवा के परमसुख के

१– रामनाममाला, पृ० ८
२– वही, पृ० १४
३–वही, पृ० २१
४–वही, पृ० २२

भोक्ता थे। इनकी पदरचना का एक संग्रह 'अष्टयाम-पदावली' के नाम से है, जो अभी तक अप्रकाशित है। इनकी कुछ रचनायें साम्प्रदायिक निष्ठा के अनुसार विविध उत्सवों पर भी मिलती हैं। नीचे इनका एक पद दिया जाता है—

> लखोरी मिथिला मोद भरी।
> माधव शुक्लपक्ष पूरण तिथि वासर चन्द्रधरी।
> चित्रानखत लगन धनि धनि वह धन्य सो धन्यघरी॥
> रानी चन्द्रकान्ति नृप अरिजित सुकृत की बेलि फरी।
> जन्मी चारुशीला जू जिनकी 'चन्द्रअली' अनुचरी॥

२४. रामगुलाम द्विवेदी

ये मिर्जापुर के असनी नामक गाँव के निवासी थे। उन्नीसवीं शती के प्रसिद्ध रामभक्तों एवं मानसतत्त्वज्ञों में इनकी गणना होती है। बाल्यावस्था में ही पितृवियोग हो जाने से गृहस्थी का सारा दायित्व इन्हीं के ऊपर पड़ गया।[1] परिवार के भरण-पोषण के लिये इन्होंने मिर्जापुर नगर में पल्लेदारी का काम कर लिया।[2]

१– मोहि हरि पाल्यो अपनो कै कै।
> दोष अनेक एक नहिं लेखे अपनो ओर चितै कै॥
> बारहि पिता त्यागि सुरपुर गे समै गरीबी सहि कै।
> आगे नाथ न पाछे पगहा जियों खेह मग खै कै॥
> खोंचो माँगत फिरौं धान पर ओली केर रितै कै।
> देखि छोड़ाय सदन बैठायो भोजन बसन अटै कै।
> रामगुलाम सेइ समरथ कियो सिय पिय कन-कन दै कै॥

(कवित्त प्रबन्ध)

२–रामगुलाम जी के एक छंद से ऐसा ध्वनित होता है कि थोड़ी आयु में ही जीविकोपार्जन के लिये इन्हें घरबार छोड़कर बाहर रहना पड़ा था।

> बुद्धि बल हीन दीन दूसरो विपत्ति बस,
> लोक वेद विमुख भयो न काहू कामको।
> कपटी कुचाली कूर कलहा कलकी क्रोध,
> कलुष कदम्ब कौर करत हराम को॥
> बारे ते विदेस बस्यों देखि दसा देस हस्यो,
> पेट भरिबे के काज कहीं जस राम को।

हनुमान जी में इनकी आरम्भ से ही बड़ी निष्ठा थी। गाँव के समीप "लोहजी हनुमान" नामक एक स्थान था। वहाँ जाकर ये हनुमान जी को नित्य मानस का पाठ सुनाते थे, इसके बाद घर आकर भोजन करते थे। गाँव और उस मन्दिर के बीच में एक नाला पड़ता था। एक दिन अधिक काम पड़ जाने से ये घर देर से आए और व्यग्रता तथा थकावट से अपना नियम भूल कर भोजन करने लगे। कुछ समय बीतने पर इन्हें उसका स्मरण हो आया। तत्काल भोजन छोड़ कर हनुमान मन्दिर को चल पड़े। वर्षा का समय था, उस दिन नाला बढ़ गया था, किन्तु इसकी कोई परवाह किये बिना ही ये उसे पार करने लगे। पानी के वेग में इनके पैर ठहर न सके और ये बह चले, किन्तु किसी ने (हनुमान ?) आकर इन्हें निकाला। इनके कपड़े और मानस की पोथी भींग चुकी थी। उसी दशा में उन्होंने हनुमान जी को मानस का पाठ सुनाया। जनश्रुति है कि इस दृढ़ निष्ठा से प्रसन्न होकर हनुमान जी ने इन्हें मानस का सांगोपांग अध्ययन कराया किन्तु इसके साथ ही यह भी आदेश कर दिया कि उसकी वे कोई टीका न करेंगे। रामगुलाम जी ने पल्लेदारी छोड़ दी और मानस के पाठ प्रवचन ही से अपना जीविकोपार्जन करने लगे। रसिक परमहंस रामप्रसाद जी, जो पहले गंगा तट पर जफराबाद में रहते थे और पीछे जानकीघाट (अयोध्या) में रहने लगे थे, इनके दीक्षागुरु बने। उनसे इन्होंने 'वाल्मीकिरामायण' के गूढ़ तत्वों का अध्ययन किया।[1] सन्तों का विश्वास है कि रामगुलाम जी ने 'मानस' की कोई टीका नहीं की थी। मानस के क्लिष्ट अंशों की जो व्याख्याएँ आज इनके नाम से उपलब्ध हैं उनका संकलन इनके प्रवचनों के आधार पर, कुछ मानसप्रेमी श्रद्धालु श्रोताओं ने किया था।

जनश्रुति के अनुसार इनकी परधाम यात्रा का समय वही है जो रसिकाचार्य रामचरणदास का है। युगलप्रिया जी ने 'रसिकप्रकाश' भक्तमाल में इनका जो परिचय दिया है उससे विदित होता है कि उनके समय (१८३९ ई० के आसपास) में रामगुलाम जी एक प्रकाड विद्वान् और रामायणी के रूप में

तऊ न 'गुलाम राम' सकत विलोकि कलि,
हाय हनुमान मोसों दूसरो निकाम को ॥
(कवित्त प्रबंध)

१—र० प्र० भक्तमाल, पृ० ४३

विख्यात हो चुके थे।[1]

पं० रामगुलाम जिस प्रकार तुलसीसाहित्य के गूढ़ रहस्यवेत्ता थे उसी प्रकार एक रसज्ञ रामभक्त कवि भी। उनका यह दूसरा रूप अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। उनकी रचित छोटी-बड़ी बारह कृतियों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्रस्तुत लेखक ने देखी हैं[2] जिनसे उनकी अद्भुत काव्यशक्ति का पता चलता है। उनकी रचनाओं की तालिका निम्नलिखित है—

१. कवित्त प्रबन्ध	७. रामकृष्ण सप्तक
२. रामगीतावली	८. श्रीकृष्ण पचरंग पचक
३. ललित नामावली	९. श्री रामाष्टक
४. विनय नव पञ्चक	१०. रामविनय
५. दोहावली रामायण	११. रामस्तवराज
६. हनुमानाष्टक	१२. बरवा

इनकी रचनाओं के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

जाके वाम भाग में विराजैं मिथिलेस सुता,
सहित सनेह सदाछवि की छटा छई।
दाहिने रहत जाके लखन अनूप रूप
नखशिख नीके हेम उपमा न हौं दई॥
जाके अङ्ग अङ्ग पै अनंग कोटि वारियत,
धारे धनुबान मानि विस्व विजयी नई।
वदत गुलाम राम दया करि दीजै राम
मेरे मन बसै सोई मूरति कृपामई॥[3]

१–जुगल भक्त पण्डित प्रवर नाम जू रामगुलाम वर।
असनी मिर्जापुर प्रधान दोउ नाम उपासक।
वाल्मीक वक्ता जु एक तुलसीकृत भाषक॥
भाविक प्रवर सुजान सन्त जन श्रोता जिनके।
लोक प्रसंसित विमल विरद किमि कहिये तिनके॥
परमहंस गुरकृपा रहि रामायन सुखधाम पर।
जुगल भक्त पण्डित प्रवर नाम जु रामगुलाम वर॥

२–पं० सीताराम जी चतुर्वेदी (काशी) के पास द्विवेदी जी के कुछ हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित हैं।

३–कवित्त प्रबंध से

नभ ते दूरि तरैया छिन छिन छीन।
ऐसहि वपुवय भैया दिन दिन दीन॥
भूला विपिन बटोही मग गे छूटि।
संग अमित बटपरवा कीन्हीं लूटि।
पूछौं तोहि पथिकवा कहँ घर तोर॥
दिना चारि के छूटे परिगा भोर।
मैं मैं बोलै छेरी विक धरि खाय॥
मैं मैं सुनि चहि नर को जग गिलि जाय॥[1]

देखि हरि होरी रंग रसे।
प्रभु मुखलखि सिय सखिन जूथ महँ लखन ए बन्धु धँसें।
झमकि लगी ललना गन खतते जलज सुहार खसे॥
नृप विदेह पुरते जे आईं तिन बहु भाँति हँसे।
जे अङ्ग बसन सकल रंग बोरे अञ्जन नैन दँसे॥
रामगुलाम जानकी वर के नित जम अवध लसे॥[2]

२५. महाराजविश्वनाथसिंह

राम भक्ति और साहित्य प्रेम की, रीवाराजवश की, अपनी एक विशिष्ट परम्परा है। महाराज विश्वनाथसिंह जू देव का जन्म इसी ऐतिहासिक वंश में चैत्रशुक्ल १४, सं० १८४६ (१७८९ ई०) को हुआ था। अपने पिता जयसिंह की भाँति ये संस्कृत और भाषासाहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। उनकी मृत्यु के बाद १८३३ ई० में ये गद्दी पर बैठे और २१ वर्ष तक राज्य कर कार्तिक कृष्ण ७ भृगुवार सं० १९११ (१८५४ ई०) में साकेतवासी हुए।

महाराज विश्वनाथसिंह की गणना प्रमुख रसिक रामभक्तों में की जाती है। रसिक साहित्य में इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि रामभक्ति की इस धारा के वे सहायक ही नहीं विधिवत् दीक्षित साधक भी थे। वे नित्य श्री सीताराम की अष्टयामभावना सखी रूप में किया करते थे। शृङ्गारी साधना के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने महात्मा प्रियादास से 'षडक्षर राम मंत्र' का उपदेश लिया था।[3]

१—बरवा से २—रामगीतावली से

३—उनके पुत्र, महाराज रघुराज सिंह स्वयं इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं—

युगलप्रिया जी ने रसिकाचार्य रामचरणदास जी से इनके रसिक-दीक्षा लेने तथा मानसी-पूजा की विधि सीखने का भी वर्णन किया है और इन्हें "शृंगार-पंथ" का 'भेदी' बताया है—[1]

महाराज रघुराजसिंह के अनुसार विश्वनाथसिंह की रसिक साधना इतनी ऊँची स्थिति की थी कि एक बार चित्रकूट के निवासस में वे सखी रूप में सम्मिलित भी हुये थे। इस घटना के बाद आजन्म वे अपने को दिव्य दंपति

लियो जन्म सो पितु विशुनाथा। रीवांनगर महासुद गाथा॥
आह्निक तासु रह्यो यहि भाँती। चारि दण्ड बाकी उठि राती॥
करैं भावना ध्यानहिं माँही। सखी रूप सिय रामहिं काहीं॥
आह्निक श्री सीतापति केरो। करहिं भावना वेद निवेरो॥
चारि ध्यान निशि दिन में करहीं। भव वासना सकल परिहरहीं॥

एक समय विशुनाथ को, स्वप्ने शंकर आय।
राम षडक्षर मंत्रको, तेहि एकांत ले जाय॥

—रामरसिकावली, पृ० ९००

रसिक भावना की प्रेरणा विश्वनाथ सिंह को प्रियादास जी से ही मिली थी, इसका आभास जानकीरसिकशरण की निम्नपंक्तियों में मिलता है—

गुरु प्रियादास जी से राममंत्र बीज पाय,
सतगुरु भाव जल सींचि कै बढ़ाये हैं।
कीरति सुछाई रसिकन सुखदाई बिन,
देखे को प्रतीति कोई कोई जन पाये हैं॥

—र० प्र० भ०, पृ० १२५

1—जगत विदित उत्तम कथा विश्वनाथ नृपराज की।
सीताराम चरित्र ग्रंथ अवलोकन निसिदिन।
जुगल नाम अरु जुगल रूप सुधि लेत छिनहिं छिन॥
उत्तम पंथ शृङ्गार भक्ति दसधा के भेदी।
पंडित कला प्रवीन रसिक रस ग्रन्थ निवेदी॥
श्रीरामचरण सतगुरु कृपा क्रिया मानसी साज की।
जगत विदित उत्तम कथा विश्वनाथ नृपराज की॥

—वही, पृ० १२१

का पार्षद मानकर उनकी उपासना करते रहे।[१]

फिर तो रासलीला में इनकी इतनी निष्ठा हो गई कि एक बार किसी सन्त ने जब इन्हें एक सुन्दर शालिग्राममूर्ति भेंट की तो उसका नाम इन्होंने 'रास बिहारी' ही रखा।[२]

'रामरसिकावली' से ज्ञात होता है कि "संगीतरघुनन्दन" नामक ग्रन्थ, जो अपने विषय का उत्तम ग्रन्थ माना जाता है और 'रामाह्निक' अथवा 'रामाष्टयाम' की रचना भी राम के रसमय चरित्र को लेकर हुई थी। इसकी प्रेरणा उन्हें 'रासबिहारी राम' से ही मिली थी।[३]

महाराज विश्वनाथसिंह की रामभक्ति सगुणक्षेत्र तक ही सीमित न रही। निर्गुणक्षेत्र भी उसकी दिव्य आभा से अनुरंजित हुआ। इसके महत्व का अनुमान 'कबीरबीजक' पर उनकी 'पाखंडखंडिनी' टीका पढ़ने वाले साहित्यिक लगा सकते हैं। निर्गुण वाणी को सगुण राम के गुणों पर घटा कर उसका इतना विद्वत्तापूर्ण ढंग से प्रतिपादन करना उन्हीं का काम था। बीजक की साखियों और 'रमैनी' की जैसी व्याख्या उन्होंने की है उससे उनके हृदय का वह रंग जिसकी लाली से समस्त चराचर जगत राममय दिखाई देता है, स्पष्ट हो जाता है।[४]

१—पुनि चलि चित्रकूट यक काला, पुरश्चरण तहँ कियो विशाला।
लख्यो स्वप्न महँ यक निशि माँही, सखी रूप चलि गोपुर काहीं॥
सीताराम रास जहँ होतो, महा मोद छन छनहिं उदोतो।
सखी रूप तहँ आपु सिधाई, रहन लग्यो पुर महँ सुख छाई॥
आयो पुनि रीवाँ नगर, राम रंग महँ छाकि।
पार्षद वपु मानत निजै, रहन लगो प्रभु ताकि॥
—रामरसिकावली, पृ० ९००

२—एक समय आयो यक सन्ता। लीन्हें शालिग्राम अनन्ता।
तिनु लै मूरति सिर धर्यो, चक्र चिह्न दरसाय।
रास बिहारी राम तेहि राख्यो प्रीति बढ़ाय॥
—रामरसिकावली, पृ० ९०२

३—स्वप्न माँहि प्रभु शासन दीन्हों। क्यों नहिं ग्रन्थ सस्कृत कीन्हों।
तब संगीत रघुनन्दन ग्रन्था। रच्यो राम सिया रास सुपन्था॥
बहुरि राम आह्निक निर्माण्यो। निशि दिन चरित राम जो ठान्यो॥
—रामरसिकावली, पृ० ९०१

४—एक प्रसिद्ध 'रमैनी' की व्याख्या ये इस प्रकार करते हैं—
'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम को मर्म आना।'

उनका यह राम प्रेम भावनाजगत से बाहर व्यावहारिक क्षेत्र में भी प्रकाशित हुआ। अयोध्या-दर्शन और सरयू-स्नान उनकी रामभक्ति के अविभाज्य अग हो गये। सरयू में स्नान करते हुए एक बार उनके तीन कोस तक बह जाने का उल्लेख मिलता है।[1] रसिक साधकों की सुविधा के लिये चित्रकूट में उन्होंने अनेक मंदिर एव भवन बनवाये। कहते हैं अयोध्या के रसिक सत श्री युगलानन्यशरण पर उनकी विशेष श्रद्धा थी और चित्रकूट के भवनों के निर्माण की प्रेरणा उन्हें उनके चित्रकूटवास के अवसर पर मिली थी। अपने यहाँ रीवाँ में स्थापित सीताराम मंदिर में चैत्र मास में रामलीला का आयोजन वे बड़ी धूमधाम से करते थे।[2]

इस प्रकार शृङ्गारी रामोपासना के प्रचार में उनका बड़ा योग था। राजकार्य के साथ ही भक्ति-साधना और काव्य रचना के इस विषमव्रत के पालन में उनकी समता में विरले ही भूमि पति आते हैं।

इस युग के रामसाहित्य को महाराज विश्वनाथसिंह की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है—उनका 'आनद रघुनन्दन' नामक नाटक, जिसमें पात्रों के नाम सस्कृत धातु प्रत्यययुक्त होने के साथ ही उनकी चारित्रिक विशेषताओं के आधार पर रखे गये हैं। जैसे नेतामल्ल (हनुमान), भुजभूषण (अगद), रैणुकेय (परशुराम), दिक्‌शिरा (रावण), डीलधराधर (लक्ष्मण) आदि। अनेक नाटकीय गुणों से रहित होते हुए भी हिंदी साहित्य का प्रथम नाटक और रामभक्ति साहित्य का प्रथम दृश्यकाव्य होने से उसका महत्त्व निर्विवाद है। महाराज विश्वनाथ सिंह की अन्य कई रचनाएं भी रामचरित और रामभक्ति पर मिलती हैं। उनकी सपूर्ण ग्रंथसंख्या २८ है, जिसका विवरण इस प्रकार है—

'सो दशरथ सुत को तो तीनों लोक जानै हैं पै राम नाम को मर्म कोऊ कोऊ जानै हैं अर्थात् कबहूँ दशरथ सुत कबहूँ नारायण कबहूँ व्यापक ब्रह्म ही अवतार लेइहैं। नित्य साकेत विहारी परम पुरुष पर जे श्री रामचन्द्र हैं जिनके नाम ते ब्रह्म ईश्वर वेद शास्त्र सब निकसे हैं तिने राम नाम को तो मर्म आन है।

—बीजक सटीक, पृ० ४१२

१—रामरसिकावली, पृ० ९०५

२—पुनि मदिर सुन्दर बनवायो, सीताराम तहाँ पधरायो।
करैं राम लीला मधु मासा, कहुँ कहुँ होइ प्रत्यक्ष तमासा॥
वही, पृ० ९००

१. रामगीता टीका	२०. रामपरत्व
२. तत्वमस्यर्थसिद्धांत भाष्य	२१. व्यंग्यप्रकाश
३. राधावल्लभीभाष्य	२२. विश्वनाथप्रकाश
४. सर्वसिद्धांत	२३. आह्निकअष्टयाम
५. रामरहस्य टीका	२४. धमशास्त्र त्रिशतश्लोकी
६. राममन्त्रार्थनिर्णय टीका	२५. परमधर्मनिर्णय
७. सुमार्ग-स्तोत्र-टीका	२६. शांति शतक
८. बीजक टीका	२७ विश्वनाथ चरित
९. विनयपत्रिका टीका	२८. ध्रुवाष्टक सतिलक
१० वैष्णवसिद्धांत टीका	२९ मृगया शतक
११. धनुर्विद्या	३०. परमतत्व
१२. रामचन्द्रिकाह्निक तिलक	३१. उत्तम काव्य प्रकाश
१३ राग-सागराह्निक	३२. गीता रघुनंदन शतिका
१४. संगीतरघुनंदन	३३. रामायण
१५. भुक्ति मुक्ति-सदानन्द	३४. गीता रघुनंदन प्रमाणिक
१६. दीक्षानिर्णय	३५. सर्व-संग्रह
१७. व्यंग्यार्थ-चन्द्रिका	३६ रामचन्द्र जू की सवारी
१८. भागवत एकादश-स्कंध की टीका	३७. भजनमाला
१९. सुमार्ग की ज्योत्स्ना टीका	३८. आनंद रघुनंदन नाटक

काव्यकला की दृष्टि से विश्वनाथसिंह की रचनाओं में कुछ ही उत्कृष्ट हैं किंतु सूक्तियों और व्याख्याओं में उनकी प्रतिभा अधिक निखरती दिखाई देती है। साधारणतया उन्होंने जिस भाषा का अधिक व्यवहार किया है वह बघेली मिश्रित व्रज है किन्तु अवधी और यत्रतत्र संस्कृत का प्रयोग भी उनकी रचनाओं में मिलता है। 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक के सातवें अंक में तो मद देशीय, यूरोपीय, अरबी तथा तुरकी गायिकाओं के मुँह से उनके अपने अपने देश की बोलियों में भी गाने गवाये गए हैं। इस प्रकार इस नाटक में अंग्रेजी, संस्कृत, फारसी, पैशाची, मराठी आदि भाषाओं को भी स्थान दिया गया है।

नीचे उनकी रचनाओं से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

उठो कुंवर दोउ प्रान पियारे।
हिम रितु प्रात पाय सब मिटिगे नभ सर पसरे बहुकर तारे।

जग वन मँह निकस्यो हरषित हिय, विचरन हेत दिवस मनि वारे।
'विश्वनाथ' यह कौतुक निरखहु रविमनि दसहूँ दिसनि उजियारे॥[1]

भूपित तुरंग रँग रँग के विराजैं संग,
गाजैं त्यों मतंग मंद कीन्हें मेघराज को।
सरकैं सिरोही फरी फरकैं सिलाहन की,
परकैं सिपाह सींग गारे गर्व गाज को॥
नाम है प्रतर्दन प्रतापी कासिराज जू को,
विश्वनाथ बाँधे व्यूह वीरन समाज को।
वाजि पै सवार होत डंका की धुकार प्यार,
आयो ऐंड दार बाँको यार रघुराज को॥[2]

नीकी पंचवटी महा सरि तटि फूली फनै संसटी।
वेटी वेनि लटी सुपत्र निपटी रागैं परागैं ठटी॥
तापै नास भटी अनन्द उघटी दुष्टदंगैर्दुर्घटी॥
कल्पोतुल्य घटी जोई चहि हटी सोहैं कुटी स्वर्नटी॥[3]

२६. मनीराम

ये अयोध्या में 'बड़ा स्थान' के महात्मा रामप्रसाद की चौथी पीढ़ी में हुए थे। 'इनके द्वारा स्थापित मनीराम जी की छावनी' (अयोध्या) मधुरा-नन्दी सतों की सेवा के लिए आज भी प्रसिद्ध है। 'वाल्मीकिरामायण' में इनकी बड़ी निष्ठा थी। चित्रकूट में मदाकिनी के तट पर इन्होंने उक्त ग्रन्थ के चौबीस पाठ 'श्रीकामदनाथ' को सुनाये थे। वहाँ से अयोध्या आकर इन्होंने जानकी घाट पर आसन लगाया और सरयू तट पर एक महीने में 'वाल्मीकिरामायण' के तीन पाठ पूरे किये। इसके पश्चात् उसी की कथा कहने लगे। धीरे धीरे सतों को उनकी कथा में इतना रस आने लगा कि उनकी कुटी के आसपास उन्होंने अपनी कुटियाँ बना लीं और वह छावनी के नाम से प्रसिद्ध हो गया। अवध प्रदेश में जनसाधारण में संतसेवा और सतों में सदाचार के प्रचार का बहुत कुछ श्रेय इन महात्मा को है। इनकी कोई स्वतत्र रचना नहीं मिलती। कुछ फुटकर पद और दोहे जनता में प्रचलित और ग्रन्थों में सग्रहीत हैं। उनमें से नमूने के रूप में दो नीचे दिए जाते हैं—

१—साहित्य सकलन, पृ० ६९
२— वही, पृ० ७० ३— वही, पृ० ७२

जय श्री रघुनाथ जय जानकी माता।
दोऊ कर जोरी विनवौं प्रभु मोरि सुनो बाता॥
तुम रघुनाथ हमारे प्राण पिता माता।
तुम हो सजन सँघाती भुक्ति मुक्ति दाता॥
चौरासी प्रभु बंध छुड़ायो मेट्यौ जमत्रासा।
निसिदिन प्रभु मोहिं राखौ अपने संगसाथा॥
रघुबर लक्ष्मण भरत शत्रुहन संग चारौं भैया।
जगमग ज्योति विराजे सोभा अति रैया॥
हनुमत नाद बजावे नूपुर ठुमकैया।
सुवर्ण थाल आरति करत कौशल्या मैया॥
राम फकीर कृपा करि बोले बोले उपकारी।
ओ हरि हमहिं बताओ सियाराम धनुषधारी॥
ब्रह्मा विष्णु महादेव सबको सुखदाता।
धन्य तुम्हारो दरसन करिहौ प्रतिपाला॥
क्रीट मुकुट मकराकृत कुंडल सोभा अति भारी।
'मणीराम' दरसन को पल पल बलिहारी॥[1]

× × ×

खेती करै औ हरि भजै, जथा सक्ति कछु देय।
याहू पै हरि ना मिलै, तो मनीराम से लेय॥[2]

२७. हरिदास

रसिक संप्रदाय में मधुराचार्य के बाद प्राचीनभक्तिसाहित्य के संस्कृत भाषा में लिखे गये ग्रंथों की शास्त्रीय शैली में माधुर्य परक भाष्य करने वाले वे सर्वश्रेष्ठ विद्वान माने जाते हैं। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। बड़ा स्थान (अयोध्या) के संस्थापक महात्मा रामप्रसाद के प्रशिष्य हनुमानदास जी, इनके गुरु थे। किन्तु शृङ्गार रस का सम्बन्ध इन्होंने रसिकाचार्य रामचरण दास से लिया था अतएव उन्हीं के साथ चारुशीला बाग, जानकी घाट पर रहा करते थे। साम्प्रदायिक साहित्य का मर्म समझने, उसके शास्त्र सम्मत सिद्धान्तों से विद्वद्वर्ग को अवगत कराने और उनमें रामभक्ति का प्रचार करने के लिए इन्होंने उसका गंभीरतापूर्वक अनुशीलन किया था,

---

1—भजनरत्नावली पृ० १९० 2—एक लोक प्रचलित दोहा

ऐसा उनके भाष्यों की विषय सामग्री से विदित होता है। इस सम्बन्ध में स्वयं उनका कहना है।

श्रुतिस्मृतिप्रमाणं च युक्तार्थे दीयते मया।
येन दृढा रती रामे पंडितानां भविष्यति ॥[1]

उनकी अपनी भक्तिभावना का क्या स्वरूप था इसकी व्याख्या एक स्थल पर उन्होंने इस प्रकार की है—

राम एवास्त्युपायो मे स्वप्राप्तेर्न तत. परः।
साध्योपायश्च तद्भक्ति सिद्धोपायश्च स स्वयम् ॥
तत्कैंर्यस्य भोक्ताहं भोग्योऽहं तस्य वस्तुत.।
अभयस्तत्प्रपन्नत्वान्निर्भरस्तच्छरीरत ॥[2]

इनके लिखे ग्रन्थों की संख्या बीस के लगभग बताई जाती है और वे जानकीघाट (अयोध्या) में रामचरणदास जी की गद्दी में सुरक्षित कहे जाते हैं, किन्तु उनमें से अबतक केवल 'रामतापनीयोपनिषद' तथा रामस्तवराज भाष्य ही प्रकाश में आये हैं। इनसे उनके प्रकाण्ड पांडित्य का पता चलता है। हिन्दी में उनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है। अतएव उनकी कविता के उदाहरण रूप में संस्कृत के कुछ श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

रामं सर्वगुणोपेतं ज्ञेयं गम्यं गतिं गुरुम्।
द्विभुजं धनुषोपेतं जानकीरसिकं भजे ॥
जानकीं जगदीशानां ब्रह्मरुद्रादिसेविताम्।
चिद्रूपां द्विभुजां श्यामां भजेहं रामवल्लभाम् ॥[3]

परात्परतरं तत्त्वं सत्यानन्दं चिदात्मकम्।
ज्ञेयं ध्येयं गतिं गम्यं प्रपन्नानां परांगतिम् ॥
निरामये निराभासे ह्यद्वैते तमस. परे।
विमलाचारुशीलादिसखिभिर्नित्यसेविते ॥
नित्यं च सीतया सार्धं विभूतिद्वयविहारिणि।
भूषणैर्विविधैर्दिव्यैर्भूषिताङ्गमनोहरे ॥[4]

१, २—रामस्तवराज भाष्य, पृ० ३
३—श्री रामतापनीयोपनिषद् भाष्य, पृ० १
४—श्री रामस्तवराज भाष्य, पृ० १, ३

२८. जीवाराम 'युगल प्रिया'

जीवाराम महात्मा शंकरदास के पुत्र थे। पिता की इच्छा इन्हें पण्डित बनाने की थी। अतएव आरम्भ में इन्हें व्याकरण और ज्योतिष की शिक्षा दी गई।[1] किन्तु जीवाराम की प्रवृत्ति विरक्ति की ओर थी, अतएव छपरा जिले में खरोंद गाँव के निवासी मंसाराम नामक साधु से इन्होंने अष्टांगयोग और स्वरोदय की क्रिया सीखी। शंकरदास जी को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने इन्हें योगसाधना से विरत होकर भक्तिमार्ग का अवलम्बन लेने का उपदेश दिया। कुछ दिनों बाद चिरान आकर जीवाराम पिता के ही शिष्य हो गये। शंकरदास जी ने इन्हें अध्ययन करने के लिये अग्रदास जी की 'ध्यानमंजरी' मँगाकर दी और कहा कि 'इसके अध्ययन से तुम शीघ्र ही प्रभुकृपा के अधिकारी हो जाओगे।' इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्वयं दास्यभाव के उपासक होते हुए भी शंकरदास जी की शृंगारी भक्ति की ओर रुझान थी और पुत्र को वे उसी मार्ग पर ले जाना उचित समझते थे। जीवाराम को रामचरणदास की शरणागति लेने का आदेश देना इस अनुमान की पुष्टि करता है।

पिता की आज्ञानुसार जीवाराम अयोध्या आये और, रामचरणदास जी के स्थान, जानकी घाट पर गये।[2] रामचरणदास जी ने उन्हें शृंगार भक्ति का 'संबंध' दिया। जीवाराम ने कुछ दिन ठहर कर उसकी विधि सीखी। इसी बीच में उन्होंने रामचरणदास जी की मानस की टीका भी पढ़ी, जिसका उनपर बहुत प्रभाव पड़ा।[3] इसके बाद वे चिरान चले आये और पिता की कुटी पर रहने लगे। शंकरदास जी के देहावसान के अनन्तर टिकारी राज्य की सहायता से उन्होंने वहाँ एक मठिया बनवाई और गद्दी स्थापित की। बीच बीच में गुरु दर्शन एवं सत्संग के लिये वे अयोध्या बराबर जाया करते थे। जनश्रुति है कि पहले वे रामचरणदास जी के आश्रम–जानकी घाट पर ही ठहरते थे। किंतु एक दिन जब वे भोजन करके पंक्ति से उठे तो देखा कि रामचरणदास जी ने अपने नियम के अनुसार पंगत उठने के बाद संतों की सीथ प्रसादी के लिये जिस पत्तल की जूठन उठाई वह इन्हीं की थी। गुरु को अपना जूठा खाते देखकर युगलप्रिया जी को बड़ी ग्लानि हुई और तब से इस 'अपराध' से बचने के लिये वे अलग ठहरने लगे।

१–र० प्र० म०, पृ० २
२–वही, पृ० ३ ३–वही, पृ० ३

रसिक भक्तों के सिद्धान्तानुसार 'सखी' भाव के साधकों को 'युगल सरकार' की उपासना में अपने लिये कोई सेवा विशेष चुननी पड़ती है। युगलप्रिया जी ने अपनी सेवा मृदंग बजाकर प्रिया प्रियतम का मनोरंजन करने की चुनी थी। स्वभाव से ही उन्हें इसका बड़ा शौक था। इस कला में वे अपनी आचार्या, रसिक भक्तों की निष्ठानुसार, जानकी जी की प्रधान सखी और बहन, चन्द्रकला जी को मानते थे। कहा जाता है कि भावना में भी वे युगलसरकार के सम्मुख मृदंगसेवा किया करते थे। एक दिन तन्द्रावस्था में उन्होंने चन्द्रकला जी से अपने को मृदंग सीखते हुए पाया, साथ ही यह भी देखा कि उसी समय, वहाँ सर्वेश्वरी चारुशीला जी आगई। उन्हें आते देख चन्द्रकला जी ने उठकर स्वागत किया। चन्द्रकला जी बिना विधिवत् सम्बन्ध लिये और चारुशीला जी की अनुमति प्राप्त किये, युगलप्रिया जी को मृदंग की शिक्षा देने में सकोच करती थीं, कारण कि रामचरणदास जी के नाते युगलप्रिया चारुशीला जी की ही परिकर थीं। चारुशीला जी ने उसी समय चन्द्रकला जी को इन्हें अपने समाज में रखने की अनुमति दे दी और युगलप्रिया जी को उन्हें ही अपनी आचार्या मानने का आदेश दिया। जागने पर युगलप्रिया ने रामचरणदास जी से स्वप्न का सारा वृत्तांत कहा और उनसे चन्द्रकलापरत्व की अनुमति चाही। रामचरणदास जी ने इन्हें अपनी भावना के अनुकूल आचार्या निष्ठा की स्वीकृति दे दी।[1]

१—इस घटना का उल्लेख युगलप्रिया जी के 'श्रृङ्गाररसरहस्यदीपिका' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार मिलता है—

> बीन बजाई चन्द्रकला, चन्द्रवती जू गाय।
> कसी रसी गति मृदंग की, परम प्रणाली छाय॥

भली सखी कहि हलो सो भाई। भली भाँति ये मृदंग बजाई॥
कृपाधाम पुनी तव मूरति। युगलप्रिया बर रासय सूरति॥
सुनि मुसकाय बाँह गहि सिय जू। मस्तक सूँघि लगायो हिय जू॥
चारुशीला तेहि समय पधारीं। जेहि दिन कृपा करी सिय प्यारी॥
करि पहिचान प्रानसम जानो। चन्द्र कला तेरी ठकुरानी॥
है मम बहिनि रूप गुन खानो। जापर कृपा करी सिय रानी॥
निकट बुलाय कही यह बातें। मानी करुना सिंधु के नाते॥
है यह हमरो तुम्हरे गन में। यह प्रसङ्ग राखो निज मनमें॥

निम्बाचार्य रामसखे (पृ० ४४०)
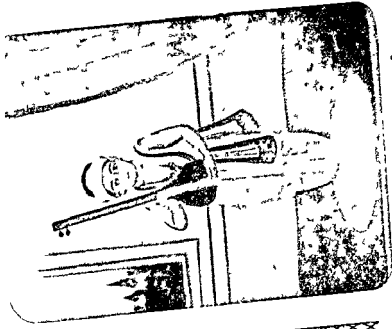
महात्मा राम प्रसाद विन्दुकाचार्य (पृ० ४१४)

युगलप्रिया की परम्परा में इसी घटना के आधार पर आज भी श्रीचन्द्र-कलापरत्व, उपासना का मुख्य आधार माना जाता है, किन्तु श्री रामचरणदास जी की परम्परा में श्री चारुशीला-परत्व की ही प्रतिष्ठा है। इस प्रकार रसिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत जीवाराम जी के समय से ही, उपर्युक्त घटना के अनुसार दो पृथक् पृथक् परम्पराओं में श्री चारुशीला जी और श्री चन्द्रकला जी को प्रधानता दी जाने लगी।

जीवाराम जी का सन्त परिवार सबसे अधिक फैला। इनके द्वारा ही अवध और बिहार मे रसिक उपासना का व्यापक प्रसार हुआ। जीवन भर रसिक साहित्य और माधुर्य भक्ति का प्रचार कर १८५७ ई० में चिरान (छपरा) में उनका साकेतवास हुआ।

महात्मा जीवाराम का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य रसिक सन्तों के वृत्त सग्रहीत कर 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' की रचना करना था। रसिक धारा का यह एक अत्यन्त उपयोगी इतिहास ग्रन्थ है।

'रसिकप्रकाश भक्तमाल' के अतिरिक्त युगलप्रिया जी की तीन रचनायें मिलती हैं। १—पदावली, २—शृङ्गाररसरहस्य, ३—अष्टयामवार्तिक।

ये सभी साम्प्रदायिक विषयों से ही सम्बन्ध रखती हैं तो भी उनमें काव्यतत्त्व पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के छप्पयों में इति-वृत्तात्मक प्रसगों के बीच वैसी ही सरस पदयोजना हुई है, जैसी नाभादास के छप्पयों में मिलती है। भाषा सरस और मँजी हुई है। भोजपुरी प्रदेश के निवासी होते हुए भी इन्होंने जैसी स्वच्छ और परिमार्जित अवधी का प्रयोग किया है, वैसी भाषा का दर्शन बहुत कम अवधेतर प्रदेशवासियों की रचनाओं में होता है।

इनकी रचनाओं के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

मधुराचारज मधुर सुरस शृंगार उपासी।
रंग महल रस केलि कुंज मानसी खवासी॥
निमि कुल जन्म उदार सुखद सम्बन्ध प्रतापी।
पैहारी रसिकेन्द्र कृपा माधुर्य अलापी॥

यह प्रसङ्ग निज रूप की, सुनहु रसिक जन राय।
भजन रीति अनुभव कही, कहो जथारथ गाय॥
जो प्रसङ्ग यह गाइहैं, ते पइहैं निज रूप।
रसिक गुरुन की कृपा से, बहुरि नहीं भवकूप॥
—शृंगाररसरहस्य दीपिका, पत्र १

द्वादश वार्षिक रासरस, लीला करि बहु सुख दिये।
विपुल ग्रंथ रचि रसिकता, राम रास पद्धति किये ॥[1]

जय श्री चन्द्रकला अलबेली।
अति सुकुमारि रूप गुन आगरि नागरि गर्व गहेली ॥
निमि कुल प्रगटि संग सिय प्यारी प्रियकारी रसकेली।
चन्द्रप्रभा जी के सुकृत कल्पतरु उलही लता नवेली ॥
कंचन वन कमला प्रमोद वन लीला लहरी मेली।
मोहन जंत्र बीन स्वर टेरति प्रतिमा चित्त लिखेली ॥
'युगल प्रिया' अनुराग सदा सम्बन्ध राग की हेली ॥[2]

२९. श्री जनकराजकिशोरीशरण 'रसिकअली'

ये महात्मा राजराघवदास के दीक्षित एवं रसिकाचार्य रामचरणदास जी के साधक शिष्य थे। 'सिद्धान्त मुक्तावली'[3] के रचनाकाल के अनुसार इनका समय १८१८ ई० के आस पास ठहरता है। इनका जन्म काठियावाड़ में सुदामापुरी के पास, नागर ब्राह्मण वंश में हुआ था। लड़कपन में ही किसी साधु के साथ ये अयोध्या चले आये थे। सुना जाता है कि अयोध्या आने पर ये सर्वप्रथम कनकभवन का दर्शन करने गये। वहाँ बैठे-बैठे नींद आ गई। स्वप्न में देखा कि भगवान दिव्य परिकरों के साथ विहार कर रहे हैं। जागने के बाद इस घटना का स्मरण कर ये रोने लगे। इसी समय वहाँ महात्मा राज राघवदास भी दर्शन करने आये। बाल्यावस्था में ही इनकी ऐसी भक्ति देखकर ये प्रभावित हुए और इन्हें अपने साथ आश्रम को लेते गये। कुछ समय बीतने पर इन्हें दीक्षा देकर शिष्य बना लिया। महात्मा राजराघवदास की कृपा से ये थोड़े ही समय में संस्कृत और भाषा के पूर्ण पण्डित हो गये। कुछ समय होने पर गुरु से इन्होंने रूप के ध्यान की जिज्ञासा प्रकट की। श्री राज राघवदास मिथिला के दास्यभाव के उपासक अर्थात् मधुरदास थे। उन्होंने अपने सिद्धान्तानुकूल युगलस्वरूप के ध्यान का उपदेश दिया। इसका कुछ समय तक अभ्यास करने के बाद रसिकअली जी ने पुनः गुरु से निवेदन किया कि 'दास्य में जो पुरुष का भाव है, वह 'भावना' के समय ठहरता नहीं। न जाने क्यों सखी भाव उत्पन्न हो जाता है।' राजराघवदास जी ने उन्हें कनक-

१–रसिक प्रकाश भक्तमाल, पृ० ३१
२–खोजरिपोर्ट, १९१७–१९१९, पृ० २०७
३–सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० ५२

सिन्धु (रामचरणदास) जी के पास शृंगारी सम्बन्ध लेने के लिये भेजा। उसी दिन सन्ध्या को पिता के द्वारा भेजे हुए चिरान से श्री जीवाराम जी भी रससम्बन्ध लेने की इच्छा से जानकी घाट पर आये। रामचरणदास जी ने दोनों शिष्यों को एक साथ ही माधुर्य भक्ति की दीक्षा दी।

रसिकअली ने रामचरणदास जी से रससम्बन्ध लेते हुए भी उनसे अपने तिलक से भिन्न किसी अन्य तिलक का उपदेश करने की प्रार्थना की। सद्गुरु ने उन्हें अर्धचन्द्र सहित बिन्दु धारण करने का उपदेश दिया। रसिकअली इसके अनन्तर रससाधना में दृढतापूर्वक प्रवृत्त हुए और अष्टयाम तथा नित्यभावना में मग्न रहने लगे। युगलविहारलीला का ध्यान करते हुए उनका मन दिव्य कनकभवन की भावना में विशेष रूप से रमता था। रामचरणदास जी की प्रेरणा से इसी समय टिकारी के राजा इनके शिष्य हुए। रसिकअली ने उन्हें दिव्य कनक भवन के स्वरूप का उपदेश दिया। उससे राजा साहब की इच्छा माधुर्यभावना के अनुसार नवरत्नों और अष्टकुंजों सहित कनकभवन का निर्माण कराने की हुई। रसिक अली जी की भी यही अभिलाषा थी। राजा ने दस हजार रुपये कनकभवन के निर्माण के लिए दिये। रसिकअली ने बड़े समारोह के साथ कार्य आरम्भ कराया। युगलसरकार के माधुर्य केलि-सदन का निर्माण कराना था, अतएव उन्होंने उसके सब साज सामान मधुर ही रखे। मजदूरों तथा राजगीरों को नये पीतवस्त्र पहना कर काम कराना, उनके शरीर में इत्यादि सुगन्धित द्रव्यों का लेपन, दिन में कई बार मधुर आहार (मिठाई पूड़ी आदि), औजारों में, कारीगरों और मजदूरों के हाथ में घुँघरू बाँधना, काम होते समय मधुर बाजे बजते रहना, जितने लोग देखने आते उन्हें मधुर प्रसाद देना और कारीगरों को मुँह मांगी मजदूरी देना—इन आयोजनों से आधे से अधिक रुपया नींव में ही समाप्त हो गया। इन्हीं दिनों रामविवाह का अवसर आ गया। सतों की प्रेरणा से उसी रुपये में से रसिकअली जी ने बड़े धूम धाम से विवाह लीला की और संतों को भंडारा दिया। जो शेष बचा उससे कुछ महीनों तक काम चला। बड़ी मुश्किल से दस हजार रुपए में अष्टकुंजों में एक कुंज का केवल एक द्वार बन पाया। दर्शकों और साधुओं ने इनकी बड़ी खिल्ली उड़ाई। रामराघवदास जी भी इनके इस अनुभवहीन कृत्य से अप्रसन्न हो गये। उनके यह प्रश्न करने पर कि इतना धन इस प्रकार बरबाद करने से तुम्हें क्या मिला, रसिकअली ने उत्तर दिया 'संत सुखी हुए और भक्ति का प्रचार हुआ।' राजा साहब भी धन के इस अपव्यय को देखकर खिन्न हुए। रुपया देकर कार्य को आगे बढ़ाने का साहस वे न कर सके।

अर्थाभाव के कारण रसिकअली जी काम को अधूरा छोड़ने पर विवश हो गये। इस घटना से उन्हें बड़ा कष्ट हुआ, वे चिन्तामग्न रहने लगे। अपने मन को संतोष उन्होंने यह कहकर दिया कि 'प्रियतम कनकभवन की दिव्य लीला का रहस्य पापात्माओं के समक्ष खोलना नहीं चाहते थे, इसीलिए कार्य पूरा न हुआ' किन्तु यह सान्त्वना क्षणिक थी। इस घटना के बाद अयोध्या से उनका मन उचट गया और वे पर्यटन को निकल पड़े। घूमते घामते जालौन पहुँचे। वहाँ एक निर्जनस्थान में बारह वर्ष तक रहकर रसिक साधना करते हुये वे भक्ति का प्रचार करते रहे। यहाँ उनके हजारों शिष्य हो गये जिनमें प्रमुख थे—लाडलीलालशरण, जो पहले आचारी वैष्णव थे, शास्त्रार्थ में पराजित होकर उन्होंने रसिकअली जी का शिष्यत्व ग्रहण किया था। उन्हें साथ लेकर बारह वर्ष के बाद रसिकअली जी पुनः अयोध्या आये। कुछ दिन यहाँ ठहरकर मिथिला गये और फिर आजन्म वहीं रहे। रसिकअली जी ने मार्गशीर्ष पूर्णिमा सं० १९०९ को 'परधाम' यात्रा की।[१]

रामचरणदास की ही तरह रसिकअली भी रसिक सिद्धान्त के प्रचारक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं।[२] मौलिकता और विचारस्वतंत्रता

१— संवत रस नभ अंक ससि, अगहन सिततिथि पूर।
उसनवार पुनि रोहिनी, सिद्ध जोग भरिपूर॥
रास समय निसिअर्ध में, तन तजि चलि परधाम।
जनक राज किसोरि इति, सरन सहित सुभ नाम॥
तहँ निज परिकर सों मिली, पुनि सर्वेश्वरि जाय।
तिन्हयुत उत्सव हर्षयुत, सिय सियवर उरलाय॥
आनँद धुनि जयशब्द युत, बाजत धुनि बहुछाय।
रास राम मय ह्वै रह्यो, सब परिकर सुखपाय॥
—दोहावली की पुष्पिका

२— सब रसिकन सुख देन, भलो सिद्धान्त विचारो।
महल अटारी कुञ्जी, नैन प्रत्यक्ष निहारो॥
रची उपाय अनेक, यथामति ताहि सुधारी।
कहुँ मिथिला कहु अवध, महल कुंजन के चारी॥
रस राज कथा बहु ग्रन्थ रचि, जिज्ञासु दृढ़ करन की।
सब भाँति भलाई प्रिय कथा, जनक किशोरी सरन की॥
—रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० ६१

उनकी रसभावना की मुख्य विशेषता थी, इसका प्रमाण उनके द्वारा रसिकों की परम्परागत तत्सुखी सिद्धान्त के विपरीत स्वसुखी शाखा का प्रवर्तित होना है। इन्हीं विशेषताओं के कारण अपने समय के प्रधान रसाचार्यों में उनकी गणना होती थी।[1]

रसिकअली की रचनाओं से जिज्ञासु रसिक साधकों को ही तृप्ति नहीं होती, अपितु साहित्यरसिकों के लिये भी उसमें पर्याप्त रस की योजना मिलती है। संस्कृत, ब्रज तथा अवधी तीनों भाषाओं में उन्होंने काव्यरचना की है। उनके बनाये ग्रन्थों की संख्या २४ है। जिनकी सूची इस प्रकार है—

१. सिद्धान्तमुक्तावली	१३. आत्मसम्बन्धदर्पण
२ सीताराम सिद्धान्त अनन्यतरंगिनी	१४. होलिकाविनोद
३. आंदोलरहस्य दीपिका	१५ वेदान्तसार श्रुतिदीपिका
४. तुलसीदास चरित्र	१६. श्रुतिदीपिका
५. विवेकसारचन्द्रिका	१७ श्रीरामरासदीपिका
६. सिद्धान्तचौतीसा	१८. दोहावली
७ बारहखड़ी	१९. रघुवरकर्णाभरण
८. ललितशृङ्गारदीपक	२०. मिथिलाविलास
९. कवितावली	२१. अष्टयामप्रबन्धपद
१०. जानकीकर्णाभरण	२२. वर्षोत्सवपदावली
११. श्रीसीतारामअनन्यतरंगिनी	२३ जिज्ञासापंचक
१२. श्रीसीतारामरहस्यतरंगिनी	२४. अमररामायण

इनकी रचना के नमूने नीचे दिये जाते हैं—

प्रीतम प्रियामुखसलिलश्रमकन पोंछि हित सुख लेत।
जनु नागराज सुइंदु अरचत सुधा साधन हेत॥
जब लाडिली कटि लचकि मचकनि झुकति पिय की ओर।
तब जात बलि बलि लाड़लौ गति होत चंद चकोर॥
जब परस बाल उरोज अञ्चल उड़त सिय सकुचाय।
पुनि हेरि पिय तन नमित चख रहि रसन बसन दबाय॥
लखि हाव पिय कर भाव सरसत चाव चित उमगात।
सो निरखि दंपति सुख सरस अलि मुदित उमँगी गात॥[2]

१–स० र० प्र० म०, पृ० ६१ २–आंदोलरहस्य दीपिका, पृ० ८

यथा रूप निज भाव करि, करैं मानसी सेव।
प्राप्तिहु में तस पावहीं, रसिक जान यह भेद॥
दास दासि अरु सखि सखा, इनमें निज रुचि एक।
नातो करि सियराम सों, सचै भाव विवेक॥
होरी रास हिंडोलना, महलन अरू सिकार।
इन्ह लीलन की भावना, कर निज भावनुसार॥[1]

राघव रंगभरी अखियाँ अवलोकनि रंगहि में जनु बोरी।
रंगभरी मुसक्यानि मनोहर भान बिरी मुख रंगरच्योरी॥
रंग भरे मुख बैन कहै गज चाल चलै रँगराचि रह्योरी।
अंगहि के रँग भीजि रहीं हम नाहक डारत हौं रँगरोरी॥[2]

३०. लक्ष्मीनारायणदास पौहारी

पौहारी जी का आविर्भाव देवरिया जिले में राप्ती नदी के तट पर स्थित महेन नामक गाँव में हुआ था।[3] इनके पिता का नाम पं० शिवराम पाँडे था। घर के पास 'महेन्द्र नाथ' महादेव का मंदिर था, बाल्यावस्था से ही इनकी उस स्थान में श्रद्धा हो गई। प्रायः दिन भर वहीं शिवनाम का जप करते रहते थे। वयस्क होने पर पिता ने इनका विवाह कर दिया, किंतु इनकी वृत्ति पूर्ववत् विरागोन्मुख रही। एकबार चन्द्रग्रहण के अवसर पर ये अयोध्या गये। वहाँ किसी महात्मा की प्रेरणा से इनके मन में तीव्र रामभक्ति उत्पन्न हो गई और तब से घर लौटने पर भी ये रामनाम जप में लीन रहने लगे। शनैः शनैः इनकी विरक्ति-भावना उद्दीप्त होती गई। स्त्री, माता, पिता सभी से विदा लेकर ये 'महेन्द्र नाथ' के मंदिर में ही स्थायी रूप से निवास करते हुए भजन करने लगे। कहा जाता है इस प्रकार इनके रहते हुए थोड़े ही दिन बीते थे कि एक हाथी कहीं से आया, उसने इन्हें सूँड़ से अपने कंधे पर चढ़ा लिया। इसके बाद वह पहले इन्हें पैकौली ले गया, उसके पश्चात् बैकुंठपुर और बड़हलगंज से होता हुआ इन्हें पुनः पैकौली लाकर उतार दिया और वह मृत हो गया। इस परंपरा के रामभक्तों का विश्वास है कि हाथी रूप में स्वयं श्रीकृष्णदास जी पयहारी पधारे थे। इस घटना के आधार पर आज भी उक्त तीनों स्थान पूज्य माने जाते हैं और वहाँ इस शाखा की गद्दियाँ स्थापित हैं।

१–सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० २२
२–होलिकाविनोद दीपिका, पृ० १२
३–श्रीपौहारीजीवनचरित्र, पृ० ११

महात्मा लक्ष्मी नारायण दास पौहारी
(पृ० ४४६)

पं० उमापति त्रिपाठी
(पृ० ४५५)

इसके पश्चात् लक्ष्मीनारायण जी गुरुदीक्षा के लिये अयोध्या गये। वहाँ बड़ास्थान के तत्कालीन अधिकारी महात्मा अवधप्रसाद से दीक्षा ग्रहण की।[१] अयोध्या से लौटकर पैकोली के समीपस्थ कुर्ना नदी के किनारे 'ठकुरही' के वन्य प्रदेश में इन्होंने कुछ काल तपयोग करते हुए बिताया। वहाँ से स० १८६० में पैकोली आये और यहाँ एक बरगद के वृक्ष के नीचे कुटी बनाकर रहने लगे। स० १८७७ में सतों की जमात सहित इन्होंने चित्रकूट की यात्रा की। जानकी कुंड, कामदगिरि आदि स्थानों का दर्शन कर पुन. पैकोली लौट आये।

इसके अनन्तर उनका समस्त जीवन भजन और पर्यटन में बीता। अपनी तीनों गद्दियों मे व्रतोत्सवों के मनाने की इन्होंने एक नई परिपाटी चलाई। पैकोली में रामजन्म और कृष्णाष्टमी, बड़हलगंज में रथयात्रा और बैकुंठपुर म रामविवाह का उत्सव बड़े धूमधाम से मनाया जाता था। उनकी यह परम्परा अब तक अक्षुण्ण रूप से चली आती है। लक्ष्मीनारायणदास का 'पौहारी' नाम पड़ने का कारण अन्नत्यागकर सदैव उनका फलाहार वृत्ति से जीवन यापन करना था। इस गद्दी के अधिकारी, पूर्वाचार्यों की भाँति आज भी विरक्तिभावना पूर्वक कालक्षेप करते हैं।

पौहारी जी का साकेतवास, आषाढ शुक्ल तृतीया, चन्द्रवार स० १९०२ में हुआ।

इनकी लिखी केवल एक पुस्तक 'श्री भक्तिप्रकाशिका' (हस्तलिखित) प्राप्त हुई है। उदाहरण के रूप में उससे कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

अवर बराती सो बने, श्री हरि नाम उदार।
दुलह दुलहिनि सो लसै, नाथ रकार मकार॥
करमन रेखा मेटि है, सीताराम दयाल।
जैसे सोधा धातुको, भरी आयु टुटिजाय॥[२]

प्रश्न— कहाँ भूमि को जीव है, कहाँ स्वर्ग को देह।
कहाँ पवन को वेग है, कहाँ अग्निको गेह॥

१—सतगुर हौ मैं अधम भिखारी।
काम क्रोध मोहिं अधिक सतावत लोभ मोह अति भारी॥
ताते अरज कियो सरणागत सुनि लीजै असुरारी।
अवध प्रसाद अवध के वासी देखो नयन पसारी॥
लक्ष्मीनारायण दास तुम्हारो आरत वचन उचारी॥
—श्रीभक्ति प्रकाशिका, पत्र ९

२—श्री भक्तिप्रकाशिका पत्र, ५

उत्तर— गंध भूमि को जीव है, नीर स्वर्ग को देह।
शून्य पवन को वेग है, दारु अग्नि को गेह॥
प्रश्न— कहा भक्ति को आदि है, कहा ज्ञान को अन्त।
बीच बीच का होत है, काहकरत निव संत॥
उत्तर— सहजभक्ति का आदि है, ब्रह्म ज्ञान का अन्त।
बीच बीच सतसंग है, निमलकरत मति संत॥[1]

हौं मैं हरि चरणन की दासी॥
जा दिन तैं हरिशरणन्हि आए मेटलि सकल उदासी।
गुरु की सेवा साधु की संगति मीलिगए अविनाशी॥
तब ते काम क्रोध भय छूटल होइ गए सुखरासी।
ज्ञान विराग योग बहु बाढत भक्तिभई हिय बासी॥
होइ अनुराग परम पद पावत भए अवध के वासी।
तब ते लोभ भए वोहि नृप के जानेव निज पुरवासी॥
प्रभु कर कमल शीस पर परसत यम सुख लागत नासी।
अस सयोग पूर करि रघुपति सिया लपन संग वासी॥
'लक्ष्मी नारायण' दासि तुम्हारी छूटि गई जग लासी।[2]

काम कहै हमरो कहवावहु क्रोध कहै हमरो कह भाई।
लोभ कहै हम मोल लियो तहँवा रघुनाथ को दीन दोहाई॥
सूनि लियो महराज धनी हनुमान वली वहँ दीन पठाई।
लातन मारिके काँढ़ि दियो अपने जन जानि के लीन्ह छोड़ाई॥[3]

२१. प्रतापकुँवरि बाई

ये जोधपुर के जाखण परगने के निवासी गोयन्ददास रखलोत की पुत्री और मारवाड़ के महाराज मानसिंह की तीसरी रानी थीं। बाल्यावस्था में पूर्णदास नामक किसी रामानुजीय वैष्णव महात्मा के सम्पर्क से इनके हृदय में भक्ति के अंकुर प्रस्फुटित हुए। सत्संग और भक्तिकाव्य के अनुशीलन से इनकी आध्यात्मिक भावना उत्तरोत्तर दृढ होती गई और पूर्णदास जी से इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। दैवयोग से सं० १९०० (१८४३ ई०) में पति का अकस्मात

१–श्री भक्ति प्रकाशिका, पत्र, २०
२– वही, पत्र, १५ ३–वही, पत्र, २२

देहान्त हो गया। इस घटना से इनके हृदय पर गहरी ठेस लगी। इनका कथन है—

> पति वियोग दुख भयो अपारा। हुआ सकल सूना संसारा।
> कछु न सोहाय नैन बहे नीरा। पति बिन कौन बँधावैं धीरा॥
> यह दुख करत भये दिण केते। जानत सकल हूँठ सुख जेते।
> देख देख सुत आज्ञा कारी। कछु इक दुख की बात बिसारी॥

इसके पश्चात् इनका सारा जीवन सत्सङ्ग, अध्ययन, काव्यरचना और लोकोपकारी कार्यों में बीता। जयपुर में अपने श्रद्धास्पद महात्मा दामोदरदास के लिये इन्होंने 'रामद्वार' नामक एक विशाल मन्दिर बनवाया।

प्रतापकुँवरि की रचनाओं से विदित होता है कि राम के निर्गुण रूप की ओर भी इनका झुकाव था और उसकी लीला के वर्णन में ये रुचि लेती थीं।

इनकी लिखी १९ पुस्तकें बताई जाती हैं, जिनमें अब तक निम्नांकित दस का पता चल चुका है।

१. रामचन्द्र महिमा
२. रामगुणसागर
३. रघुवरस्नेहलीला
४. रामसुजस-पचीसी
५. राम प्रेम-सुखसागर पत्रिका
६. रघुनाथ जी के कवित्त
७. भजनपद-हर-जस
८. प्रताप-विनय
९. श्रीरामचन्द्रविजय
१०. हरजस-गायन

इनकी रचना के नमूने नीचे दिए जाते हैं :—

> मणि जटित खंभ सुंदर केवार। देहली रची विद्रुम सुधार।
> मोतिन पर मानिक लगे लाल। चित्राम मनो फल बेलि जाल॥
> चहुँ दिसा विराजत विविध बाग। ता माँहि कल्पतरु रहे लाग।[1]
> ऊँचो सिंहासन अति अनूप। ता बीच विराजत ब्रह्म रूप॥
> घट घट प्रति व्यापक एक गोत। पट तंतु जथा मिलि ओत प्रोत॥
> इक आदि पुरुष अजघड़ अलेख। नहिं लहत पार सारदा शेष॥
> आधार सरब रह निराधार। नहिं आदि अन्त कहिं आरपार॥
> पर तीन अवस्था गुणातीत। धर सगुण रूप निज भक्त प्रीत॥
> गौ विप्र साधु पालक कृपालु। देवाधिदेव दाता दयालु॥[2]

१—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृ० ११८

२— वही, पृ० ११९

होरिया रंग खेलन आओ।
इला पिंगला सुषमणि नारी ता संग खेल खिलाओ।
सुरत पिचकारी चलाओ ॥
काचो रंग जगत को छाड़ो साँचो रंग लगाओ।
बाहर भूल कबों मत जाओ काया नगर बसाओ ॥[1]

३२. काष्ठजिह्वास्वामी 'देव'

स्वामी जी सन्यासी होते हुए भी सगुण रामोपासक थे। ये काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के गुरु थे।[2] कहा जाता है कि एक बार गुरु से इनका किसी बात पर विवाद हो गया। इस घटना के पीछे गुरु अवज्ञा का इन्हें इतना पश्चात्ताप हुआ कि आजन्म मौन रहने का व्रत ले लिया और जिस इन्द्रिय (जिह्वा) के द्वारा ऐसे 'पाप' में इन्हें प्रवृत्त होना पड़ा था उस पर काठ की एक खोल चढ़ा ली।[3] काष्ठजिह्वास्वामी नाम इनका इसी लिये पड़ा। पहले ये काशी में रहते थे, किन्तु बाद में काशीनरेश के आग्रह पर रामनगर चले गये और वहीं इन्होंने काव्यरचना, सत्संग और साधना में जीवनयापन किया। इनकी 'पदावली' नामक रचना का निर्माणकाल सं० १८९७ (१८४० ई०) है। अतः यही इनका समय माना जा सकता है। महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह का शासनकाल १८३५ ई० से १८८२ ई० तक था। इससे भी उक्त स्थापना की संगति बैठती है।

काष्ठजिह्वास्वामी रसिक रामभक्तों की श्रेणी में आते हैं। 'रसिकप्रकाश भक्त माल' में इन्हें उच्चकोटि के शृंगारी भक्तों में स्थान दिया गया है।[4] स्वामी जी के निम्नलिखित छन्द से उनकी उपासना-पद्धति का मर्म खुलता है—

सिय जू की टहल में नित रहिहौं।
सतगुर जस कछु राह बताई वाही रहनि से ये अहिहौं ॥
काम क्रोध को मीत बनैहौं काहू ते कबहुँ न कछु चहिहौं।
वाद विवाद नहीं काहू से सब मत एकै कर गहिहौं ॥
सियपद में या चचल मन को प्रेम रजू से धरि नहिहौं।
इष्ट देवता श्रीसिया जू की पद-रज सन्तन से लहिहौं ॥[5]

१–म० हि० क०, पृ० २३०
२–शिवसिंह सरोज, पृ० ४३४
३–मिश्रबन्धु विनोद, पृ० १०८८
४–रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० १२४
५–जानकीबिन्दु, पद ६६

किंतु उनकी यह रसिकोपासना सखीभाव से न होकर दास्यभाव से थी। चाहें तो उसे मधुर दास्यभाव कह सकते हैं।[1]

वैराग्यप्रदीप के अंत में 'देव' स्वामी ने प्रसिद्ध सख्यरसाचार्य रामसखे जी की वंदना की है। इससे भी प्रकट होता है कि वे रसिकपद्धति के साधक थे।[2]

स्वामी जी ने अयोध्या मिथिला चित्रकूट इन तीन तीर्थों की यात्रा भी की थी। उनके एक छंद से ऐसी ध्वनि निकलती है कि मिथिला में वास ही नहीं, वहाँ के शृङ्गारी संतों का उन्होंने कुछ दिन सत्संग भी किया था।[3]

हिंदी भाषा के प्रौढ कवि होने के अतिरिक्त स्वामी जी संस्कृत के भी प्रकाण्ड पंडित थे। उनकी भाषा में भोजपुरी, खड़ी बोली और अवधी की खिचडी से एक अपूर्व मिठास आ गई है, जो इस काल के कुछ ही भक्तों की वाणी में मिलती है। अबतक उनकी निम्नलिखित कृतियों का पता चला है—

१. रामायण परिचर्या	९. जानकीबिन्दु
२. विनयामृत	१०. पंचक्रोशमहिमा
३. पदावली	११. मधुराबिन्दु
४. रामलगन	१२. रामरंग
५. वैराग्यप्रदीप	१३. श्यामरंग
६. अयोध्याबिन्दु	१४. श्यामसुधा
७. अश्विनीकुमारबिन्दु	१५. उदासीसत स्तोत्र।
८. गया बिन्दु	

१—चरण शरण में आई सिय जू को खबर करो।
दास भाव तन मन में छायो गुरु अस राह बताई॥
—वैराग्य प्रदीप, पृ० ८५

२—माध्व वंश भूषण करन, निम्बाचार्य कृपाल।
राम सखे पद वंदि करि, को नाहिं होत निहाल॥
—वैराग्य प्रदीप, पृ० १४०

३—तिन संतन की बलिहारी जे सिया जू के नगर बसत।
छोटी कुटिन में सिया राम की जोरी रुचिर पधारी॥
रात दिवस परिचरत प्रेम से बारहिं बार निहारी।
नाचत गावत परम हरष से बैठि बजावति तारी॥
आन 'देव' इन के अङ्गन में देखत भरम बिचारी।
—जनकपुर की झाँकी, पृ० २०

उनकी रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

कबहुँ न जियरा थिराइल रामा पल एको,
पाँचन के जालन में भरमि के माछी अस अरझाइल रामा।
कौन करार रहल साईं से कौनी भीर भिराइल रामा।
कहत कहत नाकन दम आइल बहुतै नाथ पिराइल रामा।
मैं तो 'देव' शरण में आयो ज्यपि जनम सिराइल रामा ॥[1]

बसो यहि सिय रघुबर को ध्यान।
श्यामल गौर किशोर वयस दोउ जे जानहु की जान ॥
लटकत लट लहरत श्रुति कुण्डल गहनन की झमकान।
आपुस में हँसि हँसि कै दोऊ खात खियावत पान ॥
यह वसंत रितु मह मह महकत लहरत लता वितान।
विहरत दोउ तेहि सुमन बाग में अलि कोकिल कर गान ॥
ओहि रहस्य सुख रस को कैसे जानि सकै अज्ञान।
'देव'हु की जहँ मति पहुँचत नहि थकि गये वेद पुरान ॥[2]

जगत में तीन मतवाले।
हाल मस्त कोई माल मस्त हैं, जहरी चश्म के कोई घाले ॥
चश्म देवाना दरन्दर घूमे, मालमस्त धन के पाले।
हाल मस्त कोई राम देवाना, जिसकी जीभ पड़े छाले ॥[3]

३३. पतितदास

ये गोंडा जिले में, टेढी नदी के किनारे, गिरधरपुर नामक गाँव के निवासी ब्राह्मण थे। अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर ये किसी 'ब्राह्मणी' को संबोधन कर उपदेश देते देखे जाते हैं। संभव है, वह उनकी स्त्री ही रही हो। अपने जीवनवृत्तविषयक जो छंद उन्होंने यत्र तत्र स्वरचित ग्रंथों में रखे हैं[4] व उनके गृहस्थ होने की सूचना देते हैं। स्थानीय जनश्रुति भी उनके विवाहित होने की पुष्टि करती है।

१—वैराग्य प्रदीप, पृ० ७७ २—वही, पृ० ७० ३—वही, पृ० १२१

४—द्र॰ ब्राह्मनियाँ क्या कीन्हें फकहार।

यज्ञ व्रत दान भजन ना हरि के, ना मन से तजेउ विकार।
छल बल काम क्रोध बिन छोड़े, के चाहो सुख यहै विकार॥

कभी कभी आर्थिक कष्ट से पीड़ित होने पर ये उसे, संतोष धारण करने और भगवान की असीम कृपापर विश्वास रखने की शिक्षा दिया करते थे।[1]

जान पड़ता है गाँव के लोग इन्हें तंग किया करते थे। उससे व्यथित होकर इन्होंने अपने उद्गार अनेक स्थलों पर प्रकट किये हैं[2] तथा अपने विरोधियों में 'किसुनदत्त पंडित' और कुबेर इन दो व्यक्तियों के नामों का उल्लेख किया है।[3]

कुछ दिन गृहस्थी भोगने के बाद इनकी इच्छा तीर्थाटन की हुई। कई वर्षों तक देश के प्रमुख तीर्थों का पर्यटन करके ये फिर गिरधरपुर लौट आये और स्थायी रूप से वहीं रहने लगे। इन्होंने घर पर ही रामनाम की साधना आरंभ की। छः मास के भीतर गोस्वामी जगदीश नामक एक महात्मा गिरधरपुर आये, उनके दर्शन और सत्संग से इनकी समस्त शंकायें निवृत्त हो गईं। इसके अनन्तर वे अयोध्या गये और वहाँ महात्मा मनीराम के शिष्य हो गये। उनका गुरु रूप में वे बारबार स्मरण करते हैं—

माधुरी मूरति निसुदिन निरखो, अब न कै कछु और बहाना।
मनीराम गुरु नेति सिखायहु, दासपतित के भरे खजाना॥[4]

पतितदास जी ने अपनी कृतियों में तत्कालीन राजनीतिक, साम्प्रदायिक, सामाजिक और धार्मिक स्थितियों पर भी यत्रतत्र विचार प्रकट किये हैं।

इतमें भये न उतमें दुविधा, पाप न बाँधे मोट पहार।
दास पतित की कही जो मानो, सब तजु भजु करतार॥
—भजनसर्वसंग्रह, पृ० ९८

१—काहेक झखसि बँभनियाँ।
सीधा घटी अवध से आई पकट्ट भरे दुकनियाँ।
कपड़ा घटी मगहर से आई तनै कबीरा तनियाँ॥
—फुटकर पद

२—गिरधरपुर कस होय गुजार।
टेढ़ी टेढ़ि गिरधर पुर टेढ़ो, घर घर छाय रहे अपकार॥
है देस बुरो परोस अधरमी, हित पर निंदा झूँठ लबार॥
विप्र कहावत करम कसाई, ऐसो हैं अधम गँवार॥
दुष्ट नगर दुष्टन को वास, कीन्हे भेष हैं मानहुँ चार॥
'दासपतित' पति रहै तहाँ कस, बिना कृपा कीन्हे करतार॥
—भजनसर्वसंग्रह, पृ० ८८

३—भजनसर्वसंग्रह, पृ० १२९ ४— वही, पृ० १७०

१८५७ का गदर इनके सामने हुआ था। उसके भीषण मानवसंहार का वर्णन करते हुए इन्होंने सवापाँचलाख मनुष्यों के मारे जाने का उल्लेख किया है। इससे इनके समय का निश्चयात्मक बोध हो जाता है।

अब तक इनकी तीन रचनाओं, १—गुरुगीता, २—पतितपदावली और ३—भजनसर्वसंग्रह का पता लगा है। इनमें जो छंद मिलते हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि उपासक तो ये श्री रामचन्द्र के सगुण रूप के थे किन्तु भावाभिव्यंजन के लिये इन्हें निर्गुणशैली ही अधिक पसंद थी। इनकी भाषा में अवधी के साथ कहीं-कहीं भोजपुरी के भी शब्द मिलते हैं जिसका कारण संभवतः तीर्थाटन के समय भोजपुरीप्रदेश में इनका कुछ दिन निवास करना था।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

राघो जी आज आँगन मोर आये।
ऋषिमुनि देवा सकल संपदा संग मे अधिक लवाये॥
होत विहार हरप सुरनाना फूलन की वृष्टि कराये।
धाय परिहँ शिर चरनन दै कै करगहि सों वरलाये॥
भुक्ति मुक्ति शुभ खिल्लति दीन्हेउ वरदे दृढ बैठाये।
'दास पतित' प्रभु नाम भरोसे ना अब यमहिं डेराये॥[1]
गले दै बाहीं खड़े रघुवीर।
कानन कुंडल लालन कलँगी बाँयें हीरा औ पट चीर॥
भूषण वसन कहाँ लै बरणौं कमर कटारा धनुतीर।
घर घर आनन्द बधाव कुलाहल चिंता सोच दूरि भै भीर॥
निरखि निरखि सिया राम लषण छबि दरवानो हनुमत वीर।
'दासपतित' प्रभु चरण न छूटै माफ करो तकसीर॥[2]
सइयाँ मोरे आये अवधपुर हमरो सुधि बिसराई।
आपु अवध के वासी भइलो हौ मैं भई चेरी पराई॥
जाहु सखी सजन जनौली हो कैसे मोरी सुरति हटाई।
जब लगि आवई न पीतम हो तब लै ना सिंगार सुहाई॥
'दासपतित' सखी कब पौली हो राखहु मोर छाटाई॥[3]

१—भजनसर्वसंग्रह, पृ० १७५
२— वही, पृ० १९९
३— वही, पृ० ४०

३४. पं० उमापति त्रिपाठी 'कोविद'

इनका जन्म देवरिया जिले के पिण्डी नामक ग्राम मे आश्विन कृष्ण ९ बुधवार सं० १८५१ (१७९४ ई०) को हुआ था। पिता का नाम पं० शकरपति त्रिपाठी था। आरम्भ में घर पर थोडी बहुत शिक्षा प्राप्त कर ये विद्याध्ययन के लिये काशी गये। वहाँ श्रीकृष्णराम शेष से व्याकरण, श्री धन्वन्तरि भट्ट से मीमासा और पं० भैरवदत्त मिश्र से न्याय का अध्ययन किया। अपनी असाधारण प्रतिभा के कारण ये शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गये। विद्याध्ययन समाप्त कर ये काशी से घर आये, विवाह हुआ और कुछ दिनों तक गृहस्थजीवन व्यतीत करने के पश्चात् एक कन्या उत्पन्न हुई। जब इनकी आयु २५ वर्ष की हुई तो पण्डितों से वाग्विलास के लिये ये देशान्तरभ्रमणार्थ निकले। पहले चित्रकूट गये। वहाँ से ग्वालियर के सिन्धिया दरबार में पहुँचे। ग्वालियर से नैपाल गये। उस समय वहाँ के नरेश राणा सुरेन्द्रविक्रमशाह थे। शास्त्रार्थ में नैपाल के प्रमुख पण्डित इनसे पराजित हुए। दरबार से इन्हें एक लाख रुपए भेंट किये गये। लौटते समय इन्होंने वह सारा धन पण्डितों मे वितरित कर दिया। नैपाल से ये लखनऊ आये। यहाँ नवाब के सभासद राजा बख्तावर सिंह के यहाँ ठहरे। लखनऊ से महाराज विश्वनाथसिंह की गुणग्राहकता सुनकर रीवाँ गये। दरबार में जाकर इन्होंने आशीर्वाद के रूप में निम्नलिखित छन्द पढ़ा—

यस्य हृदोऽवनिजाता आतु न यातु।
विश्वनाथविश्वाधस्सत्वां पातु॥

संस्कृत भाषा के इस बरवै छन्द से उनकी मौलिकता का पता चलता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत को कहाँ तक ये जीता जागता रूप देने में समर्थ थे। इनके पाण्डित्य का कहना ही क्या। रीवाँ की राजसभा मे जब भागवत के प्रथम श्लोक के इन्होंने ४७ अर्थ किये और उनमे से अधिकाश महाराज विश्वनाथसिंह पर घटाये, तब सभी चकित हो गये।• फिर भी इनकी परीक्षा लेने के विचार से दरबारी पण्डितों ने बडी नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि 'पण्डित जी यह श्लोक तो पुराना है।' इसका मर्म समझ कर पं० उमापति जी ने उक्त बरवै के ही १७ अर्थ कर डाले। रीवाँ से यथोचित सम्मान प्राप्त कर इन्होंने बिठूर की यात्रा की। यहाँ पेशवा से मिल कर अयोध्या चले आये। अयोध्या के तत्कालीन राजा दर्शनसिंह ने इनका बड़ा आदर किया। वहाँ कुछ दिन निवास कर ये हरिद्वार गये। मिथिला के पण्डितों से शास्त्रार्थ करने के उद्देश्य से हरिद्वार से जनकपुर गये। इसी प्रकार नदिया, शान्तिपुर, दरभंगा,

जयपुर, जोधपुर, काश्मीर इत्यादि विद्याकेन्द्रों में अपने विलक्षण पाण्डित्य का परिचय देकर इन्होंने सौ विजय-पत्र प्राप्त किये और 'श्रीमच्छतकजयप्रवर्तक' की उपाधि धारण की। जो धन जहाँ प्राप्त हुआ, वह वहीं दान कर दिया। इस विजय-यात्रा के बाद जब ये घर लौटे तो पिता का स्वर्गवास हो चुका था और माता, पति के साथ सती हो गई थीं। अब केवल एक ही पारिवारिक उत्तरदायित्व शेष था, वह था उनकी एक मात्र कन्या शिवमूर्ति का विवाह। इस कार्य से निवृत्त होकर उन्होंने गृहस्थी की झंझट से छुट्टी पा ली।

इसके बाद वे काशी गये और पं० महादेव मिश्र से ब्रह्म-विद्या प्राप्त की। मिश्र जी ने उन्हें किसी तीर्थ में अचल वास कर परमार्थ साधन और लोकोपकार का आदेश दिया। काशी से वे घर आये। इसके अनन्तर किसी सिद्ध शाक्त महात्मा की प्रेरणा से विन्ध्याचल की यात्रा की। यहीं उनके मन में अयोध्यावास की इच्छा उत्पन्न हुई। इस सम्बन्ध में दृढ़ निश्चय कर वे लखनऊ गये और वहाँ नवाब वाजिदअली शाह के कृपापात्र राजा दर्शनसिंह, महाराव बालकृष्ण और राजा ज्वालाप्रसाद आदि से मिलकर अपनी अवधवास की इच्छा व्यक्त की। उक्त महानुभावों ने नवाब से अयोध्या में नयाघाट के पास स्थित बेगम साहिबा का बंगला जो 'हयात बाग' के नाम से प्रसिद्ध था, पं० उमापति जी को दिला दिया। निवास-स्थान का प्रबन्ध हो जाने पर सं० १८८४ में वे अयोध्या आ गये और फलाहारवृत्ति से क्षेत्रसंन्यास लेकर रहने लगे। कुछ दिनों के बाद बलरामपुर के महाराज दिग्विजयसिंह ने उनके लिये निवासस्थान और भिनगा की रानी ने एक ठाकुरद्वारा बनवा दिया। उनके इन उदार शिष्यों ने सैकड़ों विद्यार्थियों के विद्याध्ययन के अतिरिक्त, आश्रमवासियों के भरणपोषण का भी प्रबन्ध किया।

पं० उमापति जी संस्कृत के उद्भट विद्वान होने के साथ ही भाषा के भी सिद्धहस्तकवि थे। 'कोविद' छाप से हिन्दी में उनकी अनेक रचनाएँ मिलती हैं। प्रसिद्ध है कि वे भाषा के कवियों का भी आदर करते थे। एकबार सुवेश नामक किसी कवि को, निम्नलिखित छन्द सुनाने पर उन्होंने पुरस्कार में ५००) रुपये प्रदान किये थे।

> दोऊ को प्रबल जस गावत सकल जग,
> दोऊ हैं सुशील दोऊ गुण गण खानी हैं।
> दोउन को नाम धाम पूरन करत आस,
> दोऊ दोष दारिद हरन वरदानी हैं।

भनै भुवनेश यश विलसत देश देश,
सेवत नरेश दोऊ जौन जन ज्ञानी हैं।
उमापति जू सों उमापति सों फरक एतो,
उत वाम हैं भवानी इत दाहिने भवानी हैं॥

त्रिपाठी जी ने ४६ वर्ष तक अखंड अवधवास करके भाद्र कृष्ण द्वितीया सं० १९३० (१८७३ ई०) में दिव्यलोक की यात्रा की।

उमापति जी की उपासना वात्सल्यभाव की थी। श्रीरामचन्द्र जी को वे राजकुमार रूप में, अपना शिष्य मानते थे और अपने को उनका गुरु, मित्र, सभासद् लिखते थे। इस तथ्य की पुष्टि रम्यपदावली की निम्नांकित पुष्पिका से होती है—

"इति श्रीमन्महामहीपकुमार पद्मपरमाजयकार श्रीमच्चक्रवर्तिकुमार श्रीमद्रामभद्र गुरु, मित्र, सभासद् त्रिपाठ्युमापतिशर्म्मनिर्मित 'चनरा पदावली' समाप्ता।"[1]

यह आश्चर्य का विषय है कि वात्सल्यनिष्ठ भक्त होते हुए भी, उनकी इस भाव की रचनायें बहुत कम मिलती हैं। रम्यपदावली के छंदों में फागलीला, हिंडोललीला इत्यादि प्रसंगों पर राम की माधुर्यलीला अभिव्यक्त हुई है। उनकी रचनाओं के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपासना के भाव से तो वे राजकुमार राम से गुरुशिष्य का नाता मानते थे, किन्तु आराध्य की लीलागान के समय वे उनकी शृंगारी लीलाओं में ही मग्न होते थे। अपने आश्रम में स्थापित 'श्रीविग्रह' को वे 'गुरुसदनविहारी' कहा करते थे।

उनकी निम्नांकित रचनाओं का उल्लेख मिलता है—

१. न्यायलहरिणी	११. वेदस्तुतिटीका
२. महातत्त्वप्रकाश	१२. सख्यसरोजभास्कर
३. कपिलसूत्रसारोद्धार	१३. गीतगोविन्द
४. पतञ्जलिसूत्रवृत्ति	१४. उमापतिशतकत्रय
५. वेदान्तकल्पलतिका	१५. सुधामदाकिनीस्तोत्र
६. वृत्तप्रकाश	१६. सरयू अष्टक
७. भाष्यटिप्पण	१७. सीता शतनाम
८. शब्देन्दुधराधर	१८. वर्णमाला
९. व्याख्येन्दुधराधर	१९. रामजानकीस्तोत्र
१०. पूर्वपक्षीय	२०. रम्यपदावली

१—रम्यपदावली, पृ० १२४

२१. दोहावली-रत्नावली	३२. जानकीस्तोत्र
२२. श्रीवरशतक	३३. रघुनंदनषोडशक
२३. रुद्राष्टक	३४. हनुमत कुंडलिया
२४. दर्शनशतक	३५. विचित्र रामायण
२५. कालिका अष्टक	३६. रामसंगीत
२६. अयोध्या विंशतिका	३७. ऋतुवर्णन
२७. करुणाकल्पलता	३८. होलिकाविसर्जन
२८. रघुनाथस्तोत्र	३९. अक्षरमालाभाष्य
२९. हनुमदष्टक	४०. दर्शनशतक
३०. लंबोदर अष्टक	४१. दिग्विजयशतक
३१. रामस्तोत्र	४२. रामसहस्रनाम

पंडित उमापति जी रागरागिनियों के भी ज्ञाता थे। उनकी 'रम्यपदावली' में संगीतशास्त्र की विविध रागिनियों के साथ ही कहरवा, पूर्वी, जोगिया आदि लोकगीत भी मिलते हैं। इनकी भाषा अवधी है, उसके साथ कहीं कहीं कवि की मातृभाषा भोजपुरी के भी शब्द लगे मिलते हैं।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

श्री गुरु सदन विहारी खेलो होरियाँ हो भारी।
लै संग बन्धु सुहृद दासादिक रंग भरत पिचकारी॥
उत सखियाँ सुखिया लसु लाली मन किय राजकुमारी।
पीत अपीत गुलाल थाल सत बरसत यक यक बारी॥
जगत जाल यह ख्याल व्याकुलित जय जय सबहिं पुकारी।
गान तान नाना विधि धाहिनि शुनि जन गाउ सुधारी॥
लखि लीला अद्भुतशीला सुर बरसत सुभ मंदारी।
'कोविद कवि' छवि रविवंशी की अतिहि प्रशंसी सारी॥[1]

झूलत दीने गलबाहीं।
रघुनन्दन अरु जनक नन्दिनी प्रेम पगे मुसुकाहीं।
आलि झुलावति गावति नाचनि वारति तन मन चाहीं॥
धनि सावन धनि धनि यह विहरनि धनि सुर परि मुरछाहीं।
'कोविद कवि' छवि कविमति मोहिनि बस्यो सदा मन माहीं॥[2]

१—रम्यपदावली, पृ० २१ २—वही, पृ० १०२
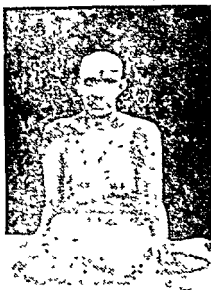
महात्मा रामशरण

(पृ० ४५६)

महात्मा रघुनाथदास

(पृ० ४६८)

बनरा रे जनकपुर ऐलो।
निज सोभा रस सरस नसा दै सब मतवारो कैलो॥
नित्त निमित्त सबै सब छूटे का जानी का भैलो।
'कोविद' पानि-मीन गति लखियत ऐलो अजब छैलो॥[1]

इनकी संस्कृत-कविता का एक नमूना देखिए—

कुशलकौशलकोशलकोशला-
कुशलपालकबालकलालिका।
कमलकैरवपालिकुलालिका,
न शिथिला मिथिलाधिपबालिका॥[2]

३५. रामशरण

महात्मा रामशरण, निवासी तो अवध प्रदेश के थे किन्तु इनके जीवन का अधिकांश मिथिला में ही बीता। अतएव इनकी जितनी प्रसिद्धि बिहार में हुई उतनी अपनी जन्मभूमि में नहीं। ये मिथिला के ही संतों में गिने जाते हैं और इनकी गद्दी भी वहीं स्थापित है। इनका जन्म अवध के तिलोई राज्य में तमसा के तट पर, पंडितपुरवा नामक ग्राम में, आषाढ़ शुक्ल द्वितीया सं० १८६४ (१८१७ ई०) को हुआ था। इनके पिता पं० रामस्वरूप, ज्योतिषी थे। शैशवावस्था में ही माता इन्हें छोड़कर परलोक सिधारीं। दादी ने पालनपोषण किया। कुछ बड़े होने पर पंडित रामदत्त नामक किसी विद्वान् से इन्होंने थोड़ी बहुत शिक्षा पाई। पढ़ने में विशेष मन न लगने से पिता के व्यवस्था करने पर भी ये यथोचित शिक्षा प्राप्त न कर सके। इनका मन संसार से धीरे धीरे विरक्त होता गया। सोलह वर्ष की आयु में गृह त्याग कर तीर्थाटन को निकले। सर्वप्रथम प्रयाग गये। वहाँ से अयोध्या आये और सुग्रीव टीला पर महात्मा गरीबदास से मंत्रदीक्षा ली। अयोध्या में कुछ काल तक गुरु सेवा कर ये काशी चले आये और बहुत दिनों तक सत्संग करते रहे। काशी से पुनः अयोध्या लौट गये। अबकी बार कनकभवन में नित्य पुष्प पहुँचाने की सेवा का नियम लेकर कुछ दिनों तक वह व्रत पालन करते रहे। अयोध्या से ये दक्षिण यात्रा को निकले। चित्रकूट तथा पंचवटी पर कुछ काल तक ठहर कर श्री रंगधाम पहुँचे। वहाँ से पन्ना, कन्याकुमारी आदि तीर्थों का पर्यटन करते हुए तिरुपति गये। वहाँ के अधिकारी ने इन्हें रोक लिया और बड़े आदर से ठहराया। वेंकटेश्वर भगवान की कुछ दिनों तक सेवा कर ये वहीं से पुरी गये।

१—रम्यपदावली, पृ० १२२ २—सुधामंदाकिनीस्तोत्र, पृ० २

वहाँ रहते कुछ समय बीतने पर श्री सीतारामीय हरिहरप्रसाद नामक किसी महात्मा से इन्होंने सख्य भाव का सम्बन्ध लिया और पुरी से मिथिला के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में बक्सर और भृगुआश्रम पर कुछ काल ठहरे। बक्सर से पचारी नामक स्थान पर भी इनके कुछ दिनों तक रहने का पता लगता है। यहीं पर सुरसरि के बाबू रामउदार सिंह इनके दर्शन को आये। बाबू साहब के बहुत अनुरोध करने पर भी इन्होंने पक्की कुटी बनाने की स्वीकृति न दी। तब सेवकों ने कच्ची कुटी के चारों ओर मंदिर और कुटी निर्माण के लिए धन गाड़ने की सलाह की। रामशरण जी को जब यह ज्ञात हुआ तो ये बहुत अप्रसन्न हुए और तत्काल ही वह स्थान छोड़कर जनकपुर चले गये। वहाँ से शिष्यों के अनुरोध से ये नोआही गये। अयोध्या के महात्मा जानकीवरशरण से इनका विशेष स्नेह था। उनके आग्रह पर ये अयोध्या आये, यहाँ दो मास निवास कर पुनः मिथिला लौट गये।

सुना जाता है बुढ़ापे में इन्हें लकवा मार गया था, कितने दिन इस रोग से कष्ट उठाना पड़ा, इसका पता नहीं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह रोग ही इनके लिये प्राणान्तक सिद्ध हुआ। वैशाख कृष्ण चतुर्दशी (संवत् अज्ञात है) को इन्होंने नित्य साकेतधाम के लिये संसार से महाप्रयाण किया।

मिथिला को अपना निवास बनाकर साधना करने वाले सख्यभावावेशी संतों में महात्मा रामशरण का स्थान सर्वोच्च है। उनके रचित दो ग्रन्थ हैं—रामतत्त्वसिद्धान्त संग्रह और मैथिलीरहस्यपदावली। प्रथम सिद्धान्तग्रन्थ है और दूसरा समय समय पर की गई उनकी भावात्मक रचनाओं का संग्रह। अवध प्रदेश के निवासी होने पर भी उनकी भाषा भोजपुरी और मागधी से प्रभावित है। उन देशों में दीर्घवास करने के कारण यह स्वाभाविक ही था। यह बात थोड़ा बहुत आश्चर्यजनक अवश्य है कि सख्य भाव के उपासक होते हुए भी उनकी रचनाओं में उसके प्रमाण बहुत कम मिलते हैं। शृंगारी संतों की तरह केवल प्रभु की विहारलीलाओं के वर्णन में ही उनकी रुचि रही है। एक बात में वे सखाओं से भिन्न पड़ते हैं, वह है राम का सम्बोधन। वे स्पष्ट रूप से अपने को रघुवंशी, निमिवंशी तथा ऋषिवंशी सखाओं की श्रेणी में नहीं रखते। फिर भी राम को जिस दृष्टि से वे देखते हैं, वह रसिक साधकों की ही है।

उनकी रचनायें अधिकतर सोहर छंद में लिखी गई हैं। जिनका विषय है—जनक का हलयज्ञ, जानकीजन्म, तथा फुलवारीलीला इत्यादि। इससे पता चलता है कि उन्होंने इनकी रचना घर-घर गाये जाने के विचार से की थी और

इस प्रकार लोकजीवन को राममय बनाने का उनका संकल्प था।

नीचे उनकी रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

हळबा जोतै ते राजा जनक न ये हो राजा जनक न हो।
ललना अनुपम कन्या पाये मुमोद बढायेल हो॥
मास बैसाख शुक्ल पक्ष नवमी न हो।
ललना सीतानाम धराये मुनिन गुन गायेल हो॥
वेद पुरान प्रसंसत जाहि प्रसंसत हो।
ललना सुनयना जू गोद खिलायिल हिये हुलसाइल हो।
रामसरन मिथिलेस द्वार पर मिथिलेस द्वार पर हो।
ललना चहुँदिसि मगलचारु सुसोहर गायेल हो॥[1]

ये दोनों रसिक झुलन पर आये हैं।
दशरथ कुँवर श्री जनक कुमारी अङ्ग अङ्ग सुषमा अनग लजायो है।
प्रीतम के संग प्यारी झुलतु हैं मजे मजे सिया पिया वीणा बजायो है।
विपिन सिरोमनि श्री प्रमोद वन हरे हरे महि सावन दरसायो है।
रामसरन श्री अवध निकाई लखि सरयू के तीरे तीरे मेरा मन भायो है॥[2]

आये मिथिलेश के बगिया हो नृप युगल किशोर।
बाँधे बसन्ती के पगिया हो दिनकर छवि छोर।
मारे नजर के कोरवा हो सुधि हरि लीन्हीं मोर।
चितवन बढी उर जोरवा हो हिया सालत मोर।
गरविच मोतिन के हरवा है बुलकन चित चोर।
लसत बसन्ती के जामा हो दामिनि दुति थोर।
रामसरन दोउ छैलवा हो सखि श्यामल गोर।
लखितेहिं मोहनि मूरति हो सुधि बुधि भई भोर।[3]

रस रँगन धूम मचाये रसिया।
तेरे रे अवध में सरयू बहति हैं उमगि उमगि सब आई नदिया।
राम सरन धन धन पुरवासी पिया प्यारी जहँ करैं केलिया॥[4]

१—श्री मैथिलीरहस्यपदावली, पृ० ७ २—वही, पृ० १४
३—वही, पृ० ४१ ४—वही, पृ० ४२

३६. रघुनाथदास

बाबा रघुनाथदास दास्यनिष्ठा के संत थे। इनकी अखंड साधना और चमत्कारों की कथायें आज भी अवध के गाँव गाँव में प्रचलित हैं। इनका जन्म सीतापुर जिले के पैतेपुर नामक गाँव में चैत्र शुक्ल तृतीया सं० १८७४ (१८१७ ई०) को हुआ था। पिता का नाम पंडित दुर्गादत्त था। लड़कपन में घर पर इन्हें केवल अक्षरज्ञान कराया गया था। इस अवस्था में ही इनमें विरक्ति के लक्षण दिखाई देने लगे थे। गृहस्थी के काम से जो समय बचता, उसे एकान्त में बैठकर नामजप में बिताते थे। कुछ बड़े होने पर गाँव के समवयस्क लड़कों के साथ इन्होंने कुश्ती और लाठी गतका इत्यादि का अभ्यास किया। इसी समय इनके विरोध करने पर भी पिता ने विवाह कर दिया। किन्तु इससे ये गृहबंधन में बँध न आसके। इनका मन निरंतर उचटता ही गया। एक दिन घर से गंगास्नान के बहाने प्रयाग को प्रस्थान किया। पैतेपुर से लखनऊ आये। जिस स्थान पर रुके उसके निकट ही नवाब की पल्टन के लिये राबर्ट नामक कोई अंग्रेज अफसर, सिपाहियों की भर्ती कर रहा था। उत्कंठावश ये भी उसे देखने गये। हृष्ट पुष्ट देखकर, राबर्ट ने इन्हें समझा बुझाकर भरती कर लिया। आठ मास बाद प्रयाग में कुंभ लगा। सेना से ५० दिन की छुट्टी लेकर कुछ साथियों के साथ ये प्रयाग पहुँचे। वहाँ महात्मा बल्देवदास जी मौनी से इनकी भेंट हुई। उनकी तपोनिष्ठा से प्रभावित होकर इन्होंने वहीं उनसे दीक्षा ले ली।[1] कुंभ समाप्त होने पर ये लखनऊ लौट आये।

रघुनाथदास जी के सैनिकजीवन सम्बन्धी कई चमत्कार प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार पूजा करते हुए वे इतने तन्मय हो गये कि ड्यूटी का स्मरण ही न

१— वासुदेवघाट परमहंसन को हाट जहाँ,
  रहै यहै हाट होत सौदा गुर ज्ञान को।
भक्ति जोग कर्म को उपासना वैराग्य सदा,
  साधना समाधि सिद्धि धारना ध्यान को॥
माया ब्रह्म जीव सींव सार औ असार है
  विचार आठों जाम एक नाम भगवान को॥
पैरो रघुनाथदास याही 'अस्थान को'
श्री स्वामी बल्देवदास पूर्ण प्रभु मेरो हैं।
—हरिनामसुमिरनी, पृ० १४

रहा। जब ध्यान टूटा तो देखा कि दो घंटे की देरी हो गई है। तत्काल पद डाए हुए ड्यूटी पर गये किन्तु वहाँ पहरा बदल चुका था। उपस्थित सिपाही से जब इन्होंने अपनी भूल की बात कही तो उसने बताया कि 'अभी मैंने आपसे ही तो पहरा बदला है।' रघुनाथदास जी को पहले तो उसके कथन पर विश्वास न हुआ किन्तु उसके बार बार दुहराने पर ये विश्वस्त हो गये कि यह कृपा, करुणासिंधु भगवान ने ही की है। उसी दिन नौकरी से त्याग पत्र देकर ये निकल पड़े। लखनऊ से प्रयाग पहुँचे। वहाँ से गंगा के किनारे-किनारे भ्रमण करते हुए काशी आए। इस यात्रा में ये कई स्थानों पर क्या कुटी बनाकर रहे थे। अतएव प्रयाग से काशी पहुँचने में उन्हें दस वर्ष लगे। काशी में राज घाट पर स्नान किया। वहाँ से चलकर नगर से संलग्न शिवपुर नामक स्थान में कुटी बनाकर रहने लगे। इसी बीच इनके गुरु प्रयाग से अयोध्या आ गये थे। उन्होंने अपने एक शिष्य को अयोध्या वापस आने का संदेश लेकर इनके पास भेजा। गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर ये अयोध्या चले आये और उनके पास ही कुटी बनाकर रहने लगे। एक वर्ष अयोध्या रहकर गुरु के आदेश से माता पिता का दर्शन करने पैतेपुर गये। पिता का देहान्त हो चुका था। माता जीवित थीं। उन्हें ये बद्रिकाश्रम ले गये। वहाँ से लौटकर कुछ समय तक घर पर रहे। जब चलने लगे तो स्त्री किसी भी प्रकार इनका साथ छोड़ने को राजी न हुई। अतएव उसे साथ लेकर ये गुरु के पास फिर अयोध्या आये।

वहीं एक कुटी बनाई और गुरु की आज्ञा से एक वर्ष तक गृहस्थ जीवन व्यतीत किया। एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके बाद पुत्र और स्त्री को घर पहुँचा आये और पूर्ण विरक्त होकर वासुदेवघाट पर भजन करने लगे। उनके साथ और भी कई महात्माओं ने उसी स्थान पर कुटी बना ली। इससे वह छावनी के नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह भूमि अयोध्या राज्य की थी। राजकर्मचारियों की ओर से छेड़-छाड़ होने पर इन्होंने वह स्थान छोड़ दिया और अयोध्या से पूर्व मझना नामक स्थान पर कुटी बनाई। अयोध्या के तत्कालीन नरेश मानसिंह को जब यह मालूम हुआ तो वे स्वयं महात्मा रघुनाथदास को मनाने मझना गये। उनके बहुत अनुनय विनय करने पर ये अयोध्या चले आये। इस बार चारों ओर सरयू से घिरे माझे में इनकी कुटी बनी। रीवाँनरेश महाराज रघुराज सिंह ने इसी स्थान पर इनका दर्शन किया था। वर्षाकाल आने पर माझा छोड़ कर रघुनाथदास जी अयोध्या के पूर्व सोनखर कुंड के पास एक पीपल वृक्ष के नीचे रहने लगे। संतों की यहाँ भी एक विशाल छावनी बन गई। यह स्थान आजकल 'बड़ी छावनी' के नाम से प्रसिद्ध है। महात्मा रघुनाथदास

मृत्यु पर्यन्त यहीं रहे। काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह ने इनका इसी स्थान पर दर्शन किया था। पौष शुक्ल एकादशी सं० १९३९ को इन्होंने अपनी ऐहिकलीला समाप्त की।

बाबा रघुनाथदास की केवल एक पुस्तक 'हरिनाम सुमिरिनी' प्राप्त हो सकी है। जिससे यह विदित होता है कि कविता में ये अपना नाम 'जन रघुनाथ' तथा 'रघुनाथ' रखते थे। काव्य की दृष्टि से इस रचना का विशेष महत्त्व नहीं है। किन्तु नाम-माहात्म्य, मानवजीवन का उद्देश्य तथा भक्ति और ज्ञान-संबंधी उनकी अन्य उक्तियाँ स्वानुभूत तथ्यों पर आधारित होने के कारण आकर्षक और सरस हैं। भाषा अवधी है। एकाध स्थलों पर भोजपुरी का भी पुट मिलता है *जिसका कारण भोजपुरी प्रदेश में उनका दीर्घ प्रवास था।*

उनकी कुछ रचनाओं के नमूने नीचे दिये जाते हैं—

बालपने मे न बालन संग अघाय स्वतंत्र ह्वै खेलन पायो।
पाय जुवा धन धाम सँवारि न नारिन हूँ के भयो मन भायो॥
आय जरा बसि औधपुरी मे न राम सियापद में मन लायो।
हा इत को न भयो उत को 'रघुनाथ' वृथा नर जन्म गँवायो॥[1]

मान दे मान मन मूढ मत सार संसार यह एक दिन जायगा रे।
तात औ मात सुत भ्रात हित भामिनी भौन भंडार रहि जायगा रे॥
आजु ही काल्हि में आय के एक दिन अचानक से काल लै खायगा रे।
'रघुनाथ' को कहा नहिं मानता मूढ तौ आदि हू अंत पछितायगा रे।[2]

मन की कौनो कल्पना, बाकी ना रहि गैल।
महाराज दशरत्थ को, देखि छबीले छैल॥[3]

घट ही व्यापार रामनाम को खरीद करौं,
धरौं हैं सम्हारि कहीं अन्तहि न जात हौं।
छमा के तराजू संतोष सेर पूरो करि,
दया के दुकान पर बैठि अठिलात हौं॥
कहँ 'रघुनाथदास' संतन मुख बेचत हौं,
हाजिर हौं हजूर ताते फेरत सकुचात हौं।
भयो सुख भारी लाभ दूनो भरि पायों मोहिं,
यही धनि आई बनिआई करि खात हौं॥[4]

१–हरिनामसुमिरिनी, पृ० ६५
२–वही, पृ० ८०
३–वही, पृ० ६०
४–फुटकर छंद

३७ युगलानन्यशरण 'हेमलता'

महात्मा युगलानन्यशरण उन्नीसवीं शती के उन साधकों में हैं, जिनकी वाणी से माधुर्य भक्ति को चरम अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। इनके ८४ ग्रन्थों में सारी रसिक साधना सिमट कर आ गई। उसका कोई कोना अछूता नहीं बचा। शृङ्गारी कवियों में इनकी तुलना में केवल रसिकाचार्य रामचरणदास लाये जा सकते हैं, किन्तु उनकी कविता आचार्यत्व के भार से थोड़ी बहुत दबी रहती थी। उन्होंने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये भाव से तर्क को प्रधानता दी और प्राचीन भक्तिसाहित्य के शृङ्गारी वर्णनों की छाया लेकर उन्हें इतिवृत्तात्मक शैली में सम्प्रथित किया। परिस्थितियों के आग्रह से किसी सीमा तक यह आवश्यक भी था। युगलानन्यशरण तक आते-आते रसिक धारा में प्रचुर साम्प्रदायिक साहित्य की सृष्टि हो चुकी थी। अतएव इन्हें साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन और निरूपण की जिम्मेदारी नहीं उठानी थी। इनके सामने केवल प्रचार और साधनात्मक पक्ष की प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा आत्मशक्ति का उपार्जन—ये ही दो लक्ष्य थे। इन्होंने इनकी पूर्ति ही नहीं की, अपितु अपनी सरस रचनाओं के द्वारा जिज्ञासु साधकों में रसिक भक्ति के प्रति आकर्षण भी पैदा किया। इनके सैकड़ों विरक्त शिष्यों प्रशिष्यों ने यह भक्ति सुदूर प्रान्तों में फैलाई, जिसके फलस्वरूप आज जितने शिष्य इस घराने से सम्बद्ध हैं, उतने अन्य किसी रसिक परम्परा से नहीं। इसका बहुत बड़ा श्रेय रसिकाधिराज युगलानन्यशरण के प्रभावशाली व्यक्तित्व, तपोमय जीवन, प्रकाण्ड पाण्डित्य, अद्भुत-अभिव्यञ्जना शैली और अपार भावसम्पत्ति को है।

इनका जन्म कार्तिक शुक्ल ७ सं० १८७५ (१८१८ ई०) को फल्गु नदी के निकट, पटना जिले के इस्लामपुर नामक गाँव के, एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। बाल्यावस्था में ही माता का देहान्त हो गया। इनके दो भाई और दो बहनें थीं। पिता दूसरा विवाह न करके पुत्रों की शिक्षा दीक्षा में ही लगे रहे। बाल्यावस्था में इन्होंने कृष्ण नामक विद्वान से शास्त्रों का अध्ययन किया और फारसी का ज्ञान, बिना किसी शिक्षक के स्वयं अध्ययन करके, प्राप्त किया। इसी समय इन्होंने मल्लयुद्ध और संगीत का भी कुछ अभ्यास किया। १५ वर्ष की आयु में ये भक्तमाली नामक किसी संत से युगलप्रिया जी की प्रशंसा सुनकर उनके शरणागत हो गये। गुरु ने इनका नाम 'युगलानन्यशरण' रखा। इनकी इच्छा तीर्थाटन की हुई। घर से काशी गये और पंचक्रोशी की परिक्रमा की। वहाँ एक दिन

नायब गोकुलचन्द के प्रबन्ध से रामनगर रामलीला देखने गये। काशी में ये एक वर्ष रहकर चित्रकूट चले गये। अब तक गृहस्थ वेष में ही थे, सवारी में घोडा था और कुछ आवश्यक सामान भी साथ था। चित्रकूट में विरक्तवेष धारण करके घोडा और सामान सब कुछ इन्होंने दान कर दिया। वहाँ से अयोध्या आये। यहाँ मधुकरी वृत्ति से लक्ष्मण किला में रहने लगे। पं० उमापति तथा परमहंस शीलमणि जी से इनकी बडी घनिष्ठता हो गई। ये अयोध्या से २४ मील दूर घृताची कुंड पर जाकर १४ महीने तक मौन व्रत धारण करके रहे। तपकाल समाप्त होने पर फिर अयोध्या चले आये और रसिकों के आग्रह से सर्वप्रथम श्री मधुराचार्य विरचित 'भगवद्गुणदर्पण' की कथा कही।

अयोध्या से ये पुन चित्रकूट गये और जानकीघाट पर ठहरे। इसी समय इनकी ख्याति सुनकर महाराज विश्वनाथसिंह दर्शन करने आये और इन्होंने शृङ्गारोपासना क रहस्यमय तत्त्वों क विषय में उनकी जिज्ञासा शान्त की। रीवाँ जाते समय महाराज विश्वनाथसिंह ने इनसे वहाँ पधारने की प्रार्थना की, किंतु अयोध्या आने क मार्ग में रीवाँ नहीं पडता था, इसलिये इन्होंने स्वीकार नहीं किया। रीवाँ पहुँचकर महाराज विश्वनाथसिंह ने स्वरचित सभी पुस्तकें युगलानन्यशरण जी क पास भेजीं जिनमें 'कबीर बीजक' की टीका भी थी। इसक कुछ दिनों बाद ये पुनः अयोध्या लौट आये और निर्मलीकुड पर कुटी बनाकर रहने लगे।

चित्रकूट से अयोध्या आने के कुछ ही दिनों बाद १८५७ ई० की प्रसिद्ध क्रान्ति हुई। निर्मलीकुड के निकट ही गोरी पल्टन् का केन्द्र था। क्रांतिकारियों ने फैजाबाद पर अधिकार कर लिया। लोगों ने पल्टन के मकानों को उजाड़कर इनक आश्रम से सलग्न वाटिका की चहारदीवारी बना दी और बहुत सा काठ का सामान लूटकर वहीं जमा कर दिया। अंग्रेजों का फैजाबाद पर पुनः अधिकार हो जाने पर शिष्यों ने युगलानन्यशरण जी से अन्यत्र चले जाने की प्रार्थना की। किंतु आपने स्थान छोडने से इनकार कर दिया।

उस समय तो अंग्रेज सैनिक चले गये किन्तु दूसरी बार उनका सेनापति फौज समेत कुटी के समीप ही आ धमका। जानकीबाग गिरा दिया गया। गोरों के सम्पर्क से आश्रम के निकट अपवित्रता बढ गई थी, अत उस स्थान को छोडकर युगलानन्यशरण जी अयोध्या चले गये और वहाँ लक्ष्मणकिला पर रहने लगे। आजन्म ग्रंथरचना और धर्मोपदेश करते हुए उसी स्थान

पर रहे। स० १९३३ (१८७६ ई०) की मार्गशीर्ष शुक्ला ७ को वे आराध्य की दिव्यसाकेतलीला में प्रविष्ट हुए।

'रामरसिकावली' से ज्ञात होता है कि अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वे एक पहुँचे हुए सन्त के रूप में विख्यात हो चुके थे—

युगलानन्य शरण यक सन्ता, अब लौं अवध माँहि बिलसन्ता।
तिनको चरित जगत सब जानै, सिगरे सज्जन करत बखानै।
राम प्रेम वारिधि महँ मगना, सिय सहचरीभाव चित लगना।[1]

रीवाँनरेश रघुराजसिंह भी इनके कृपापात्र थे। इसका उल्लेख उक्त ग्रंथ में मिलता है। उनको युगलानन्यशरण ने चित्रकूट में उपदेश किया था[2], किन्तु वह उपदेश, किस समय हुआ इसका पता नहीं चलता। इन महाराज के दीवान ने युगलानन्यशरण जी के निवासस्थान लक्ष्मणकिला (अयोध्या) में एक विशाल मंदिर बनवाया, जो आज तक वर्तमान है।

श्री युगलानन्यशरण संस्कृत और हिंदी के तो अधिकारी विद्वान थे ही, अरबी और फ़ारसी में भी उनकी गहरी पैठ थी। वे उनमें उत्तम काव्यरचना भी करते थे।[3] मौलाना रूम तथा अन्य सूफ़ी संतों के कलाम पढ़ने और कुरान के गूढ़ स्थलों को समझने के लिये मौलवी लोग दूर दूर से उनके पास आया करते थे। उनकी भाषा में सूफ़ियों की भावपद्धति मिलती है। वेष भी उनका सूफ़ियों जैसा ही रहता था। लम्बा चमकीला चोगा, ऊपर उठी हुई लम्बी चमकीली टोपी, हाथ में लम्बी माला उसी का प्रतीक था। खड़ी बोली और अवधी दोनों भाषाओं के शुद्ध और मिश्रित प्रयोग उनकी रचनाओं में मिलते हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास पर उनका विशेष ध्यान रहता था। साहित्य में तत्कालीन प्रचलित प्रायः सभी शैलियों पर उनकी लेखनी चली है। रसिकोपासना में राम की किशोरलीला ही गृहीत होने से महाकाव्य की रचना उन्होंने नहीं की। ग्रंथों की संख्या के विचार से संप्रदाय के पूरे इतिहास में इतनी विपुल राशि में रचना किसी अन्य की उपलब्ध नहीं है।

इनके रचे हुए कुल ८४ ग्रंथ कहे जाते हैं, जिनमें से निम्नलिखित ७२

१—रामरसिकावली, पृ० ९५०

२—रामरसिकावली पृ० ९५०

३—'भाषा पारसि आदिक केरे। रचहिं राम पद सुभग घनेरे।
—रामरसिकावली पृ० ९५०

ग्रन्थ मैंने स्वयं इनके आश्रम में देखे हैं।

१. सीताराम स्नेहसागर
२. रघुवरगुणदर्पण
३. मधुर मंजुमाला
४. सीताराम-नाम प्रताप-प्रकाश
५. प्रेमपरत्वप्रभा दोहावली
६. विनय-विहार
७. प्रेमप्रकाश
८. नाम-प्रेम-प्रवर्द्धिनी
९. सत्संग सतसई
१०. भक्त-नामावली
११. प्रेमउमंग
१२. सुमतिप्रकाशिका
१३. हृदयहुलासिनी
१४. अभ्यासप्रकाश
१५. उपदेशनीतिशतक
१६. उज्ज्वलउत्कंठाविलास
१७. मंजुमोदचौंतीसी
१८. वर्णविहार
१९. मनबोधशतक
२०. विरतिशतक
२१. वर्णबोध
२२. बीसायंत्र
२३. पंचदशी-यंत्र
२४. चौंतीसा-यन्त्र
२५. हर्षप्रकाश
२६. अनन्यप्रमोद
२७. नवल-नाम चिंतामणि
२८. सतवचनविलासिका
२९. वर्णउमंग
३०. रूपरहस्य पदावली
३१. रूपरहस्यानुभव
३२. संतसुखप्रकाशिका
३३. अवधवासीपरत्व
३४. रामनामपरत्वपदावली
३५. सीतारामतत्वप्रकाशिका
३६. अवधविहार
३७. सुखसीमादोहावली
३८. उज्ज्वलउपदेशपत्रिका
३९. नाम-मय एकाक्षरकोष
४०. येंगसिंधुतरंग
४१. युगल वर्णविलास
४२. प्रबोधदीपिकादोहावली
४३. दिव्यदृष्टांतप्रकाशिका
४४. प्रमोददायिकादोहावली
४५. वर्णविहारमोदचौंतीसी
४६. उदारचरित्रप्रश्नोत्तरी
४७. अष्टादशरहस्य
४८. जानकीस्नेहहुलासशतक
४९. नामपरत्वपंचाशिका
५०. वर्णविहारदोहा
५१. सतविनयशतक
५२. विरतिशतक
५३. विशदवस्तुबोधावली
५४. तत्वउपदेशत्रय
५५. बारहराशि सातवार
५६. मणि-माल
५७. अर्थपंचक
५८. मननसौहव
५९. फारसीहुरूफतहज्जीवार-हल्ना
६०. शिवाशिव-अगस्त्य-सुतीक्ष्ण-संवाद

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

कोइ वाम रूप भजि शाक्त हुए कोइ अस्मृति शासन ग्रसे हुए।
कोइ निर्गुण ब्रह्म समझते हैं सुषमाना आसन कसे हुए॥
कोइ महाविष्णु को जाप किये उरमाल छाप भुज लसे हुए।
जालिम ! हम हाय कहाँ जावें तेरे जुल्फ जाल में फँसे हुए ॥[1]

ललन कैसे निबहैगी मोरी तोरी प्रीति।
जो भाखत हिय बीच प्रान प्रिय तेहि पथ चलत सभीत।
महा मलीन मूल परगह वपु तासन नेह प्रतीत।
पलभर कह्यौ न मानत मम मन रचत रीत विपरीत।
'युगल अनन्य शरण' तापित मन कीजिय सपदि सुसीत ॥[2]

होरी के रंग जंग में क्या मौज नई है।
हर चार तरफ बाग बहारों से उई है।
खेले उमंग संग सजन सोहनी लिए॥
तर तान आसमान तलक होश हुई है।
मोहर मरोरदार मधुमास मई है॥
श्री जानकी जीवन से लगन होरी में लगी है।
सब तौर युगल अनन्य अली मौज मई है ॥[3]

२८. महाराज रघुराजसिंह

अपने पिता, रीवाँनरेश विश्वनाथसिंह की भाँति महाराज रघुराजसिंह भी अच्छे कवि, संतों के सेवक और कवियों के उदार आश्रयदाता थे। इनका

१–फुटकर छंद २–उत्सवविलासिका, पृ० १०१
३–वही, पृ० ४७

जन्म, कार्तिक कृष्ण, ४ गुरुवार सं० १८८० (१८२३ ई०) में रीवाँ राज-भवन में हुआ। घर पर पहले इन्हें संस्कृत और फारसी की शिक्षा मिली। इसके साथ ही इन्हें अंग्रेजी पढ़ाने के लिये महाराज विश्वनाथसिंह के अनुरोध से लार्ड विलियम बेंटिंग ने कलकत्ता से नवकृष्ण भट्टाचार्य नामक एक बंगाली सज्जन को रीवाँ भेजा। रामभक्ति इन्हें अपने पिता से दाय रूप में मिली थी। इन्होंने सं० १८९० की कार्तिक शुक्ल ११ को वैष्णव संत स्वामी मुकुन्दाचार्य से दीक्षा ली और सं० १९०७ से रीवाँ में ही लक्ष्मणबाग मंदिर का निर्माण कराकर गुरु को उसकी गद्दी पर प्रतिष्ठित किया। सन्तों और तीर्थों में इनकी अगाध श्रद्धा थी। काशी, मथुरा, पुरी, अयोध्या आदि तीर्थों में इनके दान की कथायें आज भी प्रचलित हैं, हिन्दूसंस्कृति के उद्धार में भी ये सतत प्रयत्नशील रहते थे। प्राचीन आर्य राजाओं की भाँति वाजपेय, पौण्डरीक, अग्निहोत्र इत्यादि महायज्ञों का विधिपूर्वक अनुष्ठान करके इन्होंने भारतीय नरेशों की आर्य कर्मकाण्डप्रणाली को पुनरुज्जीवित करने का कदाचित् अन्तिम प्रयत्न किया था। अयोध्या के अपने समकालीन महात्मा श्री युगलानन्यशरण की सम्मति से चित्रकूट में इन्होंने रसिक महात्माओं के लिये प्रमोदवन नामक स्थान पर मन्दिर बनवाये। 'रामरसिकावली' जैसी भक्तचरितावली का निर्माण इनके सन्तहृदय का परिचायक है। 'भक्तिविलास' नामक इनके एक ग्रन्थ से पता चलता है कि ये दास्य भाव से कृष्ण की उपासना करते थे।[1] किन्तु रामावतार पर भी इनकी उतनी ही श्रद्धा थी। रामकृष्ण में अभेद प्रतिपादन के साक्ष्य, इनकी कृतियों में बराबर मिलते हैं।[2] इसके अतिरिक्त दैनिक पूजा में ये 'वाल्मीकिरामायण' के बालकाण्ड का पाठ और २४ हजार षडक्षर राममन्त्र का जप करते थे, जिससे इनकी राम

१— बाँधव सुदेश रीवाँ राजित सु राजधानी
 नाम रघुराज नाम विदित बघेला को।
सन्तन को दास, सन्त-सेवन की आस,
 ग्रंथ भक्ति को विलास निरमान्यो रस रेला को।
दीजै नहि दोष लीजै वस्तु सद् ग्रथन को
 कीजै मोपै कृपा संतों मानि नात चेला को।
दास की उपासना है आसना है और कुछ
 जानो मोहि दास जदुनाथ अलबेला को॥
—भक्तिविलास, पृष्ठ १

२— अवधेश कुमार बड़ो सुकुमार भलो वसुदेव कुमार तथा।
गुणशील सुभाव प्रभाव समान उभै दिशि सोहत भानु यथा॥

भक्ति में दृढ़ आस्था प्रकट होती है। अपने ग्रन्थों में इन्होंने दोनों अवतारों की साथ-साथ वन्दना की है[१]।

पिता की मृत्यु के बाद १८५४ ई० में ये ३० वर्ष की आयु में सिंहासन पर बैठे। राजकार्य के साथ ही काव्य में विशेष रुचि होने के कारण इनके दरबार में कवियों का एक अच्छा जमघट रहता था जिनमें लक्ष्मणप्रसाद, संत कवि, हनुमान प्रसाद, बख्शी गोपालदत्त, माखन, नन्दकिशोर, पुष्करसिंह, जगदीशप्रसाद गौतम, गयाप्रसाद कायस्थ, गोविन्दप्रसाद, अजबेस, सीताराम, वासुदेव, रसिक नारायण, रसिकबिहारी और श्री रामचन्द्र शास्त्री मुख्य थे।

महाराज रघुराजसिंह की सतवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और राजकार्य से इनकी अरुचि हो गई। १८७५ ई० में अपना समस्त राज्यप्रबन्ध इन्होंने अंग्रेजी सरकार को सौंप दिया और स्वयं सांसारिक झंझटों से विरक्त हो तीर्थाटन, साधु-सेवा और पूजापाठ में जीवन बिताने लगे। अंतिम दिनों में ये रीवाँ से संलग्न अपने बसाये गोविन्दगढ़ नामक स्थान पर रहते थे। श्रावणकृष्ण तृतीया सं० १९३३ (१८७६ ई०) को इनके एक पुत्र हुआ जो आगे चलकर वेंकटरमण सिंह के नाम से रीवाँ की गद्दी पर बैठा। पुत्रोत्पत्ति के बाद एक ही वर्ष तक ये जीवित रहे। माघकृष्ण नवमी सं० १९३६ (१८७९ ई०) को ५७ वर्ष की आयु में अपने गुरुस्थान लक्ष्मण बाग में ही ये दिव्य साकेत धाम को प्राप्त हुए।

महाराज रघुराज सिंह सिद्धहस्त रामभक्त कवियों में गिने जाते हैं। इनके लिखे ३२ ग्रन्थों का पता लगा है। ये सभी भक्तिविषयक हैं। दास्यनिष्ठा के भक्त होते हुए भी इनका झुकाव राम की शृङ्गारी लीलाओं के वर्णन की ओर अधिक दिखाई देता है। इन्होंने भक्ति के भावपक्ष के साथ ही साथ उसके शास्त्रीयपक्ष का भी निरूपण किया है। 'भक्ति विलास' इनका एक

उत सोहि रही सरयू सरिता इत दुहिता इत वासर नायक की।
इत गोकुल त्यों मथुरा नगरी उत औधपुरी सब लायक की॥
इत हैं यशुदा जननी प्रभु की उत कोशल राज सुता सुखदा।
दोउ नाथ दयानिधि जानि पर्यो शरणागत मैं रघुराज सदा॥
—रघुराजविलास, पृष्ठ ७०

१— जय जय जय जदुवंश मणि, यदुनन्दन जगदीश।
जयति जनार्दन जय जनक, जानकीश भज ईश॥
—भक्तिविलास, पृष्ठ १

ऐसा ही ग्रन्थ है। प्रांजलता और छंदों की विविधता, इनकी शैली की प्रधान विशेषतायें हैं।

इनकी निम्नलिखित रचनायें प्राप्त हैं—

१. सुन्दरशतक	१७. विनयमाल
२. विनयपत्रिका	१८. भक्तमाल
३. रुक्मिणीपरिणय	१९. गद्यशतक
४. आनन्दाम्बुनिधि	२०. चित्रकूटमाहात्म्य
५. भक्ति-विलास	२१. मृगयाशतक
६. रहस्यपंचाध्यायी	२२. पदावली
७. रामरसिकावली	२३. रघुराजविलास
८. रामस्वयंवर	२४. श्रीमद्भागवत-माहात्म्य
९ विनयप्रकाश	२५. भागवतभाषा
१०. रामअष्टयाम	२६. गंगाशतक
११. रघुपतिशतक	२७. शंभुशतक
१२. धर्मविलास	२८. हनुमचरित्र
१३. रामरंजन	२९. परमप्रबोध
१४. भ्रमरगीत	३०. सुधर्मविलास
१५. जगन्नाथशतक	३१. रघुराजचन्द्रावली
१६. युवराजविलास	३२. नर्मदाष्टक

रामचरितविषयक 'रामस्वयम्वर' इनकी सर्वप्रसिद्ध रचना है। इन्होंने इसका प्रणयन सं० १९३२ (१८७५ ई०) में काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह की प्रेरणा से किया था। इस ग्रन्थ के २३ प्रबन्धों में से २२ में केवल बालकाण्ड की रामकथा का धूमधाम से वर्णन किया गया है। इससे चरित के विविध प्रसंगों का सन्तुलन बिगड़ गया है और कथाप्रवाह में शिथिलता आ गई है। शैली भी विस्तार-प्रियता के कारण आकर्षण-हीन एवं बोझिल हो गई है। राम और उनके भाइयों के विवाहोत्सव के वर्णन में कवि की वृत्ति विशेष रमी है। इस महाकाव्य का रामस्वयंवर नाम भी उसने इसीलिये रखा। इस रचना में १९वीं शती के सामाजिक जीवन का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। एक स्थान पर तो इससे कालदोष भी आ गया है। कवि ने कालनेमि की सभा में कुरान पढ़ते हुए मुसलमानों का वर्णन किया है और अभिवादनार्थ 'सलाम' का प्रयोग कराया है। इसके अतिरिक्त राजभवनों की सजावट और पात्रों की वेशभूषा आदि का वर्णन भी इन्होंने समसामयिक जीवन से

अतिशय प्रभावित होकर किया है। इसमें तत्कालीन राजसी ठाटबाट की छटा सर्वत्र दिखाई देती है।

भक्तों के वृत्त-संग्रह के रूप में 'रामरसिकावली' इस काल की अपने विषय की निस्सन्देह सर्वोत्तम कृति है।

उनकी रचना के उदाहरण स्वरूप कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

सासु की बुलाई सीय आई अगनाई बीच
ताछिन मृगाक्षिन को रूप हेरि हरिगो।
सलही दुकूलन ने दुलही के ओप अङ्ग
चंचल चमक चौंध लोचन में भरिगो॥
घूँघट उघारि मुख देखत दशा बिसारि
फैरत प्रकाश मुख चन्द मन्द परिगो।
गिरिजा गिरा गुमान सिन्धुजा सती को मान
काम-बाम रूप को गुमान कूच करिगो॥[1]

पको पीत काकुन लसै, कनक कान्ति कमनीय।
जिमि बाला विवरण भई, विरह विदेशी पीय॥[2]

अब मैं केहि विधि हरि कहँ पाऊँ। कौने भवन आसु अब आऊँ॥
अस कहि मन्दहि मन्द सिधार्‍यो। तहँ अद्भुत इक भवन निहार्‍यो।
डरत डरत पैठ्यो तेहि माँही। कोउ तहाँ तेहि रोक्यौ नाहीं॥
चलो गयो द्विज धीरे धीरे। पुलकत जकत रुकत कछु भीरे॥[3]

विलसत रघुवर आलि वसंते।
शीतलमन्दसुगन्धिसमीरित सरयूतटे दिनते॥
अमलकपोले कुडललोले विलसत आभापूरे।
मनसिजकेतुबिम्ब इव मनसिजमुकुरतले न विदूरे॥
पवनवशादतिसूक्ष्मसलिलकणपूरिततनुरतिकामम्।
ज्ञानवसंतागमसरयूरिव जलैः प्रसिंचति रामम्॥
परमविशालरसालकुसुमकृतकुंजे मधुकरगुंजे।
सुखमति रघुराजे श्री रघुराजं सखिसमूहसुखपुंजे॥[4]

१—साहित्य संकलन, पृ० ११६
२—वही, पृ० १२०
३—वही, पृ० १२६
४—रघुराजविलास, पृ० ६१

मच्योरी रंग महल में रंग।
केसरि कीच बीच नर नारी विह्लित उमँगि उमंग॥
एक ओर रघुवंशी राजें साजें अभरण अङ्ग।
एक ओर युवतिन को मंडल लीन्हें बीण मृदंग॥
गाइ रहे कोउ नाचि रहे कोउ करें खेलि खुल जंग।
सरयू भई भारती धारा पाइ गुलाल प्रसंग॥
रह्यो न सुरति सम्हार सबन को हैगो आनन्द दंग।
श्री 'रघुराज' मनोरथ पूरण भये सकल दुख भंग॥[1]

३९. हनुमानशरण 'मधुरअली'

इनका जन्म बघेलखंड में स्थित रीवाँ राज्य के किसी गाँव में हुआ था। उस प्रदेश में महात्मा रामसखे की मैहर और रीवाँ में स्थापित गद्दियाँ सख्योपासना की प्रधान केन्द्र थीं। मधुरअली जी इनके प्रभाव में आकर सख्य रस के महात्मा रघुवरसखा के शिष्य हो गये। उस समय इनका नाम 'हनुमान-शरण' रखा गया। किन्तु कालान्तर में इनकी निष्ठा सखीभाव की ओर अधिक झुकती गई और सख्यभाव में दीक्षित होते हुए भी ये 'आराध्य की शृंगारीलीला' के गान-ध्यान में ही तल्लीन रहने लगे। इससे अपने तत्सम्बन्धी 'मधुरअली' नाम से ही ये अधिक विख्यात हुए। रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह इनका बड़ा आदर करते थे और अपनी दास्यनिष्ठा के नाते इन्हें "मौसी" कहा करते थे। उनके स्नेह से अपने जीवन का अधिकांश इन्होंने रीवाँ में ही बिताया। रीवाँराज्य की ओर से इन्हें गोविन्दगढ़, रामनगर, मृगोती, दशरथ-घाट और अमहियाँ के राममन्दिरों का प्रबन्ध सौंपा गया था और उसके लिये स्थायी वृत्ति का बंधान था। रासलीला में इनकी विशेष अभिरुचि थी। अतएव 'लीलाविहारी' की नृत्यपरिचर्या, ये स्वयं, पैरों में घुँघरू बाँधकर करते थे। एक बार महाराज रघुराजसिंह ने रीवाँ में अपने लक्ष्मणबाग स्थित मंदिर के सामने ब्रज से आई हुई एक मंडली से रासलीला करवाई। जिस समय रासलीला हो रही थी, मंडप की एक दीवार गिर गई जिसमें पन्द्रह-बीस स्त्री पुरुष दब गये। मंडलीवालों में से भी कई घायल हो गये। इससे रास तत्काल बंद कर देना पड़ा। महाराज रघुराजसिंह की प्रेरणा से उसी स्थान पर दूसरे दिन राम-रास का आयोजन 'मधुरअली' जी ने किया। जब रास की झाँकी सज गई तो

---

[1]—रघुराजविलास, पृ० ५८

'युगल सरकार' की नृत्यसेवा में उपस्थित होकर उन्होंने बड़े ही मधुर स्वर में एक पद गाया, जो आज तक संतों और नागरिकों में प्रसिद्ध है। पद यह था—

अवध सैयाँ कीन्हो न काहि के नैयाँ।
लछिमन बाग सघन कुञ्जन में तरु असोक की छहियाँ॥
ब्रज से आये लीला देखावन गिरी देवाल टूटि करिहैयाँ।
पाँच सात मनसेधुआ दबिगे औ दस दबी लुगइयाँ॥
यह सुनि 'मधुरअली' चकित भईं बार बार परीं पैयाँ॥

मधुरअली जी की निम्नलिखित पाँच रचनायें मिलती हैं।

१—युगलविनोद पदावली ४—युगलविनोद कवितावली
२—युगलवसतविहार लीला ५—रामदोहावली
३—युगलहिंडोल लीला

इनमें 'रामदोहावली' की प्राप्त मूलप्रति में ग्रंथ का रचनाकाल ज्येष्ठ शुक्ल १२, सं० १९४४ दिया गया है। मधुरअली जी की गद्दी के वर्तमान महन्त श्री सरयूशरण के अनुसार यह उनकी अन्तिम कृति है। अतएव इसीके लगभग उनकी साकेत यात्रा मानी जा सकती है। इस ग्रंथ के लेखन-स्थान के विषय में कवि का कहना है—

रामनगर में मन्दिर, बन्यौ विसाल अनूप।
लसत लखन जुत जानकी, रघुनायक सुरभूप॥
तहँ मंदिर में बैठिके, ग्रंथ कीन मैं पूर।
राम दोहावली नाम है, विमल सजीवन मूर।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपने अन्तिम समय तक व रीवाँ में ही रहे।

मधुरअली जी की रचनाओं में उनके महलीनाम के अतिरिक्त 'मंजुअली' छाप भी मिलती है।

नीचे उनकी रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

जनक नंदिनी स्वामिनी, स्वामी दसरथ लाल।
मधुरअली देखत छकत, नैनन करत निहाल॥
लली लाल दोऊ लसत, गलबाहीं दै बेस।
मधुरअली देखे जियत, रहत न तनक कलेस॥
रामायन दोहावली, रामचरित भरिपूर।
मधुरअली तेहि गायकै, गई दुसह दुख दूर॥[1]

१—रामदोहावली—उत्तरकांड, पत्र १२२

राम को नाम सुधारस पाय करै गुरु संत औ विप्र के सेवा।
नेम निरंतर प्रेम ते पूर लखें हित मानिकै तीनिहु देवा॥
'मंजुअली' सुख केर है धाम हरै दुख देत हैं सुंदर मेवा।
जो जन जानि करै न धरै मन ताकों दिनै दिन होत है केवा॥[1]

करु मन युगल रूप को ध्यान।
दसरथ लाल लली सुषमा निधि है दोउ जीवन प्रान॥
बोलत मधुर सुधा जनु बरसत चित्त फँसत मुसक्यान।
'मधुरअली' दंपति की पटतर लखि न परत कोउ आन॥[2]

४०. बैजनाथ

श्री बैजनाथ कुर्मवंशी का जन्म बाराबंकी जिले के डेहवानानपुर गाँव में सं० १८९० की शरद पूर्णिमा को हुआ था। इनके पिता हीरानंद उसी गाँव के जमींदार थे। सुखोपभोग के अनेक साधनों के होते हुए भी लड़कपन से ही ये विरक्तवृत्ति से रहते थे। इसी अवस्था में इन्होंने अपने चाचा फकीरे राम से, जो गृहस्थ वेष में संत थे, मंत्रदीक्षा ले ली। दैवयोग से सं० १८९८ में फकीरे राम के गुरु महात्मा वैष्णवदास मानपुर आये। वहाँ कुछ दिन ठहरकर वे अयोध्या चले गये। इस घटना के बाद आठ वर्ष तक किसी प्रकार फकीरेराम घर पर रहे। सं० १९०६ में घर का सारा भार बैजनाथ जी के पिता हीरानंद पर छोड़कर वे अयोध्या आ गये। सं० १९१४ में पिता का स्वर्गवास हो गया तब से गुरु आज्ञा लेकर बैजनाथ जी ने गाँव में ही पुस्तकरचना तथा सत्संग करते हुए जीवनयापन किया।

श्री बैजनाथ आरंभ में दास्यभाव के उपासक थे। इनकी निम्नांकित गुरु परंपरा इसी श्रेणी के भक्तों की है—[3]

१. श्री स्वामीरामानन्द	५. " माधवदास
२. " अनन्तानन्द	६. " खोजीदास
३. " गयादास	७. " चतुरदास
४. " लक्ष्मीदास	८. " रामदास

१—ग्यारहवीं खोज रिपोर्ट, पृ० २९४

२— वही, पृ० ८३

३—श्री तुलसीकृत रामायण बालकांड (बैजनाथ कुर्मी की टीका)
—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, १९२० ई०, पृ० १

९. श्री हरिदास	१५ „ ब्रह्मदास
१०. „ कृपाराम	१६ „ श्यामदास
११ „ जैकृष्णदास	१७ „ रामदास
१२. „ संतोषदास	१८ „ वैष्णवदास
१३ „ रघुनाथदास	१९ „ फकीरेराम
१४ „ पूर्णदास	२० „ बैजनाथ

किन्तु आगे चलकर इनका झुकाव शृङ्गारी उपासना की ओर हो गया। उस रस का सम्बन्ध इन्होंने रसिक महात्मा सियावल्लभशरण जी से लिया। निम्नलिखित पंक्तियों से इसका समर्थन होता है।

रसिकलता अवलम्बहित, कल्पद्रुम सीतास।
गुरु सियवल्लभ शरण कहि, बैजनाथ पितुपास॥[1]

इनकी 'रामायण की टीका' में अनेक स्थलों पर रसिकभाव की झलक मिलती है। अध्यायों के अंत में दी गई पुष्पिकाओं से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वे इसी सम्प्रदाय के भक्त थे—

"इति श्री रसिकलताश्रित कल्पद्रुम सियवल्लभशरणागत बैजनाथ विरचितायां श्रीरामचरितमानस भूषणे श्री रामायणमहात्म्य वर्णनो नामाष्टम प्रकाश।[2]

बैजनाथ जी की निम्नांकित रचनायें मिलती हैं।

(१) गीतावली की टीका (सं० १९३२)
(२) काव्यकल्पद्रुम (स० १९३५)
(३) कवितावली की टीका (स० १९३८)
(४) रामचरितमानस की टीका (स० १९४१)
(५) रामसतसैया भाव प्रकाशिका (सं० १९४२)
(६) रामसिया सयोगपदावली (स० १९४७)

इनकी रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं।

देखन जोग सिया दुलही री।
सुषमा सत्य शृङ्गार सार लै, रचत न बल विधि बुद्धि गही री।
कुन्दन वार तड़ित नेवछावरि, सब सुठौर जस अङ्ग चहीरी॥
सुलत करोरि चन्द्र आनन द्युति, छहरि छोनि सखि चकि सी रही री।
कनकालय केकयी सुमित्रा, सुत सेवा हित दीन सही री॥

१—रामायणसटीक (बैजनाथ) भूमिका, पृ० १ २—वही, पृ० ११२

माघ हस्त गुरु असित सप्तमी, वधू सूप फरु सास कही री।
छरस तूर्य विधि वहु व्यंजन के, बैठे सब भरि पीढ़ मही री॥
थार वशिष्ठ भूप राघव दै, भरत लखन पुनि रिपुहन ही री।
मुनि प्रेरित नृप चूडामणि दै, करि भोजन जग द्वार वही री॥
सासु खवाय दास दासिन दै, आपु बहिनि सह ग्रास लही री।
अस बाँह दै लाल प्रिया सह, 'बैजनाथ' वसि हौं पयही री॥[1]

लालपट शीला, चारुशीला हेम झारी हाथ,
नील चीर लक्ष्मणार्घ्य पाद्य पात्र पानी है।
श्वेत पट हेमा हेम थार गंध फूल पाक,
पीत चीर क्षेमा कर धूप दीप दानी है॥
बैजनी निचोल मधुपर्क वरारोहा माल,
फूल पद्मगंधा जो गुलाबी चीर ठानी है।
अली पट छत्र लै सुलोचना सु 'बैजनाथ',
हरे चीर चामर लै सुभगा सयानी है॥[2]

भोरी भई सुधि माधुरी पागि लगे मुखचन्द्र चकोर सुनैना।
सौम्य चितै चित चोरि लियौ सुधि बैजसुनाथ रही सुभगैना॥
ज्यों मखियाँ मधु जाइ फँस्यो मन हाथ नहीं मुकुदै किमि बैना।
मूरति श्यामल गौर लला की लखान घनै पै बखान बनैना॥[3]

४१. जानकीप्रसाद 'रसिकविहारी'

'रसिकविहारी' का जन्म पौष शुक्ल सप्तमी सं० १९०१ (१८४४ ई०) को झाँसी में श्रीधर नामक एक सम्पन्न कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर हुआ था। इनका लालन पालन एक राजकुमार की भाँति हुआ। संस्कृत और नागरी की शिक्षा प्राप्त कर थोड़ी आयु में ही अपनी असाधारण प्रतिमा से ये पन्ना के तत्कालीन राजा के कृपापात्र हो गये और दीवान के पद पर कार्य करने लगे। अयोध्या में कनकभवन के महन्त प्यारेराम जी इनके गुरु थे। उनके साकेतवास के पश्चात् ये कनकभवन के महन्त हो गये। इनका प्रसिद्ध नाम जानकीप्रसाद था 'रसिक बिहारी' उपनाम था। इनके लिखे रामचरित तथा अन्य विषयों पर २६ ग्रंथ प्राप्त हैं, जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध 'रामरसायन'

१–रामायण की टीका (बैजनाथ), पृ० ७६५
२–वही, पृ० ५६०
३–फुटकर पद

नामक प्रबन्धकाव्य है। काव्यसौष्ठव की दृष्टि से अपने समय का यह एक उत्तम शृंगारी महाकाव्य है। इसकी भाषा में रीतिकाल के प्रमुख कवियों—ठाकुर और पद्माकर की सी प्रवाहात्मकता और चमत्कारप्रियता के दर्शन होते हैं। रामचरित के रसिक पक्ष को लेकर लिखी गई प्राचीन कृतियों के संदर्भ देकर 'रसिकबिहारी' ने अपने मत की पुष्टि की है। इससे कथाप्रवाह में शिथिलता आ गई है। भक्ति के अतिरिक्त लौकिक विषयों पर भी इनकी रचनाओं की संख्या कम नहीं है। यह इनकी निम्नांकित ग्रंथसूची से स्पष्ट हो जायगा—

१. काव्य सुधाकर (सं० १९२०)
२. मानस प्रश्न (सं० १९२२)
३. नामपचीसी (सं० १९२२)
४. सुमति पचीसी (सं० १९२४)
५. आनन्दबेलि (सं० १९२४)
६. पावस विनोद (सं० १९२४)
७. सुयश कदंब (सं० १९२५)
८. ऋतुरंग (सं० १९२५)
९. नेह सुंदरी (सं० १९२७)
१०. रस कौमुदी (सं० १९२७)
११. विपरीत विलास (सं० १९२८)
१२. इश्क अजायब (सं० १९२८)
१३. बजरंग बत्तीसी (सं० १९३०)
१४. विरह दिवाकर (सं० १९३१)
१५. ग्रंथ प्रभाकर (सं० १९३१)
१६. कानून स्टाम्प (सं० १९३४)
१७. कानून जाब्ते अंग्रेजी (सं० १९३५)
१८. सतरंज विनोद (सं० १९३५)
१९. नवल चरित्र (सं० १९३६)
२०. षट्ऋतु विभाग (सं० १९३६)
२१. राग चक्रावली (सं० १९३७)
२२. मोदमुकर (सं० १९३७)
२३. कल्पतरु कवित्त (सं० १९३८)
२४. दरिद्र मोचन (सं० १९३८)
२५. रामरसायन (सं० १९३९)
२६. कवित्त वर्णविलास

उनकी रचना के नमूने नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

एक समै शुभ औसर जानी। दई रजाय सुनैना रानी॥
कुलपति पूजन सदा सुहायो। होत समय सो अति नियरायो॥
याते वेगि सौंज सजि सारी। होय देव पूजन तैयारी॥
सुनि आज्ञा सेवक हुलसाये। सपदि जथोचित साज सजाये॥
पूजन दिन सुघरो जब आई। तब प्रमुदित जानकिहिं बुलाई॥
सुता सुशील धर्म रत जानी। कही मात मंजुल मृदु बानी॥[१]

लाज मरजाद पितु मातु के संकोचवश,
जौं लौं रहीं सदन न सौंहीं चित दीनीं मैं।

१—रामरसायन, पृ० ७८

बहुरि सिधारो वन तब ते दुखारी अति,
सहित सुबन्धु वेष तापस को तीनों में ॥
'रसिक विहारी' सुख समय निरायो जब,
तब प्रथमै तै भयो लाड़िली बिहीनो मैं ।
शूलैगी सदाही यह शूल उर मेरे हाय,
प्यारी को न प्यार कबौं जिय भरि कीनो मैं ॥[1]

सुखद सुन्दर वन प्रमोद विराजहीं ।
विमल सरजू तट अधिक छवि छाजहीं ॥
भूमि झुकि झुकि पवन झोका लेत हैं ।
करत घन घनघोर अति छवि देत हैं ॥[2]

४२. रघुनाथदास रामसनेही

रामभक्त महात्माओं में गोस्वामी तुलसीदास के बाद, लोकप्रचार के विचार से ये प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं। रामसाहित्य में इनका 'विश्रामसागर' रामचरितमानस को छोड़कर एक अत्यन्त प्रचलित ग्रन्थ है।

ये अयोध्या मे रामघाट पर 'रामनिवास' नामक स्थानपर रहते थे।[3] 'विश्रामसागर' की रचना यहीं हुई थी। इनके जीवनवृत्त सम्बन्धी तथ्यों का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। 'विश्रामसागर' से केवल इतना ज्ञात होता है कि इनके गुरु देवादास नामक कोई काशीनिवासी महात्मा थे,[4] जिनका आविर्भाव अग्रदास जी की परम्परा में हुआ था। उक्त ग्रंथ की रचना चैत्र शुक्लनवमी (रामनवमी) सं० १९११ में हुई थी।

इनका 'विश्रामसागर' चलती भाषा में लिखा गया राम तथा कृष्णचरित सहित विविध धार्मिक कथाओं का एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें मानस की शैली ही नहीं शब्दावली तक, अनेक स्थलों पर अपनाली गई है। इसके अतिरिक्त उनकी कोई अन्य रचना उपलब्ध नहीं है।

१—रामरसायन, पृ० ३०९ २—वही, पृ० ५१४।

३—अवध पुरी परसिद्ध जग, सकल पुरिन सरनाम।
रामघाट के घाट में, रामनिवास सुधाम ॥
—वि० सा०, पृ० ६

४—वही, पृ० ५, ६०५

महात्मा बनादास

(पृ० ४८१)

नीचे इनकी रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

मिथिला पति के महल की, शोभा किमि कहि जात।
जहँ विहरत श्री जानकी, अखिल लोक की मात॥
दमयन्ती रति विधुमती, जात-रूप श्रुति गात।
लाजत मदन मयङ्क लखि, सीता जू की मात॥
रविते मणि शशि शम्भुते, ज्यों पावन ते गंग।
लही अधिक छबि त्यों लही, निमिकुल सीय प्रसंग॥[1]

स्वस्ति श्री श्री पत्री शुभ स्थान जी।
कौशल पुर धुर पहुँचे नृपकर कान जी॥
लिखी विदेह नगर ते विश्वामित्र की।
मिलि बांचनै अशीष सहित सुर पित्र की॥[2]

अवध विराजत यामिनी, जिमि विरहिनि त्रिय चारु।
पति आवत सुनि मुदित मन, कीन सुतनु शृंगारु॥
कीन सुतनु शृंगारु, कोटि कटि किंकिणि जानौ।
मणि विद्रुम मय भवन, अङ्ग प्रति भूषण मानौ॥
साजे वसन सुरंग, सग सखि चित्र अनेका।
पग नूपुर पुर शोर, घोर गनि बाजत एका॥
चंचल अञ्चल पानि, पताका ध्वज फहराहीं।
ग्रामधाम के लोग, सकल धाये प्रभु पाहीं॥[3]

४३. बनादास

महात्मा बनादास का जन्म गोंडा जिले के अशोकपुर नामक गाँव में पोष शुक्ल ४. सं० १८७८ (१८२१ ई०) में हुआ था। ये क्षत्रिय जाति के थे। इनके पिता गुरुदत्त सिंह साधारण खेतीबारी से परिवार की जीविका चलाते थे। उन्होंने पुत्र का नाम बनासिंह रखा। साधनहीनता के कारण वे इन्हें पढ़ा न सके। बनादास को इसका अन्त तक खेद रहा।[4]

१—वि० सा०, पृ० ४३०
२—वही, पृ० ४४९ ३—वही, पृ० ५९८
४—विद्या विधि नाहीं लिखी, भूलि भाल हू माहिं।
पढ़े ककहरा बालपन, मात्रा साबित नाहिं॥
—ब्रह्मायन परामक्ति परत्तु, छं० ४

छोटी आयु में ही इनकी प्रवृत्ति आध्यात्मिक साधना की ओर मुड़ी और इसी अवस्था में इन्होंने पुनर्जन्म न लेने का प्रन ले लिया।[१] इनकी यह दशा देख कर पिता ने अपने कुलगुरु महात्मा लक्ष्मणदास से इन्हें दीक्षा दिला दी। उस समय ये बिल्कुल अबोध थे।[२]

इसी अवस्था में इन्होंने शिवपूजा, मानस पाठ और योगाभ्यास की क्रियाएं आरम्भ कर दीं। गुरुदत्त सिंह ने लौकिक जीवन में रुचि उत्पन्न करने के लिये इनका विवाह कर दिया। किन्तु अध्यात्मसाधना का प्रवाह पूर्ववत् गतिशील रहा।

घर की आर्थिक दशा शोचनीय देखकर इन्होंने भिनगा राज्य (बहराइच) की सेना में नौकरी करली और लगभग सात वर्ष तक वहाँ रहे। इसके अनन्तर घर लौट आये। यहाँ रहते अधिक दिन नहीं बीते थे कि इनके एकमात्र पुत्र का परलोकवास हो गया। ब्रजनादास, शव के साथ ही अयोध्या चले गये और फिर वहीं के हो गये।

अयोध्या में पहले ये स्वर्गद्वार पर रहे, फिर रामघाट पर चले गये। उसके बाद कुछ दिनों तक काशी, मिथिला, शृंगवेर पुर, चित्रकूट, प्रयाग, नैमिसार सूकरखेत आदि तीर्थों का पर्यटन कर, ये फिर अयोध्या लौट आये और पुराने स्थान, रामघाट पर रहने लगे। इनकी भेंट परमहंस सियावल्लभशरण से यहीं हुई। उनसे इन्होंने भक्ति, ज्ञान और योग पद्धतियों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया। फिर रामघाट पर ही षोडशवर्षीय कठोर तपस्या का अनुष्ठान कर बैठ गये। इनकी प्रतिज्ञा थी—

देहौं देखाय महातम नाम को
तौ जन राम को हौं सुचि साँचो।
आस औ वासना के बस है,
जग में नट सा फिकनाच न नाचो॥

१—बाढ़ी श्रद्धा हिये बालपन ते अति भारी।
यहि तन नाधौं जक फिरौं नहिं भव की पारी॥
—उ० प्र० रा०, पृ० ४९८

२—गुरु करने को मोहि न ज्ञाना। देखि महातम पितु अनुमाना॥
तिनके सरन दिये करवाई। यतनी धर्म बुद्धि तब आई॥
—गुरुमाहात्म्य, छं० ५२

दास बना कलि काल कराल में
नातो अहै सब साधुता काँचो।
है दशरत्थ के लाल ही को बल,
विष्णु विरंचि महेश न जाँचो॥

तपस्या में इनके आदर्श, भरत थे। इनका विश्वास था कि जिस प्रकार १४ वर्ष तक नन्दिग्राम में तपोमय जीवन व्यतीत करके भरत ने राम का साक्षात्कार किया था उसी भाव को धारण कर आज भी प्रभुविरह में शरीर तपाने से वे प्राप्त हो सकते हैं।[1] इस चौदहवर्षीय तपस्या की समाप्ति पर इन्हें इष्टदेव ने साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ किया।[2]

इसके पश्चात् ये वर्तमान विक्टोरियापार्क से सलग्न भूमि पर एक गुलाब की बाड़ी में कुटी बनाकर रहने लगे। कहते हैं एक बार रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह ने इनकी अलौकिक प्रतिभा से प्रभावित होकर पक्की कुटी और मंदिर बनाने के लिए १० हजार रुपया समर्पित करने की इच्छा प्रकट की थी। स्वयं क्षत्रिय होने के नाते बनादास ने उसको अस्वीकार करते हुए कहा था—

जाँचब जाच जमाति जर, जोरू जाति जमीन।
जतन आठ ये जहर सम, बनादास तजि दीन॥

किंतु पीछे रघुराजसिंह की रामभक्ति से प्रसन्न होकर इन्होंने अपनी ओर से थोड़ी भूमि मंदिर बनाने के लिये इस शर्त पर दे दी थी कि उसका सारा प्रबंध राज्य की ही ओर से होगा, इनका उससे कोई सम्बन्ध न रहेगा। इस स्थान पर बनादास जी ने अशोक, सिहोर, बेल और गूलर के वृक्ष लगाये और उसका नाम 'भवहरण कुंज' रखा। विक्टोरियापार्क की पश्चिमी सीमा से लगा हुआ

१—चौदह वर्ष को राम गये वन भूप तजे तन जान जहाना।
औध निवासी सहे सब संकट के तप औ व्रत संजम नाना।
लछमण औ सिय संग गये भये भरम घरै महँ भर्त सुजाना।
'दास बना' सनबन्ध जो राम सं वौ किन कीजिये पथ पुराना।
—उ० प्र० रा०, पृ० १४

२—करुनामय रघुबंस मनि, सहि न सके यह पीर।
हृदय कमल विगसित भयो, प्रगटे सिय रघुबीर॥
अरुन चरन पंकज वरन, कल कोमल नवनीत।
सुरति में आयो जबै, नास भई भवभीत॥
—आत्मबोध, छं० ८०, ८१

यह आश्रम अब तक उसी रूप में वर्तमान है। इसी स्थान पर चैत्र शुक्ला सप्तमी सं० १९४९ (१८९२ ई०) को उनकी रामधामयात्रा हुई।

महात्मा बनादास 'दास्य' भाव के उपासक थे। किन्तु उनकी कृतियों में भक्ति के पंचरसों की साधना के संकेत मिलते हैं। एक स्थान पर उन्होंने अपने को 'मधुरदास' घोषित किया है। उनका भाव था कि वे रामावतार के समय प्रभु के 'दास' दास थे और इस सम्बन्ध से प्रभु की परिचर्या के लिये विवाह के अवसर पर साथ ही मिथिला गये थे। 'बना' अथवा दूल्हा का 'दास' नाम उसी समय प्रभु ने रख दिया था। इसलिए उनकी माधुर्यलीलाओं के ध्यान का भी ये अपने को अधिकारी मानते थे। अन्य दासों की तरह केवल बाह्य परिचर्या के लिये उनकी नियुक्ति नहीं थी, मधुरदास होने से महल के भीतर भी उनकी रसाई थी क्योंकि बिना सर्वकाल और सर्वत्र सेवा में मग्न हुए तृप्ति नहीं होती।[1]

महात्मा बनादास ने ६४ ग्रंथों की रचना की थी। उनमें ६१ प्राप्त हो गये हैं।[2] इन ग्रंथों में से अबतक केवल एक महाकाव्य, 'उभयप्रबोधक रामायण' प्रकाशित हुआ है। शेष की पाण्डुलिपियाँ प्रस्तुत लेखक के पास सुरक्षित हैं।

इनकी रचनाओं की तालिका नीचे दी जाती है।

क. प्राप्त ग्रन्थ

१. अर्जपत्रिका सं० १९०८	७. गरजपत्री सं० १९१२ ?
२. नामनिरूपण सं० १९०९	८. मोहिनी अष्टक सं० १९१३ ?
३. रामपंचाङ्ग सं० १९१०	९. अनुरागविवर्धक रामायण सं० १९१५ ?
४. सुरसरिपंचरत्न सं० १९१० ?	१०. पहाड़ा सं० १९१६ ?
५. विवेकमुक्तावली सं० १९११ ?	११. मानामुक्तावली सं० १९१६ ?
६. रामछटा सं० १९१२ ?	

१— बिना सब ठाँव गति निपित न मानै मन,
मीतम बिछोह पल बरस हजार है।
बनादास सियाराम कृपा ते 'मधुरदास'
सब ठौर बसु जाम खड़े दरबार हैं॥
—अनुराग विवर्धक रामायण (उ० कां०), छं० १७५

२—ग्रन्थों के प्रश्न चिह्नांकित (?) काल का महात्मा बनादास ने स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। प्रस्तुत लेखक ने अन्विष्ट प्रमाणों के आधार पर उनका समय निर्धारित किया है।

१२. ककहरा अखिल सं० १९२२ ।
१३. ककहरा झूलना सं० १९२२ ।
१४. ककहरा कुंडलिया सं० १९२२ ।
१५. ककहरा चौपाई सं० १९२२ ।
१६. खड़न खड्ग सं० १९२३ ।
१७. विक्षेप विनाश सं० १९२५ ।
१८. आत्म बोध सं० १९२५ ।
१९. नाममुक्तावली सं० १९२५ ।
२०. अनुरागरत्नावली सं० १९२५ ।
२१. ब्रह्मसंग्राम सं० १९२६ ।
२२. विज्ञानमुक्तावली सं० १९२६ ।
२३. तत्वप्रकाश वेदान्त सं० १९२७ ।
२४. सिद्धान्तबोध वेदान्त सं० " ।
२५. शब्दातीत वेदान्त सं० " ।
२६. अनिर्वाच्य वेदान्त सं० " ।
२७. स्वरूपानन्द वेदान्त सं० " ।
२८. अक्षरातीत वेदान्त सं० " ।
२९. अनुभवानन्द वेदान्त सं० " ।
३०. वेदान्तपचाङ्ग सं० " ।
३१. ब्रह्मायनसार सं० १९२९
३२. ब्रह्मायन तत्त्व निरूपण सं० " ।
३३. " ज्ञानमुक्तावली सं० " ।
३४. " विज्ञानक्लोला सं० " ।
३५. " शांति सुयुक्ति सं० " ।
३६. " परमात्मबोध सं० " ।
३७. " पराभक्ति परत्व सं० " ।
३८. शुद्धबोध वेदान्त ब्रह्मायनसार सं० १९२९ ।
३९. रकारादि सहस्रनाम सं० १९३१
४०. मकारादि सहस्रनाम सं० १९३१
४१. बजरंगविजय सं० १९३१
४२. उभयप्रबोधक रामायण सं० १९३१
४३. विस्मरण सम्हार सं० १९३१
४४. सारशब्दावली सं० १९३१
४५. नाम परत्व सं० १९३२
४६. नाम परत्व संग्रह सं० १९३३
४७. बीजक सं० १९३४
४८. मुक्तमुक्तावली सं० १९३४
४९. गुरुमाहात्म्य सं० १९३४
५०. संतसुमिरनी सं० १९३९
५१. समस्यावली सं० १९३९
५२. समस्या विनोद सं० १९३९
५३. शूलनपचीसी सं० १९४० ।
५४. शिवसुमिरनी सं० १९४० ।
५५. हनुमन्त विजय सं० १९४०
५६. रोग पराजय सं० १९४१
५७. गजेन्द्र पचदशी सं० १९४५ ।
५८. प्रह्लाद पचदशी सं० १९४५
५९. द्रौपदी पचदशी सं० १९४५ ।
६०. दाम दुलाई सं० १९४७ ।
६१. अर्द्ध पत्नी सं० १९४७

ख. अप्राप्त ग्रन्थ

६२. मोक्ष मंजरी ६३. सगुन बोधक ६४. बीजक रामायनी

गोस्वामी तुलसीदास के बाद रचनाशैलियों की विविधता, प्रबन्धपटुता और काव्यसौष्ठव की दृष्टि से बनादास, रामभक्ति शाखा के सर्वोत्कृष्ट कवि ठहरते

है। इनके जीवन और कृतियों का एक आलोचनात्मक अध्ययन 'महात्मा बनादास' के नाम से अलग प्रकाशित हो रहा है अतएव विस्तारभय से यहाँ इनकी काव्यशैली का विवेचन नहीं किया गया है। केवल इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि इनकी कृतियों में निर्गुणपंथी, सूफी और रीतिकालीन रचनापद्धतियों का भी प्रयोग हुआ है किन्तु आधार राम का रामभक्ति ही है।

नीचे इनकी रचनाओं के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

पिय सो अन्तर ना सहै, झीना वसन पहार।
रोम रोम मे रमि रहा, बनादास दिल्दार॥
ब्याही जान्यो पीवसुख, अन ब्याही अनमेल।
बनादास कैसे लखै, खेलत गुड़िया खेल॥
बिरह बान लाग्यो नहीं, भयो न पिय को सग।
बनादास कैसे चढै, निज सरूप को रग॥
अकथनीय मन बुद्धि पर, कहै कवन विधि बैन।
बनादास जानै कोऊ, सखी सखी को सैन॥[1]

जिगर से जख्म भारी है। दशा बिरही की न्यारी है।
खरे नैना उदासे हैं। लेत गहरी उसासें हैं।
अधर सूखे वदन जरदी। रँगे अङ्ग रङ्ग ज्यों हरदी।
न आवै नींद दिन राती। स्वास ही स्वास है आती।
भले अन्दर जलाया है। वाह्य सो रङ्ग छाया है॥
हृदय की कौन लखि पावै, मोहब्बत जात बढती है।
बना माशूक जब राजी, दशा निसि दिवस चढ़ती है॥
नहीं मन बुद्धि मे आवै, वचन कैसे बखानैगा।
करै अनुमान बहुतेरे, गया सो स्वाद जानैगा॥[2]

कूदत कुलॅचत बँदर बीरवाद नाना,
लूम को लफाय धाय चौकरी भरतु हैं।
कटकटाय काटत दशन ते विटप कोपि
देखि राम बन्धुयुत मोद उछरतु हैं॥
'बनादास' सहज असक लक लीलो चहैं,
कठिन कराल नहिं कालहु डरतु हैं।

१—विवेकमुक्तावली से २—उ० प्र० शा०, पृ० २८५

उड़त अधाम फला करत अनेक भाँति,
धीर न धरत ठाँव ठाँव ही करतु हैं ॥[1]

कैसी प्यारी कजरिया सावन की।
दिन बक पाँति उदै वासव धनु, निसि बिजुली मनभावन की।
सघन बुंद बरसत अति बलकरि, चित न करत कोउ आवन की॥
दादुर धुनि खद्योत चमकन, बाढ़त रुचि बहु गावन की।
'दासबना' आसिक क्या सोवै, अतिसै सौक झुलावन की॥[2]

आसन है सतोष तख्त पर, रामघाट के नाके हैं।
आप से आवै ताको पावैं, करत कभी नहीं फाके हैं॥
अब तो बादशाह लघु लागै, जुगलमाधुरी छाके हैं।
'बनादास' सियराम भरोसे, अवधपुरी के बाँके हैं॥[3]

अलबेली अलक लखे सजनी न पलक लगै उठै आह छनै छन।
उर होइ गलक हलक थकै न थकै वर बानी रहै मन ही मन॥
हियहेरि हरे हहरें सहरैं लहरैं लखि होत अनन्द जनै जन।
कहरैं कसकैं धसकैं धरि धीरज, 'दासबना' धनि साई अहैं धनि॥[4]

साधो सुन्नि में सुन्नि समानी।
तब त्रैगुन्नि मिलत नहि हेरे, पाप पुन्नि की हानी।
ब्रह्मा औ ब्रह्मानी मरि हैं मरि हैं, सिमु भवानी।
तैंतिस कोटि देवता मरि है, कठिन मरै की बानी।
चाँद भानु औ तारे मरि हैं, मरि हैं जम अभिमानी।
काल करम औ माया मरिहै, रहिहि न सिष्टि निसानी।
स्वर्ग पताल लोक तिहुँ मरि है, एक मरिहि नहिं ज्ञानी।
सिष्टि प्रलै थिति की मिति मिथ्या, मैं नीकै पहिचानी।
'दासबना' हम अमर सनातन, है रस एक ठेकानी॥[5]

१४ अवधशरण

ये निम्बार्काचार्य रामसखे के घराने के सख्य रसावेशी भक्त थे। इनका जन्म रीवाँराज्यान्तर्गत कृपालपुर नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता प० रामदयाल

१—उ० प्र० रा०, पृ० ३१७
२—समस्या विनोद, पृ० २४१
३—अर्ज पत्रिका से
४—रामछटा, छ० १२२
५—सारशब्दावली, छ० ७९

सरयूपारीण ब्राह्मण थे। किशोरावस्था में रीवाँ के प्रसिद्ध विद्वान् श्री लक्ष्मणाचार्य से दीक्षा लेकर ये संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने लगे और थोड़े ही समय में अनेक शास्त्रों में पारंगत हो गये। तत्कालीन विख्यात नैयायिक प० दिवाकरभट्ट को शास्त्रार्थ में पराजित करने पर इनकी विद्वत्ता की धाक पूरे बघेलखंड में जम गई और सर्वत्र प्रतिष्ठा होने लगी। महाराज रघुराजसिंह इनके मुख्य कृपापात्र बन गये। किंतु कुछ ही दिनों बाद इनका मन शास्त्राथ ज्ञानार्जन की ओर से हट गया और माधवगढ़ के परम रामभक्त प० रामाधीन के सत्संग से इनकी प्रवृत्ति रामभक्ति की ओर उन्मुख हुई। तीव्र वैराग्य का उदय होने से लोकमान्यता एवं ऐश्वर्य को ठुकराकर ये अयोध्या चले गये और सरयू तट पर भजन करने लगे। सख्यरस का सम्बन्ध इन्होंने नृत्यराघवकुंज के महंत जानकीशरण जी से लिया। अयोध्या में प० उमापति जी से इनकी घनिष्ठता थी। ये वात्सल्य भाव के भक्त थे और इष्टदेव के 'सखा' होने से अवधशरण जी को 'लालसाहब' कहा करते थे। आरंभ में कुछ दिनों तक नृत्यराघवकुंज में रहने के बाद ये 'रामसखे जी की बगिया' में चले आये और यहाँ अपनी एक अलग गद्दी स्थापित की। इस स्थान पर ये नित्य इतिहास पुराण की कथायें कहा करते थे। इनकी विद्वत्ता एवं भक्तिसिंचित वाणी से आकृष्ट, सत्श्रोताओं की भीड़ लग जाती थी। इनकी सख्यभावना इतनी उन्नत थी कि सायंकाल में नित्य पीनस पर 'लालजी' को बैठाकर ये उनके पीछे सन्तमण्डली के साथ नामध्वनि करते हुए टहलने निकला करते थे। इस प्रकार अपनी अलौकिक सख्यनिष्ठा का निर्वाह करते हुए चैत्रकृष्ण ११, बुधवार स० १९४९ को अवधशरण जी ने अपने दिव्यसखा का नित्यसाहचर्य प्राप्त किया।

इनकी सबसे अधिक प्रसिद्ध और सख्यसिद्धान्त का एकमात्र प्रकाशित रचना 'सख्यसिंधुचन्द्रोदय' है। सख्यसम्प्रदाय में इसका वही महत्त्व है जो श्रृंगारीशाखा में मधुराचार्य के 'सुन्दरमणि संदर्भ' और रामचरणदास जी के 'रामनवरत्न सारसंग्रह' का है। इसके अन्तर्गत सख्यभाव की प्राचीनता एवं उसके स्वरूप की विवेचना शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर की गई है। इससे इनके प्रगाढ़ पाण्डित्य और आर्षग्रंथों के व्यापक अध्ययन का पता चलता है। प० रामवल्लभाशरण जी ने हिन्दी टीका से अलंकृत कर इसे सर्वसुलभ बना दिया है। अवधशरण जी की हिन्दी में कोई कृति प्राप्त नहीं है।

नीचे इनकी रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

> यथा एको हेमो निखिलकृतयाद्याभरणता,
> द्रुतं वह्नौ तापात् परिणमति दिव्योमसदृशाम्।

महात्मा रूपसरस

(पृ० ४८६)

परमहस शीलमणि

(पृ० ४६०)

तथैवैकं सख्यं विविधरसरूपे परिणतम्,
क्रमाद्भेदो ह्येषां व्यपदिशति नैमित्तिकतया[1] ॥

रामं रामानुजं सीतां भरतं भरतानुजम् ।
सुग्रीवं वायुसूनुं च प्रणमामि पुनः पुनः ॥
अज्ञानतिमिरध्वान्तं सद्य प्रध्वंसकारकम् ।
सख्यसिन्धूदयं पूर्णं चन्द्रं रामं प्रणम्य च ॥
श्रुतिस्मृतिपुराणेषु तथा रामायणेषु च ।
जीवात्मसख्यसम्बन्धसिन्धुचन्द्रोदय ब्रुवे ॥[2]

४५. रामानुजदास 'रूपसरस'

'रूपसरस' जी प्रसिद्ध शृङ्गारी रामभक्त सियासखी जी क पुत्र थे। इनका व्यावहारिक नाम रामानुजदास था। इन्हें अपने पिता से ही दीक्षा मिली थी और अपने चाचा चन्द्रअली जी के पश्चात् ये जयपुर के सीताराम मन्दिर के महन्त हुए थे। इन्होंने गृहस्थ जीवन में ही साधनामय वृत्ति धारण कर ली थी। अपनी गद्दी की परंपरा में परिमाण की दृष्टि से इन्होंने सबसे अधिक काव्यग्रन्थों की रचना की है। ये एक रसज्ञ संत एवं आचार्य के रूप में विख्यात थे। इनके असाधारण व्यक्तित्व से आकर्षित होकर चंदेरी के युवराज ने, जो आगे चलकर श्री सीतारामशरण के नाम से विख्यात हुए, इनसे दीक्षा ग्रहण कर विरक्तवेष धारण किया था। इनके लिखे हुए 'गुरुअर्चा महात्म्य' की रचना सं० १९२३ में हुई अतएव इसीके आसपास इनका आविर्भावकाल माना जा सकता है। इनकी निम्नलिखित कृतियाँ प्राप्त हैं, किन्तु वे सभी अप्रकाशित हैं।

१. सीतारामरहस्यचन्द्रिका
२. धाम प्रकाश
३. भावना प्रकाश
४. युगलरहस्यप्रकाश
५. रसमंजरी
६. गुरुप्रताप आदर्श
७. श्री गुरु अर्चा महात्म्य

नीचे इनकी रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

रतन जड़ित पिंजरन में बोलत खग गन मधुरी बानी।
उठहु लाल जागहु सियवल्लभ नागर वर सुखदानी ॥
कोटि अनत सखी जुरि आईं दर्शन हित अकुलानी।
'रूप सरस' मुख देख्यौ चाहत नाहिं तो जीवन हानी ॥[3]

१-सख्यसिन्धुचन्द्रोदय (आवरण पृष्ठ) २-वही, पृ० १ ३-स्फुट पद

आवेंगे राघवजी जानपरी, होन जो लगी है मेघझरी।
सावन को आवन मोहि भाख्यौ, जातां कौल करी॥
सो दिन आये लगत सुहाये, भई सब भूमि हरी।
उलहे जहँ जहँ पत्र नये तरु, सूके ताल भरी॥
शीतल मंद सुगंध पवन वसि, होत सगुन भलरी।
वाम अंग फरकत लखि सजनी, साज सउगे कलरी॥
छिन छिन महल चढूँ अविलोकूँ, मग कौसल नगरी।
'रूपसरस' गर्वित अति है हौं निरखत दोउ सँगरी॥[1]

गुरु प्रसाद प्रहलाद भये नरसिंह परायण।
गुरुप्रसाद शुचि वाल्मीकि गाई रामायण॥
गुरुप्रसाद ते मिटी योनि चौरासी नारद।
गुरुप्रसाद ते मुनि अगस्ति भे भक्ति विशारद॥
अस बहुरि सुतीक्ष्ण आदि दै, कहँ कहाँ तक वर्णि अब।
कह रामानुज जो कछु मिलै, गुरुप्रसाद जे जानि सब॥[2]

४६. शीलमणि

परमहंस शीलमणि का जन्म कुमायूँ प्रदेश के बीहड नामक गाँव में सं० १८७७, माघ शुक्ल १० को हुआ था। पिता का नाम सुधीपन्त और माता का सुभद्रा देवी था। इनके पिता उस पर्वतीय प्रान्त के अच्छे विद्वान् और नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। उनकी काशी और टेहरी दरबारों में बडी प्रतिष्ठा थी। इनका नाम हर्षपन्त रखा गया। इन्होंने पिता से ही प्रारम्भ में संस्कृत की शिक्षा पाई। दुर्भाग्य से बाल्यकाल ही में उनका देहान्त हो गया। माता, पति के साथ सती हो गईं। हर्षपन्त पर इस घटना का गहरा प्रभाव पडा। वे घर छोडकर निकल पडे और किसी संन्यासी से दीक्षा ग्रहण कर उसी कोमल वय में विरक्त हो गये। कुछ दिनों तक हींगलाज इत्यादि तीर्थों में भ्रमण कर वे अवध पहुँचे और यहाँ पयहारी जी से दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा-गुरु ने इनका वैष्णवसम्बन्धी नाम सीतारामदास रखा, किंतु इनकी भावना सख्य भाव में अधिक रमती थी। अतएव गुरु आज्ञा से इन्होंने श्री रामानुजदास से सख्य सम्बन्ध ग्रहण किया। सख्य भाव की सम्बन्ध दीक्षा देते समय सद्गुरु ने इनका नाम शीलमणि रखा और भावानुकूल सम्बन्ध भोग की सपूर्ण प्रक्रिया का इन्हें बोध कराया। इसके बाद ये स्थायी रूप से अयोध्या में रहने लगे। प्रारम्भ

१—स्फुट पद २—श्रीगुरुभक्तिमहात्म्य, पृ० ८

में इनका आसन निर्मलीकुण्ड पर रहा। इस काल में इनके कठिन तप की कथायें सन्त समाज में आज तक प्रचलित हैं। कहा जाता है कि इनके पास एक लंगोटी और एक बड़ा चोगा था। उसे पहन कर स्नान करते थे और वह शरीर पर ही सूखता था। महात्मा रामचरणदास इन पर विशेष कृपा रखते थे। उनके सम्पर्क से सख्य के साथ शृंगार में इनकी निष्ठा दृढ़ होती गई।

कुछ समय उपरान्त ये निर्मली कुण्ड से अयोध्या नगर म चले आये और अपनी शृंगार-समन्वित-सख्य निष्ठा के अनुकूल कनकभवन के द्वार पर ही 'लाल साहेब का दरबार' नामक स्थान की प्रतिष्ठा कर वहीं रहने लगे। युगला नन्यशरण जी से इनके सौहार्द्र और पत्रव्यवहार की चर्चा पहले हो चुकी है। 'मानस' में इनकी बड़ी श्रद्धा थी। इनकी परम्परा में आज भी उस के कुछ सकलित छन्दों का पाठ पूजा के समय नित्य होता है। उस सकलन से ज्ञात होता है कि राम के बाल और किशोर चरित्रों का कीर्तन इनको विशेष प्रिय था। वनवास की 'रूक्ष' लीलाओं का इसीसे उसमे सन्निवेश नहीं मिलता। परमहस जी की सख्य लीलाओं और सिद्धियों की अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। उनसे इनकी तीव्र विरक्ति, निरभिमानता, साधना की ऊँची स्थिति और भाव सिद्धि का पता चलता है। वैशाख शुक्ल एकादशी स० १९३० को इन्होंने अयोध्या मे लोकयात्रा समाप्त कर कुञ्जवास किया।

शीलमणिजी की निम्नाकित १९ रचनाएँ मिलती हैं—

१ कनकभवन महात्म्य	१०. रामकरमुद्रिका
२. सम्बन्ध प्रकाश	११. सख्यरस दोहा
३. श्री अवध प्रकाश	१२. सख्यरस दर्पण
४. पदावलीसग्रह	१३ सियावरनाममणिमाला
५. पावसवर्णन	१४. केदारकल्प वैदिक
६. पचीकरण	१५ कवितावली
७. विनयपत्रिका	१६. होरी
८. रसमेल दोहावली	१७. ज्ञानभूमिका
९. रत्नमंजरी	१८ सियाकरमुद्रिका
	१९. विवक गुच्छा

इनमें 'विवेकगुच्छा' और 'सियाकरमुद्रिका' प्रकाशित हो चुकी हैं, शेष अप्रकाशित हैं। साधारणतया अपने ग्रन्थों में इन्होंने व्रज और अवधी का ही प्रयोग किया है, किन्तु खड़ी बोली की छटा भी यत्र तत्र दिखाई देती है।

अपनी कृतियों में इन्होंने प्रभु की विहारलीलाओं के वर्णन के साथ ही सख्य के सिद्धान्त और शृङ्गार से उसके सौहार्द्र का भी यत्र तत्र उल्लेख किया है।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं :—

सखा छबीले लाड़िले, छैल फैल छल छाय।
छिपे रहत हो साँवरे, सीलमनी मन चाय॥
रहत संभारत चित्त को, संभरत नाही मीत।
शीलमनी मत दीजिये, दरस दरद भर नीत॥[1]

रैनि दिवस जक लगी राम की घातक से छवि छाके हैं।
गनै न काल कराल जाल को धर्म कर्म धर फाके हैं॥
सील मनी मस्ताव आब छिन बदन चहक दृग जाके हैं।
जिकिर राम की फिकिर न कोई अवध शहर के बाँके हैं॥[2]

झूलत सिया सुन्दर लार।
छुटीं अलकें मदन मातीं वदन चन्द उदार॥
डरति झोंकन झुकति प्यारी होत पिय गरहार।
श्री शीलमनि सरसिज सु चम्पा मनहुँ एकै डार॥[3]

४७. बल्दूदास

ये अयोध्या की बड़ी-छावनी के स्थापक बाबा रघुनाथदास के शिष्य थे। इनका जन्म उन्नीसवीं शती के मध्य में बाराबंकी जिले के सिसिऔना ग्राम में हुआ था। यहीं इनकी साधनाभूमि भी थी। इस ग्राम में इनकी कुटी बनी हुई है जहाँ इनकी रचनायें सुरक्षित कही जाती हैं। उनमें केवल 'राम-कुडलियाँ' अभी तक प्रकाश में आई है।[4] उसकी रचनाशैली से विदित होता है कि अक्षरज्ञान साधारण होते हुए भी इन्हें संतजीवन का गहरा अनुभव था और सत्संग तथा तपश्चर्या के द्वारा प्रगाढ भक्ति प्राप्त हुई थी। ये दास्यनिष्ठा के संत थे।

नीचे इनकी रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

बालकपन पालन कियो, जननी लै लै गोद।
तरुनाई तरुनी मिली, देत महामन मोद॥

१—विवेक गुच्छा, पृ० ८

२—सियाकर मुद्रिका, पृ० ३१   ३—वही, पृ० २८

४—'राम कुडलियाँ' श्री रामरक्षा त्रिपाठी 'निर्भीक' द्वारा संपादित होकर हनुमत प्रेस अयोध्या से प्रकाशित हुई है।

महात्मा जानकीवर शरण
(पृ० ४६३)

परमहंस सीताशरण
(पृ० ४६६)

यात्रायें कीं।[1]

यात्रा में ये अकेले रहते थे। किसी साथी को रखना इन्हें पसंद न था। इस विषय में लोगों के प्रश्न करने पर एक बार इन्होंने कहा था—

तलाशे यार में क्या ढूँढ़िये किसी का साथ।
हमारा साया हमें नागवार राह में है॥

सं० १९३३ के बाद स्थायी रूप से ये अयोध्या में ही रहे। इनकी विरक्ति भावना इतनी तीव्र थी कि महात्मा युगलानन्यशरण के अनुरोध करने पर भी इन्होंने लक्ष्मणकिला की गद्दी स्वीकार नहीं की। इनकी परमधामयात्रा माघ अमावस्या सं० १९५८ को अयोध्या में हुई।

स्वतन्त्र ग्रंथ के रूप में इनकी केवल एक कृति 'मिथिला महात्म्य' मिली है, किन्तु स्फुट कवितायें प्रचुर मात्रा में संप्रदाय में प्रचलित हैं।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

शरद ऋतु सरसी प्रीति भरी।
जनु पावस प्रिय पाहुन पायो, बरसन को श्रम सफल करी॥
कबहुँ कतहुँ सो नान्हीं नान्हीं, बुँदिया बरसत तरातरी।
साज समाज नखत सँग लीन्हे, श्री द्विजराज प्रकाश धरी॥
रास विलास करत प्रिया प्रीतम, देखि चाँदनी चन्द ढरी।
ताथेई ताथेई तात थेई थिग, थिग, धा सु मृदंग झरी॥

१—श्रीप्रभुदयाल शरण ने जानकीवरशरण जी की जीवनी में यह लिखा है कि वे यात्राओं में धनीमानी रईसों, जमीदारों और सेठ साहूकारों के यहाँ नहीं ठहरते थे। जानकीवरशरण जी के निम्नलिखित छंद से उनके ऐसा करने का कारण स्पष्ट हो जाता है—

आनन मनोहर सु जुवती जवानी पेखि,
वसन विचित्र लखि चित्त चलि जात है।
अतिक-चतिक व्यसनान्य सहवास पाय,
गान तान सुनि सदाचार बलि जात है॥
याही ते मुमुक्षु जन त्यागि देत दूरि ही ते,
काहू भाँति करत निबाह साक पात है।
जाको मन रम्यो गुरदेव रंग संग मध्य,
ताको लखि व्यसन रसन घबरात है॥

—प्रीतिप्रवाह, पृ० ३९

तान लेत प्रिय राग सोहनी, सिय गावत मुसकात खरी।
चहुँ ओर सखि मंडल छाये, 'जानकीवर' पिय मान हरी।[1]

हरित वधाई रंग भरी।
हरित कुंज घन लता हरित हूँ तरुवर हरित फरी।
हरित भूमि नभ हरित डार पर पछी हरी हरी॥
हरित बसन भूषन हरियाली चामर हरित छुरी।
हरित सखी मन मुदित विलोकहिं अतिसय प्यार करी॥
हरित लाल दसरथ के राजत धनि धरि आज धरी॥
रसिक जनन के सफल मनोरथ हरित हुलास भरी।[2]

चर्ष महोत्सव श्री स्वामिनि की।
श्री मिथिलेश द्वार पर सुरतिय चमकन घन दामिनि की॥
गावत गीत मनोहर भावत सुख पावत नवमी जामिनि की।
'जानकीवर' की जीवनि माता गावत मगल अभिरामिनि की॥[3]

चित ले गयो चोराय जुल्फों मे छला।
हम जानी वे कृपासिंधु हूँ तब उनसे भई प्रीति भला॥
विरही जन हिय दुख उपजावत करत नये नये अजब कला।
'प्रीतिलता' प्रीतम बेदरदो छाँड़ हमे कित गयो चला।[4]

४९ सरयूदास 'सुधामुखी'

ये अयोध्या मे प्रमोदवन नामक स्थान पर रहते थे और सरयरस क आचार्य महात्मा शीलमणि के शिष्य थे।[5] इनकी जीवनी सम्बन्धी अन्य तथ्यों का पता नहीं चलता। किन्तु इनकी रचनाओं और अतस्साधना विषयक नाम से यह प्रकट होता है कि, ये रसिक भाव के उपासक थे। इनकी चार कृतियाँ अब तक प्रकाश में आई हैं—

१. पदावली २ सर्व सारोपदेश ३. रसिकवस्तु प्रकाश ४. भक्त नामावली।

१–प्रीति प्रवाह, पृ० १४ ३–वही, पृ० ५
२–वही, पृ० २ ४–वही, पृ० ३५
५–भक्तनामावली का निम्नलिखित पंक्तियों से इसका निश्चयात्मक बोध होता है कि महात्मा शीलमणि हो इनके गुरु थे—
हरि को अति प्यारे हरिजन जस, जो जन मन में भावै।
सीलमनी गुरु कृपा करी जब, सुधामुखी कछु गावै॥

इनके कुछ छंद नमूने के रूप में नीचे दिये जाते हैं—

प्यारे झूलन पधारो झुकि आये बदरा।
सजि भूषन बसन अखियन कजरा ॥
मान कीजिये काहे पै सुख लीजिये अली।
तू तो परम सयानी मिथिलेश की लली ॥
देखो अवध ललन पिया आप ही खरे।
रोष बीत्यौ 'सुधामुखी' जब पायन परे ॥[1]

वंदौं श्री सियराम पद, सकल ज्ञान के धाम।
भक्ति सहचरी पाइये, जाहि कृपा अभिराम ॥
विषई को मन ना लगै, जिहि माना जग सार।
ज्ञान भक्ति वैराग्य युत, सो नर करहिं विचार ॥[2]

५०. परमहंस सीताशरण

ये चित्रकूट के निकटस्थ चावेपुर नामक गाँव के निवासी पं० सुखदेव त्रिपाठी के पुत्र थे। माता का नाम गौरादेवी था। इनका जन्म श्रावण शुक्ल सं० १८८८ (१८३१ ई०) में हुआ था। नामकरण संस्कार के समय इनका नाम 'कामदा नाथ' रखा गया। बाल्यकाल में इनका चित्रकूट के निकट निरञ्जनपुर नामक गाँव के निवासी एक तत्वज्ञ महात्मा से संसर्ग हो गया। उनके उपदेशों से इनकी विरक्ति भावना जाग्रत हुई। इनके इस भाव को देखकर मामा और पिता ने इन्हें गृहबन्धन में बाँधने का उपक्रम किया, विवाह की बात पक्की हो गई। किंतु जब विवाह के तीन दिन रह गये तो चुपचाप आधी रात को ये घर से निकल पड़े। चित्रकूट पास ही था। रात्रि का अवशिष्ट अंश भरतकूप पर बिताया। उक्त महात्मा ने इसके पूर्व इनसे अपनी बदरिकाश्रम यात्रा की चर्चा की थी। अतएव उनका दर्शन करने के उद्देश्य से चित्रकूट से ये बदरिकाश्रम के लिये चल पड़े। आठवें दिन वृन्दावन पहुँचे। उस समय वहाँ सेठ लक्ष्मीचन्द की ओर से श्रीरङ्गजी के मन्दिर-निर्माण की तैयारी हो रही थी। तीन दिन तक चीरघाट पर विश्राम कर श्री प्रियादास जी गोस्वामी के साथ दिल्ली गये। वहाँ से हरिद्वार होते हुए सत्यनारायण पहुँचे। गृहत्याग के पूर्व ही धारण किया गया मौनव्रत यहाँ तोड़ दिया। दादूपन्थी महात्मा केशवदास के अनुरोध से, ये सात महीने उन्हीं के आश्रम पर ठहर गये। वहाँ से केदारनाथ का दर्शन करते हुए वैशाख शुक्ल १५ सं० १९०४ को बदरीवन पहुँचे और

१–खोज रिपोर्ट (१९१७–१९) परिशिष्ट २, पृ० २४०
२– वही, पृ० २४१

निरञ्जनपुरवासी महात्मा का दर्शन कर कृतार्थ हुए। महात्मा जी से दीक्षा देने का प्रस्ताव करने पर उन्होंने इन्हें स्वयं दीक्षा न देकर अयोध्या के सख्य रसावेशी महात्मा शीलमणि से सम्बन्ध प्राप्त करने का आदेश दिया। इसलिये बदरिकाश्रम से ज्योतिर्मठ और नैमिषारण्य होते हुए ये अयोध्या चले आये। उसी दिन शीलमणि जी ने इन्हें दीक्षा दे दी और 'सीताशरण' नाम रखा। इसके बाद माधुकरी वृत्ति से जीवन यापन करते हुए ये मणिपर्वत पर रहने लगे। कुछ महीनों बाद मणिपर्वत से ये प्रमोदवन चले आये। गुरु का देहावसान हो जाने पर इन्होंने अयोध्या से पश्चिम आठ कोस दूर स्थित बहादुरपुर ग्राम के निकट सरयू तट पर कुटी बनाई और वहाँ बाबा रघुवीरशरण नामक काकी के एक महात्मा के साथ नौ वर्ष तक तपस्या की।

इसके अनन्तर कुछ समय तक ये निर्मलीकुंड पर महात्मा युगलानन्यशरण के साथ रहे। इसी बीच शीलमणि जी की गद्दी के अधिकारी, इनके गुरुभाई श्री सियासुन्दरीशरण का देहान्त हो गया। सन्तों के आग्रह से इन्होंने 'लाल साहेब का दरबार' की सेवा स्वीकार कर ली। महन्त पद पाकर भी इनकी विरक्तवृत्ति पूर्ववत् बनी रही। एक फटा कम्बल, तख्ता और बाघम्बर से ही अपना काम चलाते थे। अतएव संतसमाज में ये परमहंस की उपाधि से विभूषित किये गये।

स्वयं साधारण स्थिति में रहते हुए भी ये 'लालसाहेब' को बहुमूल्य आभूषणों और वस्त्रों से सदैव अलंकृत रखते थे। इससे सं० १९५० तथा सं० १९६४ में दो बार 'दरबार' में चोरी हुई जिसमें वस्त्राभूषणों के साथ चोर 'लालसाहेब' को भी उठा ले गये। परमहंस जी उनके विरह में व्याकुल हो गये, भोजन शयन त्यागकर दिन रात रोते रोते बिताने लगे। इस दशा का वर्णन करते हुए उनके शिष्य सद्गुरुप्रसादशरण लिखते हैं—

> विरह बावरे नाथ वृद्ध तन लोचन बारी।
> भूख नींद दोउ तजे अहर्निश रहत दुखारी॥
> लगन लगी बसु जाम एक रस दृढ़ व्रत भारी।
> राम नाम आधार प्रणयपन जोगवत भारी॥
> प्राणनाथ ! चित जा रमे जलपत स्वामि महान।
> रामलला प्रगटहु न तो विरह लेइहै प्रान॥

पहली बार 'लालसाहेब' एक पक्ष के भीतर ही मिल गये किन्तु दूसरी बार दो वर्ष लग गये। इसी बीच विरह के प्रचण्ड ताप से पीड़ित पाँचभौतिक शरीर को त्याग कर कार्तिक कृष्ण ११ रविवार सं० १९६६ को इन्होंने 'लालसाहेब'

का नित्यसेवासुख प्राप्त किया। इनके तिरोधान के तीन मास पश्चात् ठाकुरजी अपने दरबार में पुनः आ विराजे।

परमहंस जी की केवल एक 'पदावली' मिली है। उससे ज्ञात होता है कि छंदों में वे अपनी छाप सीताशरण न रख कर 'सीता राम' रखते थे।

नीचे उनके कुछ पद नमूने के लिए दिए जाते हैं—

सब सुखदेन सीय रघुराई।
रामचन्द्र अवतार उजागर राजिवनयन सोहाई॥
विमल वंश रविवंश विभूषण सोहत चारों भाई।
बाल विहार निते सरजू तट सुजन जननि सुखदाई॥
बाल सखा सोहैं रघुवंसी जोगवत रुचि अधिकाई।
बाल विभूषण बालधनुहिया बालछटा छहराई॥
बाल झंगुलिया बाल कुलहिया ताज चौतनी भाई।
'सीताराम' बाल वह मूरति नखसिख उर मों समाई॥

डफबाजो सिय सुकुमारी को।
कुंकुम केसर और अरगजा अबिर गुलाल सँवारी को॥
संग सखी सोहैं अलबेली होरिकेलि मतवारी को।
बाजत ताल मृदंग दुंदुभी गावहिं रंग सँवारी को॥
बरखहिं रंग उड़ावैं अबिरा बोलहिं जय सिय प्यारी को।
'सीताराम' अवधपुर वासो जस गावत छबिवारी को॥

राघव यार नयन कब देखें।
ऐसो चहनि अचल अब आवै तब जीवन निज लेखें॥
स्याम गौर अभिराम मनोहर जो सेवरी गृह देखें।
जो बलकल सिर जूट धरो है रुचिर लिये मुनि वेखें॥
सिव ब्रह्मादिक ध्यान धरो हैं रटत निरंतर सेषं।
मुनिवर संत विमल गुन गावैं और कहाँ कोउ लेखें॥
'सीताराम' नाम कलि साथी और कोउ नहि पेखें।
सो तो प्राण जिवनधन तेरो जग यह अचल अलेखें॥

५१. पं० सीताप्रसाद

इनका आविर्भाव अमेठी नामक स्थान के निवासी पं० ध्यानानन्द जी की स्त्री सरयूदेवी के गर्भ से ज्येष्ठ शुक्ल ११, सं० १९०१ (१८४४ ई०) में हुआ। पिता का देहान्त हो जाने पर लड़कपन में ही ये घर से निकल पड़े। बहुत

दिनों तक तीर्थाटन कर अयोध्या आये और रसिकाचार्य युगलानन्यशरण से भक्तिशास्त्रों का अध्ययन किया। इसके अनन्तर पण्डितों से साहित्य और व्याकरण की शिक्षा प्राप्त करके ये रामसखे जी की गद्दी मैहर (विन्ध्य प्रदेश) का दर्शन करने गये। वहाँ के तत्कालीन आचार्य रामप्रसादशरण से इन्होंने सख्यरस का सम्बन्ध प्राप्त किया। मैहर से लौटते हुए कामदमणि के साथ काशी आये और महाराज ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह से मिले। काशी में राजघाट पर राय माधवप्रसाद अग्रवाल इनके परम कृपापात्र बन गये और यावज्जीवन द्रव्य से इनकी सेवा करते रहे। काशी से ये अयोध्या आये। इसके अनन्तर अयोध्या और छत्रपुर ही उनकी कार्यभूमि रही। छत्रपुरनरेश विश्वनाथसिंह इन में बड़ी श्रद्धा रखते थे। राज्याश्रय प्राप्त करते हुए भी इनकी विरक्ति भावना इतनी तीव्र थी कि लेखनी, पुस्तकें और कम्बल के अतिरिक्त अपने पास कुछ नहीं रखते थे। कामदमणि के निधन पर इन्होंने उनके परिवार के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर ले लिया। व्यवहारक्षेत्र में यह इनकी अलौकिक सख्यनिष्ठा का परिचायक है। ८१ वर्ष की दीर्घ आयु भोग कर चैत्र कृष्ण पचमी सोमवार स० १९८२ को सीताप्रसाद जी अपने दिव्य सखा की गोद में जा विराजे।

पण्डित सीताप्रसाद जी की निम्नलिखित रचनाएँ मिलती हैं—

१. काव्य मधुकर-दूत
२. चित्र चिन्तामणि
३. आनन्दार्णव
४. भ्रातृ-पचक
५. सीताष्टक
६. बजरङ्ग-विजय
७. कालिका स्तुति
८. ऋतुराज
९. प्रश्नावली
१०. इश्क विनोद

पण्डित जी की कविता में काव्यांगों की योजना के साथ ही उनकी आत्मशक्ति से प्रस्फुटित एक विचित्र जिंदादिली मिलती है। निम्नांकित उद्धरणों में उसकी एक झाँकी प्राप्त की जा सकती है—

जग सों हँसाना मुख कारिख लगाना,
निज दौलत गँवाना बदनामियाँ उठाना है।
ठौर ठौर जाना दोस्त रुख का बचाना,
खूब गालियाँ कमाना मजा मन का उड़ाना है॥
आना फिर जाना फिर करना बहाना,
दिल अपना जलाना खाक तन का मिलाना है।

'सीताप्रसाद' बाना बना है देवाना,
यह आशिकी कमाना यारों जूतियों का खाना है ॥[1]

ज्ञानध्यान वैराग्य जोग को देखदेख कर हँसते हैं।
धर्म कर्म परलोक लोकसुख सब पैरों से घसते हैं॥
इश्क चमन में जिरह साजि हम कमर बद दिल कसते हैं।
सदा कचहरी अवध सहर के दरवाजे पर बसते हैं ॥[2]

विरह पीर भई नदिया अतिबल पीन।
हम भये तट तरुवरवा छिन छिन छीन ॥
विरह अपार समुदवा काय जहाज।
बूड़त प्राण बनिजवा बचत न आज ॥
झाँझरि है यह नइया पर मझधार।
लागहु लाल गोहरिया करहु उबार ॥
लालदरस तरु छहियाँ सीतल बात।
पियतीं रूप सलिलवा हरखतु गात ॥
यह फूर्लाल फुलवरिया कौनें काज।
जहाँ न लाल भँवरवा विरहत आज ॥[3]

५२. वृषभानुकुँवरि 'रामप्रिया'

महारानी वृषभानुकुँवरि का जन्म ज्येष्ठ शुक्ल २, स० १९१२, (१८५५ ई०) शुक्रवार को तिदारी ग्राम (बुन्देलखण्ड) में हुआ। इनके पिता कुँवर विजयसिंह परमार क्षत्रिय थे। जब ये कुछ बड़ी हुई तो इनकी फुआ महारानी साहिबा गरयी ने इन्हें अपने पास बुला लिया और प्राचीन परिपाटी से धार्मिक ग्रन्थों की शिक्षा दिलाई। इसी समय से इनकी प्रवृत्ति माधुर्य भाव से 'रामलला' की सेवा करने की ओर उन्मुख हुई। 'रामचरितमानस' का पाठ ये नित्य करती थीं। स० १९२६ में १४ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह ओड़छानरेश सवाई महेन्द्रप्रतापसिंह जी के साथ हुआ। वे भी अपने समय के एक अत्यंत धर्मपरायण व्यक्ति थे और प्रजा में 'राजर्षि' के नाम से विख्यात थे। अतएव महारानी वृषभानुकुँवरि को अध्यात्मसाधना में पति की ओर से सदैव सहायता मिलती रही।

इनके दो पुत्र और तीन कन्यायें हुईं। दोनों पुत्रों में से बड़े भगवतसिंह ओड़छा के राजा हुए और छोटे सावन्तसिंह बिजावर की गद्दी के अधि-

१–इश्क विनोद पृ० ११ २–वही, पृ० ४४ ३–वही, पृ० ४५–४६

कारी हुए। महारानी ने चित्रकूट, प्रयाग, काशी, वृन्दावन, श्रीरंग जी, द्वारावती, पुरी आदि प्रधान तीर्थों की यात्रायें कीं। पति की प्रेरणा से इनकी प्रवृत्ति योगाभ्यास की ओर हुई और महीनों तक केवल स्वल्प फलाहार करके साधना करती रहीं। इसके अनन्तर इनकी इच्छा अयोध्यादर्शन की हुई। अयोध्या आकर मुख्य मंदिरों का दर्शन करती हुई य कनकभवन गईं। पुजारी एवं महंत ने कनकभवन क अलौकिक महत्त्व की कथायें सुनाईं। महारानी का मन कनकभवनविहारी में रम गया और वहीं महीनों ठहर कर भगवान का सेवा करती रहीं। इसके पश्चात् कुछ दिनों बाद ये महाराज के सहित पुन अयोध्या आईं और अष्टकुंजों सहित कनकभवननिर्माण का संकल्प किया। महाराज की आज्ञा से वैशाख शुक्ल १०, बुधवार सं० १९४४ को उसकी नींव पडी और चार वर्ष के भीतर वह विशाल मंदिर बन कर तैयार हो गया। वैशाख शुक्ल ६, गुरुवार सं० १९४८ को उसमें युगलविग्रह की स्थापना हुइ। छ लाख मूल्य के रत्न-आभूषण समर्पित कर महारानी ने उसके रागभोग का समुचित प्रबन्ध कर दिया और राज्य की ओर से प्रबन्धक नियुक्त कर राजप्रासाद के रूप में ही उसकी प्रतिष्ठा स्थापित की।

महारानी वृषभानुकुँवरि ने टीकमगढ के प्राचीन मंदिरों का भी जीर्णोद्धार कराया। इसके पश्चात् वे प्राय अयोध्या में ही आराध्य की सेवा करती रहीं किन्तु जीवन के अंतिम वर्षों म रोगग्रस्त रहने से वे अवधदर्शन से वञ्चित रहीं। कार्तिक शुक्ला एकादशी सं० १९६३ को शरीर त्याग कर वे साकेतकुंजवासिनी हुईं। उनकी परलोकयात्रा के तीन वर्ष बाद जनकपुर का जानकीमंदिर, जो उनके जीवनकाल में ही बनने लगा था, तैयार हो गया। यह कनकभवन (अयोध्या) के ही समकक्ष था। उनकी इस अपार धर्मनिष्ठा से निर्मित कनकभवन और जानकीमंदिर रसिकों के मुख्य सम्मिलन केन्द्र हो गये। आज भी इन दोनों मंदिरों का नित्य दर्शन रसिकों की दिनचर्या का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है।

महारानी जी के विरचित कुछ फुटकर पद 'रामप्रिया' तथा 'वृषभानु कुँवरि' छाप से मिलते हैं। नमूने के रूप में उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं—

तेरे मिलने को छैल बहुत भटको।

कठिन निठुरता गही रावरे साँवरी सुरत हिये अटकी॥

वेगि दरस अब देहु दयानिधि ताप विरह की मन सटकी।
'रामप्रिया' देखे कब नैनन श्याम रंग छवि पियरे पटकी ॥[1]

स्वामिनी अब जनि मोहि बिसारो।
ज्यों लखि दीन प्रथम अपनाई सोई बात विचारो ॥
हौं अघखानि अज्ञान मन्दमति सो तुम हृदय न धारो।
यह विनती सुनु राजकिशोरी मेरो दुःख निवारो ॥
अतिकोमल सुभाव तुम्हरो है सो वह बिरद सम्हारो।
'अलि वृषभानु कुँवरि' कह सिय जू मोहि भरोस तिहारो ॥[2]

अवध-पिया काहे तरसावै जिया रे।
हमरी लाग रही सुधि तुमसों सैनन हरत जिया रे ॥
घरि पल छिन मोहि कल न परत है तनमन विवश किया रे।
'अलि वृषभानु कुँवरि' जीवनधन ऐसे तुम छलिया रे ॥[3]

५३. पं० रामवल्लभाशरण 'प्रेमनिधि'

अयोध्या में रामवल्लभाशरण नाम के दो रसिक संतों का प्रायः एक ही काल में आविर्भाव हुआ। एक गोलाघाट पर रहते थे और युगलानन्यशरण जी के प्रशिष्य थे, दूसरे जानकीघाट पर रहते थे और महात्मा वियादास के साधक शिष्य थे। महात्माओं में प्रथम स्वामी रामवल्लभाशरण और दूसरे पं० रामवल्लभाशरण के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्वामी रामवल्लभाशरण की जीवनी और कृतियों पर इसके बाद प्रकाश डाला जायगा। यहाँ पं० रामवल्लभाशरण के जीवनवृत्त और रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है।

पंडित जी शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान होने के साथ ही एक उच्च कोटि के भक्त भी थे, अतएव संस्कृत भाषा में लिखे गये रसिकसाधना के सैद्धान्तिक ग्रन्थों को प्रकाश में लाने में इन्हें अपूर्व सफलता मिली। वास्तव में इस सम्प्रदाय का जो प्रकाशित साहित्य आज उपलब्ध है उसका अधिकांश इन्हीं के अध्यवसाय और पांडित्य का प्रतिफल है। नैमित्तिक कार्यों के साथ रामसाहित्य के ग्रन्थों के पठन-पाठन का क्रम भी इनके आश्रम में बराबर चलता रहता था जिससे जिज्ञासु संतों की तृप्ति और साम्प्रदायिक विचारों का प्रचार होता था।

१—श्रीकनकभवनरहस्य पृ० ३१
२— वही पृ० ३४
३— वही पृ० ४७

प० राम वल्लभाशरण

(पृ० ५०२)

स्वामी रामवल्लभाशरण

(पृ० ५०५)

इनका जन्म आषाढ कृष्ण १३, सं० १९१५ (१८५८ ई०) को बुन्देलखण्ड में पन्ना राज्य के रगौंह नामक गाँव में कान्यकुब्ज ब्राह्मण वंश में हुआ था। पिता का नाम पं० रामलाल और माता का रमादेवी था। इनका नाम धनुषधारी रखा गया। सयोगवश पाँच ही वर्ष की आयु में इन्हें मातृवियोग का अपार दुख सहना पडा। जब ये सात वर्ष के हुए तो किसी महात्मा की प्रेरणा से इनके पिता रगौंह छोड कर पाँडी नामक गाँव में पुत्र के सहित निवास करने लगे। उस गाँव में एक सीतारामंमदिर था। उसमे हनुमान जी की भी मूर्ति स्थापित थी। ये वहाँ नित्य हनुमानचालीसा का पाठ करते थे। पीछे गाँव के नंबरदार की प्रार्थना पर पिता पुत्र मंदिर की सेवा करते हुए उसी मे निवास करने लगे। पिता के प्रयत्न से १७ वर्ष की आयु में ही ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् हो गये। सं० १९३२ में पिता का भी स्वर्गवास हो गया।

इसके पश्चात् मंदिर का प्रबन्ध रामवचनदास नामक एक महात्मा को सौंपकर इन्होंने सं० १९३३ की रामनवमी (चैत्रशुक्ल ९) को उन्हीं से दीक्षा ले ली और वहीं रहकर तपोमय जीवन व्यतीत करने लगे। महात्मा जी को जब नवदीक्षितशिष्य की चारित्रिक दृढता पर विश्वास हो गया तो दो वर्ष बाद सं० १९३५ में इन्हें निवृत्तिमार्ग की दीक्षा दे दी। इनका नाम रामवल्लभाशरण इसी समय रखा गया। कुछ दिनो बाद अयोध्या के रामायणी महात्मा रामदास विचरते हुए पाँडी पहुँचे। उनके सत्संग से प्रभावित होकर पं० रामवल्लभाशरण गुरु से आज्ञा लेकर उनके साथ चित्रकूट गये। वहाँ सत्संग-साधना में कुछ काल व्यतीतकर रामदास जी के ही साथ ये प्रयाग आये। प्रयाग से काशी होते हुए एक दूसरे महात्मा नरहरिदास के साथ सं० १९३८ की अक्षय नवमी को ये अयोध्या पहुँचे। उस दिन अयोध्या की परिक्रमा का पर्व था। इनकी परिक्रमा जानकीघाट पर समाप्त हुई। उसीके समीप मणिराम जी की छावनी पर ये निवास करने लगे। इन्हीं दिनों सरयूतट-निवासी महात्मा विद्यादास से इनका परिचय हुआ। उनके आदेशानुसार ये 'विनयपत्रिका' की कथा सुनाने लगे। धीरे-धीरे इनकी विद्वत्तापूर्ण एवं आकर्षक कथा-शैली की संतसमाज मे प्रतिष्ठा बढ़ती गई और ये अयोध्या के सर्वश्रेष्ठ कथावाचक माने जाने लगे। इनके गुरु रामवचनदास जी भी शिष्य से मिलने अयोध्या आये।

महात्मा विद्यादास से इन्होने रसिकभाव का सम्बन्ध लिया और 'प्रेमनिधि' स्वरूप से भावना करने लगे। सं० १९५१ की कार्तिक शुक्ला द्वितीया को सिद्धगुरु विद्यादास जी का परलोकवास हो गया। इसी वर्ष इनके दीक्षा गुरु

महात्मा रामचरनदास भी साकेतवासी हुए। इन घटनाओं से दुखी होकर महात्मा रामशरणमणि के साथ चित्रकूट जाकर जानकीघाट पर इन्होंने कुछ दिन निवास किया, फिर काशी होते हुए अयोध्या लौट आये। इस बीच जराक्रान्त होते हुए भी इनकी इच्छा वृन्दावन यात्रा की हुई और सतों के साथ वहाँ के लिये उसी दशा में प्रस्थान कर दिया। व्रज के तीर्थों का दर्शन कर शीघ्र ही अयोध्या चले आये।

मणिराम जी की छावनी के निकट जानकीघाट पर इनके गुरुभाई कल्याणदास जी रहते थे। उन्होंने इनके नाम ८ बीघा जमीन खरीद कर एक सुन्दर भवन निर्माण करवाया और इन्हें समर्पित कर दिया। सं० १९५३ से ये मणिराम जी की छावनी छोड़कर यहाँ निवास करने लगे। कालान्तर में शिष्यों की संख्या में असाधारण वृद्धि होने से स्थान की कमी पड़ने लगी, अतएव समीपस्थ भूमि में अनेक विशाल सन्तनिवास बनवाये गये जिसमें सैकड़ो गृहस्थ और विरक्त शिष्य सुविधापूर्वक रह सकते थे। उत्तर प्रदेश गुजरात, राजपूताना और बिहार के अनेक सन्त, विद्वान्, राजे महाराजे और सेठ-साहूकार इनके शरणागत हुए। अन्तिम दिनों में कुछ काल तक रोगग्रस्त रहकर कार्तिक शुक्ल १०, स० १९९८ (१९४१ ई०) को इन्होंने अपनी ऐहिकलीला संवरण की। इनके पश्चात् प० रामपदार्थदास वेदान्ती गद्दी के अधिकारी हुए।

पण्डित जी की साहित्य सेवा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। आध्यात्मिक विषयों पर उनके लेख पत्र पत्रिकाओं में बराबर निकलते रहते थे। इनके अतिरिक्त संस्कृत में उनकी कतिपय अप्रकाशित रचनायें बताई जाती हैं। किन्तु उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण एवं मुख्य देन रामसाहित्य के प्राचीन ग्रन्थों की टीकायें हैं। नीचे उनकी तालिका दी जाती है—

१. बृहत्कोशलखण्ड	की	टीका	९. तत्त्वत्रय	की	टीका
२. शिवसंहिता	"	"	१०. शिक्षापत्री	"	"
३. सत्योपाख्यानचन्द्रोदय	"	"	११. रामपटल	"	"
४. जानकीस्तवराज	"	"	१२. विनयकुसुमाञ्जलि	"	"
५. सुन्दरमणिसंदर्भ	"	"	१३. सुदामा बारह खड़ी	"	"
६. रामनवरत्न	"	"	१४. रामस्तवराज के श्री हरिदास कृत भाष्य की टीका		
७. ध्यानमञ्जरी	"	"	१५. रामतापिनी उपनिषद् के श्री हरिदास कृत भाष्य की टीका		
८. रहस्यत्रय	"	"			

उपर्युक्त सूची में शृंगारी तथा सख्य दोनों रसों के ग्रन्थों को देखकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वे इनमें से किस रस के साधक थे ? उनके जीवन में भी एक बार यह विवाद चला था। उस समय उन्होंने शृंगार का रसराजत्व और सख्य का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी अपनी आस्था दास्यभाव में व्यक्त की थी। अतएव इसे ही उनका साध्य रस समझना चाहिये।

उनके विरचित स्फुट दोहे प्राप्त हैं। उनमें से कुछ नमूने के लिये नीचे दिये जाते हैं—

> हे सिय पिय तव रास रस, अति गम्भीर अथाह।
> व्यास वाक्य में हैं भरे, पावत नहिं कोउ थाह ॥
> तामें मज्जन करन को, मम हिय बढ़्यो उछाह।
> पै लघुमति नहि पैठ सकों, बिना कृपा सिय नाह ॥
> सखिन सिरोमनि चन्द्रकले, तोहि बिनवौं कर जोर।
> रसमय बुद्धि देहु मोहिं, वरणौं रहस हिलोर ॥
> रस वर्द्धिनि टीका यह, रसिकन स्वाद रसाल।
> होय जगत विख्यात अलि, मैं तो हौं तव बाल ॥[1]

५४. रामवल्लभाशरण 'युगलविहारिणी'

इनका जन्म बाराबंकी जिले के तिलोकपुर गाँव में फाल्गुन शुक्ल ३, सं० १९१५ (१८५८ ई०) में हुआ था[2]। पिता पं० गणेशदत्त दीक्षित कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका वास्तविक नाम बलदेव था। रामवल्लभाशरण नाम माधुर्य सम्प्रदाय में दीक्षित होने के समय इनके गुरु श्री जानकीवरशरण ने रखा। आरम्भ में पं० भगवानदीन नामक विद्वान् से इन्होंने अध्ययन किया और उनकी प्रेरणा से छोटी आयु में ही ये कविता करने लगे[3]।

१—बृहत्कोशलखण्ड की टीका, सखा रास प्रकरण, पृ० १

२—श्री सद्गुरु सेवी, पृ० ४

३—उस समय की उनकी एक रचना इस प्रकार है—

> राम के द्वनाम में है आलसी अधम मन,
> मिथ्या वाद करन में चातुर बनत है।
> निज मन मुकुर उठाय लखु बार बार,
> आप आगे निरखत और न गनत है ॥

किशोरावस्था में माता पिता का देहान्त हो गया। इनका विवाह पहले ही हो चुका था। छोटे भाई भागवतप्रसाद अभी इस योग्य न थे कि गृहकार्य में इनकी कुछ सहायता कर सकते। ऐसी स्थिति में गृहस्थी का सारा भार इन्हीं के कन्धों पर आ पड़ा। पारिवारिक उत्तरदायित्व को पूरी तरह निभाते हुए, ये भजन कीर्तन में निरन्तर लीन रहा करते थे। इसी बीच इन्होंने जगन्नाथ पुरी की यात्रा की। एक पुत्री को जन्म देने के कुछ दिनों बाद स्त्री का देहान्त हो गया। इस घटना के अनन्तर घर बार छोड़कर ये अयोध्या चले गये और लक्ष्मणकिला पर महात्मा जानकीवरशरण से मन्त्रदीक्षा ले ली। इस समय इनकी आयु २५ वर्ष की थी। तब से ये आजन्म अवधवास करते रहे। प्राचीन रसिक आचार्यों पर इनकी बड़ी श्रद्धा थी। इस भावना से प्रेरित होकर एक बार ये रसिकाचार्य कृपानिवास की गद्दी का दर्शन करने उज्जैन गये। इसी उद्देश्य से इन्होंने चित्रकूट और मिथिला की भी यात्रायें कीं।

अयोध्या आने के अनन्तर अपनी पुत्री रामदुलारी के विवाह में ये केवल एकबार घर गये। पीछे पुत्री ने भी अयोध्यावास का व्रत ले लिया और वहीं शरीर छोड़ा। पुत्री के देहावसान से इनके समस्त शारीरिक सम्बन्धों का अंत हो गया। अभी तक इनका आसन लक्ष्मणकिला पर ही था। किन्तु गुरु के साकेतवास के पश्चात् वहाँ के तत्कालीन अधिकारी महंत रूपनलालशरण से कुछ विवाद हो जाने पर इन्होंने वह स्थान छोड़ दिया और उससे संलग्न गोलाघाट पर 'सद्गुरुसदन' नाम से अपनी अलग गद्दी स्थापित कर ली।

इसके कुछ ही दिनों बाद गोहत्या की घटना को लेकर अयोध्या का प्रसिद्ध हिन्दू-मुसल्मान दंगा हुआ। नगर के प्रमुख साधु होने के कारण उसका अभियोग इन पर भी चलाया गया। फलतः कुछ समय के लिए इन्हें जेल जाना पड़ा। इनकी इच्छानुसार सरकार ने इन्हें बनारस जेल में रखा। आगे चल कर शिष्यों एवं कृपापात्रों के प्रयत्न से अन्य कई प्रमुख साधुओं के साथ अवधि समाप्त होने के बहुत पहले ही ये मुक्त कर दिये गये। उसका समाचार इन्हें बनारस जेल में मिला। उसी समय इस पद की रचना हुई थी—

> 'द्विज बलदेव' कौन संगत प्रभाव कहे,
> कौन तेरे बार बार हित की भनत है।
> छलछिद्र छाँड़ि भज सियाराम सीताराम,
> कौन सुख यामें कौन और न भनत है॥
>
> —श्री सद्गुरसेवी, पृ० ६

बहुरि नाहिं आवना जग जेल।
धर्म मार्ग दुख झेलि निकारयो श्री सद्गुरु करि खेल॥
गाय बचाय सचाय धर्म पथ पुनि प्रभु कीन्हीं मेल।
विपुल जन्म को मल विक्षेपहिं मिल्यो प्रेमसरि हेल॥
विपिन प्रमोद विनोद मोद हिय बढ़िहै सकृत सकेल।
'जुगल विहारिनि' हिय तमाल लसि खिलै प्रेम नित बेल॥[1]

एक साधारण बीमारी से चैत्र शुक्ल एकादशी सं० १९८९ को ७४ वर्ष की आयु में रामवल्लभाशरण जी युगलसरकार की नित्यलीला में प्रविष्ट हुए।

इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'युगलविहारपदावली' नाम से प्रकाशित हुआ है। उससे ज्ञात होता है कि छन्दों में ये 'रामवल्लभाशरण' और 'युगल विहारिणी' दो छापों का प्रयोग करते थे।

नीचे इनकी रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

मुख से न लैहै नाम राम को नहैं है नीको,
कान में तो रामधुनि आप ही से आवैगी।
पुनिधुनि हिय में समाय जाय तेरे अघ,
रोम रोम हूँ से हेरि हेरि के नसावैगी॥
प्रीतम पुनीत प्रेम नेम हेम छेम दुनि,
अंग अंग उमँगि सुरंग बरसावैगी।
चरन सरन 'रामवल्लभा' अहरनिसि,
औध के रहेते सर्व भाँति बनि आवैगी॥[2]

आई है चैती बहरिया हो प्यारी मान न कीजै।
तरुतरवर सोड मृदुल परनकिये प्रफुलित विपिन बहरिया हो॥
तुम बिन मो मन कछु नहिं भावत बीतत समय विहरिया हो।
सुनि पिय बैन नैन प्रीतम लखि उमगी नेह नहरिया हो॥
विहँसि भई प्रीतम गर हरवा मिटि गै खेद दहरिया हो।
'जुगलविहारिनि' सह समाज चलि निरखहिं सरजू लहरिया हो॥[3]

झूलैं सद्गुरु नाम हिंडोरे।
दंभ दंभहर प्रीति प्रतीतहिं स्वांस अमोल सुडोरे॥

१—श्रीसद्गुरुसेवी पृ० ७८–७९
२—श्रीसद्गुरुसेवी, पृ० १०८ ३—श्री युगलविहारपदावली, पृ० २२०

मन प्रमोदवन सघन सुहावन तरु अशोक द्युति जोरे।
चितन चरित चारु चित चौकी चमकनि प्रभा अथोरे ॥
अंगन अंग उमंग रंग बहु सरयू सरजु हिलोरे।
पट घट बरन हरन पट पटवा लटका संत सँजोरे॥
प्रेमा, परा आदि अलि अवली झोंकें झुकें दुहुँ वोरे।
'जुगल बिहारिनि' अनुपम झूलनि झूलिय प्रभु दृग मोरे ॥[1]

मति कहौ किसी से बात मरम की प्यारे।
नित मुदा रहो इस दुनिया से मन मारे ॥
यह है सराय संसार रहन लघु दिन को।
मत कर गुमान नर तनहिं आस नहिं छिन को ॥
भै रावणादि बहु बली गर्व रह्यो जिनको।
ते मिटे मिनट के बीच पता नहीं तिनको ॥
याते श्री गुरुपद नाम सु रहो सहारे। मतिकहो…
तव देखत देखत जातचले बहुतेरे ॥
श्रुति संत महंत अनंत कहत हैं टेरे।
भवसागर अगम अपार नाम प्रभु बेरो ॥
करु सियवर नाम ललाम मनन मन मेरो।
मिटै प्रबल अविद्या कटक होहिं सुख सारे ॥ मतिकहो…
नितरहिये श्री गुरु पास आस सब लहिये।
तिहुँ रिन से होय बिबाक पाकदिल चहिये ॥
श्री जानकिवर तव नेह सुमनकरि नहिये।
लखि दृग संसार असार धार नहिं बहिये ॥
हैं 'रामवल्लभा' सरनद रक्ष हमारे।[2] मतिकहो…

५५. कामदेन्द्रमणि

इनका जन्म लखनऊ जिले के औरावाँ नामक गाँव में हुआ था। जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। बाल्यावस्था में ही किसी साधु के साथ ये नैमिषारण्य चले गये और ४० वर्ष की आयु तक सत्संगसाधना और तीर्थाटन करते रहे। इसी बीच पंजाबनिवासी रसिक संत श्री रामप्रियाशरण से इन्होंने तत्त्व रस का सम्बन्ध लिया। इनके दीक्षा गुरु कौन थे? यह जानने के साधन

१–श्री युगलविहारपदावली, पृ० ६२ २–श्री सतगुरुसेवी, पृ० २०१

अब अवशिष्ट नहीं रहे किन्तु अपनी रचनाओं में इन्होंने दो गुरुओं का उल्लेख किया है।

> गुरु सेये सतगुर मिलैं, सतगुर सेये लाल।
> लाल पाय विलसत हियो, सखा सुनौसलपाल॥[1]

इससे विदित होता है कि 'सतगुरु' श्री रामप्रियाशरण जी के पूर्व इन्होंने कोई 'गुरु' अवश्य किया था।

इस दीर्घ प्रवास के पश्चात् ये घर लौट आये और कानपुर जिले में मैंधना ग्राम में अपना विवाह किया। फिर सबको लेकर अयोध्या चले गये और जन्मभूमि के पास 'साकेत राज-महल' नामक स्थान बनाकर रहने लगे। यहाँ इनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम रघुवरदुलारे रखा गया। पुत्रोत्पत्ति के पाँच वर्ष बाद आश्विन शुक्ल १, सं० १९६० में अयोध्या में ही इन्होंने दिव्यधाम की यात्रा की।[2]

कामदेन्द्रमणि के दिवंगत होने के ११ वर्ष पश्चात् स० १९७१ मे उनके एकमात्र पुत्र श्री रघुवरदुलारे भी किशोरावस्था में ही परलोकवासी हुए। इसके बाद उनकी स्त्री गद्दी पर बैठीं। 'सं० १९८९ में वे भी पतिलोक पधारीं।' तब से उनकी पुत्रवधू श्री रामराजेन्द्रप्रिया जी 'साकेत राजमहल' की अधिकारिणी हैं। वे अब अत्यन्त वृद्धा और जमींदारी उन्मूलन के कारण अर्थ-संकटग्रस्त हैं।

१—मा० के० का०, पृ० १

२—इस घटना से सम्बद्ध श्रीराम रसरंग मणि जी का एक छन्द इसप्रकार है—

> सम्बत उनीस सत साठ में कुवार मास,
> सुकुल परीवा वार मगल विचारे हैं।
> अवध सुधाम में प्रभात समै सावधान,
> मणि रस रंग 'नाम युगल' उचारे हैं॥
> रामविरहानल में तीनों तन जारि पाय,
> दिव्य रूप सीताराम ध्यान उर धारे हैं।
> स्वामी श्री राघवेन्द्र सखा कामदेन्द्रमणि,
> सब लोक त्यागि रामधाम को पधारे हैं॥
>
> —श्री रामरसरंगविलास, पृ० ५१

कामदेन्द्रमणि सुहृदसख्यरस के भोक्ता थे। वे अपने को श्रीरामचन्द्र का बड़ा भाई मानते थे। उनकी रचनाओं में इस भाव की छटा सर्वत्र दिखाई देती है। उनकी दो कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं—

१. श्रीसीतारामभद्रकेलिकादम्बिनी २. श्री राघवेन्द्ररहस्यरत्नाकर

नीचे नमूने के रूप में उनके कुछ छन्द उद्धृत किये जाते हैं—

श्रीमिथिलेश नन्दिनी जी के द्वार सदा हम रहते हैं।
इस घमड मे भरे नहीं कछु श्री रघुवर से चहते हैं॥
सुशादीदार अवधलालन का ललकि इसी जां चहते हैं।
श्री कामदेन्द्र आनन्द कन्द का मुदित मंजु कर गहते हैं॥[1]

सुनिये लली लाल रघुनन्दन प्रीति रीति युत गारी जू।
आप श्याम स्वामिन् हम गोरी यह अचरज रर भारी जू॥
जो पै नाथ आप रुचि होई तो हम बात बिचारी जू।
कछुक काल मिथिला चलि बसिये हे नागरि सुकुमारी जू॥
श्री लक्ष्मी निधि के महलनि मे रहिये रूप उज्यारी जू।
तब प्रभु गौर बरण तन पैहो सिय स्वामिनि अनुहारी जू॥
अब विलम्ब जनि करिय लाडिले जनक नगर पगधारी जू।
सुनि मुसक्यात परस्पर दंपति 'कामदेन्द्र' बलिहारी जू॥[2]

सहज सनेही त्याय हिय सिय राम रूप,
छाय प्रति मोद लोक सोक बिसरायके।
सन्तत सुसन्तसङ्ग चाय सो बिताय काल,
कलि के कराल सम्बन्धन तुराय के॥
पीवे सुधा माधुरी सो सङ्ग जनहू को प्याय,
कामदेन्द्र अवध अवास बसे जाय के।
आनन्द अघाय भुक्ति मुक्ति मिलै धाय,
चित चिन्ता मिटि जाय भक्तिचिंतामनि पाय के॥[3]

सौलभ सुसीलताई सूरताई वीरताई
अङ्ग अङ्ग छाई या निकाई पै न कहि जात।
सुमति गम्भीरताई धीरताई थिरताई
चाहि चतुराई चतुरानन चपरि जात॥

१—श्री सीतारामभद्रकेलिकादम्बिनी, पृ० १०९ २—वही, पृ० ४५
३—श्री राघवेन्द्ररहस्यरत्नाकर, पत्र २

महात्मा रसरंग मणि
(पृ० ५११)

श्री रूपकला जी
(पृ० ५१४)

'कामदेन्द्र' रूप की लुनाई सुखदाई हेरि,
रति पति हू की रति रति हू न रहि जात।
नीति निपुनाई प्रजापालन सुघरताई,
ईसताई रोम रोम राम ही मे दरसात॥'

५६. सीतारामशरण 'रामरस रंगमणि'

ये सख्य सप्रदाय के विशिष्ट आचार्यों में गिने जाते हैं। ग्रन्थों के परिमाण और काव्यप्रतिभा के विचार से तो उक्त सप्रदाय के अन्तर्गत रामसखे जी के बाद इन्हीं का नाम आता है। इनका जन्म चित्रकूट के दक्षिण रामपुर नामक ग्राम मे वैशाख शुक्ल गुरुवार स० १९१६ को हुआ था। इनके पिता वशिष्ठ गोत्रीय सरयूपारीण ब्राह्मण अवधकिशोरप्रसाद थे और माता का नाम जगरानी देवी था। अपने जन्मस्थान का उल्लेख करते हुए ये स्वय कहते हैं—

चित्रकूट दक्षिण दिशा, योजन पच प्रमान।
ग्राम रामपुर जन्म द्विज, दीन्हें राम सुजान॥[२]

घर पर इन्हें सस्कृत और नागरी की शिक्षा दी गई जिससे १४ वर्ष की अवस्था में इनमें 'भागवत' और 'वाल्मीकिरामायण' को भलीभाँति पढने और समझने की योग्यता आ गई। रामभक्ति के बीज इनमे इसी काल से दिखाई देने लगे। पिता के आग्रह पर भी विवाह करने से इन्होंने इनकार कर दिया और स० १९३० (१८७३ ई०) में चित्रकूट चले गये। यहाँ सख्यरसावेशी महात्मा कामदेन्द्रमणि से दीक्षा ग्रहण की। गुरु ने इनका शरणागतिसूचक नाम सीताराम शरण तथा रससम्बन्धी नाम रामरसरगमणि रखा। श्री कामदेन्द्रमणि के साथ ये अयोध्या गये। यहाँ गोमतीदास जी तथा महात्मा रामवल्लभाशरण से इनका सत्सग हुआ। अयोध्या में १४ वर्ष तक माधुकरी वृत्ति से रहकर साधना करते रहे। यहाँ से मिथिला गये और ८ वर्ष पर्यन्त जनकपुर में तपोमय जीवन व्यतीत किया। अत प्रेरणा से मिथिला से ये पुन अयोध्या लौट आये और सीताकुण्ड पर रहने लगे। यहाँ कुछ दिनों तक ये मनीराम जी की छावनी पर रहे। इन दोनों स्थानों के अतिरिक्त अयोध्या म प्रमोदवन, बडी कुटिया तथा पुराने भूड के स्थान पर भी इन्होंने कुछ समय बिताया। इनका साकेतवास, वैशाख कृष्ण १ गुरुवार स० १९६९ (१९१२ ई०) को अयोध्या म ही हुआ। 'राम रसरग निवास' (अयोध्या) नामक स्थान में आज भी इनकी गद्दी स्थापित है।

१–रा० र० र०, पत्र १७ २–श्रीसीतारामसानसीपूजा, पृ० २७

रसरंगमणि जी सखाभाव से आराध्य की उपासना करते थे और अपने को जानकी जी का सेवक समझते थे। वे अपने को पिता द्वारा सीता जी के चरणों में समर्पित दास मानते थे।

> जब रघुबीर ब्याहि घर आये पाये सुख ससुरारी के।
> पिता प्रथम जेवनार नेग में मोंहिं दिय रघुबर प्यारी के॥
> अहैं विहारिणि के हम ताते जद्यपि अवध विहारी के।
> 'मणिरसरंग' दुलारे न्यारे, सिय स्वामिनि सुकुमारी के॥[1]

इसीलिये राज्यसम्बन्ध से वे राम के रघुवंशी सखा थे—

> प्रभु सम्बन्ध सख्य सत मान्यो, जग सम्बन्धहिं कचा है।
> ज्ञान विराग सहित सीतापति भक्तिमोद मन मचा है॥
> विषय विगत मद मान हीन जलमीन रामरस रचा है।
> 'मणिरसरंग' नामनेही रघुवंशी वंश सचा है[2]॥

रसरंगमणि जी सख्य के परम्परागत सुहृद, प्रिय और नर्म भेदों में अपने भाव की व्याप्ति न देखकर एक नये सख्यभाव से 'युगलस्वरूप' की आराधना करते थे। अपने उस भाव को उन्होंने 'मधुरसख्य' की संज्ञा दी है।

> श्री गुरुदेव पियाओ प्याला 'सख्य मधुर' रस रेला को।
> जग सम्बन्ध नेह नश्वर भो हाल मकर के मेला को॥
> तजि बाधन साधन अवराधन नामहिं आठों वेला को।
> मधुर सखा 'रसरंग मणी' श्री रामलला अलबेला को[3]॥

उनका यह मधुर सख्य, माधुर्य एवं नर्म सख्यभाव की सन्धि कहा जा सकता है।

रसरंगमणि जी की २७ रचनायें उपलब्ध हैं, जो सभी खंड तथा मुक्तक काव्य के रूप में लिखी गई हैं। किसी महाकाव्य की रचना उन्होंने नहीं की। भाषा प्रांजल एवं सरस है। उनके निम्नलिखित छन्द से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन कवियों की रचनाओं से वे भलीभाँति परिचित थे और उनसे प्रेरणा प्राप्त कर अपने काव्य को समृद्ध करते थे—

१—श्रीरामरसरंगविलास, पृ० ३९

२—वही, पृ० ३९ ३—वही, पृ० ३९

मण्डन बिहारी बेनी तोष रघुनाथ शंभु,
चिन्तामणि भूषण नेवाज सुखसाज के।
सेनापति ठाकुर कविन्द शुकदेव गंग,
नीलकण्ठ सुन्दर मुरारि जित राज के॥
रसिक गोविन्द कालिदास घनश्याम देव,
पद्माकर श्रीपति सुमेरु सिरताज के।
बोधा कवि केसौ सूर जुगुल दिनेश ताईं,
तुलसी गोसाईं साईं सुकवि समाज के॥[1]

उनकी रचनाओं की तालिका निम्नांकित है—

१. श्रीरामरत्नराज टीका	२. ध्यानमञ्जरी टीका
३. श्रीसीताराम मानसीसेवा	४. श्री रामानन्द यशावली
५. श्री हनुमतयशतरंगिणी	६. श्री युगलजन्म बधाई
७. सरयूरसरङ्ग लहरी	८. बारहमासा महात्म्य
९. श्रीसीताराम नाममञ्जरी	१०. श्रीरामलीला संवाद
११. श्रीरामप्रेम पचरत्न	१२. श्रीसीताराम प्रेम पदावली
१३. होलीविलास	१४. श्रीसीताराम शोभावली
१५. श्रीसीताराम नखशिख	१६. श्रीसीताराम झूला विलास
१७. गीता बारहवाँ अध्याय भाषा टीका	१८. श्रीसीताराम सुख विलास
१९. श्रीरामप्रेम परिचर्या	२०. श्री जानकी यशावली
२१. श्रीरामायण बारहखडी	२२. श्रीरामजानकी विलास
२३. श्रीरामझाँकी विलास	२४. भाषा रामरक्षा स्तोत्र
२५. श्रीरामयश वन्दना	२६. श्रीसीताराम नाममञ्जरी

२७. श्री नाभा जी कृत भक्तमाल की टीका[2]

नीचे उनकी रचनाओं के कुछ नमूने दिये जाते हैं —

अवध सुधाम पै सकल लोक धाम वारौं,
नाम वारौं और रामनाम सुधाधार पै।

१—श्रीरामरसरङ्ग विलास, पृ० ४०

२—रसरंग मणि जी के पट्ट शिष्य श्री रामटहलदास का कहना है कि इसी टीका का पल्लवित रूप 'भक्तिसुधाबिंदु स्वादतिलक' है जिसके रचयिता श्री रूपकला जी ख्यात हैं। विशेष जानकारी के लिए देखिये, श्री सीताराम मानसी पूजा, पृ० ९

सीताराम लीला पै सकल ईशलीला वारौं,
और प्रभुताई राम प्रभुता अपार पै ॥
वारौं 'रसरंग' राम अङ्ग पै अनंग कोटि,
प्राण वारौं राम के सुभाउ शील प्यार पै ।
राम तन तेज पर ब्रह्म निराकार वारौं,
दशौ अवतार दशरत्थ के कुमार पै ॥[१]

पावस में रसरीति सुप्रीति पगे सजि रामसिया सम तूलै ।
पावत पान पवावत गावत झाँकि बयारि परस्पर फूलै ॥
दोऊ दुहूँ सुषमा लखि कै 'रसरंग मनी' अपनो सुधि भूलै ।
लाल के लोचन झूलै लली लसि बाल विलोचन लालन झूलै ॥[२]

लोनी बधाई बाजती । सुख घन घटा जनु गाजती ॥
सीता सुता जग वंदिनी । प्रकटी जनक नृप नंदिनी ॥
गातीं सुमंगल नारियाँ । जातीं लली पै वारियाँ ॥
जय जय सिया के तात की । जय जय सुनयना मात की ॥
होइहै रघूत्तम भामिनी । 'रसरंगमणि' की स्वामिनी ॥[३]

५७. सीतारामशरण भगवानप्रसाद 'रूपकला'

रूपकला जी १९वीं शती के विख्यात रसिक महात्मा थे । इनका आविर्भाव श्रावण कृष्ण ९ सं० १८९७ (१८४० ई०) में छपरा जिले के मुबारकपुर नामक ग्राम में हुआ था । यह स्थान छपरा नगर से सात मील उत्तर दिशा में स्थित है । इनके पिता श्री तपस्वीराम श्रीसम्प्रदाय के रामानन्दीय भक्त थे । किन्तु इन पर सबसे अधिक प्रभाव इनके चाचा मुन्शी तुलसीराम का पड़ा, जो वैष्णव-साम्प्रदायिक साहित्य के अच्छे ज्ञाता और साधु स्वभाव के व्यक्ति थे । उन्हीं के उपदेशों से बाल्यकाल से ही भगवद्भक्ति की ओर इनकी रुचि बढ़ी । रूपकला जी की शिक्षा का आरम्भ प्राचीन परिपाटी के अनुसार फारसी के द्वारा हुआ । घर पर साधारण उर्दू, फारसी पढ़ कर ये प्राइमरी स्कूल में भर्ती हुए और वहाँ से छपरा के राजकीय स्कूल में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजे गए । इस विद्यालय से इन्होंने एन्ट्रेंस की परीक्षा पास की । इनकी

१–श्रीरामरसरंग विलास, पृ० २५
२–श्रीसीताराम शृंगारविलास, पृ० १७
३–श्री जानकी पदावली, पृ० ११

योग्यता से प्रभावित होकर बिहार के तत्कालीन शिक्षा विभाग के इन्सपेक्टर डाक्टर फैलन ने इन्हें अपने विभाग में सब इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त किया। स० १९२४ में ये डिप्टी इन्सपेक्टर होकर पूर्णिया गये और दो वर्ष बाद उसी पद पर मुंगेर गये।

सरकारी नौकरी करते हुए भी रूपकला जी का भजनभाव निरंतर चलता रहता था। इनकी उपासना रसिक भाव की थी। इस क्षेत्र में इन्हें सारन जिले के परसा स्थान के महात्मा रामचरणदास से पथप्रदर्शन मिला। इन्हीं महात्मा ने गंगा-सरयू के संगम पर इन्हें दीक्षा दी थी। स० १९३८ (१८८१ ई०) में रसिक महात्मा श्यामनायिका की कृपा से भागलपुर गुडहट्टा ठाकुरबाड़ी के प्रसिद्ध सन्त 'हसकला' जी से इन्होंने शृंगार रस का सम्बन्ध लिया। इसी समय इनकी बदली भागलपुर हो गई। यहाँ पहुँच कर ये गान और नृत्य सहित घुँघरू बाँधकर कीर्तन में सम्मिलित होने लगे। भागलपुर से बदलकर पटना गये। वहाँ कुछ अलौकिक घटनाएँ घटीं, जिनसे प्रभावित होकर इन्होंने दो बार नौकरी से त्याग पत्र दिया, किन्तु इन्सपेक्टर तथा खड्गविलास प्रेस के अध्यक्ष बा० रामदीन सिंह (जो इनके मित्र थे) क अनुरोध से इन्हें दोनों बार नौकरी से त्यागपत्र देने का अपना विचार स्थगित करना पड़ा। अत में सं० १९५० के आश्विन मास में नौकरी छोड़कर ये अयोध्या चले आए और हनुमत् निवास में महात्मा गोमतीदास के साथ रहने लगे। कुछ दिनों तक अवधवास करने के बाद इनके रहने के लिये अमावाँ और हथुवा के राजाओं, तथा खड्ग-विलास प्रेस के अध्यक्ष के प्रयत्न से रूपकलाकुंज का निर्माण हुआ। इसी स्थान पर ९५ वर्ष की अवस्था में पौष शुक्ल द्वादशी स० १९८९ (१९३२ ई०) को ४० वर्ष अखंड अवधवास कर इन्होंने प्रियतम की चिद्विलासलीला में प्रवेश किया।

रूपकला जी की निम्नलिखित रचनायें मिलती हैं—

१. तनमन की स्वच्छता
२. तुहफतुलअयावरीन
३. उर्दू रोमन रीडर्स
४. सर्वेइंग
५. शरीर पालन
६. तहारते जाहिर व बातिन
७. हिफ्जे सेहद की उम्दा तदबीरें

ये सात पुस्तकें इन्होंने शिक्षा विभाग में कार्य करते हुए विद्यार्थियों के उपयोग के लिये लिखीं थीं। इनके भक्तजीवन से सम्बद्ध ग्रंथ अवधवास के समय लिखे गये। वे इसप्रकार हैं :—

८. भागवत गुटका	९. भगवद्वचनामृत
१०. मीराबाई	११. भक्तिसुधाबिन्दुस्वादतिलक (भक्तमाल की टीका)
१२. रामायण रसबिन्दु	१३. श्री पीपा जी
१४. सीतारामीय प्रथम पुस्तक	१५. मानस अष्टयाम
१६. काल	१७. प्रेमगग तरग

रूपकला जी की उपर्युक्त पुस्तकों में गद्य की रचनायें ही अधिक हैं। विरक्ति के पूर्वरचित ग्रन्थों में उर्दू और फारसी की भी पुस्तकें हैं, जिनका मुख्य विषय जनशिक्षा है। भक्तिविषयक कृतियों में भक्तों के चरित्र, दिनचर्या तथा सैद्धान्तिक विवेचन पर अधिक ध्यान दिया गया है। पृथक् रूप से लिखे गये काव्य-ग्रन्थों की संख्या बहुत कम है। इनकी जो स्फुट कविताएँ मिलती हैं, उनकी भाषा भोजपुरी तथा भोजपुरीमिश्रित अवधी है। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना नाभादास जी की भक्तमाल की टीका 'भक्तिसुधाबिन्दुस्वाद तिलक' मानी जाती है। इसके महत्त्व का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि भारतीय भाषाओं के मर्मज्ञ जार्ज ग्रियर्सन ने इसे अपना प्रधान सदर्भ ग्रन्थ कहा है। संदेहपूर्ण स्थलों पर उन्होंने इसी ग्रंथ का सहारा लिया है[१]।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

सखि मोहि कत दिन तरसत बीते, सुधि न लीन्ह पिय विरहिन हिय की।
आह धुँआ मुख, हिय विरहागी, ठाढ़ि जरौं जैसी बाती दिय की॥
अधिक दाह चित चातक कोकिल, विरह अनन्त जिमि आहुति घिय की।
सब घर व्यापक अन्तरयामी, जानत हैं पिय रुचि तिय जिय को॥
साँचेहु सपनेहु कबलगि दखिहौं, मधुर मनोहर छवि सिय पिय को।
कृपानिधान दयासुख सागर, मनिहैं सखि विनती लघु तिय की॥

१—Sita Ram Sharan Bhagwan Prasad's edition of Bhaktamal—"It is a most important and Valuable work. I have been reading it with great interest.

This excellant work has been so far as it goes my chief authority in doubtful points"

—Dr. G. A. Grierson

The Journal of the Royal Asiatic Society, July 1909.

'रूपकला' बिनवति हनुमत ही, चन्द्रकला अरु गिरिवर धिय की।
एकौ उपाय न सूझत आली, मोहिं आसा केवल श्री सिय की ॥[1]

सुमुख सुलोचन सरस सत, चिदानन्द छविधाम।
प्राण-प्राण जिय जीव के, सुख के सुख सियराम ॥
पवनतनय विज्ञान घर, कपि बल पवन समान।
रामदूत करुणायतन, बुद्धि विवेक निधान ॥
श्री हरिगुर करकंज यहिं, अर्पति मन बच काय।
'रुपिया' सोइ तुच्छ अति, कृपया ले अपनाय ॥[2]

अधिक विलम अब जनि करु बालम,
लेहु मोहिं वेगि बुलाय रामा।
जनम अनेक की गनै मोरे प्रीतम,
एहु में छब्बिस साठ रामा ॥
जरजर देहिया भजन ना बने कछु,
ठाढ़ि न हूँ बिनु लाठि रामा।
लगत पहाड़हु ते दिन भारी,
तोहिं बिनु परम सुजान रामा ॥
बीतत चिन्तत सोचत रतिया,
जस तस होत बिहान रामा।
इहँके समैया महोत्सव प्यारे,
अबजनु गुड़िया के खेल रामा ॥
खास निवास जहाँ तोर सियवर,
आऊँ तजि जग के झमेल रामा।
सेऊँ मैं निसिदिन सिय पद पकज,
लखि पिय परम निहाल रामा ॥
'रूपकला' सिय किंकरि बिनवे,
होहु पिय वेगि दयाल रामा ॥[3]

१–श्री रूपकला प्रकाश, पृ० १२३–१२४

२–भक्ति सुधाबिन्दु स्वाद तिलक (समर्पण)

३–वही, पृ० ९९२

५८. गोमतीदास "माधुर्यलता"[1]

गोमतीदास जी का जन्म पंजाब के होशियारपुर जिले में व्यासनदी के तट पर स्थित मुकेरिया नामक गाँव में हुआ था। पिता का नाम पं० बाबूराम मिश्र और माता का श्री राधेश्वरी देवी था। जन्म संवत् के विषय में इनके दो जीवनी-लेखकों में मतभेद है। इनका आविर्भावकाल मझौल (बिहार) के बिन्दा-बाबू ने वैशाख शुक्ल तृतीया सं० १९१६ (१८५९ ई०) और श्री रामबहादुर-शरण ने स० १८९० (१८३३) ई० के लगभग माना है। ऐसी स्थिति में निश्चय पूर्वक इनकी जन्मतिथि का निर्णय करना कठिन है। इनका नाम कालूराम रखा गया। लड़कपन से ही हनुमान जी में इनकी बड़ी आस्था थी। ये उनकी मिट्टी की मूर्ति बना कर पूजा करते थे। जब ये ९ वर्ष के ही थे, माता का परलोकवास हो गया। उसी समय से इनके मन में विराग जाग्रत हुआ। बारह वर्ष की अवस्था में गुरु की खोज में ये अमृतसर पहुँचे। वहाँ स्वामी तुलसीदास नामक एक रामानन्दीय वैष्णव के शिष्य सरयूदास जी से दीक्षा ग्रहण की। शरणागतिसूचक नाम 'गोमतीदास' इसी अवसर पर रखा गया। कुछ दिनों बाद पता लगा कर पुत्रवियोग में व्याकुल पं० बाबूराम मिश्र भी अमृतसर पहुँचे। इसकी सूचना पाकर ये छिप गये। निराश होकर पिता घर लौट गये। इसके बाद अमृतसर छोड़कर ये लाहौर होते हुए मुल्तान गये और वहाँ कुछ दिनों तक एक संतमण्डली में ठाकुर जी की पूजा करते रहे। वहाँ से शिकारपुर जाकर दो वर्ष तक इन्होंने महात्मा गुलाबदास नामक किसी संत से योगाभ्यास करना सीखा। इसके अनन्तर सुदामापुरी होते हुए गिरनार गये। गिरनार से फिर अमृतसर आ गये और वहाँ एक पाठशाला में पढ़ना आरम्भ किया। किन्तु उसमें मन न लगा, अतएव फिर तीर्थाटन को निकल पड़े। अबकी बार कुरुक्षेत्र, दिल्ली, होते हुए वृन्दावन गये। यहीं इन्हें तुलसीदास जी की बीमारी का समाचार मिला। वहाँ से अमृतसर चले आये। इनके पहुँचने के कुछ ही दिनों बाद तुलसीदास जी का परलोकवास हो गया। उनका भण्डारा करके इन्होंने

१—'अर्नेस्ट वुड' नामक एक अमेरिकी-यात्री ने गोमतीदास जी के प्रभावशाली व्यक्तित्व का चित्र इन शब्दों में अंकित किया है—

> Baba Gomati Das, a famous saint of Ayodhya;
> Of philanthropic heart and lofty ideas;
> Penetrating eyes full of effulgence;
> Born of Divinity Godlike forbearance;
> Gives everything and wants nothing
> living among mortals immortal being.
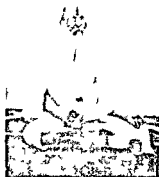
महात्मा गोमतीदास
(पृ० ५१८)

महात्मा सियाशरण मधुकरिया
(पृ० ५२०)

अयोध्या के लिए प्रस्थान किया। दैवयोग से उसी समय सं० १९३३ का गोविन्द द्वादशी-महापर्व पड़ा। इनके अवध आगमन के एक महीने के बाद ही महात्मा युगलानन्यशरण की परधाम यात्रा हुई। अयोध्या में ही बाबा रघुनाथदास जी का इन्होंने पहली बार दर्शन किया। अयोध्या से काशी और चित्रकूट होते हुए ये प्रयाग गये। वहाँ त्रिवेणी पर बाबा यमुनादास का सत्संगलाभ कर अयोध्या लौट आये। दो महीने बड़ी छावनी पर ठहरे तदनन्तर रामनगर की लीला देखने काशी गये। वहाँ से मिथिला जाकर पाँच छ महीने कुटी बनाकर रहे। इसके पश्चात् अयोध्या लौट आये और यहाँ से वृन्दावन, हरद्वार, नैमिषारण्य, गढमुक्तेश्वर की यात्रायें कीं। तब से अयोध्या इनका मुख्य निवासस्थान बन गया। यहाँ कभी ये बड़ी छावनी, कभी कनक भवन और कभी सोनखरकुण्ड पर ठहरते थे। सख्य रस के भाविक रसरगमणि जी ने इन्हीं की प्रेरणा से 'हनुमत् यशतरगिणी' और 'हनुमत् यशावली' की रचना की थी। मणिपर्वत के महात्मा सीतावल्लभ शरण इन से बड़ा स्नेह रखते थे। चित्रकूट में हनुमानधारा पर भी इन्होंने कुछ काल तक नामसाधना की थी। कहा जाता है, गुरु का बुलावा आने पर ये यहीं से अमृतसर गये थे और वहाँ सरयूदास जी के अनुरोध करने पर भी इन्होंने महन्ती लेना स्वीकार नहीं किया था। अयोध्या में निवास करते हुए इन्होंने लक्ष्मणकिला के प्रसिद्ध रसिक सन्त जानकीवरशरण जी से शृंगारी उपासना का सम्बन्ध लिया। उस समय इनका व्यावहारिक नाम 'श्रीमतिशरण' और महली नाम 'माधुर्यलता' रखा गया। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में इन्होंने 'हनुमन्निवास' की स्थापना की। आजकल बिहार प्रान्त के शिक्षित वर्ग में इस गद्दी के शिष्यों की सख्या सबसे अधिक है। अन्य शृङ्गारी पीठों की अपेक्षा नवीन होते हुए भी अयोध्या में रसिक सन्तों का यह एक मुख्य स्थान है। रसिकप्रवर रामकिशोर शरण यहीं निवास करते हैं। रूपकला जी ने भी अपने अवधवास का अधिक समय यहीं बिताया था। गोमतीदास जी ने चैत्र कृष्ण १३ सं० १९८७ (१९३० ई०) को अयोध्या में अपनी ऐहिक लीला सवरण की।

गोमतीदास जी की कोई ग्रन्थाकार रचना नहीं मिलती। 'हनुमान जी की बधाई' में इनके कुछ फुटकर पद मिलते हैं, जिनमें 'श्रीमति शरण' की छाप रखी गई है। नीचे उनकी रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं।

आज केशरी भवन बधाई।
शुभ लक्षण सुन्दर सुत जायो बड़भागिनि भइ अञ्जनि माई॥

वृद्ध बधू सब जुरि मिलि आईं यथायोग्य कुलरीति कराई।
दानमान विप्रन को दीनो मणि मुक्ता पट भूषन ताई॥
मृग नयनी कल कोकिल बयनी करि शृंगार बैठीं अङ्गनाई।
नाम केशरी सुवन अञ्जनी गारी गावत परम सोहाई॥
ध्वज पताक तोरण मणि जाला द्वारन बन्दनवार बँधाई।
'श्रीमति शरण' करण नव मंगल जयति जयति सब सुरन मनाई॥[1]

बधाई बायु लालन की। सु गाई माद मालन की।
सुमंगल मास क्या कातिक। नखत मगल मयी स्वातिक॥
दिवस मङ्गल महा मङ्गल। असित चौदस सु रस रङ्गन।
सोहाई साँझ की वेला। जनम भो मौज को मेला॥
सु अञ्जनि पवन सुनि हरषैं। सुयश कहि सुर सुमन वरषैं।
हमनि की वन्दि छोरोगे। निशाचर वश बोरोगे॥
सियावर भक्ति रस रगी। सोहाई बीर बजरङ्गी।
अनन्दी आपनैं चरणैं। लगाई "श्रीमती शरणैं"॥[2]

५९. सियाशरण मधुकरिया 'प्रेमअली'

इनका आविर्भाव बिहार के सुग्गी ग्राम में एक भूमिहार-ब्राह्मण परिवार में आश्विन कृष्ण ३० भौमवार सं० १९१९ (१८६२ ई०) को हुआ था। १५ वर्ष की अवस्था में वैशाख शुक्ल १९२७ को इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। उसके दो वर्ष बाद पिता का शरीरान्त हो जाने पर इन्होंने जगन्नाथ पुरी की यात्रा की। वहाँ के साधु महात्माओं के सत्संग से इनके मन में भगवत्सेवा की वृत्ति जगी। घर लौटकर एक ठाकुरद्वारा स्थापित किया और उसी में नियमित रूप से भक्तमाल की कथा कहने लगे। सं० १९३१ की रामविवाह पंचमी को माता के स्नेहानुरोध से इनका विवाह हुआ। आठ वर्ष पश्चात् सं० १९३९ में रामनवमी के दिन एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी बीच माता का देहावसान हो गया। सं० १९४४ में पाँच वर्ष की छोटी वय में पुत्र का यज्ञोपवीत करके इन्होंने गृहस्थाश्रम त्याग दिया और समीपस्थ ददरे नामक गाँव के रसिक महात्मा किशोरीशरण के शिष्य बनकर उन्हीं के साथ रहने लगे। सं० १९४६ में ये मिथिला गये और वहाँ अग्निकुंड पर दो वर्ष तक भजन

१—बधाई श्री हनुमान जी की, पृ० १२१–१२२

२— वही, पृ० १२९

करते रहे। सं० १९४८ के सावन महीने में मणि पर्वत के उत्सव के अवसर पर ये अयोध्या आये और दो वर्ष तक श्री जानकीघाट मन्दिर में पुजारी का कार्य किया। सं० १९५० में परमहंस सीताशरण जी के आदेश से माधुकरी वृत्ति से बदनपुर के मन्दिर में एकान्त साधनापूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे। इसी वृत्ति से ५४ वर्ष अखंड अवधवास कर आश्विन कृष्ण ९, रविवार सं० २००२ को ये दिव्यदम्पति के सेवासुख में लीन हो गये।

सियाशरण जी अपने समय के प्रमुख रसावेशी महात्मा थे। उनकी मानसी सेवा विख्यात थी। पहले वे कुछ न कुछ काव्यरचना किया करते थे किन्तु एकबार कनकभवन के पुजारी महात्मा श्यामसुन्दरीशरण के यह कहने पर कि 'स्वकीय कविता होने पर फिर पूर्वाचार्यों की वाणी में निष्ठा नहीं रह जाती' उन्होंने कविता करना छोड़ दिया था। इनका महली नाम 'प्रेमअली' था। इसी छाप से उपलब्ध इनके कुछ पद नीचे दिये जाते हैं।

मैं देखि आई सिय जी को दुलहा मोहनवा।
दुलही छवि छहरत सिय जू की दुलहा छवि दशरथ जू के ललनवाँ॥
बड़े बड़े नैन भृकुटि घाकी बाँकी जुलुम करैंरो अनोखो चितवनियाँ।
कुण्डल हलनि चमक दशननि की कतल करैरो घुँघरारो जुलफनवाँ॥
अधर अरुण पर दुरनि नासामणि कहर करैरो मृदु मद मुसक्यनवाँ।
नखसिख लौं छवि देखि सुँदर की बावरी भई सो री सुधि न अपनवाँ॥
पान खवाय अङ्ग परसि सजन के मिट्यो पीर री सुनि मधुर बचनवाँ।
'प्रेमअली' मैं सिय सँग जायब जूठनि खाय के सेइहौं चरनवाँ॥

हौं दासी मिथिलेस लली की।
प्रिय प्यारी सनेह सुख सरि महँ विकसन चहौं नित प्रेम कली की।
श्री कौसिल्या सुवन सुन्दर सँग विहरन प्यारी सुमन थली की॥
यह रस स्वाद मगन रहौं निसिदिन जानौं नहिं कछु सुगति भली की।
जन्म जन्म चेरी भयो चाहत यहै साध उर 'प्रेमअली' की॥

६०, जानकी प्रसाद

इनका जन्म रायबरेली जिले की डलमऊ तहसील में गंगातट पर स्थित जोहवैपुर ग्राम में हुआ था। जाति के पँवार क्षत्रिय थे। पिता का नाम भवानी प्रसाद सिंह था। इनके 'रामनिवास-रामायण' का रचनाकाल चैत कृष्ण ९, सं० १९३३ है। अतएव उन्नीसवीं शताब्दी (ई०) के उत्तरार्ध में ये वर्तमान ठहरते हैं। इनकी निम्नांकित चार कृतियाँ उपलब्ध हैं—

१. रामनिवास रामायण
२. सीताराम विलास बारहमासा
३. राधाकृष्ण मोद विलास बारहमासा
४. पहेली

'राम निवास रामायण' इनकी महत्त्वपूर्ण रचना है। इसका निर्माण कवि के अनुसार ४ मास २४ दिन में हुआ—

> कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा सुखप्रद, भयो ग्रंथ आरम्भा।
> उये ज्ञान रवि नशे विषयतम, काम क्रोध मद दंभा॥
> पूरण भयो पूर्णिमा शशि सो, मधुसित नौमीपाई।
> राम सर्वगुण अङ्क ब्रह्म में, संवत सुखद सोहाई॥

यह प्रबन्ध सात चरित्रों अथवा काडों में विभक्त है—बालविलास, अवध विलास, आरण्य विलास, किष्किधा विलास, सुन्दर विलास, लंका विलास और उत्तर अवध विलास।

ग्रन्थ के आरम्भ में रसिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार साकेतलोक में सखियों की संख्या, उनकी सेवाओं की सूची और सीताराम के पदचिह्नों का वर्णन किया गया है, किन्तु मूलकथानक के भीतर साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का समावेश नहीं किया गया है। इससे कथा-प्रवाह में कोई बाधा नहीं पड़ी है। इनके ग्रन्थों में छन्दों की विविधता बराबर मिलती है। भाषा सुव्यवस्थित और साहित्यिक है।

नीचे इनकी रचना के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

> परम रम्य सब मणिमय पावन। सर्वलोक छवि छटा लजावन॥
> पेड़ फूल फल वल्कल पाता। चिन्मय रामरूप दरसाता॥
> ता तर मण्डप महाकारा। रत्नाकर मणिमयी सँवारा।
> दिव्य वेदिका ता तर राजै। रत्नमयी छवि छटा बिराजै॥
> परम दिव्य सिंहासन तामें। कमल सहस दल राजत जामें[1]।

> विदेह पाणि जोरि कै। बिनै करी निहोरि कै।
> परेश ब्रह्म हौ सही। निकाय काय हू लही॥
> अनन्त वेद गावते। न आदि अन्त पावते।
> सो प्रेम वश्य भावते। स्वरूप हू लखावते[2]॥

१—रामनिवास रामायण, पृ० ११ २—वही, पृ० ११८

मधुमास मंगल रामनौमी लग्न दिन मंगल मई।
जेहिमास औध विलास को श्री राममन इच्छा भई॥
आनन्द मंगल उदधि उमँगे अवध पुर मंगल ठये।
श्रीमातु पितु सुर नर ऋषीश्वर जगत जन आनंद भये[1]॥

जामा पहिरे जीव न होय।
पिय सँग सूतै निसिभर सोय॥
अधर दन्त हूँ राजत नीके।
कोमल मृदुतन सुखदा पीके॥[2] (तकिया)

६१. कामदमणि

इनका आविर्भाव बिहार के गया जिले में किसी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। विद्याध्ययन करके इन्होंने कुछ काल तक गृहस्थ जीवन बिताया। एक पुत्री पैदा हुई। उसके बाद सपरिवार अयोध्या चले गये और सख्यभाव का सम्बन्ध लेकर रामसखे जी की तपोभूमि 'नृत्यराघवकुंज' के समीप रासकुंज में रहने लगे। इनकी विद्वत्ता और सदाचार से आकृष्ट होकर बघेलखण्ड और बुन्देल खण्ड के कई राजाओं ने इनसे दीक्षा ली। इनका सारा समय साहित्य अनुशीलन एवं धर्मोपदेश में बीतता था। अयोध्या जाने के बाद ये आजन्म वहीं रहे। सं० १९७८ के लगभग इनका परलोक वास हुआ। इसके अनन्तर इन की स्त्री और पुत्री की देखरेख और भरण-पोषण का सारा उत्तरदायित्व इनके परम मित्र महात्मा सीताप्रसाद ने निबाहा।

कामदमणि जी की साहित्यरचना के प्रसाद, पचभक्तिरसों के हिन्दी और सस्कृत दोनों भाषाओं में लिखे गये पद्यबद्ध पत्र हैं। यह उल्लेखनीय है कि स्वयं नर्मसख्य भाव के भक्त होते हुए भी इन्होंने केवल सख्य के ही नहीं अन्य भक्ति रसों के मुख्य तत्त्वों का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था और आधिकारिक रूप से उनके स्वरूप निरूपण की क्षमता रखते थे। हिन्दी के भक्ति साहित्य में भी इनकी गहरी पैठ थी। इसका प्रमाण "केशव कहि न जात का कहिये" शीर्षक 'विनय पत्रिका' (तुलसीदास) के पद की व्याख्या रूप में इनका इसी नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्माण करना है।

१–सीताराम विलास, पृ० १

२–पहेली, छन्द १८

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

स्वस्ति सखा श्री सहित श्री, जानकि जीवन पास।
पहुँचे पाती ललित यह, कनक भवन आवास॥
कामद नर्मसखा लिखित, पाया सहर निवास।
तनको मन भावत नहीं, बढ़त विरह की स्वास॥
गुण गावत आँसू बहत, भयो सिथिल तन चीर।
धन प्रमोद की सुरति करि, श्री सरयू को नीर॥
मैं चाहौं तुमसों मिल्या, कोटि कल्प सत जाय।
तुम चाहो छिन में मिलो, दुसह विपत्ति विहाय॥[1]

मदन कदन करि सहर को लूटि लियो करि क्रोध।
लोभ विनास्यो ध्यान को, क्रोध विनास्यो बोध॥
ज्ञान विरागादिक सबै, भागे लै लै प्राण।
नर्म सखा तव जीव यह, कैसे बचै सुजान॥
याते वेगि बुलाय कै, रखिये अपने पास।
नर्म सखा निज जानि कै, दास कीजिए खास॥
विपुल विनोद विहार हित, उपवन सखिन समेत।
समन सफल निरखत कबहुँ, लखिहौं मोद निकेत॥
मधुर वचन पीयूष पिय, सुनिहौं चित्त लगाय।
पढ़ै सदा दिलदार दिल, हिय ते भिन्न न जाय॥[2]

हौं दिलदार यार कब पैहौं।
जाके बिन छन पल न परतु है ताके बिना कैसे जनम गवैहौं॥
अङ्ग अङ्ग छवि मधुर मनोहर है भुज पकरि अङ्क कब लैहौं।
'कामदमणि' यह सोच रैनि दिन कैसे कै आनन्द माँहि समैहौं॥[3]

६२. सीतारामशरण 'शुभशील'

इनका आविर्भाव बुन्देलखण्डान्तर्गत चन्देरी राज-परिवार में हुआ था। जब ये चौदह वर्ष के हुए तो पिता ने विवाह की चर्चा चलाई। उसी समय उत्कट वैराग्य से प्रेरित होकर ये घर से निकल पड़े और विरक्त वेष धारण कर

१—कामदमणि की पत्री, पत्र १

२—वही, पत्र ३

३—स्फुट पद
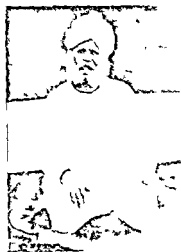
महात्मा सीतारामशरण
(पृ० ५२४)

महात्मा सियारामशरण तपसी
(पृ० ५२६)

लिया।[1] कुछ दिनों तक सन्त-पीठों में विचरते रहे। कहते हैं, इन्हीं दिनों इन्हें किसी रामभक्त सन्त से सख्य-भाव का उपदेश मिला था। चार वर्ष तक इस प्रकार भ्रमण करने के पश्चात् ये चित्रकूट गये। वहाँ से वृन्दावन की यात्रा की। वृन्दावन पहुँच कर ये शाह बिहारी जी के मन्दिर में रास देखने गये। भगवान कृष्ण की उस माधुर्यलीला से ये बहुत प्रभावित हुए और इसी प्रकार की राम की रहस्यक्रीडा का सुख प्राप्त करने के लिये शृङ्गारी सम्प्रदाय में दीक्षित होने का संकल्प कर लिया। भक्तों से पूछने पर इन्हें ज्ञात हुआ कि इस रस के सिद्ध आचार्य जयपुरवासी महात्मा रूपसरस जी हैं। उनकी शरणागति प्राप्त करने के लिये इन्होंने वृन्दावन से ही जयपुर के लिये प्रस्थान कर दिया। मार्ग में किसी रसिक संत से बालअली जी का "सुघर दोउ पौढ़े माहीं" शीर्षक रससिक्त पद सुनकर रामरसमाधुरी में उनकी अनुरक्ति दृढ हो गई। जयपुर में रूपसरस जी से सत्संग-वार्ता कर ये गद्गद हो गये, और उनका शिष्यत्व ग्रहण कर वहीं रहने लगे। जयपुर से ये अयोध्या बराबर आते रहते थे। सं० १९५४ (१८९७ ई०) में इनकी भेंट अयोध्या के प्रसिद्ध महात्मा रूपकला जी से हुई थी। इनकी साधना इतनी उन्नत थी कि प्रायः कई दिनों तक लगातार मानसी भावना में मग्न होने से ये बेसुध रहा करते थे। भावावेश की इस दशा में लिखे गये "सुरता-पत्र" इनके प्रशिष्य महात्मा राजकिशोरीवर शरण 'कृपाशीला' के पास सुरक्षित हैं। इनकी धामयात्रा ज्येष्ठ शुक्ल ६ सं० १९५८ (१९०१ ई०) में हुई। स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में लिखी गई इनकी एकमात्र रचना 'युगलोत्कंठा प्रकाशिका' है। उसके कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं—

> कबहुँक यह दिन होयगो, जनकलली के पास।
> चेरी ह्वै नेरी रहौं, लैहौं अङ्ग सुवास॥
> राग रास मंडल रचै, श्री महराज कुमार।
> श्रवन कबहुँ वह सुनौंगी, जनकसुता सुकुमार॥
> ब्रह्मादिक की गति नहीं, सुनै आय सुख राग।
> चेरी तन धारे बिना, दूर महल अरु बाग॥
> नूपुर भूषण झमक धुनि, श्रवन सुनै कब मोर।
> जिहि सुनि संग चितवत रहो, श्री रघुराज किशोर॥

१—बालपने शरणै लई, तब तो नहिं कछु बोध।
बोध भये कस दूरि अब, तन मन से करो सोध॥
—यु० प्र०, पृ० १०

शरद रैन के चन्द्रमा, बहुत कठिन दुःख देत।
तुम बिन विष सम श्रवत है, कुंजन महल निकेत ॥[1]

प्रात समै आन सखी मधुर तान गावैं।
प्यारी प्रीतम सुजान जगे दर्श पावैं॥
रास श्रमित छवि निहारि वारि फेरि जावैं।
तन मन की तपन मेटि उर में सुख लावैं॥
आरति सुनि श्रवन नयन लली लाल जागे।
घुर्णित लोचन विशाल प्रिया प्रेम पागे॥[2]

करत फिर सैनन से बतियाँ।
सुरति सुहागिनि केहि समय की लिखी मदनपतियाँ।
उर उरोज नख रद कपोल की कोर उघर छतियाँ॥
मुसकन सकुचन सिय नैनन में नमत दृष्टि करियाँ।
सकुचन मुलकन पियप्यारी उर 'सुभ शीला' बिकियाँ॥[3]

६३. सियाराम शरण 'तपसी'

इनका जन्म बदायूँ जिले में आश्विन कृष्ण २, सं० १९२५ (१८६८ ई०) में हुआ था। जाति के क्षत्रिय थे। चौदह वर्ष की अवस्था में तीव्र विराग उत्पन्न हुआ। तत्काल ही घर छोड़ कर निकल पड़े। कुछ दिन विचरने के बाद राममनोहरदास नामक किसी महात्मा से दीक्षा प्राप्त की। गुरु से दास्य भाव का उपदेश मिला, किन्तु कालान्तर में इनकी निष्ठा शृंगार की ओर अधिक बढ़ गई अतएव जयपुर जाकर चैंदेरी के महाराज श्री सीताराम शरण से शृङ्गार का सम्बन्ध लिया। उस समय इनकी आयु ३२ वर्ष की थी। जयपुर में बहुत दिनों तक निवासकर गुरु की धामयात्रा के अनन्तर ये अयोध्या चले आये और जानकीघाट पर रहने लगे। पीछे वहीं पर इन्होंने 'रहस्य प्रमोद वन' नामक स्थान निर्मित कराया, जो अब जयपुर मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। नामजप में इनकी बड़ी आस्था थी। इनका नियम नित्य सवालाख युगल-नाम जपने का था। कहते हैं प्रिय विरह में व्याकुल हो, कई दिनों तक अन शन मन करके इन्होंने भाद्रशुक्ल ६. सं० १९७२ को 'महली सेवा' प्राप्त की।

१–युगलोत्कंठा प्रकाशिका, पृ० ८-९
२–वही, पृ० २०
३–वही, पृ० २७

जयपुर मन्दिर के वर्तमान महन्त श्री राजकिशोरीवरशरण इन्हीं के शिष्य हैं। इस परम्परा में सियासखी, चन्द्रअली, रूपसरस आदि शृङ्गारी भावना के तत्वज्ञ साधक और कवि होते आये हैं। दिव्य कनकभवन और अष्टसखियों के सेवा स्वरूप के जो रंगीन चित्र इस प्रबन्ध में दिये गये हैं, उनका निर्माण अपने निर्देशन में सियारामशरणजी ने जयपुर में कलाकारों द्वारा बहुत धन व्यय कर के कराया था। ये तपसी जी के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनके विरचित फुटकर दोहे मिलते हैं। उनमें से कुछ नमूने के लिये नीचे दिये जाते हैं—

मेरो मन हरि लै गयो, दै गयो विपति विराग।
रसिहा रिस रागी भयो, गायौ तपसी राग॥
हिरस हिरानी ज्ञानगौ, ध्यान रह्यो मुरझाय।
रस रागी बागी भयौ, तपसी हरि बन लाय॥
तपसी के जिय रस कहाँ, रुच्छ निरस हठ हेत।
रस निधि हरिहिं सराहिये, जो रस नेह-निकेत॥
बिन करनी करनी करी, अपनी कियो कृपाल।
तपसी को दम्पत्ति रस, दै कर दियौ निहाल॥
अवध बास अविचल दियौ, लियौ न्यास प्रिय पाय।
धरम निरखि तपसी जियौ, तनमन ताप विहाय॥

६४. श्री जनकदुलारी शरण (बावन जी)

इनका आविर्भाव ग्वालियर राज्य के मौंडेर परगने के गोदन नामक ग्राम में भाद्र शुक्ल १२, सं० १९३५ (१८७८ ई०) में हुआ। पिता का नाम बलि चौबे और माता का सुशीला देवी था। पुत्र की जन्मतिथि वामन द्वादशी थी और शरीर भी अत्यन्त छोटा था, अतएव चौबे जी ने उसका नाम 'बावन' रख दिया। कहते हैं इस अद्भुत बालक को देखने के लिए बराबर भीड़ लगी रहती थी।

सात वर्ष की अवस्था में बावन जी में 'मंजरी सखी' का भाव उत्पन्न हो गया था। ग्यारह वर्ष की आयु में महात्मा युगलशरण 'कृपावती जू' ने इन्हें शृङ्गार रस की सम्बन्ध दीक्षा दी। इस अवसर पर इनका महली नाम 'अलि विहारिणी' और व्यावहारिक नाम 'जनकदुलारीशरण' रखा गया।[1]

1—अलि विहारिणी नाम मम, सखी रूप मम जान।
जनक दुलारीशरण यह, ऊपर नाम बखान॥
—श्री वैदेही वल्लभ रसकोष, पृ० २११

पिता ने पुत्र की आध्यात्मिक भावना की तृप्ति के लिए अपनी जमींदारी के गाँव में एक मंदिर बनवा दिया। उसमें 'श्री सरयू कुंज विहारी भगवान्' की स्थापना की गई। कुछ काल तक यहाँ निवास कर ये विद्याध्ययन के लिए दतिया राज्य में लटोरिया जी नामक किसी पंडित के घर गये। अध्ययन समाप्त कर अयोध्या आये और अपने गुरु-आश्रम मंगल भवन (रामकोट) में ठहरे। महात्मा युगलशरण ने सख्यभाव के प्रसिद्ध संत परमहंस सीताशरण जी से इनका परिचय करा दिया। तब से ये परमहंस जी के पास 'लालसाहेब का दरबार' (कनकभवन के द्वार पर) में रहने लगे। यहाँ अयोध्या के रसिक महात्माओं के सत्संग-समागम का इन्हें अपूर्व अवसर मिला। परमहंस जी थोड़े दिनों बाद ही परलोकवासी हुए। बावन जी इसके पश्चात् अयोध्या से शेषाद्रि गये। वहाँ सात वर्ष तक साधना करने के बाद गुरु के साकेतवास का समाचार पाकर सं० १९६० में पुनः अयोध्या लौट आये। गुरु का भंडारा समाप्त होने पर ये चित्रकूट गये और वहाँ मंदाकिनी के तट पर जानकीकुण्ड के समीप एक गुफा बनाकर रहने लगे। अपने गुरु-भाई सियाशरण जी की प्रेरणा से चित्रकूट से सं० १९७६ में पुनः अयोध्या आ गये और स्वर्ग द्वार पर कुटी बनाई। उस स्थान पर सं० १९८४ में इन्होंने 'वैदेही-वल्लभ-निकुंज' नामक विशाल मंदिर बनवाया। यहीं सं० १९९१ में आप की धामयात्रा हुई।

बावन जी रसिकअली जी की परम्परा में थे। इस गद्दी के शिष्य हजारों की संख्या में मध्यप्रदेश और बुंदेलखंड में हैं। अब इस स्थान के अधिकारी महन्त सियाशरण हैं।

बावन जी के पदों का एक संग्रह पं० मैथिलीशरण 'भक्तमाली' द्वारा संपादित करा कर महन्त सियाशरण जी ने प्रकाशित किया है। इस रचना में साम्प्रदायिक विश्वासों के अनुसार प्रिया-प्रियतम के विविध लीला वर्णनों के साथ स्फुट छंदों में भावोद्गार व्यक्त किये गये हैं। कविता में ये अपनी छाप 'विहारिणि' अथवा 'अलि विहारिणि' रखते थे।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

नमो श्री सतगुरु रसिक सुजान।
युगल मंत्र उपदेशाचारज युगल अनन्य महान॥
रसिक उदार भावना कारक तारक भवनिधि यान।
श्री युगल किशोर-किशोरी जू के रहस माधुरी पान॥

महात्मा सियालालशरण 'प्रेमलता'

(पृ० ५२६)

छन छन नव नव सुख उपजावन कामादिक भट भान।
श्री कामदलता चारुशीला जू अमअली रस खान॥
जय श्री कृपावती पद पंकज नित 'बिहारिणी' गान।[1]

छबीले छैला घालो न रँग पिचकारी।
नवयौवन अंकुर अबही मम, तापर झीनी सारी॥
परत रग सब अंग दिखै हैं, फिरि हँसिहौ दै तारी।
जइहौं घर फिरि केहि विधि प्रीतम, गुरुजनलाज बिचारी॥
सब राखत मर्यादा फाग मे, भये तुम अजब खिलारी।
रँग छिरकत गुलाल पुनि फैंकत, करत कुमकुमन मारी॥
नवला नवल फाग के दिन मे, चाहें लघु मतवारी।
आपन दाँव लगावत प्यारे, नैक दया न हमारी॥
हौ सब बिधि हमरे पिय प्यारे, हौं तुम्हार लघु प्यारी।
''अलिबिहारिणी' मुग्ध जानि कै, खेलहु फाग सम्हारी॥[2]

रसिकन से नातो सही, रसिक हमारी जाति।
रसिक हमारे प्राण प्रिय, रसिक हमारी पाँति॥
तन मन खोलैं रसिक संग, खेलैं हँसैं सिहाय।
भेंटैं भुजा पसारि कै, मनहुँ रंक निधि पाय॥
धन्य अली जिहि भाग को, सिय चरणन्ह चित दीन्ह।
सिय चरणन्ह ते बिमुख है, वृथा जन्म जग कीन्ह॥
महिमा श्री सतगुरन की, कहँ तक लिखौं अपार।
जिनकी कृपा अखंड सुख, मिलत निकुंज विहार॥[3]

६५. सियालालशरण 'प्रेमलता'[4]

प्रेमलता जी ग्वालियर के निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म उसी राज्य के पनियार नामक गाँव में सं० १९२८ (१८७१ ई०) के भादों महीने में

१—श्री वैदेही वल्लभ रसकोष, पृ० ५१

२—वही, पृ० ३६

३—वही, पृ० २११—२१२

४—श्री सियलाल सुशरण अरु, प्रेमलता दुइ नाम।
दीन्हि एक तन भूल कर, इक आत्मीय ललाम॥
—वृ० जी० च०, पृ० ४४

हुआ था। पिता का नाम मौजीराम था। नामसंस्कार के समय इनका नाम बालाराम रखा गया। जब ये आठ ही वर्ष के थे पिता का परलोकवास हो गया। इसके दो वर्ष बाद सं० १९३८ में ये भजन करने के लिये घर से निकले। बलदेवदास नामक एक सन्त से भजन की रीति सीखी और इसके बाद घर पर ही साधना करने लगे। सं० १९४६ में इनकी माता भी परलोकगामिनी हुईं। इस प्रकार पारिवारिक बंधनों से मुक्त हो, ये घरबार छोड़कर चित्रकूट चले गये। वहाँ कई वर्षों तक तपोमय जीवन व्यतीत करते रहे। सं० १९५९ में अयोध्या जाकर महात्मा रामवल्लभाशरण से मन्त्र तथा माधुर्य सम्बन्ध की दीक्षा प्राप्त की।[1] अयोध्या में कुछ दिन गुरु सेवा कर ये फिर चित्रकूट लौट गये। इसके बाद वहीं से मिथिला और काशी की यात्रा की। इन स्थानों पर सात वर्ष तक पर्यटन कर सं० १९६८ में पुनः अयोध्या आ गये। इसी वर्ष इनके गुरु श्रीरामवल्लभाशरण का गोलाघाट पर 'सद्गुरु-सदन' नामक स्थान बनकर तैयार हुआ। इसके बाद लगभग बीस वर्षों तक इनका निवास अयोध्या में ही रहा। सं० १९९८ के सावन महीने में ये सीतामढ़ी गये। वहाँ से अयोध्या लौटते हुए काशी में उतरे। दैवयोग से जिस समय स्टेशन से नगर आने के लिये लाइन पार कर रहे थे, इञ्जन का धक्का लगा, जो घातक सिद्ध हुआ। इस प्रकार श्रावण की अमावस्या सं० १९९७ को इन्होंने स्थूल देह त्याग कर दिव्य शरीर से कुञ्जवास प्राप्त किया।

प्रेमलता जी की गणना शृंगारी परंपरा के रससिद्ध सन्तों में की जाती है। उच्चश्रेणी के साधक होने के साथ ही ये रसिक भक्तिपद्धति के मर्मवेत्ता भी थे। रसिक सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों का समन्वय और उसकी साधना प्रणाली का विवेचन जैसी सुबोध शैली में इनकी 'बृहद् उपासना रहस्य' नामक रचना में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी व्यापक दृष्टि शृङ्गारी साधना के सभी अंगों पर पड़ी और सबको इनकी साधनापुष्ट प्रतिभा की कुछ न कुछ सेवा प्राप्त हुई।

१–सरयूतट लक्ष्मण किला, तहँ सिय धाम सुहाग।
अवध धाम गुरु कीन्ह मोहिं, शिष्य सहित अनुराग॥
श्रीरामवल्लभाशरण मम, सद्गुरु परम सुजान।
निर्मायउ पुनि सरयु तट, सद्गुरुसदन स्थान॥
—बृ० उ० र०, पृ० ४४

प्रेमलता जी की ३३ कृतियों का पता चला है, जो इस प्रकार हैं—

१. बृहद् उपासना रहस्य
२. प्रेमलता पदावली
३. चैतन्य चालीसा
४. सीताराम रहस्य दर्पण
५. नाम रहस्यत्रयी
६. नामतत्त्व सिद्धान्त
७. जानकी स्तुति
८. षट्ऋतु विमल विहार
९. सीताराम नामरूप वर्णन
१०. सीताराम नाम जापक महात्म्य
११. ज्ञान पचासा
१२. मिथिला विभूति प्रकाशिका
१३. वैराग्य प्रबोधक बहत्तरी
१४. हितोपदेश शतक
१५. प्रेमलता बारावड़ी
१६. नाम सम्बन्ध बहत्तरी
१७. नाम वैभव प्रकाश चालीसा
१८. जानकी विनय नामादि
१९. नाम दृष्टान्तावली
२०. सतगुरु पदार्थ प्रबोधिका
२१. सन्त प्रसादी महात्म्य
२२. अनन्य शतक
२३. निजात्मबोध दर्पण
२४. अपेल सिद्धान्त
२५. षोडश भक्ति
२६. सन्तमहिमा
२७. उपदेश पेटिका
२८. पंच संस्कार
२९. अष्टयाम
३०. जानकी बधाई
३१. सारसिद्धान्त प्रकाश
३२. नित्य प्रार्थना
३३. निजविलास बीसिका

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

डरत मन बरणत युगल बिलास।
हात बड़ेन की बात गुप्त अति प्रगटै तो लहै त्रास।
कहत शान होय जात आन ही हात रसा आभास ॥
मौन रहै लखि नीक मुदित सोइ कहि न करै परकास।
जाने बाढ़त हर्ष जनाये होत सु हृदय ह्रास।
अस बिचारि जो चतुर उपासक बागहिं भेद न खास ॥
कहहिं न खोलि मर्म निज प्रभु कर जहँ तहँ दासी दास।
जुगवत तिन्हैं प्राण सम सो नृप करत अधिक विश्वास ॥
जो प्रभु सर्व चराचर नायक घट घट जाकर वास।
दरपत मेघ जासु डर निशिदिन बहत पवन उन्यास ॥
पालत हरि, विधि भरत, पाइ रुद्र काल करत संत्रास।
सबहिं नचावत नाच हसत कोउ बिरले सहि परिहास ॥

रँगे रहत तेहि रंग साधु जन तजि प्रपंच जग आस।
'प्रेमलता' रटि नाम देह भरि पहुँचत पुनि प्रभु पास॥[1]

होली खेलत राम सिया जोरी।
इत सिय संग सखी बहु राजैं रघुवर संग सखन जोरी॥
कंचन वन मिथिला पुर माहीं धूम मची अति चहुँओरी।
केशर रंग गुलाब पनारे बहन लगे खोरी खोरी॥
अबिर गुलाल कुमकुमनि मारत पिचकारिन ततु सरबोरी।
'प्रेमलता' सुर लसत मुदित मन बरसत सुमन सुभरि झोरी॥[2]

श्री सियराम उपासना, नाम रटन सखि भाव।
वैष्णव वेष सु श्रेष्ठ चहुँ, सब प्रकार श्रुति गाव॥
सतगुर सन चारित सु ये, धारन करहिं सचेत।
आराधहिं दृढ नेम करि, पावहिं त साकेत॥
श्री सियराम समीपता, सेवा रुचि अनुकूल।
लहहिं रसिक इन्ह चारि के, आराधक सुखमूल॥[3]

६६. रामा जी

रामा जी शृङ्गारमिश्रित दास्य अथवा मधुर दास्यभाव के उपासक भक्त थे। इनके आराध्य 'दूलह' राम थे, जिन्हें भाववश ये 'नौरो-बबुआ' कहा करते थे।

इनका जन्म छपरा जिले (बिहार) में सीवान के निकटस्थ बिटाय नामक ग्राम में सं० १९२८ (१८७१ ई०) की भाद्रकृष्ण सप्तमी को कायस्थ वंश में हुआ था। पिता का नाम मुन्शी रामयादलाल और माता का रामप्यारी देवी था। मुन्शी जी पटना की किसी कचहरी में नक्लनवीस थे। वहाँ वे बाकरगंज मुहल्ले में बाबा भीष्मदास जी के स्थान पर रहते थे। शिक्षा के सम्बन्ध में रामाजी की बाल्यावस्था पिता के साथ पटना में बीती। छोटी आयु में ही राम के दुलहा रूप में इनकी आसक्ति हो गई। पढ़ाई से जब कभी छुट्टी पाते तो लड़कों को एकत्र कर ये रामविवाह की लीला किया करते थे। विद्यालय में भी अवकाश पाने पर कापियों पर सीतारामविवाह के चित्र बनाया करते थे। धीरे

१–प्रेमलता पदावली, पृ० ५६ ५७
२–श्री प्रेमलता बृहद्जीवन चरित्र, पृ० १०७
३–बृहद् उपासना रहस्य, पृ० ३७९
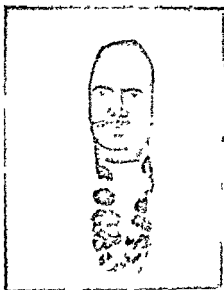
रामाजी

(पृ० ५३१)

धीरे इस ओर इनकी प्रवृत्ति इतनी दृढ हो गई कि पढ़ाई से मन हट गया। इसके फलस्वरूप एन्ट्रेन्स की परीक्षा में असफल होने पर इनकी शिक्षा समाप्त हो गई। पिता ने नौकरी तलाश करने को कहा। किन्तु वर्षों तक अपनी लीलाभावना में तन्मय रहकर इन्होंने उस ओर कोई ध्यान ही न दिया। अन्त में घर की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण कुटुम्बियों की प्रेरणा से विवश होकर इन्होंने नौकरी के लिये इलाहाबाद को एक आवेदनपत्र भेजा। साक्षात्कार के समय जब इनसे पूछा गया कि तुम किस पद पर कार्य करना चाहते हो, तो उत्तर दिया 'नौशे बबुआ की झाड़ू बरदारी करना चाहता हूँ।' अधिकारी ने पागल समझ कर इनका आवेदन पत्र इनके सामने ही फाड कर फेंक दिया और कार्यालय से निकल जाने का आदेश दिया। रामाजी प्रसन्न वदन घर लौट आये। तब से परिवार के किसी व्यक्ति ने इनसे नौकरी का प्रस्ताव करने का साहस नहीं किया। घर लौटने पर कुछ दिनों बाद जन्मभूमि के समीप ही पाँच कोस पूर्व बलीरा नामक गाँव में इनका विवाह हुआ। इनके छोटे भाई जगदेव लाल बस्ती जिले (उत्तर प्रदेश) की हरैया तहसील में मुख्तारगीरी करते थे। रामाजी स्वयं भी खेतीबारी से कुछ पैदा कर लेते थे। इससे घर की स्थिति बिगड़ने नहीं पाई।

गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी इनकी भावसाधना में कोई बाधा नहीं पड़ा। राम के दुलहा रूप पर आसक्त होने से जहाँ कहीं भी और जिस किसी भी जाति की बारात जाते देखते थे दुलहा की परिचर्या करने के लिए ये साथ हो लेते थे। कुछ दूर तक चल कर उसकी पालकी में कंधा लगाते और यदि चँवर न मिलता तो अँगोछा या चादर से ही उसके ऊपर चँवर डुलाते थे। प्रसिद्ध है कि एक बार हथोरी गाँव (छपरा) के परसादी पाठक की बारात में, जो उसी जिले के सहुलो गाँव को गई थी, इसी प्रकार की परिचर्या करते हुए इन्हें 'नौशे बबुआ' का दर्शन हुआ था।

अपने प्रदेश में विवाहोत्सव को स्थायी रूप देने के उद्देश्य से इन्होंने मठिया ग्राम (छपरा) में रामरक्षाप्रसाद तिवारी के द्वार पर एक विशाल मंडप बनवाया। इसी प्रकार उपास्य की जन्मभूमि तथा विवाहलीला से सम्बन्धित स्थानों—अयोध्या, बक्सर (विश्वामित्र आश्रम), सीतामढ़ी तथा जनकपुर की स्मृति को स्थायित्व देने के विचार से, सरयाँ ग्राम (छपरा) में इन्होंने चार मण्डप बनवाये और उनके बीच में विवाह मण्डप स्थापित किया।

अयोध्या से इनका सम्पर्क २१ वर्ष की आयु से ही स्थापित हो गया था। तब से वर्ष में एक बार अपने स्नेहियों एवं कृपापात्रों के साथ वहाँ आकर ये

'श्री रामचरित मानस' का विवाह किया करते थे। कारण कि 'मानस' को ये श्री सीताराम का स्वरूप ही मानते थे। इस उत्सव में जो वस्त्र द्रव्य अन्नादि प्राप्त होता था, उसे वहाँ के संतों में वितरित कर देते थे। अपने जीवन में अयोध्या में इन्होंने कोई स्थान नहीं बनवाया। स्वामी के घर में भूमि खरीद कर अपना अलग घर बनवाने में ये सेवकभाव की अप्रतिष्ठा मानते थे। पीछे पुजारी श्री रामशरणशरण के उद्योग से नयघाट पर विक्टोरिया पार्क के निकट 'रियहुती भवन' की स्थापना हुई। वहाँ अब भी प्रतिवर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को बड़ी धूमधाम से रामविवाहोत्सव होता है और हजारों सन्तों को भंडारा दिया जाता है।

विवाहलीला के साथ ही नामसंकीर्तन के प्रचार में भी रामाजी ने स्मरणीय सेवायें की हैं। कुछ दिन पूर्व छपरा में 'श्री रूपकला हरिनाम सकीर्तन' का जो प्रसिद्ध अधिवेशन हुआ था, उसको सफल बनाने में वहाँ के तत्कालीन बिहार बैंक के मैनेजर श्री महेन्द्र प्रसाद को इन्होंने पूरा सहयोग दिया था।

इस प्रकार लगभग ४० वर्ष तक पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा बिहार के सामाजिक जीवन को राम की माधुर्य लीलाओं से अभिषिक्त कर ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया, रविवार सं० १९८५ को रामा जी ने दिव्य-दूलह का नित्य कैंकर्य प्राप्त किया।

उपास्य के प्रति अपने हृदयोद्गार की अभिव्यक्ति के लिये लोकगीतों का ही क्षेत्र इन्हें अधिक प्रशस्त एवं सर्व सुलभ जान पड़ा। मानसाधना के प्रसार के लिये वही अधिक उपयुक्त भी था। अतएव शिक्षित होते हुए भी साहित्यिक शैलियों को त्याग कर इन्होंने ग्राम-गीतों की ही शैली अपनाई।

नीचे भोजपुरी भाषा में इनके कुछ रसपरिप्लुत विवाह-गीत दिये जाते हैं—

अवध नगरिया से चलली बरियतिया, हे सुहावन लागे।
जनक नगरिया भैले सोर " " "
सब देवनन मिलि चलले बरियतिया " " "
बजवा बजेला घनघोर " " "
बजवा के सबद सुनि हुलसे मोरो छतिया" " "
रोसनी के महलवा अजोर " " "
परछिन चलली सब सखिया सहेलरी " " "
पहिरेली लहरा पटोर " " "
कहत रसिक जन दुलहा के सुरतिया " " "
सुफल मनोरथ भैलें मोर " " "

अवध नगर से जनकपुर आये दुलहा सुन्दर हे।
मदन मोहन छवि निरखत लिये हिये अन्दर हे॥
अनुपम सोहे सिर मौर भूपन पितम्बर हे।
अलक कुटिल भहुँवा धनुसम कमल नयन सर हे॥
साजि साजि कंचन थार लिये सब मिलि जुथ नारी हे।
आरती उतारैंली सुनैना रानी वारी दे दे जादू डारैं हे॥
जोगी जन जतन करत हारे बस नाहीं भये हरि हे।
से हरि नाथ के नाथ सियावर बस भैले हे॥

सुन्दर पलकिया के कामदार छहियाँ, सुनवे सजनी।
सुन्दर लगलवा कहार, सुनवे सजनी॥
ताहि पर चढल बाटी रामचन्द्र दुलहा, श्री लखन लाल दुलहा,
भरत लाल दुलहा, शत्रुघन लाल दुलहा, सुनवे सजनी।
सोभा अमित अपार, सुनवे सजनी॥
आसा सोटा बल्लम लाये सब परिकरगन, सुनवे सजनी।
'रामा जी' महली चमर ढार, सुनवे सजनी॥

६७. सद्‌गुरुप्रसाद शरण

इनका आविर्भाव सं० १९४० (१८८३ ई०) में नैमिषारण्य के निकट कमोलिया ग्राम में हुआ। इनके पिता पं० रामचरण, रामायणी जी के नाम से प्रसिद्ध थे। मानस की कथा से ही वे अपनी वृत्ति चलाते थे। उन्होंने पुत्र का नाम सद्‌गुरुप्रसाद रखा और सात वर्ष की आयु में ही उसे मानस की समस्त स्तुतियाँ कण्ठाग्र करा दीं। ग्रामवासियों से किसी बात पर कहा-सुनी हो जाने से उन्होंने यह स्थान छोड़ दिया और वहाँ से दो मील पर स्थित राव नामक गाँव में जाकर सपरिवार रहने लगे। उस समय सद्‌गुरुप्रसाद की आयु ९ वर्ष की थी। पिता की इच्छानुसार आरम्भ में इन्होंने पाण्डिताई करने के उद्देश्य से कर्मकांड, व्याकरण और ज्योतिष की शिक्षा प्राप्त की। इन्हीं दिनों पिता ने इनके विवाह की बात चलानी आरम्भ की। यह सुन कर ये एक दिन चुपके से घर से निकल भागे और फर्रुखाबाद में गंगातट पर कुटी बनाकर रहने लगे। किसी प्रकार पता लगा कर पण्डित जी फर्रुखाबाद पहुँचे और इन्हें अपने साथ घर लिवा लाये। इसके अनन्तर पिता-माता घर का भार इन पर छोड़ कर तीर्थाटन को चले गये। उनके जाने पर कई महीनों तक ये भयंकर व्याधि से पीड़ित रहे। इस बीच संसार की अनित्यता का इन्हें सम्यक् बोध हो गया।

पिता-माता के तीर्थाटन से लौटने पर पुनः घर छोड़ कर ये अयोध्या चले गये। वहाँ परमहंस सीताशरण जी से पंचसंस्कार दीक्षा प्राप्त कर सख्य रस का सम्बन्ध लिया और मणिपर्वत पर भजन करने लगे। पिता ने अयोध्या में ही आकर शरीर छोड़ा। इसके पश्चात् माता को सान्त्वना देने के लिये ये कुछ समय के लिये घर पर रहे। फिर कई वर्षों तक प्रभासक्षेत्र, गिरनार, सुदामापुरी, हरद्वार और वृन्दावन का पर्यटन कर अयोध्या लौट आये।

गोस्वामी तुलसीदास जी के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये नैमिषारण्य के निकट बघोली नामक स्थान पर इन्होंने 'तुलसी आश्रम' स्थापित किया। वहीं से 'तुलसी सत्संग' के तत्वावधान में 'तुलसी पत्र' नामक मासिक पत्रिका निकालनी आरम्भ की। इस पत्र के तीन ही अंक निकल पाये थे कि ये अकस्मात् किसी भीषण बीमारी से आक्रान्त हुए और भाद्र कृष्ण १३, सं० १९७१ को अयोध्या में शरीर त्याग कर दिव्यसखा के सहवासी बने। इनके शिष्य नये सखा श्री हनुमान शरण जी ने पत्र-पत्रिकाओं से इनकी कवितायें संकलित कर 'श्री प्रेमानन्द चरितावली' में प्रकाशित की हैं। उनका भी गत वर्ष परलोकवास हो गया।

श्री सद्गुरुप्रसाद शरण अच्छे कवि और लेखक थे। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में इनके लेख बराबर निकलते रहते थे। इसके अतिरिक्त इनकी लिखी तीन-चार पुस्तकें भी बताई जाती हैं किन्तु अब वे अप्राप्य हैं। हिन्दी से इनका अगाध प्रेम था। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के ये जीवन पर्यन्त सदस्य रहे। सनातनधर्म पताका, नागरी प्रचारक, गृहलक्ष्मी, मर्यादा, रसिक मित्र आदि पत्रिकाओं को ये अनेक प्रकार से सहायता किया करते थे। 'सभा' द्वारा प्राचीन हिन्दी पुस्तकों की खोज में भी ये सहायक हुए थे।

सद्गुरु प्रसाद शरण के अतिरिक्त इनका एक और नाम 'प्रेमानन्द' था। कविताओं में ये प्रायः 'गुरुप्रसाद' अथवा 'गुरुदास' छाप रखते थे।

नीचे इनके कुछ छन्द दिये जाते हैं—

रघुनन्दन आनन्दकन्द सखी अलकावलि कंज कपोलनियाँ।
मुखचन्द्र सुधा मुसुक्यानि भरी अति माधुरि तोतरि बोलनियाँ॥
सुषमा वर बाल विभूषण की झिंगुली तन पात अमोलनियाँ।
'गुरुदास' बसी सुषमा मधुरी हरि बालविनोद बिलोकनियाँ॥[1]

१—प्रेमानन्द चरितावली, पृ० ३७

क्या क्या मौज फकीरों जी।
कभी तो खावें सूखे टुकड़े कभी तो पूड़ी सीरों जी॥
कभी तो फाका करके रहने कभी तो पीवें नीरों जी।
कभी तो फट्टी गुदड़ी ओढ़े कभी दुशाले चीरों जी॥
कभी काठ की माला पहनें, कभी तो मोती हीरों जी।
'गुरु प्रसाद' यह मौज होय तब मेहर करैं जब पीरों जी॥
रामनाम का प्याला पी के झोंकी धूर अमीरों जी।[1]

परम दिव्य गुण अष्टदश, श्री रघुवर के ज्ञान।
ज्ञानभक्ति बल और पुनि, ऐश्वर्यहि पहिचान॥
ऐश्वर्यहिं पहिचान तेज अरु वीर्य बखानों।
शुभ सौशील्य सु वात्सल्य आर्जव पहिचानो॥
'गुरु प्रसाद' इन गुणन को, शिव आदिक जानत मरम।
और जीव जाने कहा, श्री रघुवर के गुण परम॥[2]

६८. काचनकुँवरि

काचन कुँवरि जी का जन्म वैशाख शुक्ल (अक्षय) तृतीया सं० १९५१ (१८९४ ई०) को हुआ था। इनके पिता गजराजसिंह करहिया राज्य के दीवान थे। इन्हें घर पर ही हिन्दी की साधारण शिक्षा मिली थी। लड़कपन से इनका मन पूजापाठ में अधिक लगता था। ये 'मानस' का नित्य पाठ और 'भक्तमाल' का अध्ययन किया करती थीं। १८ वर्ष की आयु में टीकमगढ़ के महाराज सावंत सिंह से इनका विवाह हुआ। इसके बाद भी पूजा पाठ का क्रम पूर्ववत् चलता रहा। इनका श्वसुरकुल परम्परा से रामभक्त था। सास, महारानी वृषभानु कुँवरि ने क्रमशः अयोध्या तथा मिथिला में कनकभवन और जानकीमंदिर बनवा कर अपनी अमर कीर्ति स्थापित की थी। काचनकुँवरि ने उस परम्परा को अच्छी तरह निबाहा। अयोध्या में ऋणमोचन घाट पर विशाल राममन्दिर इन्हीं का बनवाया हुआ है। निवाबर में भी इन्होंने एक प्राचीन राममंदिर का जीर्णोद्धार कराया और उसका नाम 'श्री रामनिवास मंदिर' रखा। उस में नियमित रूप से सत्संग, साधुसेवा और पूजापाठ की व्यवस्था स्थापित करने के लिए इन्होंने एक धर्मसभा बनाई थी। कहते हैं इन्हें एक बार

१—श्रीप्रेमानन्द चरितावली, पृ० १२
२—वही, पृ० ४७

स्वप्न में इष्टदेव के दर्शन भी हुए थे।[1]

इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'कांचन कुसुमाञ्जलि' के नाम से प्रकाशित हुआ है। उससे कुछ छन्द नमूने के लिये नीचे दिये जाते हैं—

अवधेश किशोर रचे होरी, मिथिला पुर की सब गोरी।
नव ससुरार नवल नव नही, नव नागर नवला गोरी॥
सिद्धि कुँवरि सरहज सखियन लै, रग गुलाल भरे झारी।
कर छल झपट गहे रघुनन्दन, गाल कपोलन मल रोरी॥
'कंचन कुँवरि' करी मन भाई, पीताम्बर लीनो छोरी।[2]

नृपति गृह सोभा बरनि न जाई।
जग निवास प्रभु प्रगट भये है आनन्द मंगल छाई॥
बन्दनवार पताका सोहै कचन कलश धराई।
सिंघ पौरि पर नौबति बाजै युवतिन मगल गाई॥
विप्रन दान दिया मन भायौ भूषन बसन लुटाई।
'कंचन कुँवरि' निछावरि पाई मैं अपनी मन भाई॥[3]

१—इस घटना पर इन्होंने स्वयं एक पद लिखा है, जो इस प्रकार है—

मिले मोहिं सपननि राज किसोर।
काह कहूँ वा छिन की सोभा थकित होत मन मोर।
रवि ससि मद होत मुख छबि लखि लाजत काम करोर॥
मृदु मुसक्यात नचाय नैन तकि तिरछी भौंह मरोर।
'कंचन कुँवरि' मधुर कछु कहि गये लै गये री चित चोर॥

—कांचन कुसुमांजलि, पृ० ६८

इसी के पश्चात् विरह से व्याकुल हो इन्होंने निम्नलिखित छंद लिखा था—

कब मिलिहैं वे राजदुलारे।
जिन मन मोहि लियो सखि मेरो नयन बान तिरछे करि मारे।
क्रीट मुकुट माथे पर सोहै भाल विसाल नैन रतनारे॥
गोल कपोलन कुण्डल झलके घूँघरवारी जुलफन वारे।
श्यामगात पीताम्बर राजै कर कचन धनु सायक धारे॥
नूपुर बजत धरत पग धरनी गजगति चलन मदन मतवारे।
'कंचन कुँवरि' प्रान प्रीतम पर तन मन धाम निछावर डारे॥

—वही, पृ० ६२

२—कांचन कुसुमांजलि, पृ० २२   ३—वही, पृ० ४

रसिक भावना के प्रतिनिधि रामभक्त कवियों की चर्चा हो चुकी है। इस विषय पर अन्य साहित्यनिर्माताओं की संख्या थोड़ी नहीं है। अतएव नीचे उनका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। जिससे यह व्यक्त हो जायगा कि इस क्षेत्र में अभी अपार साहित्य भरा पड़ा है। उसे प्रकाश में लाने के लिये अनुसन्धित्सुओं की तत्परता अपेक्षित है।

क्रमसंख्या	कवि का नाम	समय (ई०)	रचना	निवास स्थान
१	मधुर अली	१५५८	रामचरित्र, गनेसदेव लीला	ओरछा
२	सुन्दरदास	१५५९	हनुमान चरित्र	—
३	प्राणचंद चौहान	१६१०	रामायण महानाटक	दिल्ली
४	माधवदास चारण	१६१८	गुणराम रासो	जोधपुर
५	हृदयराम	१६२३	हनुमन्नाटक	—
६	मानदास	१६२३	हनुमन्नाटक	मथुरा
७	कपूरचंद	१६४३	भाषारामायण	—
८	कृष्ण	१६५७	लघुयोगवाशिष्ठ	—
९	मडन	१६५९	जनकपच्चीसी	जैतपुर (बुन्देल खण्ड)
१०	सुखदेव मिश्र	१६७१	दशरथराय	—
११	लालदास	१६७८	अवधविलास	अयोध्या
१२	बारहठ नरहरदास	१७००	रामचरित्र, अहिल्यापूर्वप्रसंग	मारवाड़
१३	श्यामदास	१७०४	रामायण	मिर्जापुर
१४	जोगराम	१७०८	जोगरामायण	बुन्देलखण्ड

क्रमसंख्या	कवि का नाम	समय (ई०)	रचना	निवास स्थान
१५	भगवत सिंह	१७३०	रामायण, हनुमत पचीसी	असोथर (फतहपुर)
१६	सहजराम	१७३२	रघुवंशदीपक, कवितावली	—
१७	पंचम सिंह	१७३५	युगलनखशिख	पन्ना (बुंदेलखण्ड)
१८	हरिसेवक	१७४०	हनुमानजी की स्तुति	—
१९	शम्भुनाथ त्रिवेदी	१७४१	रामविलास रामायण	—
२०	मधुसूदन	१७८२	रामाश्वमेध	—
२१	इच्छाराम	१७९०	हनुमत पचीसी	—
२२	मनजू	१७९०	हनुमाष्टक	—
२३	ललकदास	१७९३	सत्योपाख्यान	लखनऊ
२४	शिवसिंह	१७९५	रामचन्द्र चरित	भिनगा (बहरायच)
२५	खुमान	१७९५	हनुमानपंचक, हनुमान पचीसी लक्ष्मणशतक, हनुमतनखशिख	—
२६	सुंदरि कुँवरि	१७९६	रामरहस्य, रसपुंज ग्रंथ सारसंग्रह, भावना प्रकाश	कृष्णगढ़ (राजपूताना)
२७	क्षेमकरण मिश्र	१७७१–१८६१	रामचरित वृत्त प्रकाश, रघुराज घनाक्षरी, रामगीतमाला	धनौली (बाराबंकी)
२८	हरिचरणदास	१७७९–१८१२	रामचरित मानस की टीका	अयोध्या

क्रमसंख्या	कवि का नाम	समय (ई०)	रचना	निवास स्थान
२९	हरिसहायगिरि	१८०२	रामाश्वमेध	मिर्जापुर
३०	मून	१८०३	राम रावण युद्ध	असोथर (फतहपुर)
३१	परमेश्वरीदास	१८०३	कवितावली	कालिंजर
३२	गणेश	१८०३	वाल्मीकिरामायण, श्लोकार्थ प्रकाश, हनुमतपच्चीसी	
३३	देवीदास कायस्थ	१८०८	बालकाण्डरामायण	काशी
३४	घनीराम	१८१०	रामगुणोदय	—
३५	व्रजलाल	१८१९	हनुमत बालचरित	काशी
३६	रुद्रप्रताप सिंह	१८२०	सुसिद्धान्तोत्तम, कोशलपथ	काशी
३७	गोकुलनाथ	१८२०	सीताराम गुणार्णव	माडा
३८	जानकी चरण	१८२२	प्रेम प्रधाना	काशी
३९	शिवबख्शराय	१८२४	रामायन शृंगार	अयोध्या
४०	रामगोपाल	१८२६	अष्टयाम	भगरामऊ (हरदोई)
४१	रूपसहाय	१८२९	रामचन्द्र का नखशिख	—
४२	सीताराम	१८३०	रामायण	पन्ना
४३	नवलसिंह कायस्थ	१८३१	रामचन्द्रविलास, आह्लाद रामायण अध्यात्म रामायण, रूपक रामायण सीतास्वयंवर, राम विवाह खंड,	दतिया

क्रमसंख्या	कवि का नाम	समय (ई०)	रचनायें	निवास स्थान
			दोहावली, रामरहस्य पूर्वार्द्ध, रामरहस्य उत्तरार्द्ध	—
५६	मोहन	१८४१	चित्रकूट महात्म्य,	चित्रकूट
५७	विद्यारण्यतीर्थ	१८४१	संक्षेप रामायण	काशी
५८	जनकलाडिली शरण	१८४३	टीका नेह प्रकाश	अयोध्या
५९	प्रियासखी	१८४३	राम रत्न मंजरी, युगल मंजरी भगवन्नामामृत कादम्बिनी	अयोध्या
६०	किशोरदास	१८४१	निजमत सिद्धान्तसार, गणपति-महात्म्य, अध्यात्म रामायण	काशी
६१	हरिदास सन्यासी	१८४३	रामाश्वमेध भाषा	मिरजापुर
६२	समरदास	१८४२	रामायण	—
६३	रामनाथ	१८४२	जानकी पचीसी	—
६४	हरिजन	१८४६	तुलसी चिंतामणि	टीकमगढ़
६५	सियारामशरण	१८४९	वर्णमति ज्ञानोपदेश	अयोध्या
६६	लछिराम	१८५०	सियारामचरण चन्द्रिका, प्रेमरत्नाकर, प्रताप रत्नाकर	बस्ती
६७	हरिचरण सिंह	१८५०	रामायण शतक, रामरत्नावली	प्रतापगढ़
६८	लछमन	१८५०	रामरत्नावली	अयोध्या

क्रमसंख्या	कवि का नाम	समय (ई०)	रचनायें	निवास स्थान
६९	रघुवर शरण	१८५०	राममन्त्र रहस्य, जानकीजी का मंगलाचरण, नना	—
७०	श्रीनिवास	१८५०	जानकी सहस्रनाम	—
७१	जानकीप्रसाद (प्रथम)	१८५१	रामनवरत्न विजय	—
७२	गोपालदास	१८५१	रामायण महात्म्य, रामगीता	अयोध्या
७३	दयानिधि	१८५२	रसिक विनोद	अयोध्या
७४	सरदार कवि	१८५५	रामरत्नाकर, रामलीला प्रकाश, हनुमत् भूषण, तुलसी भूषण, मानस भूषण	काशी
७५	छत्रधारी	१८५७	वाल्मीकि रामायण भाषा	काशी
७६	ईश्वरी प्रसाद	१८५८	रामायण, राम विलास	पीरनगर (लखनऊ)
७७	गोमतीदास	१८५८	रामायण	अयोध्या
७८	बाबा हरिदास	१८६०	भक्तिविलास, मंगल विवेक 'मानस' की शीलावृत्ति टीका	रायबरेली
७९	वासुदेवदास	१८६२	रसिक प्रकाश भक्तमाल की 'सुबोधिनी' टीका	छपरा
८०	सूरजदास	१८६६	रामजन्म	
८१	मोहनदास	१८६७	रामाश्वमेध	ओरछा
८२	गोकुलप्रसाद 'ब्रज'	१८६८	अद्भुतरामायण भाषा	बलरामपुर (गोंडा)

क्रमसंख्या	कवि का नाम	समय (ई०)	रचनायें	निवास स्थान
८३	रामवल्लभाशरण	१८७०	भक्तिसार सिद्धान्त	अयोध्या
८४	रामदयाल	१८७२	रामनाम तत्वबोधिनी	अयोध्या
८५	जानकीप्रसाद (द्वितीय)	१८७२	रामभक्ति प्रकाशिका	काशी
८६	भगवानदास खत्री	१८७९	महारामायण	—
८७	प्रेमसखी (द्वितीय)	१८९०	भक्तमन रंजनी	अयोध्या
८८	लालकवि	१८९४	हनुमान पैज	सुल्तानपुर
८९	वैदेहीशरण	१८९५	रामायण रामानुरागावली	गोसाईंगंज (लखनऊ)
९०	श्यामसखे	१९वीं शती	पदावली	अयोध्या
९१	ध्रुवदास	"	वाणी, सिद्धान्त विचार, भक्तनामावली	छपरा
९२	बन्दन पाठक	"	मानस शंकावली	काशी
९३	इन्द्रजीत	"	अवध विलास रामायण	ग्वालियर
९४	लालमणि	"	अद्भुत रामायण	—
९५	महावीरदास	"	गीत रामायण	मिरजापुर
९६	चतुरदास	"	मिथिला महात्म्य	रामगंज
९७	राघवदास	"	रामचन्द्र नखशिख	—
९८	श्यामनाथ	"	सीताराम विवाह संग्रह	—
९९	गौरीशंकर	"	प्रेमप्रकाश	लखनऊ

क्रमसंख्या	कवि का नाम	समय (ई०)	रचनायें	निवास स्थान
१००	नंदीदीन दीक्षित	१९वीं शती	विजय राघव खंड	उन्नाव
१०१	समर सिंह	,,	सातों कांड रामायण	बाराबंकी
१०२	पृथ्वुपूर्णचन्द्र	,,	रामरहस्य रामायण	—
१०३	शिवप्रसाद सिंह	,,	रामतत्त्व बोधिनी	डुमरावँ
१०४	शंकर त्रिपाठी	,,	रामायण रचित	बिसवाँ (सीतापुर)
१०५	मुनिलाल	,,	राम नखशिख	—
१०६	माधव कत्थक	,,	माधवमधुर रामायण	रीवाँ
१०७	महेशदत्त	,,	वाल्मीकि रामायण भाषा	बाराबंकी
१०८	सीताराम प्रबोधाचार्य	,,	सम्बन्ध तत्त्व भास्कर	—
१०९	पद्मनाभाचार्य	,,	रहस्य तत्त्व भास्कर	—
११०	मानदमणि	,,	संक्षिप्त उपासना कांड	अयोध्या
१११	छेदालाल	,,	रामचन्द्र की बारामासी	उन्नाव
११२	काशीराम	,,	परशुराम संवाद	—
११३	मुन्नालाल	,,	रघुनाथ शतक	—
११४	हरीराम	,,	जानकी रामचरित नाटक	आगरा
११५	युगलप्रसाद चौबे	,,	रामचरित दोहावली	—
११६	अली सियारसिक	,,	सियालाल समय, रस वर्द्धिनी, कवित्तदाम	—

क्रमसंख्या	कवि का नाम	समय (ई०)	रचनायें	निवास स्थान
११७	रसिक वल्लभ शरण	१९वीं शती	युगल सनेह विनोद, प्रेमचन्द्रिका	अयोध्या
११८	स्वयंप्रकाश	”	रामजन्म	—
११९	गुमानी पन्त	”	रामस्तुति, विज्ञप्तिसार, भक्त विज्ञप्तिसार, रामपंचाशिका	अलमोडा
		”	सरजू अष्टक	अयोध्या
१२०	रामकिशोर दास	”	अवध विलास	रीवाँ
१२१	विष्णुप्रसादकुंवरि	”	रामप्रिया विलास	प्रतापगढ
१२२	रामप्रिया			

उपसंहार

अब तक के अनुशीलन से यह भलेभाँति अवगत हो गया होगा कि हिन्दी साहित्य की रामभक्ति शाखा में ऐश्वर्य प्रधान उपासना के अतिरिक्त माधुर्योपासना की भी एक पुष्ट परंपरा है। तुलसी के समकालीन रामभक्तों में इसके व्यापक प्रचार के जो चिह्न मिले हैं, उनके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि किसी न किसी प्रकार यह उनके पहले से ही गुप्त साधना के रूप में चली आ रही थी। अग्रदास जी ने समयानुकूल इसे एक सम्प्रदाय का रूप दिया। जिसके अनुयायी 'रसिक' कहलाये और उसीके आधार पर यह 'रसिक साधना' के नाम से अभिहित की जाने लगी।

अग्रदास के समकालीन और परवर्ती रसिक संतों द्वारा यह आकर्षक भावसाधना देश के विभिन्न भागों में फैली। जहाँगीर के उत्तराधिकारी मुगल शासकों, विशेषकर औरंगजेब, की कट्टर धार्मिक नीति के कारण कुछ काल के लिये इसका प्रचार रुक सा गया। फिर भी गलता, चित्रकूट और मिथिला ऐसे मुगल आतंक से सुरक्षित रामतीर्थों में इसकी साधना रामभक्तों के बीच अबाध गति से चलती रही। औरंगजेब के उपरान्त परिस्थिति बदली। उसके उत्तराधिकारियों की धार्मिकसहिष्णुता तथा अवध के नवाबों की हिन्दूपोषक नीति के फलस्वरूप रामभक्ति और उसके साहित्य के विकास में एक नई चेतना आई। अनुकूल समय पाकर साधकों की दृष्टि रामधाम अयोध्या की ओर मुड़ी। अठारहवीं शती के मध्य से वहाँ रामभक्तों की छावनियाँ तथा अखाड़े स्थापित होने लगे और विभिन्न रामतीर्थों में छिटके हुए रसिक साधकों का वह मुख्य संयोगबिन्दु बन गया, जहाँ से रामभक्तिधारा चारों ओर बह चली। यह सत्य है कि रसिक साधना का प्रवर्तन राजपूताना में अग्रदास ने किया, किंतु यह भी स्मरणीय है कि इस सम्प्रदाय को शक्तिशाली और सम्पन्न बनाने का श्रेय अयोध्या के रसिकाचार्य रामचरणदास को ही है।

इसके परिणामस्वरूप उत्तरभारत के गण्यमान्य सामन्त तथा राजे-महाराजे भी इसमें दीक्षित हुए। रीवाँनरेश महाराज विश्वनाथ सिंह और उनके यशस्वी रामभक्त पुत्र महाराज रघुराज सिंह तथा काशिराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह इनमें प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त ओरछा, मैहर, बिजावर, इन्दौर, पन्ना, छतरपुर, टिकारी, रुसी (मासा), सुरसरि तथा बलरामपुर इत्यादि राज्यों के

तत्कालीन अधिकारियों ने भी राममक्त रसिक महात्माओं के प्रभाव और प्रेरणा से अयोध्या, चित्रकूट तथा मिथिला एवं सुप्रसिद्ध रामतीर्थों में मन्दिरों, धर्मशालाओं और सदाव्रतों का निर्माण कराया। इनमें से कुछ तो स्वयं उच्चकोटि के राममक्त, उत्कृष्ट राम-साहित्य के निर्माता और राममक्त कवियों के आश्रय दाता थे।

रसिक साधकों के आकर्षक व्यवहार, रममाता कवियों की परिष्कृत साहित्यिक अभिरुचि एवं रसिक महात्माओं के सम्यक् प्रचार से राममक्ति में जनसाधारण की अभिरुचि बढ़ी और उसका विकास सहज रूप में होने लगा। रामतीर्थों में जो संत स्थायी रूप से रहने लगे थे, वे पूजा, अर्चा तथा राम की माधुर्यलीला सम्बन्धी उत्सवों के आयोजन में विशेष रुचि लेने लगे। जिन तीर्थों का, रामचरित के किसी अंग अथवा रामभक्ति के प्रचारक महात्माओं की किसी भावसाधना के कारण विशेष महत्त्व था, वहाँ उनसे सम्बद्ध त्योहार बड़ी धूम-धाम से मनाये जाने लगे, जो जनता के लिये समान रूप से आकर्षण के विषय बन गये।

इस प्रकार राममक्ति की जो वेगवती धारा प्रवाहित हुई उसमें अवगाहन कर सहृदयमात्र संतृप्त हुए। वर्णाश्रमादि के कृत्रिम व्यवधान उसका प्रसार रोकने में असफल रहे। काष्ठजिह्वा स्वामी 'देव' तथा विद्यारण्य तीर्थ ऐसे संन्यासियों और सताप सिंह सिख जैसे साहित्यरसिकों का इसमें सक्रिय योग देना इसी तथ्य का परिचायक है।

रसिक साधना की ओर बढ़ती हुई जनप्रवृत्ति को देखकर रसिकाचार्यों ने भावना मय मानसिक प्रथा के साथ ही विधानात्मक साहित्य की भी सृष्टि की। इससे इस शाखा का साम्प्रदायिक पक्ष इतना पुष्ट हो गया कि इसका अधिकांश साहित्य रसिक साधना की व्याख्या, सिद्धान्तों के प्रतिपादन और रसानुभूति की व्यंजना के रूप में ही प्राप्त होता है।

रामोपासना में किशोरभाव ही इष्ट होता है और वह केवल ऐश्वर्य पर अवलम्बित न होकर बहुधा माधुर्य पर आश्रित रहता है जिसमें शृङ्गार की ही उसमें प्रधानता होती है। अतः इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत जो महाकाव्य प्राप्त हैं उनमें कैशोर लीला ही मुख्य रूप से चित्रित हुई है, राम का व्यापक चरित उपेक्षणीय हो गया है। यही नहीं साधना के सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ नई उद्भावनायें भी की गई हैं, जिनमें जीवन के प्रकृत प्रसंगों को शृङ्गारी रूप देने का प्रयत्न लक्षित होता है। इससे एक ओर तो घटनाओं का सन्तुलन जाता रहा है और दूसरी ओर वे साहित्यिक मर्यादा से भी च्युत हो

गये हैं। परंपरागत रामचरित से अलग हो जाने के कारण वे सामान्य पाठक के लिये आकर्षणहीन बन गये हैं। उपासनारचना के रूप में सम्प्रदाय के मंदिरों में यत्र-तत्र उनकी प्रतिष्ठा है। इन कारणों से रसिक सम्प्रदाय में रामचरित का जो रूप प्रकट हुआ वह सुधारक के ही अधिक अनुकूल था। फलतः वही समृद्ध और सम्पन्न भी हुआ।

गद्य के क्षेत्र में रसिक साधकों की सबसे महत्त्वपूर्ण देन तुलसी साहित्य की टीका परंपरा का प्रवर्तन है। रामचरित मानस के प्रथम टीकाकार रसिकाचार्य रामचरणदास ही माने जाते हैं। उनके पश्चात् तो इस सम्प्रदाय में तुलसी की समस्त रचनाओं पर टीकाओं की एक परिपाटी ही चल निकली। मिर्जापुर के पं० रामगुलाम द्विवेदी और बाबा जानकी के बैजनाथ कुर्मवंशी इस क्षेत्र में सर्वविदित हैं। राम रसिकों की इस परंपरा का निर्वाह महात्मा अंजनी नन्दन शरण और श्रीकान्त शरण आज भी कर रहे हैं। इनमें से प्रथम का 'मानसपीयूष' तो अपनी निजी विशेषताओं के कारण देश भर में विख्यात है। इसमें 'मानस' की अद्यावधिनिर्मित प्रायः समस्त टीकाओं का सारग्रहण पाया जाता है। एक स्थान पर इतनी प्रचुर सामग्री अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। रामचरितमानस के अवगाहन में इससे विशेष एवं अद्भुत सहायता मिलती है। उक्त महानुभावों के अतिरिक्त दिवंगत बाबा रामबालक दास जी टीका राम-रसिकों में एक अत्यंत प्रतिष्ठित रचना मानी जाती है।

रामचरितमानस की कथाशैली के निर्माण और प्रचार का श्रेय भी बहुत कुछ इसी सम्प्रदाय के महात्माओं को प्राप्त है। वाल्मीकिरामायण की कथा न जाने कितने दिनों से जनसमाज में प्रचलित है. किन्तु रामचरितमानस की सरस कथा आज जितनी तन्मयता के साथ कही और सुनी जाती है उसका मूलस्रोत रसिक हृदय और रसिक वाणी से ही प्रस्फुटित हुआ। अयोध्या के महात्मा रामचरण दास, काशी के शिवलाल पाठक, मिरजापुर के पं० रामगुलाम द्विवेदी और चित्रकूट के परमहंस रामदास की गणना इस कला के आदि आचार्यों में की जाती है। मानस के गूढ़ रहस्यों के उपदेश की व्यवस्था रसिक पीठों में शताब्दियों से चली आ रही है। अयोध्या में मनीराम जी की छावनी तथा बाबा रघुनाथ दास जी की छावनी, अखिलेश्वर दास जी के आश्रम आदि स्थानों पर अब भी रामकथा नियमित रूप से होती है। व्यासों और रामायणियों के प्रशिक्षण और प्रेरणा की दृष्टि से इन सत समाजों का महत्व निर्विवाद है। गो० बिन्दु जी, पं० अखिलेश्वर दास, महात्मा प्रेमदास और श्री सीताराम शरण,

की ललित एवं विद्वत्तापूर्ण कथाओं में आज भी इस परंपरा की संजीवनी शक्ति का साक्षात्कार होता है।

रसिक रामभक्तों की एक अन्य उल्लेखनीय देन है राम की शृंगारी लीलाओं के प्रदर्शन का विकास। तुलसी के समकालीन, नाभादास के 'भक्तमाल' से ज्ञात होता है कि उस समय अथवा उसके कुछ पहले से समाज में रामचरित का प्रदर्शन भिन्न भिन्न रूपों में चला आ रहा था। मानदास ने नाटक के रूप में तथा मुरारिदास और प्रयागदास ने रास के रूप में रामचरित दिखाया था। स्वयं तुलसी ने 'रामचरित मानस' के आधार पर काशी में सम्पूर्ण रामलीला और जैरामपुर (सीतापुर) में रामविवाहलीला का प्रदर्शन कराया था, ऐसी किंवदन्ती प्रसिद्ध है। इन लीलाओं के आयोजन में उन्हें रसिक रामभक्तों से प्रेरणा मिली हो तो कोई आश्चर्य नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि रसिकों के सिद्धान्तानुसार उनके सम्प्रदाय में केवल माधुर्यलीलायें ही ग्राह्य हुईं। इनमें रामरास, रामविवाह, वसन्त, फाग और झूला का प्रमुख स्थान है। अग्रदास जी के परवर्ती रामरसिकों में मधुराचार्य, रामसखे और हर्याचार्य रामरास के प्रसिद्ध उन्नायक थे। रूपसखी जी 'हारी' में विशेष रस लेते थे और रामा जी विवाहलीला के प्रचारक थे। इन लीलाओं के प्रचार से जन जीवन में एक नवीन उल्लास की लहर फैल गई। जो लोग कुतूहलवश ही इनमें शरीक होते थे, वे भी कुछ काल के लिये राममय हो जाते थे। रामचरित के इन नाटकीय आयोजनों से रसिक भक्तों द्वारा विरचित साहित्य का भी पर्याप्त प्रचार हो गया। कालान्तर में उसकी सर्वप्रियता इतनी बढ़ गई कि सामाजिक उत्सवों विशेषतः विवाह के अवसर पर रसिक रामभक्तों द्वारा विरचित द्वारपूजा, कलेवा, शिष्टाचार, बिदाई आदि के गीत गाये जाने लगे। कथकों और रामजनियों का इसमें विशेष हाथ रहा। गान के साथ ही भाव बताने में उनकी पटुता जनता को मोह लेती थी। कथा से परिचित होने के कारण इन गीतों का मर्म भी वे आसानी से समझ लेते थे। इससे गजल, दादरा और रेखता की फैलती हुई बाढ़ बहुत पीछे छूट गई।

रसिक साधना से सामाजिक मनोवृत्ति भीतर ही भीतर किस सीमा तक प्रभावित हुई, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि सन्तानों का नामकरण तक इसी पद्धति पर होने लगा। पुरुष और स्त्री नामों[1] में तो

१—इस प्रकार के कुछ नामों की सूची नीचे दी जाती है —

पुरुष नाम—राम विलास, राम बिहारी, रसिक बिहारी, रामकिशोर अवध किशोर, सीताशरण जानकी प्रसाद, सिया-राम शरण, अवध बिहारी,

रामभक्तों के आराध्य युगल श्री सीताराम के रसिक रूप की छाप पड़ी हो, ग्रंथों और भजनों के नाम भी उनकी दिव्य लीला के अभिधान 'सारत' के आदर्श पर रखे जाने लगे।

अंत में थोड़ा रसिक साधना के लोक पक्ष पर भी विचार कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा। रसिक आचार्यों ने आरंभ से व्यक्तिगत रूप में दीक्षित साधकों को ही इसका अधिकारी माना है। अतः इसका विकास भी एक गुह्य साधना के रूप में हुआ है। इसके सिद्धान्त और साहित्य का लोक प्रचार सर्वथा वर्जित माना गया है। जनसाधारण की तो बात ही क्या, अन्य सम्प्रदायों तथा इष्टदेवों के उपासकों तक को इस 'एकान्तकी लीला' का सुनाना निषिद्ध है।[1] प्रेमलता जी ने आर्थिक लाभ के लिये रसिक साहित्य के मुद्रण और विक्रय पर क्षोभ प्रकट किया है।[2] उन्होंने रसिक साधकों से 'युगल सरकार' की गुप्तकेलि का प्रकट उपदेश न करके उसका केवल मनन करने की प्रार्थना की है। उनका मत है कि स्पष्ट वर्णन से रहस्यलीला की मर्यादा तो घटती ही है, साधक उसका यथेष्ट रसास्वादन भी नहीं कर पाते। इसके साथ ही समाज पर भी उसका अहितकर प्रभाव पड़ता है। उनके पठन पाठन से 'सुरति सुख' के आध्यात्मिक महत्त्व से अनभिज्ञ साधारण लोगों

युगल किशोर, लाल साहेब, रामलाल, राम कुमार, राम मनोहर, राम शोभा, रामलला, मैथिली शरण, जानकी वल्लभ आदि। पुरुषों के 'शरणान्त' नाम तो विशेष रूप से रसिक परंपरा की ही देन माने जायँगे।

स्त्री नाम—रामप्यारी, रामकली, रामलली, रामप्रिया, रामरती, जनक किशोरी, राजकिशोरी, जनक कुमारी, चन्द्रकला आदि।

१—एतामैकान्तिकीं लीलां यो प्रवदेदनधिकारिणे।
स पच्येत महाघोरे नरके चैव योगिन्‌ ॥
य इष्टदेवान्तरो भक्तो रामभक्तिविवर्जित।
तस्मै न कथयेत्तदां लीलां वै विश्वपावनीम्‌ ॥

—भुशुण्डिरामायण, पूर्वखंड, अ० २५

२—लोलुप लिखि लिखि गुप्त विहारा। कहि प्रकार अबुध अविचारा।
ते घट रस रहस्य बजारनि। छपि छपि बिकत सुलेत हजारनि ॥
करैं मसखरी लोग पराई। रसिकन ते हँसि हाँस दुखदाई ॥

—प्रे० उ० र०, पृ० १९९

की वासनायें उद्दीप्त होती हैं। ये तथ्य हम सूत्ररूप में प्रमलता जी की वाणी में इस प्रकार मिलते हैं।

रसिक विचारहुतों मन माहीं। आपन जोग केलि सुख नाहीं ॥
गोपनीय अति रतिशाला सुख। होत महापातक भाषे मुख ॥
नव निकुञ्ज के चरित सु प्यारे। मनन जाग नहिं स्वाद उघारे ॥
साँचे रसिक उपासक जोई। करत भावना अंतर सोई ॥
गुप्तकेलि जो कहि प्रगटावत। प्रभु की ते जन स्वाद न पावत ॥
यह सुख नहिं आपन के जोगू। होत विपयरत सुनि जड़ लोगू ॥[1]

इधर कुछ विद्वानों द्वारा रामभक्त रसिकों के विषय में यह प्रवाद फैलाया जा रहा है कि वे स्त्री वेष धारण कर अपनी दैनिकचर्या में भी तदनुकूल व्यवहार करते हैं। इस भ्रान्ति का कारण साम्प्रदायिक सिद्धान्तों एवं आदर्शों की अनभिज्ञता है। डा० भण्डारकर ने कृष्णभक्तों के एक वर्गविशेष में उपर्युक्त प्रथा के प्रचलित होने की चर्चा की है। इसे आधार मानकर सखीभाव के उपासकमात्र पर स्त्रीत्व का आरोप करना सर्वथा अनुचित है। विशेष रूप से रामरसिकों ने तो भाव साधना में शरीर को एक सामान्य कारणमात्र माना है।[2] उन्होंने उसे इतनी प्रधानता नहीं दी है कि उपासना में उसका स्थान आत्मा अथवा जीव की अपेक्षा प्रमुख हो जाय। इसीलिये मनसे सखीभाव धारण करते हुए भी उन्हें तन से दास्य अथवा सख्य भाव के अनुकूल व्यवहार करने की व्यवस्था दी गई है। इस विषय में रसिकों का स्पष्ट निर्देश है—

१—वृ० उ० र०, पृ० १९८-१९९।

२—The worship of Radha more prominently even than that of Krishna has given rise to a sect the members of which assume the garb of women with all their ordinary manners and affect to the subject even to their monthly sickness Their appearance and acts are so disgusting that they do not show themselves very much in public and their number is small Their goal is the realization of the position of female companions and attendants of Radha and hence probably they assume the name of Sakhi Bhavas

—Vaishnavism Shaivism and Minor Religious Systems P 122

पति पतनी कर भाव प्रधाना। रस शृंगार केर नर जाना॥
जो निज उर यह भाव सुधारहिं। तन ते दास सखादि उचारहिं॥
तेहि लगि सब रस मिल इन साथा। सेवहिं निज प्रभु सियरघुनाथा॥

रसिक साधना की यह धारा आज भी अजस्र रूप से गतिशील है और अब भी इसके अन्तर्गत उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण हो रहा है। श्री रामकिशोर शरण, श्री बिन्दुजी, पं० राजकिशोरी वर शरण, श्री विदेहजा शरण, श्री मोदलता, श्रीजानकी जीवन शरण, श्रीकान्तशरण, श्रीमैथिलीशरण 'भक्तमाली' प्रभृति महानुभावों का उल्लेख ही पर्याप्त है। इनकी रचनाओं में रसिक भावों की जो अभिव्यक्ति पाई जाती है वह इसे एक जीवित काव्यधारा सिद्ध करने में सर्वथा सक्षम है। कालप्रभाव से यद्यपि इस सम्प्रदाय में भी कुछ वर्गों के भीतर रूढ़िवादी प्रवृत्ति का प्रवेश हो गया है तथापि आधुनिक रामभक्ति सम्प्रदायों में यह सर्वाधिक प्रभावशाली और उदार है। जिसके फलस्वरूप अविश्वास और सन्देह के इस घोर युग में भी रसिकभक्तों से अनेक जिज्ञासुओं को ज्योति, प्रेमियों को तृप्ति और साधकों को शान्ति मिल रही है। अतः रामभक्ति के इतिहास में रसिक सम्प्रदाय का महत्त्व अक्षुण्ण है और इसका अनुशीलन अनिवार्य भी।

परिशिष्ट १

सहायक-साहित्य

क—हिन्दी

अप्रकाशित
प्रकाशित
पत्रिकायें

ख—संस्कृत

अप्रकाशित
प्रकाशित

ग—तामिल
घ—उर्दू
च—अंग्रेजी

सहायक-साहित्य

(क) हिन्दी

अप्रकाशित

१. अग्रदास पदावली—अग्रदास
२. अनन्य तरंगिनी - जनकराज किशोरीशरण 'रसिक अली'
३. अनुराग विवर्द्धक रामायण—बनादास
४. अमृत-खंड—रामचरणदास
५. अर्ज पत्रिका—बनादास
६. अवधि सागर—जानकी रसिकशरण
७. अष्टकाल चरित—नाभादास
८. अष्टयाम—शीलमणि
९. आत्मबोध—बनादास
१०. कवित्त प्रबन्ध—पं० रामगुलाम द्विवेदी
११. कामदमणि की पत्री—कामदमणि
१२. खडन खडग—बनादास
१३. गुरु महात्म्य—बनादास
१४. गोसाईं चरित—दासान्यदास (भवानीदास !)
१५. चरण चिह्न—रामचरण दास
१६. टीका नेह प्रकाश—जनक लाडिली शरण
१७. दास्यरस सम्बन्ध पत्र—कामदमणि
१८. दोहावली—रसिकअली
१९. नवल अंग प्रकाश—युगलानन्यशरण
२०. नाम अभ्यास प्रकाश—युगलानन्यशरण
२१. प्रीति पर्चासिका—युगलानन्यशरण
२२. मंगलाष्टक—रामसखे
२३. मिथिला विलास—सूरकिशोर
२४. रघुवर गुण दर्पण—युगलानन्यशरण
२५. रसिक विनोद—दयानिधि
२६. राघवेन्द्र-रहस्य रत्नाकर—कामदेन्द्रमणि

२७. रामचन्द्र जी का नखशिख—प्रतापकवि
२८. रामछटा—बनादास
२९. राम गीतावली—रामगुलाम द्विवेदी
३०. राम दोहावली—मधुरअली
३१. रामध्यानमञ्जरी—बालअली
३२. रासदीपिका—रसिकअली
३३. रूप रसामृत सिन्धु—रामसखे
३४. लघुवात्सल्य रस सम्बन्ध—कामदमणि
३५. वपविलास—रूपसरस
३६. वात्सल्यरस सम्बन्ध—कामदमणि
३७. विलासभावना रहस्य—युगलानन्यशरण
३८. विवेक मुक्तावली—बनादास
३९. विस्मरण-सम्हार—बनादास
४०. वृद्ध वात्सल्यरस सम्बन्ध पत्र—कामदमणि
४१. शांतरस सम्बन्ध पत्र—कामदमणि
४२. शृंगार-रस रत्नमाला—रामचरणदास
४३. शृंगार-रस रहस्यदीपिका—युगलप्रिया *
४४. श्रीभक्ति प्रकाशिका—लक्ष्मीनारायण दास पौहारी
४५. श्री सीताराम रस चन्द्रोदय—रसिकअली
४६. श्री सीताराम सम्बन्ध प्रकाश—शीलमणि
४७. षड्परत्व पंचक—रामसखे
४८. सख्यरस सम्बन्ध—शीलमणि
४९. सख्यरस सम्बन्ध-पत्र—कामदमणि
५०. सत् सिद्धान्त सारोत्तम—युगलानन्यशरण
५१. समस्या विनोद—बनादास
५२. सम्बन्ध-पत्र—शीलमणि
५३. सम्बन्ध प्रकाश—कामदमणि
५४. सार शब्दावली—बनादास
५५. सिद्धान्ततत्व दीपिका—बालअली
५६. सीतायन—रामप्रिया शरण
५७. हालिका विनोद—रसिक अली

प्रकाशित

१. अग्रदास की कुंडलिया—अग्रदास
२. अद्भुत रामचरित्र (प्रेम-विलास)—रामस्वरूप परमहंस
३. अयोध्या का इतिहास—लाला सीताराम बी० ए०
४. अयोध्या-दिग्दर्शन—रामरक्षा त्रिपाठी 'निर्भीक' एम० ए०
५. अयोध्या महात्म्य—नाथूराम मधुकर
६. अर्थपंचक—युगलानन्यशरण
७. अवध की झाँकी—लाला सीताराम बी० ए०
८. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त
९. अष्टयाम पूजाविधि—रामचरणदास
१०. आदर्श श्री सद्गुरुसेवी—प० सेवा राम
११. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
१२. आधुनिक हिन्दी साहित्य—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
१३. आन्दोल रहस्यदीपिका—रसिकअली
१४. इश्क विनोद—सीता प्रसाद
१५. उत्सव विलासिका—युगलानन्यशरण
१६. उपासना तत्वविवेचन—भजरामदास
१७. उपासना पंचरत्न—प्रेमलता
१८. उपासना शतक—रामचरणदास
१९. उभय प्रबोधक रामायण—बनादास
२०. कवितावली—तुलसीदास
२१. कांचन कुसुमांजलि—कांचन कुँवरि
२२. कालिदास—पं० चन्द्रबली पांडे
२३. कृपानिवास पदावली—कृपानिवास
२४. कोविद रंजीवनी—प्रभुदयाल शरण
२५. गीतावली—तुलसीदास
२६. छत्रसाल ग्रन्थावली—वियोगी हरि
२७. जनकपुर की झाँकी—अवधकिशोरदास
२८. जानकी बिन्दु—रामजिह्वा स्वामी
२९. झूलन विहार संग्रहावली-
३०. झूलन संग्रहावली-

३१. तुलसी दर्शन—डा० बलदेव प्रसाद मिश्र
३२. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त
३३. दोहावली—तुलसीदास
३४. द्वारा गादियों का विवरण—रामरहस्यदास
३५. ध्यान मञ्जरी—अग्रदास
३६. नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
३७. नामशतक—रामचरणदास
३८. नृत्यराघव मिलन कवितावली—रामसखे
३९. नृत्यराघव मिलन दोहावली—रामसखे
४०. नेहप्रकाश—बालअली
४१. पचकपीयूष—राजकिशोरीवर शरण
४२. प० राम वल्लभाशरण जी की जीवनी—जयरामदेव
४३. पहेली—जानकी प्रसाद
४४. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
४५. प्रपत्ति रहस्य—श्रीकान्त शरण
४६. प्राचीनभारत का इतिहास—डा० रमाशंकर त्रिपाठी
४७. प्रीति प्रवाह—जानकीवर शरण
४८. प्रेमलता जी का बृहज्जीवन चरित—सियाराम सरूपशरण
४९. प्रेमानन्द चरितावली—बालकराम विनायक
५०. बधाई श्री हनुमानजी की—प्रकाशक सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचंद अयोध्या
५१. बरवा—रामगुलाम द्विवेदी
५२. बीजक सटीक—महाराज विश्वनाथसिंह
५३. बृहत्सम्बन्ध पत्र—प्रेमलता
५४. बृहद् उपासना रहस्य—प्रेमलता
५५. ब्रजनिधि ग्रथावली—स० पुरोहित हरिनारायण शर्मा
५६. ब्रह्मायनपराभक्तिपरत्व—बनादास
५७. भक्तकवि व्यासजी—वासुदेव गोस्वामी
५८. भक्तनामावली—सरयूदास
५९. भक्तमाल—नाभादास
६०. भक्तमाल सटीक—प्रियादास
६१. भक्तिविलास—महाराज रघुराज सिंह
६२. भक्ति सुधाबिन्दुस्वादतिलक—सीतारामशरण भगवान प्रसाद 'रूपकला'

६३. भजनरत्नावली—सं० पं० व्रजरत्न भट्टाचार्य
६४. भजन सर्वसंग्रह—पतितदास
६५. भागवत चरित चन्द्रिका—महावीर प्रसाद नारायण सिंह
६६. भागवत सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय एम० ए०
६७. भावनापच्चीसी—कृपानिवास
६८. भाषाकाव्य संग्रह—महेशदत्त
६९. भूषण ग्रंथावली—प्र० नागरीप्रचारिणी सभा काशी
७०. मंत्रार्थ प्रकाशिका—विदेहजाशरण
७१. मधुरमंजुमाला—युगलानन्य शरण
७२. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ—डा० सावित्री सिन्हा
७३. महात्माओं की वाणी—प्र० रामवरनदास
७४. महात्मा गोमतीदास—परिव्राजक 'देव'
७५. मानस अभिप्राय दीपक—शिवलाल पाठक
७६. मानस पीयूष—अंजनीनन्दन शरण
७७. मानस मयंक—शिवलाल पाठक
७८. मिश्रबन्धु विनोद—मिश्रबन्धु
७९. मोदलता पदावली—मोदलता
८०. युगलअष्टयाम सेवा—युगलप्रिया
८१. युगलविनोदपदावली—हनुमानशरण 'मधुरअली'
८२. युगलहारपदावली—स्वामी रामवल्लभाशरण
८३. युगलोत्कंठा प्रकाशिका—सीतारामशरण
८४. योगप्रवाह—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
८५. रघुनाथ विनोद—जयगोविन्द
८६. रघुराज विलास—महाराज रघुराजसिंह
८७. रम्यपदावली—पं० उमापति त्रिपाठी
८८. रसमालिका—रामचरणदास
८९. रसिक प्रकाश भक्तमाल—जीवाराम 'युगलप्रिया'
९०. रामकथा (उत्पत्ति और विकास)—डा० कामिलबुल्के
९१. रामकुंडलिया—बलदूदास
९२. रामकृष्ण लीलानुकरण सिद्धान्त—सरयूदास
९३. रामचरित मानस—गीताप्रेस
९४. राम नवरत्नसार संग्रह—रामचरणदास

९५. रामनाम माला—शंकरदास
९६. रामनिवास रामायण—जानकी प्रसाद
९७. रामरसरंग दोहावली—रसरंगमणि
९८. रामरसायन—रसिकबिहारी
९९. रामरसिकावली—महाराज रघुराज सिंह
१००. रामस्वयंबर—महाराज रघुराज सिंह
१०१. रामादल की विजयश्री—योगिराज गोवत्स
१०२. रामानंद की हिन्दी रचनायें—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
१०३. रामायण सटीक—बैजनाथ कुर्मी
१०४. रामायण—रामचरणदास की टीका
१०५. रासपद्धति—कृपानिवास
१०६. रूपकला जी की साकेतयात्रा—शारदा प्रसाद सिनहा
१०७ रूपकला प्रकाश—रघुवंशभूषणशरण
१०८. विचार विमर्श—प० चन्द्रबली पाडे
१०९. विनय पत्रिका—तुलसीदास
११०. विवेकगुच्छा—बालमणि
१११. विश्रामसागर—रघुनाथदास रामसनेही
११२. वैराग्यप्रदीप—काष्ठजिह्वा स्वामी
११३. वैराग्य शतक—रामचरणदास
११४. वैष्णवधर्म—प० परशुराम चतुर्वेदी
११५. शिवसिंह सरोज—शिवसिंह सगर
११६. शृंगार रसादर्श—बलदेवसहाय श्रीवास्तव
११७. श्री कनकभवन रहस्य—बालकराम विनायक
११८. श्री गुरुअर्चा माहात्म्य—रामानुजदास 'रूपसरस'
११९. श्री गुरुपरंपरा—भगवतशरण
१२०. श्री गुरुरामचरितम्—बालकराम विनायक
१२१. श्री जानकी यशावली—रसरंगमणि
१२२. श्री जानकीसनेह हुलासशतक—युगलानन्यशरण
१२३. श्री पलटूदास की शब्दावली—प्रकाशक महंत जगन्नाथदास
१२४. श्री पौहारी जीवनचरित्र—रामकोमलशाही
१२५. श्री महाराज चरित—रघुनाथ प्रसाद
१२६. श्री मैथिली रहस्य पदावली—रामशरण

१२७. श्री रामचरित उत्सव प्रकाशिका—रामप्रसाद शरण
१२८. श्री रामनाम कलामणि कोष मंजूषा—तुलसीदास ?
१२९. श्री रामनामपरत्व पदावली—युगलानन्यशरण
१३०. श्री रामप्रिय पंचरत्न—रसरंगमणि
१३१. श्री रामरसरंग विलास—रसरंगमणि
१३२. श्री रामशतवंदना—रसरंगमणि
१३३. श्री रामसखेचरितामृत—सियाशरण
१३४. श्री विनयचालीसी—रूपलता
१३५. श्री वैदेहीवल्लभ रसकोष—स० मैथिलीशरण भक्तमाली
१३६. श्री वैष्णवधर्मविज्ञान—प्रेमलता
१३७. श्री साकेतमहिमा—प्रेमनिधि
१३८. श्री सीताराम सुरतविलास—रसरंगमणि
१३९. श्री सीतारामनखशिख—प्रेमसखी
१४०. श्री सीताराममानसीपूजा—रसरंगमणि
१४१. श्री सीतारामरहस्यदर्पण—प्रेमलता
१४२. सीतारामशरण भगवान प्रसाद (रूपकला) की सचित्र जीवनी—शिवनन्दन सहाय
१४३. षड्ऋतु पदावली
१४४. संगीत रागकल्पद्रुम भाग १,२—कृष्णानन्द व्यास
१४५. संत विनयशतक—युगलानन्य शरण
१४६. सख्य रसोत्कर्ष—राघवदास
१४७. सद्गुरु चरित्र सुमिरनी—प्रभुदयाल शरण
१४८. सिद्धान्तपटल—स्वामी रामानन्द
१४९. सिद्धान्त मुक्तावली—रसिकअली
१५०. सियवरकेलि पदावली—कृपानिवास
१५१. सियाकरमुद्रिका—शीलमणि
१५२. सियावर होलीविलास—रसरंगमणि
१५३. सियारामचरण चन्द्रिका—लछिराम
१५४. सीतायन—रामप्रियाशरण
१५५. सीतारामभद्रकेलिकादंबिनी—कामदेन्द्रमणि
१५६. सीताराम विलास—जानकी प्रसाद
१५७. सुजानचरोज—बरशराम पांडे

१५८. स्वामीजी की सेवा—बलभद्रदास
१५९. हरिनाम सुमिरनी—रघुनाथ दास
१६०. हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास)—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१६१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा।
१६२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल
१६३. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विश्वंभरनाथ उपाध्याय
१६४. हिन्दीसाहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१६५. हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की खोजरिपोर्ट—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित—१९००, १९०६-८, १९०९-११, १९१७-१९, १९२०-२२, १९२३-२५, १९२६-२८ की रिपोर्टें।
१६६. होरी—रूपसखी
१६७. होली—प्रेमसखी

पत्रिकायें

१. कलानिधि—वर्ष १, अंक ३,
२. कल्याण—तीर्थाङ्क, भक्तचरिताङ्क, संताङ्क
३. नया समाज—सितम्बर, १९५३ ई०
४. सुधा—दिसम्बर, १९३३ ई०

ख—संस्कृत

अप्रकाशित

१. जानकीसहस्रनाम स्तोत्र
२. भुशुण्डिरामायण
३. मंत्रार्थरामायण
४. रहस्यरामायण
५. रामदुर्गास्तोत्र
६. रामार्चनसोपान—पं० शिवलाल पाठक
७. शुकसंहिता
८. शृङ्गाररहस्यरसमंजरी
९. श्यामाष्टकलाष्टक
१०. सख्यसरोजभास्कर—पं० उमापति त्रिपाठी
११. सीताकवच
१२. सूतसंहिता
१३. हिरण्यगर्भसंहिता (राम वज्र कवच)

प्रकाशित

१. अगस्त्यसंहिता
२. अथर्ववेद
३. अभिषेक नाटक—भास
४. अर्थपंचक तथा तत्वत्रय—पं० रामवल्लभाशरण
५. अर्थशास्त्र—कौटिल्य
६. अष्टयाम—अग्रदास
७. अष्टाध्यायी—पाणिनि
८. अहिर्बुध्न्यसंहिता
९. आगमप्रामाण्य—यामुनाचार्य
१०. आत्मसम्बन्धदर्पण—रसिकअली
११. आनन्दरामायण
१२. आलवन्दारस्तोत्र—यामुनाचार्य
१३. उज्ज्वलनीलमणि—रूपगोस्वामी
१४. उत्तररामचरित—भवभूति
१५. उपासनात्रयसिद्धान्त—पं० सरयूदास
१६. ऋग्वेद
१७. कलिसंतरणोपनिषद्
१८. गुणरत्नकोष—पराशरभट्टार्य
१९. गोदास्तोत्र—वेंकटाचार्य
२०. जानकीगीत—हर्याचार्य
२१. जानकीहरण—कुमारदास
२२. तंत्रालोक—अभिनवगुप्त
२३. तत्वार्थदीपनिबन्ध—वल्लभाचार्य
२४. तैत्तिरीय आरण्यक
२५. तैत्तिरीय ब्राह्मण
२६. द्वादश स्तोत्र—श्री मध्वाचार्य
२७. निरुक्त—यास्काचार्य
२८. पंचस्तवी—कुरेशस्वामी
२९. पुराण संहिता
३०. पद्मपुराण (पातालखंड)

३१. प्रपन्नामृत—अनन्ताचार्य
३२. प्रपन्नपारिजात—वरदाचार्य
३३. बृहच्चित्रकूट माहात्म्य
३४. बृहत्कोशलखंड
३५. बृहत्संहिता—वराहमिहिर
३६. बृहदारण्यकोपनिषद्
३७. बृहद्ब्रह्म संहिता
३८. ब्रह्मयामलतंत्र
३९. भक्तिरसामृतसिंधु—रूपगोस्वामी
४०. भविष्यपुराण
४१. भरतरामायण
४२. मत्स्यपुराण
४३. महानारायणोपनिषद्
४४. महाभारत
४५. महाभाष्य—पतंजलि (प्रदीपोद्योत-कैयट तथा नागेशभट्ट)
४६. महारामायण
४७. महारासोत्सव
४८. माधुर्यकेलिकादंबिनी—मधुराचार्य
४९. मेघदूत—कालिदास
५०. मैत्रायणी संहिता
५१. यजुर्वेद
५२. रघुवंश—कालिदास
५३. रामतत्त्वप्रकाश—मधुराचार्य
५४. रामतापनीयोपनिषद्
५५. रामनवरत्नसारसंग्रह—रामचरणदास
५६. रामपटल
५७ रामार्चनचन्द्रिका—परमहंस मुकुन्दवन
५८. रामार्चन-पद्धति—स्वामी रामानन्द
५९. रामोपनिषद्
६०. रुद्रयामलतंत्र
६१. लोमशसंहिता
६२. वरवरमुनिशतक—देवराजाचार्य

६३. वाल्मीकीयरामायण
६४. विद्यार्णवतंत्र
६५. विद्वन्मण्डन—गोस्वामी विट्ठलनाथ
६६. विश्वंभरोपनिषद्
६७. वेदसारोपनिषद्
६८. वैष्णवमताब्जभास्कर—स्वामी रामानंद
६९. शतपथ ब्राह्मण
७०. शरणागति गद्य – स्वामी रामानुजाचार्य
७१. शारदातिलक—लक्ष्मणदेशिकेन्द्र
७२. शिवसंहिता
७३. श्रीकृष्ण गणोद्देश दीपिका सटीक—कीर्तिचन्द्रशर्मा
७४. श्री चारुशीलास्तोत्र
७५. श्री जानकीस्तवराज—टीकाकार पुरुषोत्तम शरण
७६. श्रीभाष्य—रामानुजाचार्य
७७. श्रीमद्भागवत
७८. श्रीमद्रामानंददिग्विजय—भगवदाचार्य
७९. श्री रामरहस्यत्रयार्थ—सं० रामटहलदास
८०. श्री रामपदक्षरप्रपत्तिस्तोत्र
८१. श्री रामस्तवराजभाष्य—हरिदास
८२. श्रीवचनभूषण—लोकाचार्य
८३. श्री वैष्णवधर्मसंग्रह—चन्द्रकलाशरण
८४. श्रीसम्प्रदायभास्कर—रामरंगीले शरण
८५. श्री सीताराम नाम प्रताप प्रकाश—युगलानन्यशरण
८६. सखसिंधुचन्द्रोदय—अवधशरण
८७. सत्योपाख्यान
८८. सर्वेश्वरी मीमांसा—पं० मैथिलीरमण शरण
८९. सहस्रगीति—शठकोप (नम्मालवार)
९०. सामवेद
९१. सिद्धान्तसार
९२. सीतासहस्रनाम स्तोत्र
९३. सीतोपनिषद्
९४. सुधा मंदाकिनी स्तोत्र—पं० उमापति त्रिपाठी

१५. सुन्दरमणिसंदर्भ—मधुराचार्य
१६. सेवाफलम्—वल्लभाचार्य
१७. हंसदूत—वेदान्त देशिक
१८. हनुमत्संहिता
१९. हनुमन्नाटक

ग—तामिल

१. कंबनरामायण—कंबन
२. पेरुमल तिरुमुडि—सं० पं० कृष्णमाचार्य

घ—उर्दू

१. भक्तमालप्रदीपन—तुलसीराम

च—अंग्रेजी

१. अर्ली हिस्ट्री आव् दि वैष्णव सेक्ट—हेमचन्द्र राय चौधरी
२. इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र—श्रेडर
३. एपिग्राफिया इन्डिका
४. ए शार्ट हिस्ट्री आव् मुसलिम रूल इन इन्डिया—डा० ईश्वरी प्रसाद
५. ए हिस्टारिकल स्केच आव् फैजाबाद तहसील—कार्नेगी
६. ए हिस्ट्री आव् साउथ इन्डिया—के० ए० नीलकंठ शास्त्री
७. कलेक्टेड वर्क्स आव् सर आर० जी० भंडारकर—भाग १, ४, भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
८. काने कामेमोरेशन वाल्यूम
९. कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इन्डिकेरम (गुप्त इन्सक्रिप्शन्स)
१०. कैटलाग आव् इन्डियन क्वायन्स इन दि ब्रिटिश म्यूज़ियम
११. कैटलाग आफ दि म्यूजियम आव् आर्कियोलाजी ऐट सारनाथ—दयारामसाहनी
१२. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आव् फैज़ाबाद
१३. दि इन्टीरियर कैसिल आर दि मैन्शन्स—सेन्ट टेरेसा
१४. दि क्लासिकल एज—आर० सी० मजूमदार
१५. दि जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, जुलाई १९०१—जी० ग्रियर्सन
१६. दि रिडिल आव् दि रामायण—सी० वी० वैद्य
१७. दि रिलीजस पालसी आव् दि मुगल एम्परर्स—श्रीराम शर्मा

१८. फर्स्ट टू किंग्स आव् अवध—आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव
१९. फ्राम अक्बर टु औरंगजेब—मो लैंड
२०. माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव् हिन्दुस्तान—सर जार्ज ए० ग्रियर्सन
२१ मेडिवल मिस्टसिज्म—क्षितिमोहन सेन
२२. मेम्वायर्स आव् दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया
२३. रिडेम्पशन आव् हिन्दू एन्ड क्रिश्चियन—सिडनी केव
२४. लेटर मुगल्स—विलियम इर्विन
२५. वैष्णविज्म शैविज्म एन्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स—सर आर० जी० भंडारकर
२६. शाहआलम दि सेकन्ड एण्ड हिज कोर्ट—एन्टानी लुई हेनरी पोलियर
२७ हिन्दू टेम्पुल—स्टेला क्रैमरिश
२८ हिस्ट्री आव् औरंगजेब, भाग ५—सर यदुनाथ सरकार
२९. हिस्ट्री आव् श्रीवैष्णवाज—टी० ए० गोपीनाथ राव

परिशिष्ट २.

अनुक्रमणी

क. पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

ख. ग्रन्थानुक्रमणी

ग. नामानुक्रमणी

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

ग्रन्थानुक्रमणी

नोट—* इस चिह्न से अंकित ग्रन्थ रसिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हैं।
पा०—से पाद टिप्पणी का निर्देश किया गया है।

फ

ब

य

नामानुक्रमणी

अ

नोट—नामानुक्रमणी में केवल व्यक्तियों तथा स्थानों के नाम दिये गये हैं ।

नामानुक्रमणी

स

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
भूमिका—			
१	३	प्रसग	प्रसंग
२	३०	वैष्णवाचार्यो	वैष्णवाचार्यों
५	१५	प्रेमलक्ष्मा	प्रेमलक्षणा
५	१८	स्वकीयत्व	स्वकीयात्व
११	१	देह का	देह
मूलग्रन्थ—			
५	१३	शिवसिंह सरोज	शिवसिंह-सरोज
८	१२	अष्टय शीर्ष एकमक	अष्टयाम शीर्षक एक
११	१८	नामनिर्दश	नामनिर्देश
३५	२३	पटश्रेम इतिहासं	पटश्रेममितिहासं
४५	१४	क्षिप्रा	क्षिप्र
४६	१५	चारुशाला	चारुशीला
५१	९	होत	होता
७०	१	सुचरि	सुचरित
७०	१०	गान्धर्ववेतृत्वं	गान्धर्ववेत्तृत्व
७१	३	सेव्यमाना	सेव्यमानो
७१	५	तत्वानि	तत्त्वानि
७२	२४	सम्मलीयति	सम्मील्यति
७४	८	मितरेतराश्रया,	मितरेतराश्रया
७४	९	स्तेनतु	स्तेनतु'
७७	२५	आराध्य प्रेरणा	आराध्य की प्रेरणा
८६	१३	कृष्णदास पयहारी	श्रीकृष्णदास पयहारी
८९	७	आचार्य अग्रदासाख्य	आचार्यमग्रदासाख्य
९२	९	तत्र का रचनाकाल	तत्र की टीका का रचनाकाल
१०४	१०	लखति	लसति
११९	१०	रामदल	रामादल
१२०	२९	'अलइ'	'अलह'

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४९	१६	तचों	तत्त्वों
१६८	११	चतुभुज	चतुर्भुज
१७६	२५ पा०	१–वही	१–नहमप्रकाश
१८५	५	उदीत	उद्दीप्त
१८९	१२	(३) कैवल्य	३ कैवल्य
१८९	१७	(४) मुक्त	४ मुक्त
१९०	६	(५) नित्यमुक्त	५ नित्यमुक्त
२००	२५	तत्त्वत्रय ज्ञान	ग–तत्त्वत्रयज्ञान
२०४	१	नाम साधन	च–नामसाधना
२०८	१६ पा०	रामस्ता	रामास्ता
२१०	४	(३) नाम अभ्यास	३ नाम अभ्यास
२१२	३	(४) नामध्यान	४ नामध्यान
२१४	१६	सौहार्द्र	सौहार्द
२१५	१०	साता के गुण	सीता के गुण
२२२	१७	भावसाधना	झ–भाव साधना
२२२	१८	झ–लगनकी उत्पत्ति	लगन की उत्पत्ति
२२२	२८ पा०	विलासभावन रहस्य	विलासभावना रहस्य
२३७	२२	दिव्य नाम	४ दिव्य नाम
२४५	७	ध्यान मैं	ध्यान में
२४७	२६	रामसुख	रासमुख
२५४	१२	१ भगवद्विग्रह	भगवद्विग्रह
२६१	२८	१ षोडश शृङ्गार	(१) षोडश शृङ्गार
२६२	३	२ द्वादश आभूषण	(२) द्वादश आभूषण
”	६	३ आत्मगुण	(३) आत्मगुण
”	१०	(५) अनुभाव	५ अनुभाव
”	२२	(६) सात्रिकभाव	६ सात्विकभाव
२६३	१	(७) सचारीभाव	७ सचारीभाव
२६४	१४ पा०	कामदेन्द्रमक्ति	कामदेन्द्रमगि
२६५	१६ पा०	” ”	” ”
२६९	१	(४) पचभक्तिरसों में पारस्परिक सम्बन्ध।	पचभक्तिरसों मे पारस्परिक सम्बन्ध

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६९	७	(६) रसाभास	रसाभास
२७३	९	सीताराम अवतारीकी	सीताराम की अवतारी
२७६	२८ पा०	रा० व० सा० सं०	रा० न० सा० सं०
		ड० ग्र० सि०	उ० ग्र० सि०
२८४	१६	भाजन	भोजन
२८९	२८ पा०	उ० म० सि०	उ० ग्र० सि०
२९५	१	दास	३. दास
,,	९	गुरुजन	४. गुरुजन
,,	१५	प्रजा	५. प्रजा
२९८	३	२. सीता और...	(२) सीता और
३०१	११ पा०	(बृहद्रत्न रामचरण	बृहद्रत्नरामायण
३१५	२८	सामीप्य च	सामीप्यं च
३१९	१८ पा०	राममत्र	राममंत्र
३२३	२० पा०	चिदानन्द च	चिदानन्दं च
३२५	१७	लक्ष्मी	लक्ष्मी
३५६	१६	चिन्तामणि जी	चिंताअली जी
३५६	२७	जानकीशरण जी	जानकीवरशरण जी
३५८	२४	नील	नल
३६९	३० पा०	विस्मरणसहार	विस्मरणसम्हार
३७६	४	सि द्धिमुनीस	सिद्धमुनीस
,,	१९	विधा, सुविधा	विधा, सुविधा
३८३	३० पा०	भक्तमाव	भक्तमाल
३८८	३१ पा०	वै० म० मा०	वै० म० मा०
३८९	२५ पा०	रामदल की	रामादल को
३९३	४	सूरत बै	सूर तबै
,,	२८	गनससिर	गनेससिर
४०१	१२	मिथिला 'विलास'	'मिथिलाविलास'
४१२	१४	अनन्तचिन्तामणि	अनन्यचिन्तामणि
४१५	२४	मलीहाबाद क	मलीहाबाद को
४१५	२५	लिखो	लिखा
४२२	२६	२२.	२१

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३६	१३	दुष्टहंगैदुंघटी	दुष्टहंगैदुंघटी
४४१	१५	शृङ्गाररसरहस्य	शृङ्गाररसरहस्यदीपिका
४४२	२३	श्रीराम-	श्रीराज-
४४५	३० पा०	स० र० प्र० म०	र० प्र० म० मा०
४६२	२९, ३० पा०	[पंक्तियाँ बदल गई हैं 'चेरो रघुनाथ. . अस्थान को' के स्थान पर 'श्रीस्वामी . प्रभु मेरो है' पढ़ें]।	
४७५	३२ पा०	रामादोहावली	रामदोहावली
५०१	२७	नमून	नमूने
५३१	२१	हात बडेन	होत बडेन
५३६	२८	अमालनियाँ	अमोलनियाँ
५३८	६	झारी	झोरी
५५२	२६	तस्मै न कथमेतेपा	तस्मै न कथयेदेता ।